

सं. अरुणविजय म. विरचित

आध्यात्मिक विकासयात्रा



1. मिथ्यात्व

2. सारवादना

3. मिथ

4. अविरति सम्यग दृष्टि

5. देश विरति सम्यग दृष्टि

6. सर्व विरति प्रगता

7. सर्व विरति अप्रगता

8. अपूर्व करण

9. अभिवृत्ति सादर

10. सूक्ष्म संवसार

11. उपशांत मोह

12. क्षीण मोह

13. सयांगी केवली

14. अयांगी केवली

पं. अरुणविजय म. विरचित

आध्यात्मिक विकास यात्रा

भाव

अयोगी
केवली

सयोगी केवली

क्षीण मोह

उपशान्त मोह

सूक्ष्म संपराय

9 अनिवृत्ति बादर

8 अपूर्वकरण

7 सर्व विरति अप्रमत्त

6 सर्व विरति प्रमत्त

5 देश विरति

4 अविरति

3 मिश्र

सास्वादन

1 मिथ्यात्व



पुस्तक नाम - आध्यात्मिक विकास यात्रा
भाग - ३

लेखक - प.पू. गच्छाधिपति आ.भ. श्री प्रेमसुरि म.सा.

के वडील बंधु एवं गुरुभ्राता

प.पू.आचार्य देव श्रीमद्विजय सुबोधसूरीश्वरजी म. के M.A.Ph.D.

हुए विद्वान शिष्य रत्न

प.पू.पंन्यास डॉ. श्री अरुणविजयजी गणिवर्य म.

प्रकाशक - SHREE MAHAVEER RESEARCH
FOUNDATION

प्रूफ संशोधक - मुनि श्री हेमन्तविजय महाराज

प्रति १०००, वि.सं. २०६६, वीर सं. २५३६, इ.सं. २०१०

श्री महावीर जैन साहित्य प्रकाशन पुष्प - ५०

* प्राप्ति स्थान *

वीरालयम् जैन तीर्थ

N.H.4 कात्रज बाघपास,

मुंबई - बेंगलोर, आंबेगांव (खुर्द)

पो. जांभुलवाडी

पुना - ४११०४६

गुलाबचंदजी जे. जैन

B-1, 3rd मातृआशीष सोसायटी

३९, नेपियन्सी रोड,

मुंबई -- ४०००३६

वीरालयम् जैन तीर्थ

A-3 ज्ञात विक्रान्त,

17- B पोद्दार स्ट्रीट,

एस. वी. रोड

सान्ताक्रुज (प.) मुंबई - ५४

समर्पण

उपकारीओं के उपकार का स्मरण
समग्र विश्वमें... अजोड एवं अद्वितीय महान उपकारी
ऐसे जिनेश्वर परमात्मा के शासन में जिन्होंने जन्म दिया
उच्च संस्कारों से सिंचन किया ऐसे जन्मदाता जननी जनक
१२ व्रतधारी तपस्विनी सुश्राविका

श्रीमति शान्तिदेवी गुलाबचन्दजी जैन

तथा

भवोदधि तारक... सम्यग् दर्शन-ज्ञान-चारित्र
भगवती प्रवृज्या देकर आत्मा को मोक्षमार्ग के
सोपानों पर आरुढ करनेवाले
प.पू.गच्छाधिपति आचार्य देव

श्रीमद्विजय प्रेमसूरीश्वरजी महाराज सा.

के वडील बंधु एवं गुरुभ्राता

प.पू.आचार्य देव

श्रीमद्विजय सुबोधसूरीश्वरजी म.सा.

उभय उपकारीओं के उपकार स्मृति करते हुए पूज्यों के
चरणारविंद में सादर समर्पण...

अरुणविजय



आर्थिक सहयोग

श्री वासुपूज्यस्वामी जैन श्वेताम्बर मूर्तिपूजक संघ -
 अक्की पेट - बेंगलोर में इ.सं. १९९४ में श्री संघ की
 आग्रहभरी चातुर्मास की विनंती से श्री संघ मे सर्व प्रथम
 चातुर्मास हुआ। सुबोध भवन की वास्तु में जहां
 प.पू.पंन्यासजी श्री अरुणविजयजी गणिवर्य म.के
 कर कमलों से

आध्यत्मिक विकास यात्रा

यह पुस्तक करीभ १५०० पृष्ठों लिखि गई प्रस्तुत
 पुस्तक का तीसरा भाग

श्री संभवनाथ जैन महिला मंडल

- वरली - मुंबई

के सहयोग से प्रकाशित किया गया है।

इस उद्धार आर्थिक सहयोग हेतु

धन्यवाद

श्री महावीर रिसर्च फाउन्डेशन

अनुक्रमणिका

अध्याय - १५

ध्यान साधना से

“आध्यात्मिक विकास” ९७५

अध्याय - १६

क्षपक श्रेणि के साधक का आगे प्रयाण १०९३

अध्याय - १७

आत्मिक विकास का अन्त -

“आत्मा से परमात्मा बनना” ११८३

अध्याय - १८

विकास का अन्त -

“सिद्धत्व की प्राप्ति” १३३५

ध्यान साधना से “आध्यात्मिक विकास”

आसनजन्य स्थिरता या प्रमादरिहत स्थिरता ?.....	१७७
ज्ञान से ध्यान या ध्यान से ज्ञान ?.....	१७८
ध्यान का फल - निर्जरा.....	१८४
ध्यान का शब्दार्थ.....	१८८
चिन्ता और चिन्तन.....	१९१
ध्यान की व्याख्या.....	१९४
मन की अस्थिरता - चंचलता का कारण.....	१९९
चंचलता और स्थिरता का स्वरूप.....	१००१
ध्यान के भेद.....	१००३
धर्म ध्यान.....	१०१८
धर्म ध्यान के भेद.....	१०२१
आज्ञा धर्म के इच्छा धर्म.....	१०२३
ज्ञानार्णवादि ग्रन्थों में आज्ञाविचय.....	१०२९
दुःख का वास्तविक कारण क्या है ?.....	१०३३
सालंबन ध्यान के निरालंबन ध्यान.....	१०४६
निश्चय और व्यवहार.....	१०५०
निरालंबन ध्यान.....	१०५२
धर्म ध्यान तथा शुक्ल ध्यान के गुणस्थान.....	१०५६
धर्म ध्यान में - पिंडस्थादि ४ प्रकार.....	१०५७
सप्तनयात्मक आत्मस्वरूप.....	१०५९
स्याद्वाद की सप्त भंगी से आत्मिचन्तन.....	१०६०
योगांग अष्ट.....	१०७१
योगांग ८ और ८ दृष्टियों की समानता.....	१०७७
अष्टांग योग में गुणस्थान विकास.....	१०७९
भावना योग.....	१०८२
मैत्री आदि ४ भावनाएं.....	१०८९

ध्यान साधना से “आध्यात्मिक विकास”

नष्टाशेषप्रमादात्मा, व्रतशीलगुणान्वितः ।

ज्ञान-ध्यान-धनो-मौनी, शमनक्षयणोन्मुखः ॥ ३३ ॥

सप्तकोत्तर मोहस्य प्रशमाय क्षयाय वा ।

सध्यानसाधनारम्भं, कुस्ते मुनिपुंगवः ॥ ३४ ॥

— गत व्याख्यान तक प्रमादजन्य स्थिति एवं अप्रमत्त भाव की प्राप्ति की विचारणा करते आए हैं । अब आगे अप्रमत्त भाव के साथ ध्यान साधना कैसे और कैसी करनी इसकी मीमांसा प्रस्तुत प्रकरण में करनी है । याद रखिए कि, प्रमत्त भाव से ऊपर उठने के लिए अप्रमत्त भाव साध्यरूप था । अब अप्रमत्त भाव को साधन बनाकर ध्यान को साध्य बनाया जाय यही साधना की प्रक्रिया है । ध्यान करने योग्य कार्य = कर्तव्य है । अप्रमत्तभाव प्राप्त करके भी यदि ध्यान नहीं करेंगे तो क्या करेंगे ? या तो फिर अप्रमत्तभाव टिकेगा नहीं, क्योंकि अप्रमत्तभाव साधन है । अकेले उससे काम नहीं होगा । अप्रमत्तभाव अभावात्मक स्थितिवाला नहीं है । यह तो सद्भावात्मक स्थितिवाला है । इसमें कुछ भी नहीं करना ऐसी भी बात नहीं है । कुछ करना ही है, और वह है ध्यान । यदि कुछ भी नहीं कर पाएंगे तो निश्चित समझिए कि अप्रमत्तभाव टिकेगा नहीं । अतः ध्यान साध्य है ।

अप्रमत्तभाव का सीधा तात्पर्य है कि प्रमादभाव में जो जो भी किया जाता था उनका अभाव यहाँ जरूर करना है । उनका आचरण हर हालत में नहीं ही करना है । मद, विषय कषाय, निद्रा, और विकथा आदि सब प्रकार के प्रमादों का आचरण तो अंशमात्र भी नहीं ही करना है । लेकिन अब इनके त्याग के बाद अन्दर की प्रक्रिया का प्रारंभ होता है । कर्मबंधकारक बाह्यनिमित्त रूप प्रमादाधारभूत क्रियाओं का त्याग हुआ है और कर्मक्षयकारक—निर्जराकारक प्रक्रिया का प्रारंभ करना है । उसके लिए गुणस्थान क्रमारोह कार महर्षी श्री रत्नशेखर सूरि महाराज ३३ वे तथा ३४ वे श्लोक में कहते हैं कि जिसका संपूर्ण प्रमाद नष्ट हो चुका है अर्थात् सब प्रकार के प्रमादस्थानों का सेवन करना जिसने सर्वथा छोड़ ही दिया है और वह भी मन, वचन तथा काया के तीनों माध्यमों से छोड़ दिया

है ऐसा अप्रमत्त साधक व्रत, महाव्रत तथा शील—सदाचार—शुद्धाचार से युक्त तथा ज्ञान एवं ध्यान के ही धनवाला, मौन साधना का साधक मौनी तथा मोहनीय कर्म का उपशमन एवं क्षय करने के लिए उद्यत ऐसा श्रेष्ठ मुनि, दर्शन सप्तक के बिना की तदव्यतिरिक्त (भिन्न) अर्थात् दर्शन सप्तक रहित ऐसी अन्य २१ प्रकृतियों का उपशमन अथवा क्षय करने के लिए अत्यन्त श्रेष्ठतम ऐसी ध्यान की साधना को साधने के लिए प्रारम्भ करता है ।

इससे एक बात स्पष्ट होती है कि प्रमाद भाव को छोड़ने के पश्चात् ही ध्यानसाधना का प्रारम्भ संभव है । उसके बिना कदापि सम्भव ही नहीं है । ध्यान ऐसे ही थोड़ी ही प्रारम्भ हो जाता है ? इतना सरल और आसान खेल जैसा नहीं है । इसलिए ग्रन्थकार ने “नष्टाशेष प्रमाद” इन शब्दों का प्रयोग किया है । “अशेष” “अर्थात् न शेष इति अशेष”—अर्थात् बिल्कुल अंशमात्र भी जिसने प्रमाद को अवशिष्ट न रखा हो अर्थात् समूल सर्वांश प्रमाद का सर्वथा सम्पूर्ण नाश कर दिया हो ऐसा प्रमाद का त्यागी अप्रमत्त योगी ही ध्यान करने के लिए लायक पात्र बन सकता है । वह साधक और कैसा है ? इसके लिए आगे और भी विशेषणों का प्रयोग किया है । इससे ध्यानसाधना का प्रारम्भ करनेवाला, या ध्यान साधना में प्रवेश करनेवाला साधक कैसा पात्र होना चाहिए ? अधिकारी कैसा होना चाहिए ? उसका स्वरूप लक्षणों से दर्शाया है— १) सर्वप्रथम तो प्रमादत्यागी फिर २) व्रत—महाव्रतधारक, ३) शीलगुण धारक, शीयल—ब्रह्मचर्य की पालना नौवाड पूर्वक शुद्धतम पालनेवाला अर्थात् १८००० शीलांग रथ धारक... ब्रह्मचर्य शीयल के इतने भंग होते हैं अतः इतने प्रकार से, इतने सब तरीकों से शीयल—ब्रह्मचर्य का धारक शीलव्रती हो । तथा ४) ज्ञानधारक ज्ञानी हो, सिद्धान्तों का सही सम्यग् ज्ञान प्राप्त किया हुआ ज्ञानी हो, और ५) ध्यान करने की वृत्ति तीव्राभिलाषावाला साधक हो । अर्थात् ऐसे कह सकते हैं कि.... ज्ञान और ध्यान ही जिसका धन हो । जैसे कोई व्यापारी धनलक्षी होता है उसके लक्ष में एकमात्र धन ही धन दिखाई देता है । उद्देश्य ही वही है । ठीक वैसे ही ऐसा साधक जिसका ज्ञान और ध्यान का ही एक मात्र लक्ष्य बना हुआ है ऐसा ज्ञानी—ध्यानी ही ध्यान कर सकता है । तथा दूसरी तरफ वह मौनव्रतधारी भी होना ही चाहिए ।

यह ध्यान साधना भी साधन है । साध्य नहीं है । साध्य तो आगे के शब्दों में स्पष्ट किया है— “शमनक्षपणोन्मुखः” कर्मों का क्षय या उपशमन जो भी करना हो वैसा करने का लक्ष्य रखनेवाला हो । बात भी सही है कि आखिर इतना ध्यान करके करना क्या है ? किस और कैसे फल की आशा—अपेक्षा है ? तो साफ कहते हैं कि एकमात्र

कर्मक्षय—निर्जरा करने का ही लक्ष्य है। अतः कर्मक्षय यहाँ साध्य है और ध्यानादि साधन है। इस तरह दोनों में जन्य—जनक, कार्य—कारण भाव का संबंध है। अतः ध्यान जनक है और कारण भी है, तथा कर्मक्षय जन्य तथा कार्य है। साध्य है।

बस, इन लक्षणों का विस्तार से अर्थ करके उपयोगिता समझनी चाहिए। जिससे ध्यान साधना में प्रवेश करनेवाला साधक कैसा होना चाहिए? यहाँ साधक के लक्षण दर्शाए हैं। तथा लक्षणों के आधार पर साधक की योग्यता पात्रता बताई है। जैसे अष्टांग योग की प्रक्रिया में भी प्रवेशद्वार पर यम—नियम की उपयोगिता बताई है ठीक वैसे ही यहाँ पर व्रत—शील की आवश्यकता बताई है। बात फिर वही की वही है। अतः ध्यान में प्रवेश करने के लिए यम—नियम या व्रत—शील की पूर्ण आवश्यकता अनिवार्यता बताई है। बिना व्रत—शील, या यम—नियम के कोई भी जीव यदि आगे विकास साधता भी है तो वह अपरिपक्व गिना जाएगा। जैसे जिस विद्यार्थी ने ५, ६, ७ वी कक्षा का अभ्यास नहीं किया है और उसे यदि सीधे १० वी कक्षा में बैठा दिया जाय तो कैसी अनधिकार चेष्टा कहलाएगी? ठीक उसी तरह यहाँ भी यम—नियम से जो तैयार नहीं हुआ है, परिपक्व नहीं हुआ है ऐसे को यदि सीधे ध्यान की भूमिका पर चढ़ा दिया जाय तो वह अपरिपक्वावस्था के दुःख का अनुभव करेगा। इसलिए यह नियम व्रत—शील का आचरण साधक में आना ही चाहिए। इसी से उसमें परिपक्वता आएगी। क्रमशः क्रमिक विकास ही राजमार्ग है।

आसनजन्य स्थिरता या प्रमादरहित स्थिरता ?

जैसे अष्टांग योग में तीसरा सोपान आसन का है। आसन स्थिरता के लिए उपयोगी—सहयोगी है। यह स्थिरता बाह्य और आभ्यन्तर उभय कक्षा की है। बाह्य स्थिरता कायिक शारीरिक है। इसलिए शरीर के जो मुख्य अंग मस्तिष्क, हाथ—पैरों आदि हैं उनको मरोड़कैर भी स्थिर रूप से बैठना आदि आसन कहलाते हैं। भिन्न भिन्न अंगों को भिन्न—भिन्न तरीकों से मोड़ने पर, भिन्न—भिन्न प्रकार के आसन बनते हैं। उसका नामकरण पद्मासन, वीरासन, वज्रासन, सिद्धासन आदि अनेक रूप से किया है। ऐसे ८४ प्रकार के अलग—अलग अनेक आसन हैं। बाह्य स्थिरता को साधने के लिए यह भी सहायक साधन है।

लेकिन आभ्यन्तर कक्षा की स्थिरता तो मनोजन्य है। मन को साधने से ही आभ्यन्तर स्थिरता आएगी। इसके लिए मात्र अंगों के आसन पर्याप्त नहीं सिद्ध होते हैं। अतः आन्तर

स्थिरता लाने के लिए तो प्रमाद के त्यागपूर्वक अप्रमत्त भाव की कक्षा ही उपयोगी तथा उपकारी सिद्ध होती है। मन को चंचल—चपल—अस्थिर बनानेवाले प्रमाद के ही प्रकार हैं। ये प्रकार उपस्थित होकर मन को ज्यादा विचलित कर देते हैं। अतः स्थिरता नहीं अस्थिरता ही हावी हो जाती है। इसके लिए प्रमाद के प्रकारों का सर्वथा सदंतर त्याग करके अप्रमत्त बनने से सही सच्ची स्थिरता आएगी। यही मन का आसन स्थिर करने में सहायक सिद्ध होगी।

ज्ञान से ध्यान या ध्यान से ज्ञान ?

ज्ञान ध्यानजन्य है या, ध्यान ज्ञानजन्य है ? दोनों में से कौन किसका कारण बनता है ? २४ ही तीर्थंकर जैसे महान शलाका पुरुषों को गर्भ में ही, १) मति, २) श्रुत, तथा ३) अवधि ये तीनों ज्ञान संपूर्ण थे। अतः उन्हें जन्म लेने के पश्चात् जीवन काल में स्कूल जाना या किसी के पास शास्त्रादि पढ़ने की आवश्यकता ही नहीं रहती है। बस, सीधे ही दीक्षा लेने के समय उन्हें चौथा मनःपर्यवज्ञान उत्पन्न होता है। कुल पाँच ही ज्ञान होते हैं और उसमें से ४ ज्ञान तो प्राप्त हो चुके हैं। अतः वे तो पढ़े—पढ़ाए सीखे हुए ज्ञान संपन्न ही हैं और ये चारों ज्ञान संपूर्ण हैं। अब तो सिर्फ सर्वज्ञता के लिए ही उनको पुरुषार्थ करना है। सर्वज्ञता जो लोकालोक व्यापी समस्त अनन्त द्रव्यों की अनन्तानन्त पर्यायों का भी ज्ञान प्राप्त करना है, अनन्तानन्त गुणों का भी ज्ञान प्राप्त करना है। अतः ऐसे अनन्तज्ञान को प्राप्त करने के लिए कोई ऐसा ग्रन्थ, शास्त्र, या पुस्तकादि नहीं है कि जिसे पढ़कर अनन्तज्ञान को प्राप्त किया जा सके। जी नहीं। ऐसे कोई ग्रन्थ—शास्त्रादि है नहीं और होते ही नहीं हैं। आत्मा के अपने ज्ञान की गहराई भी काफी ज्यादा है। अतः स्वात्मज्ञान प्राप्त करना भी कोई आसान खेल नहीं है। सामान्य बात नहीं है। ऐसी स्थिति में मात्र एक ही विकल्प उनके पास बचता है अन्तरात्मा में प्रवेश करना और ध्यान साधना के बल पर ज्ञानावरणीय कर्म का सर्वथा क्षय करना तथा ज्ञान प्राप्त करना। जी हाँ, यह तो निश्चित ही है कि आत्मा ही ज्ञान का खजाना है। ज्ञान तो आत्मा में से ही प्रगट होता है। और ध्यान उसे बाहर निकालने की अद्भुत अनोखी प्रक्रिया है। पद्धति है। परन्तु यदि ध्यान ही करना नहीं आया, या ध्यान पद्धति ही सर्वथा गलत या विपरीत रही तो क्या प्राप्त होगा ? जी नहीं। कुछ भी नहीं। ऊपर से लेने के बजाय देने पड़ जाएंगे।

दूसरे पक्ष का विचार करें। ध्यान का, ध्यान पद्धति एवं प्रक्रिया का भी सही ज्ञान तो होना ही चाहिए कि नहीं ? अत्यन्त आवश्यक है। जैसे कुंए में पानी है और प्यासे को

पीना भी है। लेकिन पानी निकालने की प्रक्रिया आनी तो चाहिए। उस पद्धति की जानकारी तो होनी ही चाहिए। नहीं तो वह पानी कैसे निकाल पाएगा? गहरे कुएं की गहराई तक अन्दर कुछ साधन रस्सी से कैसे भी पहुँचाना ही पड़ेगा। तभी तो भरकर पानी बाहर निकाल पाएगा। ठीक इसी तरह आत्मारूपी कुएं में से ज्ञानरूपी पानी निकालना हो तो क्या करना? कैसा ध्यान करना? कैसे ध्यान करना? इसका भी ज्ञान तो होना ही चाहिए। अतः समस्त जगत् के सर्व जीवों के लिए राजमार्ग यह है कि प्रथम ज्ञान प्राप्त करना। तत्पश्चात् उसे सही सत्य सम्यग् ज्ञान प्राप्त होने के बाद ध्यान में जाना चाहिए। तीर्थंकरों का अनुकरण करने मात्र से ज्ञान प्राप्त हो जाएगा। ऐसी विचारधारावाले कभी भी केवलज्ञान प्राप्त नहीं कर पाएंगे। यह भ्रमणा—भ्रमणा ही रह जाएगी।

आज के वर्तमानकाल में कई ऐसे अपने आप को गुरु या भगवान कहलानेवाले निकल पड़े हैं जो लोगों को उल्टी ही प्रक्रिया सिखाते हैं। वे उल्टी दिशा में ले जाते हैं। जिससे जीवों को ज्ञान और ध्यान दोनों ही प्राप्त होने संभव नहीं रहेगा। क्योंकि वे लोगों के दिमाग में बिल्कुल ही विपरीत भर रहे हैं कि.... बस, पहले से ही सीधा ध्यान करो, ज्ञान पढ़ने की चिन्ता मत करो। ज्ञान की कोई पोथी पुस्तक—ग्रन्थ—शास्त्र मत पढ़ो। यह सब भाड़ूती ज्ञान है। दूसरों का ज्ञान उधार मत लो। अपनी अनुभूति के बल पर ज्ञान प्राप्त करो। आप स्वयं ध्यान करो और अन्दर की आत्मा की गहराई में प्रवेश करो और अन्दर ही अन्दर अनुभूति करो। बस, जो ज्ञान आ जाए वही सच्चा—सही ज्ञान है।

आपको एक बात जानकर और ज्यादा आश्चर्य होगा, तथा ऐसे बेचारे बन बैठे ध्यान के गुरु और भगवान पर हंसना आएगा कि.... आत्मा मानने की कोई जरूरत ही नहीं है। ज्ञान का स्रोत भी अन्दर ही मानते हैं और मन जो जड़ साधन मात्र है उसको ज्ञान का आधारभूत स्रोत मानते हैं। ज्ञान का मूलभूत खजाना मानते हैं। और दूसरी तरफ आत्मा का तो अस्तित्व मानने के लिए तैयार ही नहीं है। ज्ञान चेतन का गुण है। चेतना स्वरूप है फिर भी उसे मन पर आरोपित कर दिया। मन का गुण कहकर मन में से ज्ञान निकालने के लिए ध्यान सिखाने की प्रक्रिया सिखाई जा रही है। दूसरी तरफ ज्ञान को तो मानना है लेकिन ज्ञान के आधारभूत द्रव्य आत्मा को ही न मानना। इतनी भी समझ उनको नहीं है कि... गुण और गुणी का अभेद संबंध होता है। गुण कभी भी गुणी (द्रव्य) के बिना रह ही नहीं सकता है। और ठीक इससे विपरीत गुणीद्रव्य भी कभी अपने गुण के बिना रह ही नहीं सकता है। अस्तित्व ही एक दूसरे के कारण है। आखिर गुणी द्रव्य है ही क्या? गुणों से ही बने हुए समूहात्मक पिण्ड का नाम गुणी द्रव्य है। यह समूचे ब्रह्माण्ड का नित्य नियम है।

उदाहरण के लिए दृष्टान्त देखिए..... कि क्या कभी सूर्य अपने प्रकाश के बिना रहा है ? और ठीक उल्टा क्या कभी सूर्य का प्रकाश सूर्य के बिना रहा है ? जी नहीं, यह सनातन सिद्धान्त है । अतः सूर्य द्रव्य गुणी है और उसका प्रकाश गुण है । दोनों के बीच अभेद—संबंध है । ठीक इसी तरह ज्ञान गुण है और ज्ञानी आत्म द्रव्य गुणी है । वह कभी भी ज्ञान के बिना रह ही नहीं सकता है । सवाल ही खड़ा नहीं होता है । ऐसे ज्ञान गुण का धारक द्रव्य ही आत्मा है । इस द्रव्य के नामकरण के समय चाहे आत्मा नाम दो, या चाहे चेतन नाम दो बात एक ही है । और वही देहधारी चेतन जीव के रूप में संसार के व्यवहार में आए तब भी यह जीव नाम भी उसी का समानार्थक पर्यायवाची नाम बनता है । अतः ज्ञान चेतन का गुण है । जो चेतना शक्ति के रूप में चेतन द्रव्य के साथ रहता है । लेकिन स्वयं बन बैठे तथाकथित ध्यान के गुरु या भगवान जो वर्तमान काल में अपना ध्यानी और योगी के नाम पर वर्चस्व जमा बैठे हैं वे सही अर्थ में तो भोली—भाली अनभिज्ञ प्रजा को गुमराह कर रहे हैं । अरे ! ज्ञान कभी जड़ का गुण हो ही नहीं सकता है । उसको जड़ द्रव्य का गुण मान लेना इससे बड़ी मूर्खता और क्या हो सकती है ? तो तो फिर शरीरादि अनेक अनन्त वस्तुएं जड़ द्रव्य साधन हैं । उनमें भी ज्ञान होना ही चाहिए । लेकिन क्या यह प्रत्यक्ष सिद्ध है ? संभव ही नहीं है ।

मन के ही शुद्ध वास्तविक सत्य स्वरूप को जानते—पहचानते ही नहीं हैं, और आत्मा को तो मानना ही नहीं है, अस्तित्व ही उड़ा दिया है और ऐसे ध्यान—योग के गुरु बन बैठे हैं । आत्मा के स्वरूप का आरोपण मन पर कर देना अर्थात् मन को ही आत्मा के अर्थ में मानना और आत्मा के अस्तित्व को उड़ा देना ऐसी बालचेष्टा करके जगत् को उल्टू बनाने का गोरखधंधा करना यह कितना हीन कृत्य है ।

दूसरी तरफ ध्यान भी कैसा है ? प्रक्रिया कैसी है ? मात्र हठयोग की थोड़ी सी क्रिया को लेकर श्वास को नासाग्र भाग से आते—जाते देखते रहो, आनापान के देखते रहने मात्र से ध्यान हो गया । बस, उसीसे आत्म ज्ञान—ब्रह्म ज्ञान हो जाएगा, और उसकी अनुभूति भी हो जाएगी ऐसा मात्र कथन करना है । लेकिन सत्य तो सर्वथा भिन्न है । क्या मात्र देह की उत्पन्न होती हुई संवेदनाओं को देखते रहने से ब्रह्मज्ञान हो जाएगा ? क्या भूतकाल के सैकड़ों वर्षों में भी कभी किसी को हुआ है ? आज भी १०—१५—१८—२० वर्षों से विपश्यना पद्धति का ध्यान करनेवाले तथाकथित ध्यानिियों को मिलते हैं, देखते हैं .. तो उनमें अंश मात्र भी सत्य ज्ञान प्रगट हुआ दिखाई नहीं देता है । वे भी अपनी जो उनको सीखाई गई मान्यता है उसी पर रूढ़ बने हुए हैं । बस, वही उनका मानस है । काश ! कितना अफसोस ।

अरे ! ध्यान ही साध्य नहीं है । यह साधना पद्धति है । कार्य नहीं कारण है । और मन को साधना प्रथम कक्षा में साध्य जरूर लगता है लेकिन नहीं... आगे जाकर यह भी साधन बन जाता है । अरे ! मन को साध कर आप क्या करोगे ? आखिर तो आगे बढ़कर ज्ञान साधना है । उसके लिए कर्मक्षय का लक्ष्य सिद्ध करना है । लगे हुए कर्मों के आवरण नष्ट होंगे तब जाकर आत्मा में से ज्ञानादि गुण प्रकट होंगे ।

एक तरफ तो लोगों को साफ निषेध किया जाता है कि ज्ञान पढ़कर मत आओ । ज्ञान पढ़कर—प्राप्त करके ध्यान मत करो । और दूसरी तरफ अपनी मानी हुई मान्यता—धारणा चाहे वह मिथ्याज्ञान भी हो फिर भी लोगों पर थोपा जाता है । किसी भी प्रकार की ज्ञान की कोई भी पुस्तक—शास्त्रादि भी पढ़ना नहीं और अपनी बात को बार—बार कई दिनों तक *T.V.* आदि के आधुनिक माध्यमों से *HEMMARING* करके भी थोपी जाती है । ताकि उनके सिद्धान्तों का ज्ञान वे भूल जाय और अपनी मान्यता पर रूढ़ हो जाय । क्या यह ध्यान सिखाने का सही तरीका है ? और क्या यह ज्ञान सिखाने का भी सही तरीका है ? जी नहीं, कैसे संभव हो सकता है ? और कैसे इसे सही सत्य कहा जा सकता है ?

सामान्य मनुष्य जिसको तत्त्वों का सही ज्ञान ही नहीं है, जो बिचारा कोरी पाटी जैसा आया है उसको चाहे जैसा गलत मिथ्याज्ञान भी सिखाया जाय—दिया जाय तो भी काफ़ी अनर्थ होता है । अरे ! कम से कम इतना तो सोचना ही था कि महावीर जैसे तीर्थंकर और अरिहंत बने हुए सर्वज्ञानी ने जो ज्ञान जगत् को दिया है, तथा जो त्रैकालिक सत्य ज्ञान है उसका तो कम से कम निषेध नहीं करते । अरे ! उन्होंने १२ ॥ वर्ष तक ध्यान साधना करके, साथ ही उग्र विहार, घोर उपसर्ग सहन करते हुए, मारणान्तिक उपसर्ग—परीषद सहन करते हुए, घोर तपश्चर्या करते हुए जिस तरह अपनी आत्मा पर रहे हुए कर्मावरणों का सर्वथा क्षय करके जो शाश्वत ऐसा अनन्त ज्ञान पाया है, उसके बल पर, आधार पर उन्होंने जगत् को जो देशना के रूप में यथार्थ—सत्यरूप ज्ञान दिया है क्या वह गलत मिथ्या हो सकता है ? और आज के सिखाए हुए साधक जिनके जीवन में यम—नियमादि किसी भी प्रकार के आचार—विचार का अंशमात्र भी यथार्थ ज्ञान नहीं है वे बेचारे ध्यान करके क्या ज्ञान पाएंगे ? कैसा ज्ञान पाएंगे ? हो सकता है कि कर्मावरण के उदय से मिथ्याज्ञान भी पाएं । और उसी को भ्रान्तिवश—भ्रमणावश सत्य मानकर बैठेंगे तो कहाँ और कैसे आत्मा का विकास होगा ? वह मिथ्यात्वी का पुतला बनकर घूमता रहेगा । जी हाँ, शारीरिक—मानसिक लाभ कुछ मिलेगा । मानसिक शांति मिलेगी । क्योंकि इतनी देर तक मन का

निरीक्षण तो जरूर किया है। मनरूपी समुद्र में उछलती कूदती संकल्प—विकल्पात्मक लहरों को तो देखा है। बस, समुद्र की सपाटी पर तैरनेवाले को पानी का प्रमाण, स्वरूप, खारेपन आदि का ज्ञान तो जरूर होगा ही। लेकिन ऊपर तैरनेवाले तैराकी को समुद्र के तल भाग का ज्ञान कभी नहीं होगा।

वर्तमान में ऐसे बन बैठे तथाकथित गुरु जो “सर्व क्षणिक—सर्व शून्य, सर्व अनित्य” का ज्ञान ढोल पीट—पीट कर जगत को दे रहे हैं यह तो सर्वथा मिथ्याज्ञान है। विपरीतज्ञान है। इसकी तो काफी गहराई से छान—बीन करनी ही चाहिए। सर्व शब्द से वाच्य क्या—क्या कितने और किन पदार्थों को लेना? यदि सर्व कहने से जगत् के पदार्थों का अस्तित्व स्वीकारा जाता है कि नहीं? इतनीसी थोड़ी तो समझ शायद होगी ही? ऐसे पदार्थों को स्वीकारो तो ही ‘शून्य’ कहा जा सकता है। अच्छा, तो शून्य शब्द का क्या अर्थ है? क्या शून्य शब्द अभावसूचक है? तो अभाव कैसा? क्या अभाव त्रैकालिक है? तो जिन पदार्थों को “शून्य” कहते हैं उनका अस्तित्व है या नहीं? यदि अस्तित्व ही नहीं है तो शून्य कहने का तात्पर्य क्या है? और अस्तित्व ही नहीं है, अभावात्मक ही है तो फिर सर्व कहकर ज्ञानात्मक व्यवहार ही क्यों करना चाहिए? जब जिनका अस्तित्व ही नहीं है, अभावात्मक ही है तो फिर वे पदार्थ आपके ज्ञान का विषय—ज्ञेय कैसे बने? बनने संभव ही नहीं है। और फिर जिनका अस्तित्व ही नहीं है, अभावात्मक ही है ऐसे को क्षणिक या अनित्य कहने का व्यवहार ही कैसे हो सकता है? क्या जिन पदार्थों का अस्तित्व ही नहीं है, अरे! जो जगत् में अभावात्मक ही है उनमेंसे किसी एक का भी नाम दे सकते हो? या किसी एक का भी व्यवहार कर सकते हो? संभव ही नहीं है। अस्तित्वाभाववाले का व्यवहार क्या हो सकता है? तो फिर निरर्थक है सारी विचारधारा। फिर आगे सर्व क्षणिक या अनित्य कहना ही मूर्खता है। ऐसे बन बैठे तथाकथित ज्ञानी गुरु जो प्ररूपणा—प्रतिपादना करते हैं वे स्वयं भी भ्रान्त हैं, संभ्रान्त हैं। भटक रहे हैं। ऐसे के ज्ञान के आधार पर या फिर बताए हुए ध्यान के आधार पर चलना ही अंधे के पीछे कुएँ में गिरने जैसा है।

अरे! आत्मा की बात तो छोड़ो, आकाशादि पदार्थों को ये क्या कहेंगे? कैसे कहेंगे? क्यों कि आत्मादि को तो मानते ही नहीं हैं। अतः सवाल ही खड़ा नहीं होता है। अब बताइये, आकाश नामक पदार्थ का अस्तित्व है या नहीं? परमाणु आदि पदार्थ है या नहीं? यदि है तो सर्व शब्दान्तर्गत उनकी गणना होती है या नहीं? और होती है तो उनका अभाव या शून्यता कैसे सिद्ध होगी? और यदि शून्यता सिद्ध ही नहीं होती है तो “सर्व शून्य” का सिद्धान्त तो सर्वथा गलत सिद्ध हुआ। फिर वह सर्व अनित्य कैसे सिद्ध होगा?

यह तो प्रत्यक्षरूप से व्यवहृत होता है आकाश और परमाणु कैसे अनित्य या क्षणिक सिद्ध होंगे ? संभव ही नहीं है ।

क्या उन बेचारे अज्ञानी गुरु को पदार्थों की यथार्थता का भी ज्ञान है ? कि संसार में कितनी किसम के पदार्थ हैं ? १) अनुत्पन्न और २) उत्पन्नशील, ३) अविनाशी और ४) विनाशी रूप चारों प्रकार के पदार्थों का अस्तित्व जगत् में है । इन दोनों में प्रथम दो में भूतकालिक दृष्टि से विचार किया जाता है और दूसरे दो ३, ४ थे भेदवालों को भविष्यकालीन दृष्टि से देखा जाता है । इन दोनों को मिलाकर विचार किया जाय तो १) अनुत्पन्न—अविनाशी, और २) अनुत्पन्न—विनाशी ३) उत्पन्न— अविनाशी और ४) उत्पन्न—विनाशी ऐसे ४ प्रकार बनते हैं । अर्थात् संसार में चार किसम के पदार्थ हैं ।

१) अनुत्पन्न—अविनाशी पदार्थ— जो कभी भी उत्पन्न होते ही नहीं हैं और पुनः नष्ट भी होते ही नहीं हैं । जैसे १) धर्मास्तिकाय २) अधर्मास्तिकाय, ३) आकाश, ४) आत्मा आदि प्रकार के द्रव्य न तो कभी उत्पन्न ही होते हैं और न ही कभी नष्ट होते हैं, सवाल ही नहीं अतः पदार्थ का अस्तित्व तीनों काल में रहता है । अब ऐसे पदार्थों को “सर्व शून्य” कैसे कहना ? और यदि अपने शून्य के सिद्धान्त की परिधि में नहीं बैठता है तो साफ ना ही कह देना कि हम ऐसे पदार्थों को मानते ही नहीं हैं । यह कैसा तरीका ढूँढ निकाला है ? जो पदार्थ जैसा है उसे उसके वास्तविक यथार्थ स्वरूप में मानना ही जो सम्यग्दर्शन था उसके बजाय पदार्थ की यथार्थता को न्याय न देकर अपनी मानी हुई मान्यता को न्याय देना, न्याय संगत बताना और उसके आधार पर पदार्थ जैसा नहीं भी है उसको वैसा मान लेना यह कितना भारी मिथ्या ज्ञान और मिथ्या दर्शन है । ऐसे मिथ्यादर्शन को गधे की पूंछ की तरह पकड़कर रखना चाहे भले ही गधे की लात खाते रहें फिर भी पक्कड़ नहीं छोड़नी । मिथ्यात्व के साथ कषाय ज्यादा मात्रा में है इसलिए पक्कड़ ज्यादा ही रहेगी । यह स्वाभाविक है ।

उत्पन्नशील एवं विनाशी स्वभाववाले संसार के पौद्गलिक—भौतिक सेंकड़ों पदार्थ हैं । जो रोज कितने ही बनते हैं, उत्पन्न होते हैं और पुनः नष्ट भी होते ही रहते हैं । लेकिन उन्हें भी शून्य शब्द से अभावात्मक गिनना कि अस्तित्वयुक्त गिनना ? या सिर्फ अनित्य ही कहते रहना ? आत्मा जैसे त्रैकालिक शाश्वत पदार्थ को सर्वथा एकान्तिक अनित्य ही कहना कहाँ तक उचित है ? दूसरी तरफ यह भी सोचिए कि आप एकान्त अनित्य ही अनित्य कहते रहेगे, पर्याय जो परिवर्तनशील है इस दृष्टि से उसके उत्पाद—व्यय स्वरूप को ही एकान्तरूप से मानना लेकिन मूलभूत द्रव्य के रूप में पदार्थ को मानना कि नहीं ?

गुण—पर्याय और उत्पाद—व्यय का आधारभूत कौन ? उत्तर है— एकमात्र द्रव्य । द्रव्य ही न हो तो उत्पाद व्यय किसमें होगा ? गुण—पर्याय किसके ? द्रव्य के कि अन्य किसी के ? जी नहीं, द्रव्य के अतिरिक्त ऐसा कोई है ही नहीं कि जिसकी गुण—पर्याय हो । और दूसरी तरफ ये कहलाते हुए विद्वान् जिन्होंने सर्व शून्य कहकर द्रव्यरूप पदार्थ को अभावात्मक ही कह दिया और फिर उत्पाद—व्यय मानने जा रहे हैं । नदी में से पानी को सारा उलेच दिया और फिर रेती रही तब पानी पीने गए । इस तरह द्रव्यरूप सत् पदार्थों को ही शून्यात्मक कहना और फिर उन्हें अनित्य—क्षणिक कहना यह कहाँ तक उचित है ? अब आप ही सोचिए । जब ज्ञान ही गलत है तो उसके आधार पर ध्यान कैसा होगा ? और ऐसा ध्यान वर्षों तक करने पर भी किसको सही—यथार्थ ज्ञान हुआ है ? संभव ही नहीं है ।

ज्ञान का आधार ज्ञेय पदार्थ कि ... ज्ञेयभूत पदार्थों का आधार ज्ञान ? क्यों और कैसे मानना चाहिए ? सच देखा जाय तो ज्ञान ज्ञेय पदार्थों के आधार पर रहता है और ज्ञेय पदार्थों का प्रकाशक ज्ञान होता है । ज्ञान को प्रदीप की तरह स्व—पर—व्यवसायी कहा है । स्व—पर—प्रकाशक है । इसलिए ज्ञान भी सही होना चाहिए । और उसके आधारभूत ज्ञेय पदार्थों का स्वरूप यथार्थ—सही—वास्तविक ही होना चाहिए । ज्ञेय पदार्थों को विपरीत—विरुद्ध अर्थ में नहीं मानना । जो पदार्थ जैसा है उसका स्वरूप भी विकृत करके मानना और फिर ऐसे ज्ञान को ही आधारशिला मानकर चलना यह तो अन्धे के कूपपतन के जैसा ही होगा । और इतना ही नहीं ऐसे ज्ञान पर आधारित ध्यान की प्रक्रिया में जाना यह कहाँ तक उचित होगा ? फिर ध्यान कहाँ से सही होगा ? ध्यान तो ज्ञानजन्य आनन्द की अनुभूति करने की सुन्दर प्रक्रिया है । ज्ञान प्रापक है । अतः ध्यान का आधार ज्ञान पर है । ज्ञान ही विपरीत एवं विकृत होगा तो फिर ध्यान कैसा होगा ? यदि दूध ही फटा हुआ, बिगड़ा—सड़ा हुआ खराब होगा तो उसमें से आगे की प्रक्रिया होगी क्या ? दही—छास—मक्खन और घी बनेगा क्या ? और बनेगा तो कैसा होगा ? ध्यान तो घी की तरह अन्तिम प्रक्रिया है । इसके लिए आधारभूत ... ज्ञानरूप दूध ही विकृत खराब होगा तो ध्यान फिर कैसा होगा और कैसे होगा ? इसलिए ज्ञान और ध्यान दोनों की संपूर्ण शुद्धि होनी अत्यन्त आवश्यक है ।

ध्यान का फल निर्जरा—

“ध्यानस्य फलं निर्जरा” ध्यान का फल निर्जरा बताया है । आत्मा पर लगे आठों कर्मों का क्षय करना ही साधक का चरम लक्ष्य है । इसके लिए प्रबल निर्जराकारक धर्म



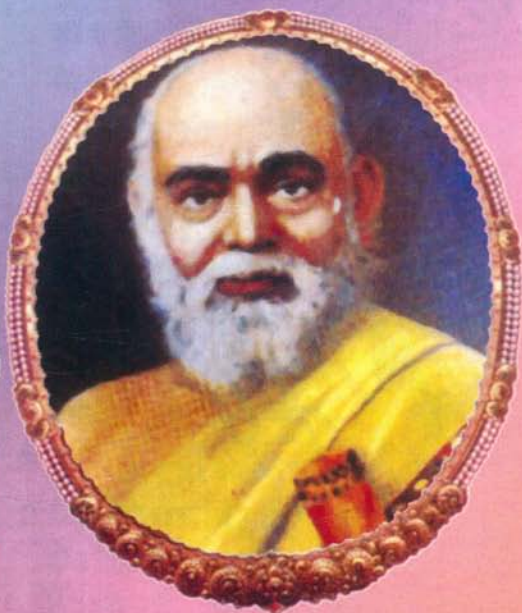
हथूंडी तीर्थ मंडन मूलनायक श्री राता महावीरस्वामी भगवान

समग्र विश्वमें महावीर प्रभु की यह एक मात्र अद्वितीय-अलभ्य मूर्ति है। जो रेती, चूने एवं मिट्टि के संमिश्रण से वि. सं. ३६० की साल में बनी हुई राता (लाल)रंग के वज्रलेपवाली १७०० वर्ष प्राचीन ऐतिहासिक अलौकिक चमत्कारिक अद्भूत महाप्रभावक भव्य प्रतिमा है। एक बार हथूंडी तीर्थ की यात्रा का लाभ अवश्य लीजिए।

श्री हथूंडी राता महावीर तीर्थ

पो. बिजापुर, वाया बाली, स्टे. फालना, जिला-पाली (राज.) ३०६७०७

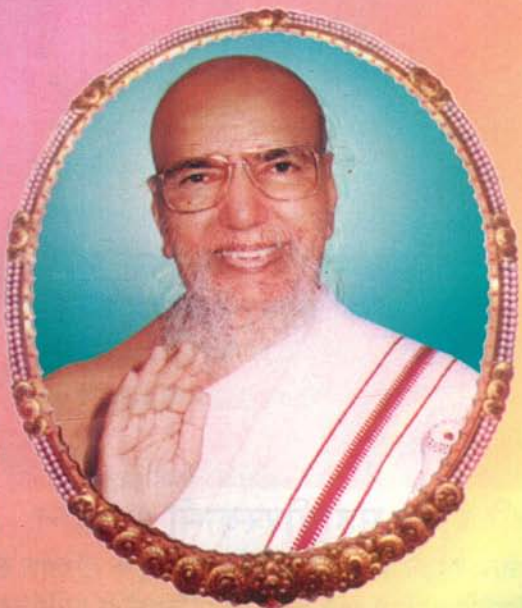
गुरुराज को सदा मोरी वंदना



प. पू. आचार्य देव श्रीमद्विजय
धर्मसूरीश्वरजी म. सा.



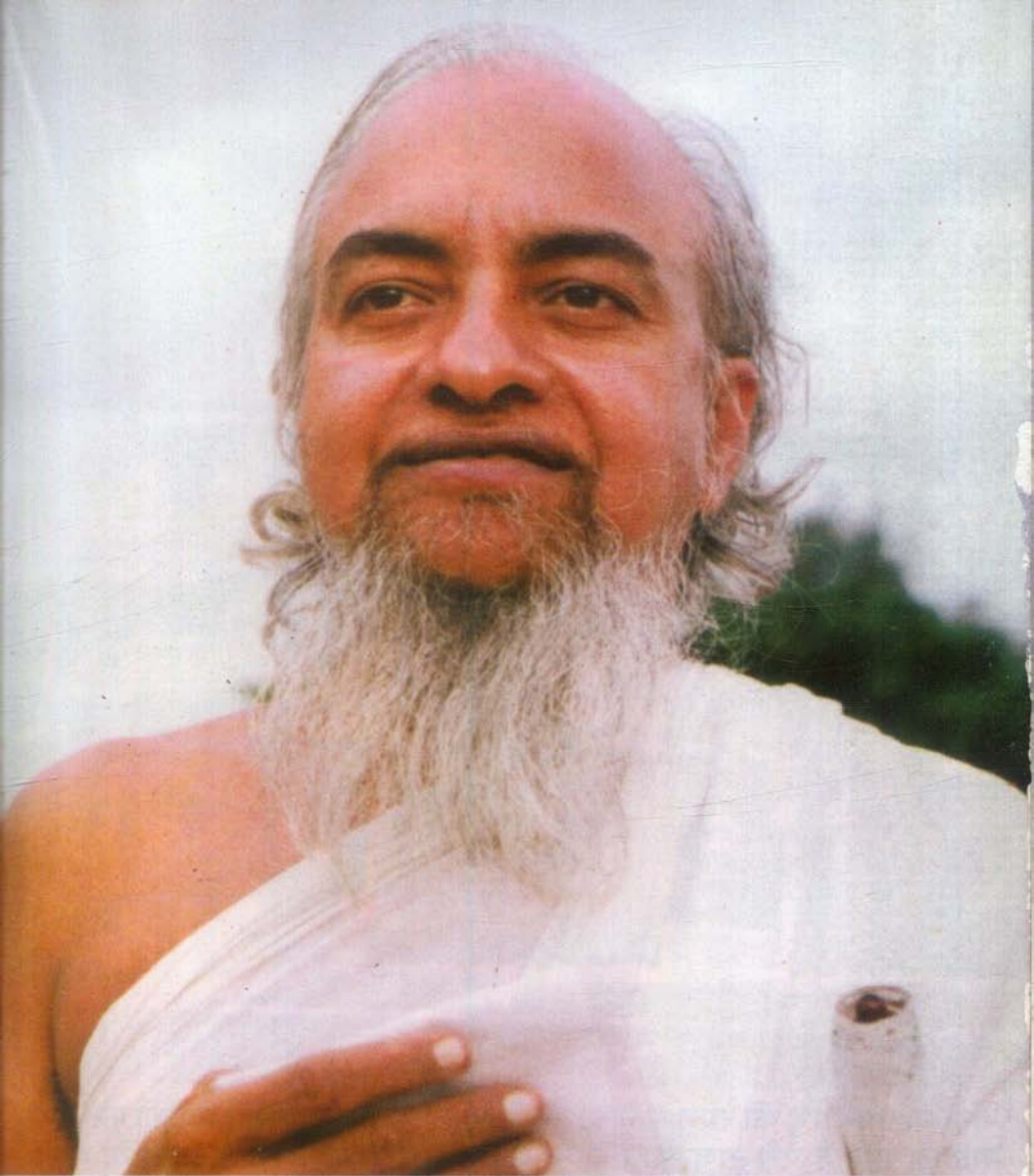
प. पू. आचार्य देव श्रीमद्विजय
भक्तिसूरीश्वरजी म. सा.



प. पू. आचार्य देव श्रीमद्विजय
प्रेमसूरीश्वरजी म. सा.



प. पू. आचार्य देव श्रीमद्विजय
सुबोधसूरीश्वरजी म. सा.



तत्त्व चिंतक-तात्त्विक-सात्विक साहित्य के सर्जक, सचित्र शैली की पुस्तकें लिखनेवाले सिद्ध हस्त लेखक, सैद्धान्तिक सत्त्वसभर सचित्र शैली के प्रवचनकार, दार्शनिक पद्धति से तर्क युक्ति पूर्वक समझानेवाले, अनेक शिबीरों द्वारा युवावर्ग को सीखानेवाले, ध्यान योग साधना शिबिर के प्रणेता, वीरालयम् के स्वप्न दृष्टा, साधर्मिकों के राहबर, श्री हथूंडी तीर्थ के जीणोद्धारकारक, श्री महावीर रिसर्च फाउन्डेशन के आद्य प्रणेता, श्री महावीर विद्यार्थी कल्याण केन्द्र के प्रेरणास्त्रोत, जैन श्रमण संघ के M.A., Ph.D. सुप्रसिद्ध विद्वान्,

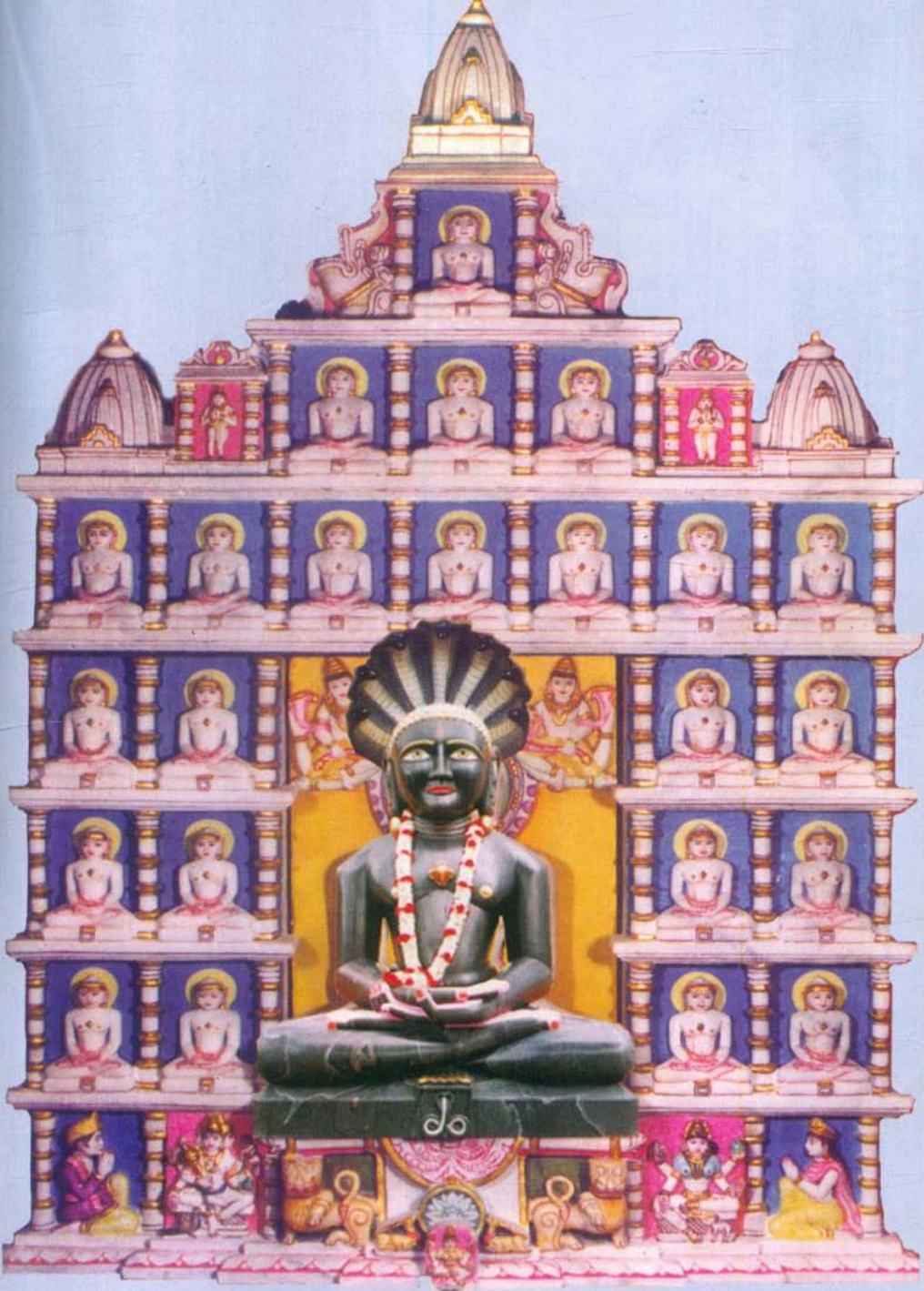
संशोधनात्मक महाप्रबंध के लेखक

प. पू. पंन्यास प्रवर डॉ. श्री अरुणविजयजी गणिवर्य महाराज

(राष्ट्र भाषा रत्न, साहित्य रत्न M.A., दर्शन शास्त्री B.A., जैन-न्याय दर्शनाचार्य M.A., Ph.D.)



जहां महावीर प्रभु की राता (लाल) रंग के वज्र लेपवाली समग्र विश्व की एक मात्र अलभ्य मूर्ति है ऐसे राजस्थान राज्य की मरुभूमि पर गोडवाड प्रान्त के गौरव समान श्री हथूंडी तीर्थ है। जो नदी के किनारे प्राकृतिक सौंदर्य से सुशोभित प्रदूषण रहित-शान्त वातावरण में स्थित है। जैन श्रमण संघ के डबल M. A., Ph.D. हुए सुप्रसिद्ध विद्वान **पू. पंन्यास डॉ. श्री अरुणविजयजी म.सा.** की प्रेरणा-सदुपदेश एवं मार्गदर्शनानुसार नवनिर्मित ३ गढ़, १२ चोकियां, १२ प्रवेश द्वार, अशोक वृक्षात्मक सामरण युक्त **श्री महावीर वाणी समवसरण मंदिर** बना है। अंदर आगम मंदिर व गणधर मंदिर है, चौमुखजी प्रभुजी की प्रतिमा प्रतिष्ठित है। भ. महावीर की देशनात्मक वाणी विविध भाषाओं में लिखि गई है। इस तीर्थ में ठहरने हेतु उत्तम धर्मशाला तथा भोजनशाला आदि की सुंदर व्यवस्था है। आइए... पधारिए..... एक बार इस तीर्थ की यात्रा करने अवश्य पधारिए।



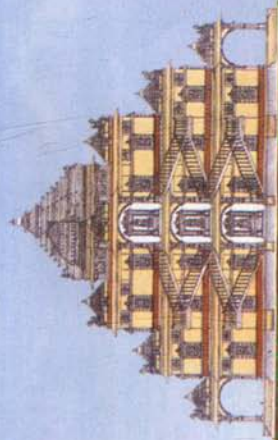
श्री पार्श्वनाथ भगवान की नौ फीट की श्यामवर्णी विशाल प्रतिमा गादी - परिकरादि सह वीरालयम् में नवनिर्माणाधीन "श्री वर्धमान समवसरण ध्यानालयम्" में बिराजमान होगी ।

वीराकयम्

कात्रज, पुणे.

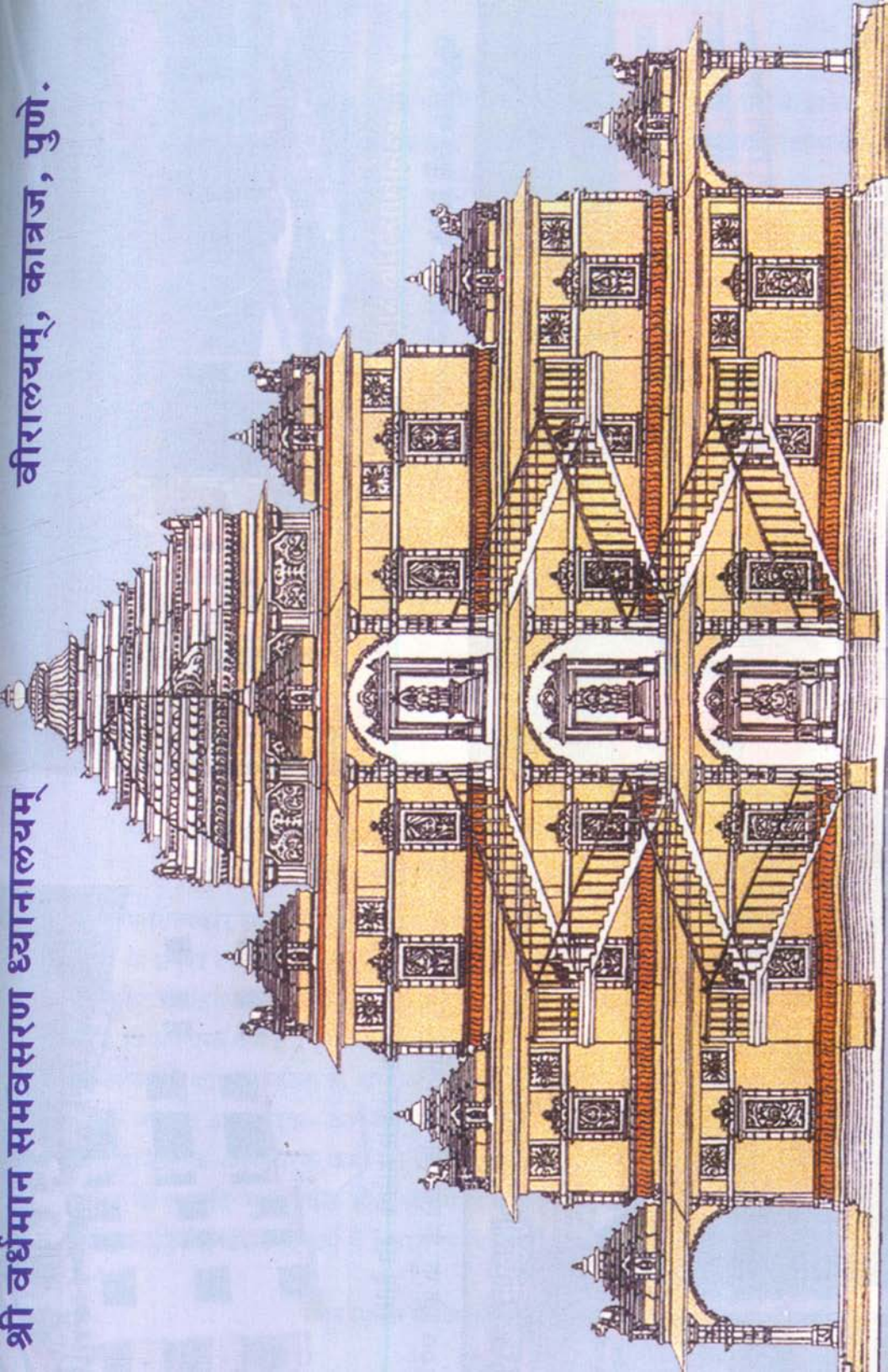
वीराकयम्

कात्रज, पुणे.



श्री वर्धमान समवसरण ध्यानालयम्

वीरालयम्, कात्रज, पुणे.





पू. साधु-साध्वीजी महाराजों की आराधना के लिए सुंदर उपाश्रय

५०० स्क्वे.फू. के एक ऐसे १० ब्लॉक, जिसमें हॉल, शयनकक्ष, रसोई घर, स्वतंत्र सडास-बाथरुमादि सुविधा युक्त सुंदर धर्मशाला



दो डायनिंग हॉल एवं दो किचन युक्त विशाल भोजनालयम्



१० दुकान तथा २८ घर से युक्त नवनिर्मित श्री महावीर जैन साधार्मिक नगर



“ध्यान” का है। यद्यपि परमात्मा सर्वज्ञ प्रभु महावीर ने पंचाचारात्मक समग्र धर्म के अनेक प्रकार जो भी दर्शाए हैं वे सब निर्जराकारक ही हैं। निर्जरा कराने के एकमात्र लक्ष्यवाले हैं। निर्जरा अर्थात् “कर्मक्षय”

१) दर्शनाचार २) ज्ञानाचार ३) चारित्राचार ४) तपाचार ५) वीर्याचार



नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा ।

वीरियमुवओगो अ एअं जीवस्स लक्खणं ॥

नवतत्त्वकार स्पष्ट लिखते हैं कि— ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य और उपयोग ये आत्म के प्रमुख लक्षण हैं। बस, इन गुणों को ही आचरण में लाना, गुणों पर लगे हुए कर्मावरण का क्षय—निर्जरा करने के लिए इन्हीं गुणों के पोषकों का आचार रूप में पालन करना ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है। इसीलिए धर्म को गुणात्मक साधना कहा है। आत्मा पर लगे हुए आवरणों का क्षय करना ही धर्मरूप प्रक्रिया का हेतु है। और ये आवरण क्या है? कर्म के बने हुए आच्छादक—आवरण ही आवरण हैं। जैसे—जैसे, जितने—जितने प्रमाण इन गुणाच्छादक—गुणावरक कर्मों का छेद—क्षय होगा वैसे वैसे, उतने—उतने प्रमाण में आत्मा के ज्ञानादि गुण प्रकट होते जाएंगे। यह निर्जरा कर्मक्षय से जन्य है। अतः कर्मक्षय—निर्जरा करना ही धर्म है। चरम लक्ष्यरूप है।

धर्मसंस्थापक तीर्थंकर भगवान ने पंचाचार रूप धर्मों की जो व्यवस्था की है वह एक मात्र निर्जरा के लिए ही की है। इन पंचाचारों के जितने भी अवान्तर प्रकारों की व्यवस्था आचारात्मक रूप से की है उन सभी धर्मों से निर्जरा—कर्मक्षय करना ही चाहिए। एक भी धर्म का प्रकार ऐसा नहीं है कि जो कर्मक्षय—निर्जरा न कराए। हाँ, यदि करनेवाले जीवों को करना ही न आए तो बात अलग है। जो भी कोई निर्जरा न कर सके तो वे संवर करे, या फिर शुभ पुण्याश्रव करे। जिसको जो करना हो वह करे। लेकिन सर्वप्रथम साध्य तो निर्जरा करने का ही है। ऐसे ज्ञान से वंचित रहनेवाले सामान्य कक्षा के जीव... पुण्योपार्जन करके ही संतोष मान लेते हैं, वे आगे बढ़ना ही नहीं चाहते हैं। जैसे भिन्न—भिन्न प्रकार के विद्यार्थी होते हैं। कोई पासिंग मार्क पर ही उत्तीर्ण होना चाहते हैं, आगे बढ़ने की उनकी तनिक भी इच्छा नहीं रहती है। दूसरा ५०%, तीसरा ६०%, चौथा प्रथम श्रेणी में... और आगे बढ़नेवाले शतप्रतिशत गुणांक प्राप्त करने में ही संतोष मानते हैं। ठीक उसी तरह कुछ धर्मिष्ठ आराधक मात्र पासिंग मार्कवाले की तरह शुभ पुण्योपार्जन कर लिया उतने में ही राजी रहते हैं। कुछ पुण्य और निर्जरा के बीच संवर है। जो मात्र नए पाप कर्मों के आगमन का अवरोधक है, उसी के आधार पर संतोष मान लेता है। चाहे निर्जरा हो या न हो, उसको उससे कोई मतलब ही नहीं है। लेकिन एक साधक निर्जरा के ही लक्ष्यवाला है। वह किसी भी प्रकार का थोड़ा बहुत भी धर्म करता है तो कर्मक्षय—निर्जरा करने का ही एकमात्र लक्ष्य रखता है। बस, उसी में ही संतोष मानता है। उसमें भी तीव्रता के लक्ष्यवाला और ज्यादा प्रमाण में निर्जरा करने का लक्ष्य रखता है। धर्माचरण तो वही है। उपवास तो वही एक ही है। जो सब करते हैं वही उसने भी किया है। लेकिन कर्मक्षय निर्जरा की मात्रा कम—ज्यादा रहती है। जैसे रोटी तवे पर रखकर गेस पर सेकी जाती है। उसमें जितने प्रमाण में ताप कम—ज्यादा होगा उतने प्रमाण के आधार पर... जल्दी या विलम्ब से सेकी जाएगी। कम—ज्यादा समय जो लगेगा उसका आधार ताप पर है। ठीक उसी तरह निर्जरा का आधार धर्माचरण में रखे गए निर्जरा के लक्ष्य से धर्म में जिसमें जितनी ज्यादा तीव्रता होती है उसी के आधार पर कम—ज्यादा निर्जरा होगी। एक व्यक्ति उपवास करके भी सो जाता है और दूसरा उपवास करके कायोत्सर्ग और ध्यान की भी साधना करता है। वह प्रमाण में बहुत ज्यादा निर्जरा करेगा।

जिनेश्वर परमात्मा की पूजा, भक्ति और दर्शन करने की धर्माराधना भी निर्जराकारक ही है। नागकेतु जैसे ने प्रभु की फुलपूजा करके काफी ज्यादा प्रमाण में कर्म—निर्जरा की। लेकिन कोई निर्जरालक्षी न भी हो और वह मात्र पुण्योपार्जन ही करना चाहे तो उसकी

इच्छा । लेकिन जिन—दर्शन—पूजादि को किसी भी दृष्टि से पापकारक नहीं कहा जा सकता । ऐसा कहना यह तो कहनेवाले की पापबुद्धि का सूचक है ।

बलवत्तर निर्जरा, ध्यान से—

“ध्यानाग्निना दह्यते कर्म” ध्यानरूप अग्नि से कर्म का क्षय—निर्जरा होती है । इसे अग्नि की उपमा दी है । जैसे अग्नि दाहक है, सब कुछ जलाकर भस्मीभूत कर देती है ठीक वैसे ही ध्यानात्मल भी आत्मा पर लगे हुए सभी कर्मों को जलाकर भस्मीभूत कर देता है । बस, साधक पर आधार है कि वह कितनी बलवत्तरता अपनी ध्यान साधना में लाता है । जैसे चूल्हे पर खिचड़ी यदि १० किलो के प्रमाण में रखी है तो उसको पकाने के लिए नीचे अग्नि का प्रमाण भी उसके अनुरूप होना तो चाहिए । यदि अप्रमाण अर्थात् जलते अंगारे के कोयले का एक टुकड़ा मात्र ही है, तो खिचड़ी होनी संभव ही नहीं है । और अग्नि भी तीव्र ज्यादा है तो खिचड़ी की परिपक्वता शीघ्र ही हो सकती है । ठीक इसी तरह साधक को कर्मों का प्रमाण देखकर ही उसके अनुरूप सप्रमाणरूप से धर्म करना चाहिए । इस धर्म में यदि साधक की प्रबल इच्छा हो कि मुझे तो हर हालत में अल्प काल में अधिकतम निर्जरा करनी है तो भी ध्यान से वह साध्य है । बस, ध्यानरूपी अग्नि को और ज्यादा तीव्रतर कर दे तो धारणा सफल हो सकती है । और यदि ध्यान की साधना में तीव्रता नहीं आती है तो निश्चित समझिए कि . . . निर्जरा का प्रमाण भी मर्यादित ही रहेगा ।

लेकिन एक बात जरूर है कि ध्यान में यह शक्ति जबरदस्त पड़ी हुई है । इसमें कोई संदेह नहीं है । बशर्ते कि ध्यान सही होना चाहिए । ध्याता सच्चा साधक होना चाहिए । अन्यथा ध्यान प्रक्रिया ही गलत—विपरीत यदि आ गई हाथ में, तो लेने के देने पड़ जाएंगे । अर्थात् निर्जरा को बजाय कर्म का बंध भी भारी हो जाएगा । आखिर निर्जरा या बंध क्या करना यह तो साधक पर आधारित रहता है । क्योंकि ध्यान तो शुभ भी होता है और अशुभ भी होता है । आत्मा, ब्रह्म, मोक्ष, परमात्मा, आदि अनेकों का होता है । कामी के लिए कामवासना का भी ध्यान होता है । अधर्मों के लिए पाप करने का भी ध्यान होता है । कषायी जीव के लिए क्रोध आदि कषाय करने का भी ध्यान हो जाता है ।

इसलिए ध्यान कर्म बंधकारक भी है जबकि ध्यान गलत दिशा का विपरीत भी किया जा सकता है । और सही दिशा का परमात्मादि का भी किया जा सकता है । मात्र ध्याता की ज्ञानदशा पर आधार रहता है । इसलिए ध्यान साधना की प्राथमिक भूमिका से

यदि ज्ञान को हटा दिया जाय तो कितना भयंकर अनर्थ हो जाता है, इस सत्य को समझना ही चाहिए। यदि बिना ज्ञान का ध्यान होगा तो वह कैसा होगा ? उस ध्यान को भी अज्ञान ध्यान ही कहना पड़ेगा। व्यवहार नय से ऐसी ध्यान साधना शारीरिक एवं मानसिक फायदा अच्छा करती है। और यही आज के वर्तमान काल में कई बन बैठे गुरुओं ने जो जो ध्यानपद्धतियाँ समाज में रखी हैं वे प्रायः शारीरिक एवं मानसिक फायदाकारक ज्यादा सिद्ध हुई हैं। चाहे वह विषयना के नाम से पहचानी जाय या अन्य किसी भी नाम से पहचानी जाय। लेकिन आत्मा की गहराई में जो न ले जा सके... आत्म गुणों की स्वानुभूति जो न करा सके, जो देहादि का संबंध भी न छुड़ा सके, अरे ! मन का भी संबंध छुड़ाना चाहिए। मन साध्य नहीं है, यह तो साधन मात्र है। यह नहीं भूलना चाहिए। मात्र मन को ही साधना है, वश करना है, मन को ही मारना है, इत्यादि बातें प्राथमिक कक्षा की हैं। इसमें कोई संदेह नहीं है। लेकिन ये अन्तिम लक्ष्य नहीं है। ध्याता साधक मात्र यहाँ तक ही आकर रुक जाय और थोड़ी देर के लिए संकल्प—विकल्प रहित मन हो जाय और यदि यही कहते रहे कि मैंने ध्यान साध लिया है, मुझे प्रतीति—अनुभूति काफी ऊँची कक्षा की हो चुकी है तो वह भ्रान्ति—भ्रमणा में ही रह जाएगा। याद रखिए मृगमरीचिका के दिखाई देने में सच्चे जल का कोई अंशमात्र भी संबंध नहीं है। यह तो भ्रान्ति है—भ्रमणा है। ठीक इसी तरह थोड़ी सी मन की कहीं स्थिरता देखी कि बस, उसे ध्यान मान लेना यह कहाँ तक उचित है ? इसलिए मात्र मन को साधना ही इतिश्री नहीं है। अभी आगे काफी ज्यादा बढ़ना है।

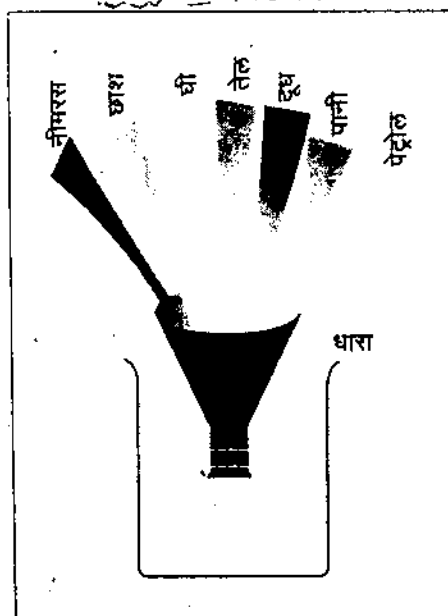
ध्यान का शब्दार्थ—

शब्द एवं अर्थ की व्युत्पत्तियों का जो अजोड़ खजाना है ऐसा संस्कृत वाङ्मय अनेक प्रकार के कोषों का मूलभूत भण्डार है। अभिधान आदि कोषों में ध्यान शब्द की उत्पत्ति “ध्यै” धातु से बनी है। यह “ध्यै” धातु चिन्ता एवं ध्यान करने अर्थ में। इसलिए धात्वर्थ साथ में देते हुए कहा है कि— “ध्यै—चिन्तायाम्” “ध्यै—ध्याने” ऐसा धात्वर्थ दिया है। लक्षण या व्याख्या करते समय “ध्यायते—चिन्त्यते अनेन तत्त्वमिति ध्यानम्”। जिससे तत्त्वों का चिन्तन, ध्यान किया जाय वह ध्यान कहलाता है। चिन्तन भी कैसा ? इसके लिए स्पष्टीकरण किया है कि— “एकाग्रचित्तनिरोधो ध्यानं” चित्त जो मन है उसकी एकाग्रतापूर्वक चित्त को रोककर तत्त्वचिन्तन किया जाय वह ध्यान है। बात भी सही है, यदि एकाग्रता न रखी जाय, या एकाग्रतापूर्वक चित्त को रोका न जाय तो ध्यान नहीं कहलाएगा। किसमें रोकना है ? तत्त्व के चिन्तन में। यहाँ निरोध शब्द रोकने के अर्थ में

प्रयुक्त है। अर्थात् यह चित्त दो प्रकार का हुआ १) अनिरोध चित्त और २) निरोध चित्त। १) पहला जो तत्त्व में नहीं रोका हुआ, नहीं रुका हुआ चित्त जो सतत भ्रमणशील है, भटकता ही रहता है। भ्रमणशील होने के कारण वैसा मन तत्त्वों का स्पर्श भी नहीं करता है। संसार में अनन्त पदार्थ हैं। अनन्त वस्तुएँ हैं। उन अनन्त के प्रति प्राप्ति—अप्राप्ति, पसन्द—नापसंदादि की इच्छाएँ बनानेवाला मन एक से दूसरे पदार्थ पर एक से दूसरी वस्तु पर इस तरह छलांगे लगाता हुआ भागता ही रहता है। अतः अनिरुद्ध मन भटकनेवाला है।

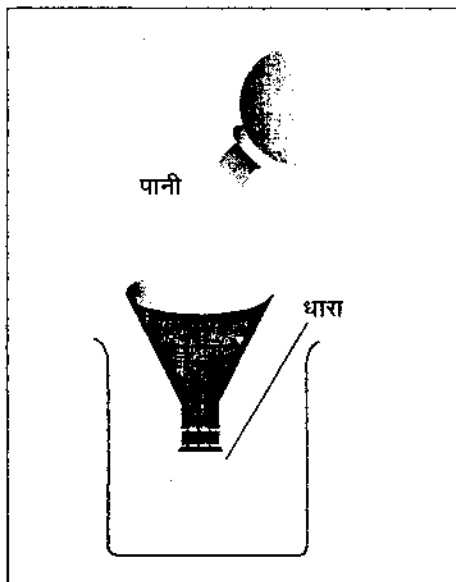
दूसरा पुरुषार्थ— प्रयत्नपूर्वक तत्त्वचिन्तन की प्रक्रिया में पिरोया हुआ चित्त थोड़ी देर तक तत्त्वों के चिन्तन में से आनन्द का आस्वाद ले ले यही निरुद्ध मन है। निरुद्ध अर्थात् निरोध किया हुआ, रोका हुआ, मन है। बस, बाह्य जगत् की अनन्त वस्तुओं पर विचारों के द्वारा भटकनेवाले इस मन को थोड़ी देर के लिए भी निरुद्ध करके तत्त्वों का चिन्तन करना ही ध्यान है। बस, इस चित्त के थोड़ी देर भी रुकने की प्रक्रिया को एकाग्रता कहते हैं।

आखिर मन के भटकने का तात्पर्य क्या है? तो साफ कहते हैं कि— 'विचार'। बस, विचारों को करते ही रहना। अविरत—सतत विचार को करते ही जाना। इसलिए अविरतता या सातत्यता को सूचित करने के लिए 'धारा' शब्द जोड़कर विचारधारा शब्द बनाया गया है। "धारा" शब्द बहती हुई अखंडितता को सूचित करता है।



जो निरंतर बिना टूटे बहती ही रहे, चाहे वह तेल की हो या पानी की, उसमें पदार्थ का कोई महत्व नहीं है। धारा का महत्व है। बहते तेल या नल से बहते पानी की धारा टूटती नहीं है, ठीक उसी तरह चलते विचारों की धारा नहीं टूटती है। लेकिन इस निरंतर अखंड बहती हुई धारा को ध्यान नहीं कहा जा सकता। इस पहले चित्र में देखिए— धारा एक ही दिखाई देती है। लेकिन उसमें आनेवाले

६—७ अनेक द्रव्य पदार्थ हैं । इनमें पेट्रोल, पानी भी है, दूध, तेल भी है, घी, और छास तथा नीमरस भी है । इस तरह इतने सब द्रव्य जो भिन्न—भिन्न हैं, स्वतंत्र हैं, लेकिन सब मिलकर एकरूप होते जाते हैं । ठीक इसी तरह कभी पत्नी, कभी पुत्र, पौत्र, व्यापार—धंधा, परमात्मा, रोग, बीमारी, मृत्यु आदि सैंकड़ों विषयों के विचार आते ही जाय और वे सब छत्री में एक साथ इकट्ठे बनकर धारा का रूप ले लें तो क्या उसे ध्यान कहा जा सकता है ? जी नहीं । कदापि नहीं ।



दूसरा चित्र भी देखिए... इसमें एक ही पदार्थ पानी है । उसे ही छत्री से छाना जा रहा है । एक ही पदार्थ की एक ही प्रकार की अखंड धारा चल रही है । बस, ऐसा ही ध्यान होता है । पहले में अनेक पदार्थ थे और अनेकों की बनी एक धारा थी । उसमें पानी भी है, दूध—छास और तैलादि भी हैं । यदि इन सब प्रवाही पदार्थों की बनी हुई एक ही धारा यदि सीधे हम हमारे मुँह में जीभ पर ले लें तो किसका स्वाद आएगा ? किसके स्वाद का आनन्द या मजा आएगी ? एक की भी नहीं । क्योंकि अनेक पदार्थ हैं । और उनमें

भी परस्पर विरुद्ध स्वादवाले विरोधी पदार्थ भी हैं । और उनमें भी एक धारा बनकर जीभपर आ रहे हो तो किसका स्वाद आए ? किसका आनन्द आए ? संभव ही नहीं है ।

ठीक इस दृष्टान्त की तरह पत्नी, पुत्र, पौत्र, पिता, परमात्मा, व्यापार—धंधा, स्वर्ग, रोग, बीमारी और मृत्यु आदि सैंकड़ों निमित्त हैं । इन सब विषयक विचार आते ही रहें तो किस विषय के विचार का आनन्द आएगा ? एक का भी नहीं ! संभव भी नहीं है । एक समय एक विचार एक विषय का आया कि इतने में ही दूसरे समय दूसरा विचार दूसरे ही विषय का आया तो वह आनन्ददायक कैसे बनेगा ? इसी चलते क्रम को यथावत् देखते ही रहें तो ख्याल आएगा कि ... प्रति क्षण—क्षण समय—समय विचार बदलते ही रहते हैं । विचारों का यह प्रवाह सतत आयुष्य भर चलता ही रहता है । यह चक्र के रूप में घूमता

फिरता ही रहता है। इसमें इतने ज्यादा विषयों के विचार इतनी तीव्रता के साथ इकट्ठे हो जाते हैं कि किस किस विचार के आनन्द को लूटेंगे आप ? जैसे द्रुतगति से चलती हुई डबल फास्ट या, सुपरफास्ट ट्रेन चलती हो, उस समय कितने भी रेल्वेस्टेशन आकर चले जाय तो किस रेल्वे स्टेशन के दृश्य को देखने का आनन्द आपको आएगा ? इतना सरल दृष्टान्त तो एक छोटा बच्चा भी समझ सकता है। या दूसरा दृष्टान्त देखिए— आप सिनेमा देखते ही हैं। उसमें प्रोजेक्टर पर मोटर द्वारा रील चलती है और सामने के परदे पर... प्रोजेक्शन द्वारा चित्र की छाप पड़ती है। यदि मोटर संपूर्ण तेज गति से फास्ट दौड़ाई जाय तो क्या परदे पर के छायाचित्र को देखकर आप आनन्दित हो सकेंगे ? जैसे कि वीडियो वी. सी. आर में कैसेट डालकर उसे फुलस्पीड में फास्ट आगे दौड़ाई जाय तो एक साथ कितने ही दृश्य निकल जाएंगे। उस समय देखनेवाले को कैसे मजा आएगी ? कुछ भी ख्याल नहीं आएगा। ठीक उसी तरह यहाँ भी यही होता है। एक साथ अनेक विचार माला की तरह प्रवाहबद्ध आते ही रहेंगे तो किसी भी विचार का आनन्द कैसे आएगा ? और एक क्षणभर के लिए ही विचार और उसी एक क्षण के लिए सुख भी रहेगा। ऐसी स्थिति में विचारक व्यक्ति ऊब जाएगा। परेशान हो जाएगा। हो सकता है कि वह अपने ही विचारों से परेशान हो जाय। ऐसी स्थिति में पागलपन की भी संभावना बढ़ जाती है। अतः स्वस्थ मनवाले का लक्षण है कि सीमित—मर्यादित विचार कर पाए। विचारों में स्थिरता आ सके। और विचार रुक सके। एक के पीछे एक तेज गति से विचार न आए। जी हाँ, ध्यान विचारात्मक है और प्रत्येक विचार ध्यानात्मक है। लेकिन वह ध्यान शुभ भी हो सकता है और अशुभ भी हो सकता है। इसलिए ध्यान शब्द विचार करने, सोचने, चिन्तन करने आदि अर्थ में प्रयुक्त है।

चिन्ता और चिन्तन—

संसार में चिन्ता और चिन्तन इन दोनों स्थितियों का अस्तित्व है। सभी लोग इनसे अच्छी तरह परिचित हैं। आखिर दोनों विचारात्मक ही हैं। चिन्ता करनेवाले को भी विचार ही करना है। और चिन्तन करनेवाले को भी विचार ही करना है। विचारधारा की प्रक्रिया दोनों में समानरूप है। प्रश्न यह उठता है कि तो फिर दोनों में भेद क्या है क्या चिन्तन करनेवाले को चिन्ता करता है ऐसा कहा जा सकता है ? या फिर चिन्ता करनेवाले को चिन्तन करता है ऐसा कहा जा सकता है ? जी नहीं। हो सकता है कि दोनों के बाह्य स्वरूप में समानता भी दिखाई दे। जैसे कि कहीं समंदर के किनारे पर बैठे मनुष्य को देखिए वह

अपने ललाट पर हथेली रखकर, या कानपट्टी वाले ललाट भाग पर हाथ की अंगुली रखे हुए स्थिर बैठा—बैठा कुछ भी विचार करें, ऐसी स्थिति में क्या पता चले कि यह चिन्ता कर रहा है कि चिन्तन ? बाह्य स्वरूप में समानता होते हुए मात्र आन्तरिक स्थिति में ही भेद है । आखिर क्या भेद है ?

दोनों विचारात्मक होते हुए भी विषय पर आधार रहता है । किस विषय के विचार चल रहे हैं ? ज्ञान जैसे ज्ञेय पदार्थों के साथ संलग्न हैं । किस प्रकार के ज्ञेय पदार्थों को आधार बनाकर ज्ञान की धारा चल रही है उन विषयों के विचार चलते रहते हैं । इसलिए चिन्ता और चिन्तन दोनों के ज्ञेय विषय का क्षेत्र ही सर्वथा भिन्न है । चिन्ता के विषय में—पत्नी—पुत्र—परिवार, धन—व्यापारादि का प्रधान रूप से संबन्ध रहता है । जबकि... चिन्तन की धारा के लिए आत्मा, परमात्मा, मोक्ष, धर्म, जिनवचन आदि अनेक विषय रहते हैं इस तरह दोनों का विषय—क्षेत्र सर्वथा भिन्न है ।

कभी कोई ऐसा नहीं कह सकता है कि... मैं मेरी पत्नी का चिन्तन करता हूँ । पुत्री बड़ी हो चुकी है उसका, या पुत्र की शादी के बारे में चिन्तन कर रहा हूँ । जी नहीं, पत्नी—पुत्र—पुत्री और शादी आदि निमित्त चिन्तन करने योग्य नहीं हैं । ये सब चिन्ता के विषय हैं । वह ऐसे कह सकता है कि मैं मेरी पत्नी के बारे में, पुत्री की शादी नहीं हो पा रही है, पुत्र का रोग नहीं मिट रहा है, इस तरह चिन्ता करता हूँ । ठीक इसी तरह कोई ऐसा भी नहीं कह सकता है कि... मैं भगवान की चिन्ता करता हूँ । या मैं मोक्ष की चिन्ता करता हूँ । या मैं मेरी आत्मा की चिन्ता करता हूँ । जी नहीं । यहाँ चिन्ता शब्द का प्रयोग ही गलत है । चिन्तन शब्द ही सुयोग्य है । क्योंकि आप भगवान की चिन्ता क्या करोगे ? कुछ भी नहीं, अतः आप परमात्मा का चिन्तन करिए, स्व आत्मा का भी चिन्तन करिए और मोक्षादि विषयों का भी चिन्तन करिए । यही उचित है ।

ध्यान की पद्धति—

चिन्तन भी विषयरूप होने से विचार करने योग्य है । और चिन्ता भी विषयात्मक होने के कारण विषयानुरूप विचार करने योग्य है । अतः चिन्ता को रोकना और चिन्तन की प्रक्रिया को बढ़ाना ही ज्यादा श्रेयस्कर है । चिन्ता को रोकना और चिन्तन को बढ़ाना यही ध्यान में प्रवेश करने की भूमिका है तो फिर प्रश्न उपस्थित होगा कि ध्यान और चिन्तन में क्या अन्तर है ? क्या ध्यान ही चिन्तन है ? और चिन्तन ही ध्यान है ? या क्या ऐसा कहा जा सकता है कि जो जो ध्यान है वह वह चिन्तन है या जो जो चिन्तन है वह वह ध्यान

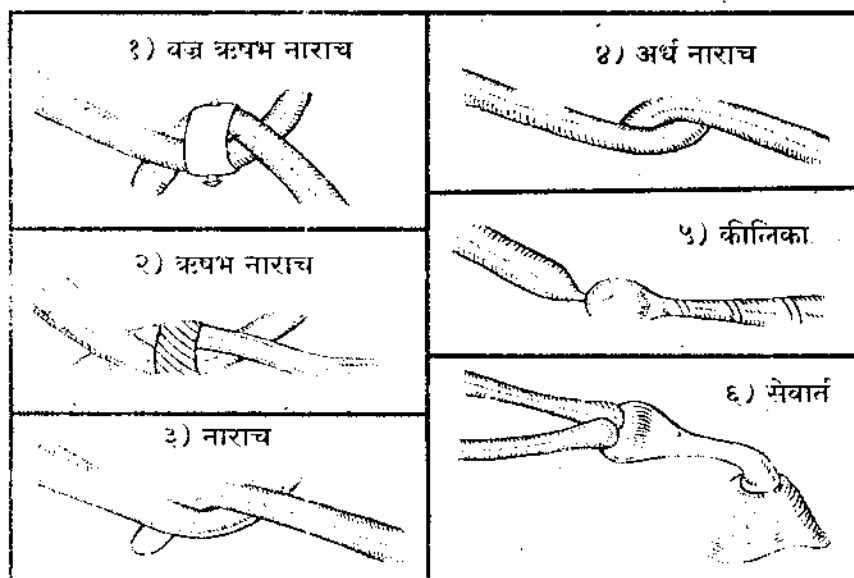
है ? जी नहीं । व्याप्ति की दृष्टि से देखने पर ध्यान को चिन्तनात्मक कहा जा सकता है । लेकिन चिन्तन मात्र को ध्यान नहीं कहा जा सकता । क्योंकि सभी प्रकार के चिन्तन में विषय की स्थिरता नहीं भी रहती है । और चिन्ता से चिन्तन में या चिन्तन से चिन्ता में जाने आने के लिए बीच में इतनी बड़ी दिवाल नहीं है । चिन्ता से तो चिन्तन में आना बहुत मुश्किल जैसा है लेकिन चिन्तन में से चिन्ता में एक क्षण में संभव है । अतः बीच की दिवाल कोई बड़ी नहीं अपितु वह तो पतलासा पारदर्शक परदा मात्र है । जो कि एक तरफ से पारदर्शक है । अतः चिन्तन से चिन्ता में जाना सरल है लेकिन चिन्ता से चिन्तन में आना इतना ज्यादा आसान नहीं है, बहुत ही ज्यादा कठिन है । जैसे स्व आत्मा का चिन्तन करता करता साधक क्षण भर में मेरी आत्मा का क्या होगा ? मैं सुखी बनूँगा या दुःखी बनूँगा ? अरे रे ! इस तरह वह चिन्ता में चला जाएगा । परमात्मा के विषय में चिन्तन करते करते ... साधक अरे अरे ! मैंने मेरा अपना मंदिर बनाया है, मैंने भगवान की मूर्ति नई भराई है ? अरे ! क्या होगा ? कौन पूजा करेगा ? मेरे पीछे कौन संभालेगा ? इत्यादि विचार धारा से चिन्ता के गर्त में घसीटा चला जाएगा । उसे पता भी नहीं रहेगा । और फिर किसी के पूछने पर यही कहेगा कि मैंने परमात्मा के विषय का आज बहुत ज्यादा ध्यान किया ।

जैसा कि कल्पसूत्र में दृष्टान्त आता है— वृद्धावस्था में दीक्षा ग्रहण कर मुनि—श्रमण बनकर इरियावहीया की क्रिया में कायोत्सर्ग करते हुए जीव दया चिन्तवता हुआ मेरे ४ बेटे समयपर उठेंगे नहीं, बुवाई की मौसम आ चुकी है, जमीन में हल नहीं चलाएंगे, बीज नहीं बोएंगे, खेती पूरी नहीं करेंगे, खेती का ध्यान नहीं रखेंगे तो क्या होगा ? फिर क्या खाएंगे ? पीएंगे ? अरे ! इनका बिचारों का क्या होगा ? इस तरह काफी लम्बे काल तक सोचते ही रहे । जबकि गुरुदेव ने पूछा— भाग्यशाली ! क्या बात है ? इरियावहिया के कायोत्सर्ग में तो सिर्फ एक लोगस्स ही गिनना रहता है और उसमें आपको इतना ज्यादा लम्बा समय कैसे लगा ? कालक्षेप बहुत ज्यादा हुआ । तब सहजभाव से मुनि ने कहा कि मैं तो जीवदया की चिन्तवना कर रहा था । गुरु ने पूछा— बताइये, ऐसा कैसा और क्या चिन्तन कर रहे थे ? ... तब नूतन मुनि ने जो कुछ किया था वह स्पष्ट बता दिया । तब गुरु ने कहा— देखो भाग्यशाली ! यह तुमने चिन्तन नहीं यह तो एक मात्र चिन्ता ही की है । यह क्या किया ? इसमें तो कर्म क्षय होने के बदले ऊपर से कर्म का बंध हुआ । इस तरह यदि चिन्तन में से चिन्ता में चले जाएं तो वह चिन्तन नहीं, चिन्ता ही कहलाएगी और निरर्थक कर्मों का बंध ही ज्यादा होता रहेगा । अतः चिन्ता से बचना, छोड़ना और चिन्तन को बराबर अपनाना चाहिए, बराबर समझना चाहिए ।

ध्यान की व्याख्या—

तत्त्वार्थ सूत्रकार ने एक विशेषण जोड़कर ध्यान की व्याख्या इस प्रकार की है—
 “उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्” । (९/२७) पू. वाचक मुख्यजी ने यहाँ पर
 “उत्तमसंहनन” अर्थात् ६ संघयणों में से पहले, दूसरे और तीसरे ऐसे उत्तम संघयणवालों
 को ही ध्यान का अधिकारी क्यों बताया ? उनके ही वाचक ऐसे विशेषण को जोड़ने का
 तात्पर्य अभी तक बुद्धिगम्य नहीं बन पाया । रहस्यार्थ अभी भी आवृत्त ही रहा है । अतः
 ऐसे उत्तम संघयणवालों का, या इन संहननों से युक्त जो साधक एकाग्ररूप से चिन्ता का
 निरोध करता है उसको ध्यान कहते हैं ॥ उत्तम संघयण (संहनन) के विषय को भी थोड़ा
 समझ लिया जाना अनुसंधान की दृष्टि से उत्तम ही लगता है—

६ संघयण का सामान्य स्वरूप—



संघयण या संहनन का सीधा तात्पर्य है अस्थियों के संधान की प्रक्रिया । हमारा जो
 शरीर बना हुआ है उसमें सिर से पैर तक हड्डियाँ फैली हुई हैं । इनका बहुत बड़ा आधार
 है । ये अस्थियाँ कहीं न कहीं एक दूसरे के साथ जुड़ी हुई भी हैं ही । अस्थि संयोजन, या
 संधान या जुड़ना काल-काल के क्रम में भिन्न-भिन्न प्रकार का था । वास्तव में तो यह
 मात्र शरीर निर्माण करते समय शरीर के बनने की क्रिया के काल में होता है । ८ प्रकार के

कर्मों में नाम कर्म शरीर रचना की जिम्मेदारी संभालता है। नाम कर्म की भिन्न भिन्न प्रकार की १०३ प्रकृतियाँ हैं। प्रायः शरीर निर्माण की व्यवस्था यह नाम कर्म करता है। इसमें संहनन नाम कर्म का एक विभाग है। अस्थियों के सन्धिस्थान यह भिन्न भिन्न रूप से जोड़ता है और उस प्रकार की मजबूती प्रदान करता है। यह स्वरूप आप यहाँ इस चित्र में स्पष्ट रूप से देखकर समझ सकते हो। ये ६ प्रकार इस तरह हैं—

१) वज्रऋषभ नाराच, २) ऋषभ नाराच, ३) नाराच, ४) अर्धनाराच, ५) कीलिका, और ६) सेवार्त नाम से छः प्रकार के हैं।

१) वज्रऋषभ नाराच संहनन— आपने कभी बन्दरी के बच्चे को उसकी माँ के साथ चिपके हुए देखा ही होगा। कितनी लम्बी छलांग लगाने पर भी वह गिरता नहीं है। इतनी मजबूती से बच्चे ने पकड़कर रखा है। ठीक उसी तरह अस्थियाँ भी एक दूसरे के साथ मजबूती पूर्वक जुड़ी हुई रहे यह संहनन का कार्य है। वज्र का अर्थ है कीला, ऋषभ अर्थात् पट्टा और नाराच अर्थात् मर्कट बंध। चित्र नं. १ के अनुसार— दोनों तरफ मर्कटबंध, ऊपर हड्डियों का ही पट्टा, और उसके बीच में आरपार कीला लगा रहे इस तरह तीनों प्रकार की अस्थियों की पक्कड़ अर्थात् मजबूती को पहला वज्रऋषभ नाराच संघयण कहते हैं। यह सर्वोत्तम कक्षा की मजबूती है। बड़ी पत्थर की शिला भी ऊपर से गिर जाय तो भी अस्थिसंघिस्थान की ऐसी मजबूती जो न टूटे। याद रखिए, ऐसा पहले वज्रऋषभ नाराच संघयण के शरीरवाले जीव ही मोक्ष में जाने के अधिकारी कहलाते हैं। इन्हें ही मोक्षगामी, मोक्षगमन योग्य देहधारी कहते हैं। तीर्थंकर तथा चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव—प्रतिवासुदेव आदि छः शलाका पुरुषों को अनिवार्य रूप से ऐसा शरीर मिलता है। तभी वे तद्भवमोक्षगामी जीव कहलाते हैं। अतः ऐसे मोक्ष में जानेवालों के देह की स्थिति इतनी ज्यादा मजबूत होती है तो फिर मन की मजबूती तो और कितनी ज्यादा होती होगी? जिससे उनका ध्यानादि कितनी उत्तम कक्षा का होता होगा? यद्यपि ध्यान का आधार शरीर नहीं है मन है, लेकिन फिर भी ध्यान—साधनार्थ योग साधना सहयोगी आवश्यक है। जिस योग में अष्टांग योग की प्रक्रिया में आसन भी एक प्रकार है। अतः विविध प्रकार के आसनों में भी घण्टों तक—लम्बी काल अवधि तक स्थिर बैठने या, कायोत्सर्ग में स्थिर रहने का जो अभ्यास होना चाहिए वह तो इसी काय बल से आएगा। उपलब्ध होगा।

२) ऋषभ नाराच— चित्र नं. २ की तरह दोनों तरफ मर्कटबंध है, और पट्टा भी है लेकिन बीच में कीला नहीं है। वज्र निकल गया। अतः इसे मात्र ऋषभनाराच नाम दिया

है। पहले और दूसरे में कीले का अन्तर है। अतः कीले के आधार पर मजबूती जितनी ज्यादा थी दूसरे में उतनी कम हो गई। और कोई ज्यादा अन्तर नहीं है।

३) नाराच संहनन— चित्र नं ३ की तरह पहले दूसरे में जो कीला और पट्टा है वह तीसरे में दोनों ही नहीं है। सिर्फ मर्कट बंध है। अतः नाराच नाम दिया है।

तत्त्वार्थ सूत्रकार ने जो सूत्र में “उत्तम संहनन” उत्तम कक्षा के संघयणवाले को ध्यान का अधिकारी बताया है उससे उन्होंने अभिप्रेत आशय से ऊपरोक्त ३ संहनन लिये हैं।

४) अर्ध नाराच संहनन— इसमें कीला, पट्टा आदि कुछ भी नहीं होता है और मात्र मर्कट बंध भी एक तरफ होता है।

५) कीलिका संहनन— देखिए क्रमशः पहले से मजबूती कम होती होती पाँचवे में तो मात्र कीली के सहारे सिर्फ अस्थि के संधिस्थानों की मजबूती रहती है। बस, और कुछ भी नहीं।

६) सेवार्त (छेवट्टु) संघयण— इसके दो नाम हैं। सेवार्त और छेवट्टु दोनों नाम से कहते हैं। इसमें मात्र अस्थियों के दो किनारे सिर्फ एक दूसरे को स्पर्श करते रहे हुए हैं। जैसे उखल में मूसल स्पर्शमात्र करके रहता है वैसे। स्पर्श के कारण छेदस्पृष्ट नाम है। वर्तमान काल के इस पाँचवे आरे के कलियुग में सभी जीवों का यही छट्टा संहनन बना हुआ है। इसमें अस्थि की किसी भी प्रकार की मजबूती नहीं रहती है। नाम मात्र है। यही कारण है कि आए दिन अस्थि खिसक जाती है। हट जाती है। और कई बार हाडवैद्य वापिस संधिस्थान में सही बैठते भी हैं। सामान्य रूप से स्नानगृह में साबू के ऊपर पैर फिसल जाए और गिरने मात्र से हड्डी खिसक भी जाती है और कई बार टूट भी जाती है। *Bone Fracture* तो अक्सर होते रहते हैं।

अब पहले संघयण से क्रमशः नीचे उतरते उतरते आप ही देखिए किस तरह क्रमशः हड्डी की मजबूती कम — कम से कम होती हो जाती है। इसलिए आज का यह शरीर मोक्ष प्राप्ति के अनुकूल भी नहीं रहा। शायद आप सोचेंगे कि— मोक्ष का हड्डी के साथ क्या संबंध है? आपकी बात भी सही है, लेकिन ध्यानादि—योगादि की साधना में ध्यान करना हो, कायोत्सर्ग करना हो, विहार करना हो, पर्याकासन वीरासन आदि अनेकविध आसन करने हों तो तथा घण्टों तक समाधि में स्थिर बैठना हो, आदि में शरीर की काफी उपयोगिता रहती है। यहाँ तक कि मरणान्त उपसर्ग भी सहन करने हो तो उसके लिए भी संघयण—संस्थानादि की काफी आवश्यकता रहती है। इस तरह ध्यान—योगादि की

साधना में उत्तम कक्षा के संहननों की आवश्यकता रहती है। तद्भव मोक्षगामी जीवों को उत्तम संहननों की आवश्यकता रहती है। क्योंकि उसी भव में यदि मोक्ष में जाना ही हो तो ध्यान—योग—तप—कायोत्सर्ग—चारित्र आदि तो अंगीकार करना ही पड़ेगा। बिना ध्यानादि के तो मोक्ष की प्राप्ति संभव भी नहीं है। अतः उसी भव में मोक्ष में जानेवाले जीवों के लिए उत्तम कक्षा के संहनन होना जरूरी है। पहले ३ संहनन उत्तम कक्षा के हैं, इसमें से प्रथम संहनन धारण करनेवाला—स्वामी मोक्ष में जाने के लायक योग्य कहलाता है। जैसे कि तीर्थकर, गणधर, चक्रवर्ती—आदि ६३ शलाका महापुरुष ऐसे प्रथम उत्तम संघयणवाले ही होते हैं। इनमें से तीर्थकर तथा गणधरों का ध्यानादि सर्वोत्कृष्ट कक्षा का रहता है। अतः वे तो अनिवार्य रूप से मोक्ष में जाते ही हैं। लेकिन चक्रवर्ती आदि उस कक्षा की ध्यान साधनादि करे, चारित्रादि ग्रहण करे तो मोक्ष गमन की संभावना है। अन्यथा नहीं। इन संघयणों में से आज किसी को उत्तम कक्षा के संघयण प्राप्त नहीं हुए हैं, और फिर भी यदि कहता है कि मैं मोक्ष में जाऊँगा तो निश्चित समझिए कि वह मिथ्या प्रलाप मात्र है। अतः तदनुरूप योग्यता—पात्रता जो शास्त्रकार महर्षी प्ररूपित करते हैं वह होनी ही चाहिए। इसीलिए तत्त्वार्थ सूत्रकार महर्षी ने सूत्र में “उत्तम संहनन” विशेषण साथ में जोड़ा है।

यद्यपि “उत्तम संहनन” विशेषण जोड़ने से तात्पर्य मोक्षगमनोपयोगी ध्यान—योग की आवश्यकता से है। मोक्ष अन्तिम फल है, अतः अन्तिम फल की प्राप्ति के लिए अन्तिम कक्षा का ध्यान करना भी उतना ही आवश्यक है। ध्यान तो कई किसम के हैं। मोक्षगमनोपयोगी ध्यान भी है और संसारवर्धक ध्यान भी है। चिन्ता भी ध्यानरूप है और चिन्तन भी ध्यान रूप है। आप कैसा ध्यान करते हैं उस पर आधार रहता है। अतः उत्तम संहनन विशेषण चरम कक्षा के ध्यान—शुक्लध्यान को सूचित करता है। अतः उत्तम कक्षा के शुक्लध्यान करने के लिए उत्तम संहनन की उपयोगिता सूत्रकार ने सूचित की हो ऐसा विशेषण के निर्देश से स्पष्ट लगता है।

ध्यान का लक्षण—“तत्र ध्यानं—चिन्ता—भावनापूर्वकः स्थिरोऽध्यवसायः।” ध्यान विचार ग्रन्थकार ने ध्यान के लक्षण में चिन्ता शब्द का प्रयोग चिन्तन के अर्थ में प्रयुक्त किया है। इस से व्याख्या स्पष्ट की है कि—“चिन्तन और भावना से उत्पन्न हुए स्थिर अध्यवसाय ही ध्यान कहलाता है।” यहाँ सरलीकरण करने से यह लक्षण जल्दी समझ में आएगा। तत्त्वों के चिन्तन तथा अनित्यादि भावनाओं पूर्वक अध्यवसाय अर्थात् भाव—विचार जो उत्पन्न होते हैं उनमें यदि स्थिरता आ जाय तो उसे ध्यान कहते हैं। यहाँ

एक बात स्पष्ट होती है कि— अध्यवसाय दो प्रकार के होते हैं— एक 'स्थिर अध्यवसाय' और दूसरे 'अस्थिर अध्यवसाय' हमारे मनोयोग से निरन्तर चलते हुए विचार जो अखण्ड रूप से निरन्तर चलते ही रहते हैं, धाराबद्ध होने के कारण विचारधारा कहलाती है। एक—दो विचार हो तो विचार कह सकते हैं लेकिन क्रमशः सैकड़ों अनगिनत विचार आते ही रहते हैं। विचारों का आधार विषयों पर निर्भर है। विषय ज्ञेय पदार्थों पर अवलम्बित है। इसलिए एक ही विषय के एक ही दिशा में निरन्तर विचार आते ही रहे तो सर्वोत्तम है। लेकिन वैसा होता नहीं है। अक्सर विचारों का समूह जो उमड़ता है वह अनेक ज्ञेय पदार्थों के विषयों पर मन के छलांग लगाकर भागते रहने के कारण वैसा होता है। विचारों की शृंखला चलती ही रहती है। जैसे एक फूल हो तो तो ठीक है उस एक का ही विचार आए। लेकिन फूलों की माला बने तो उसमें रंग—बिरंगे कई किसम के भिन्न—भिन्न फूल रहते हैं। उन सबको एक साथ देखते—देखते फूलों की भिन्न—भिन्न जातियाँ, भिन्न—भिन्न रंग तथा भिन्न—भिन्न प्रकार की सुगंध आती है। इस तरह रंग, जाति और सुगंध तीनों विषय एक साथ एकत्रित हो चुके हैं। अब आप ही सोचिए सबके विचार एक साथ आते रहेंगे तो मन स्थिर कहाँ किस पर होगा? अरे। भौरा अनेक फूल होने के बावजूद भी किसी एक फूल पर थोड़ी देर तक तो स्थिर होकर बैठता ही है, तो ही पराग कण संचित कर पाएगा लेकिन यह मन—भ्रमर क्षण मात्र भी कहाँ किसी एक पर स्थिर हो ही पाता है? अतः विचार प्रवाहबद्ध आते ही रहते हैं। स्थिरता नहीं आती है। विचार कहीं किसी एक पर स्थिर हो तो ध्यान कहा जा सकता है। ऐसी स्थिति में हमें विषय की न्यूनता, क्षेत्र—विस्तारादि घटाते—घटाते कम करते हुए निर्धारित किसी एक विषय पर आकर स्थिर होना चाहिए। तब ध्यान बन पाएगा। अतः फूलों के रंगों, जातियों तथा सुगंधादि कई विषय जो इकट्ठे हो चुके हैं उनमें से किसी एक फूल पर केन्द्रित होना चाहिए। अब एक फूल में भी रंग भिन्न—भिन्न हो सकते हैं, सुगंध, जाति भिन्न—भिन्न होती है। अतः इनमें से भी कई अतिरिक्त विषय निकालकर हमें किसी एक विषय पर, एक रंग पर ही केन्द्रित होना चाहिए। बस, एक रंग का एक ही विचार करना चाहिए और उसमें भी उस एक विचार को स्थिर रखकर कुछ समय तक पकड़कर रखना चाहिए। बस, यह स्थिर स्थिति ध्यान कहलाएगी।

लेकिन स्वैरविहारी मन बन्दर की तरह क्षण—क्षण में एक विषय पर से दूसरे विषय पर छलांग लगाने का आदि बन चुका है। बस, अनादिकालीन इसी आदत के वशीभूत बनकर एक विचार पर स्थिर हो नहीं पाता है। और सैकड़ों विषयों पर उछल कूद करते हुए सुख—आनन्द पाने की मस्ती में घूमता है, भटकता है। लेकिन उसे यह मालूम नहीं है कि... उसमें सुख नहीं, मजा नहीं लेकिन दुःख ही मिलनेवाला है।

मन की अस्थिरता—चंचलता का कारण—

आखिर मन इतना ज्यादा अस्थिर—चंचल—चपल है इसका कारण क्या है ? पहले जिसकी विचारणा कर आए हैं— ऐसे एक मात्र मोहनीय कर्म की प्रकृतियों के उदय के कारण ऐसा होता है । अन्यथा जड मन की क्या हैसियत है कि... यह चंचल—चपल हो सके ? इतना ज्यादा दौड़ भाग सके ? जी नहीं ? इतना दुनिया भर का सोच सके, विचार कर सके । इस बात में कोई दम नहीं है । एक मात्र मोहनीय कर्म की भिन्न—भिन्न प्रकृतियों का उदय ही कारण रूप है । मोह कर्म आत्मा के ज्ञान को खा जाता है और अपने राग—द्वेष से रंग देता है । फिर राग—द्वेष से रंगीन बनाकर—रंगकर मन विचार रूप बनाकर—वचन योग से बाहर फेंकता है । इस तरह मोहनीय कर्मजन्य—मोह विषयक चंचलता—चपलता प्रकट होती है । निमित्तमात्र बिचारा मन दोषित होता है । आक्षेप—आरोप सब मन पर आता है । और सब ध्यान—योग की दुकानदारी चलानेवाले मन को मारने, मन को वश करने, स्थिर करने के लिए पीछे पड़ते हैं, सिखाते हैं । लेकिन उस अस्थिरता के कारणभूत मोहनीय कर्म के बारे में कोई विचार तक नहीं करता है । अतः परिणाम में सफलता प्राप्त नहीं होती है । आखिर कैसे सफलता मिलेगी ? लगी आग से निकले हुए धुएँ पर यदि कोई आकाश में पाइप लाइन से पानी के फुव्वारा से मारा भी चलाता रहे तो क्या आग बुझेगी ? जी नहीं, संभव ही नहीं है । धुँआ कारणरूप नहीं है वह तो कार्यरूप है । लेकिन उसका मूल कारण तो आग है । अतः आग बुझने पर ही धुआँ बंद होगा । ठीक उसी तरह यहाँ मन की अस्थिरता—चंचलता—चपलता कारणरूप नहीं है । ये तो कार्यरूप है । इसकी गहराई में मोहनीय कर्म की सत्ता तथा उदय कारणरूप है । अतः इस कारणरूप कर्म का उदय कम करने से, इसे टालने से, विषय-कषायों की प्रवृत्ति कम करने से ही मन की अस्थिरता—चंचलता—चपलता टलेगी । अतः सही दिशा में पुरुषार्थ करना चाहिए । मात्र मन को पकड़ने की या फिर मन को वश करने आदि की प्रवृत्ति जितनी करनी चाहिए उससे पहले हजार गुनी मेहनत मोहनीय कर्म के उदय को कैसे टालना ? इसका ध्यान रखना चाहिए । और उसके लिए सर्वप्रथम यम—नियमों का पालन करते हुए पापाश्रव, पाप की प्रवृत्ति का सर्वप्रथम निरोध करके संवर करना चाहिए । व्रत—विरति—पञ्चक्खाण की उपासना सहायक बनती है । इसके बिना आगे प्रगति संभव नहीं है । निरर्थक व्यायाम मात्र सिद्ध होगा ।

टीकाकार का कथन— “एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्” इस सूत्र की टीका के टीकाकार पू. सिद्धसेन गणि लिखते हैं कि “अग्रम्—आलम्बनं एकं च तदग्रं चेत्येकाग्रं,

एकालम्बनमित्यर्थः । एकस्मिन्नालम्बने चिन्तानिरोधः । चलं चित्तमेव चिन्ता, तन्निरोधस्तस्यैकत्रावस्थापनमित्यर्थः ॥” (१-२७)

“एकाग्र” = एक + अग्र = एकाग्र शब्द में अग्र से आलम्बन अर्थ अभिप्रेत है । एक शब्द संख्यावाची है । एक ही आलम्बन रूप जो विषय है वह एकाग्र—एकालम्बन कहलाता है । ऐसे एक विषयरूप आलम्बन में चिन्ता का निरोध करना । यहाँ चलचित्त को चिन्ता कहा है, और उसके निरोध—रोकनेपूर्वक एक विषयपर स्थिरतापूर्वक की स्थापना को ध्यान कहा है । यहाँ चिन्ता ध्यानादि क्या है यह देखें—

चलचित्त के प्रकार—

जं स्थिरमज्झवसाणं तं ज्ञाणं, जं चलं तयं चित्तं ।

तं होज्ज भावणा वा, अणुपेहा वा अहवा चित्ता ॥ २ ॥

— ध्यानशतक ग्रन्थ की दूसरी गाथा में स्पष्ट करते हुए कहा है कि— जो स्थिर अध्यवसाय है वही ध्यान है । तथा जो चंचल अध्यवसाय है वह चित्त है । ऐसा चित्त भावनारूप अनुप्रेक्षारूप तथा चिन्तास्वरूप ३ प्रकार का कहा गया है । यहाँ भावना, अनुप्रेक्षा और चिन्ता के ३ प्रकार बताकर मन को इनमें रखने घुमाने का संकेत किया है । अनन्त विषयों में घूमते—भटकते रहनेवाले इस मन को भावित करने के लिए भावनादि है । आयुर्वेद शास्त्र में एक औषध को आंवले के रस में बार—बार घूटने के लिए कहा है । उससे वह औषध भावित बनती है । संस्कारित बनती है । २१ बार आंवले का रस चढ़ाने के लिए उस औषध को २१ बार आंवले के रस में घूटनी—रखनी चाहिए । जिससे औषध की प्रकृति में परिवर्तन हो सके । और गुण करने की शक्ति बढ़ सके । कस्तूरी के साथ किसी वनस्पति को एक रात बंद डिब्बी में रखने से वह वनस्पति दूसरे दिन कस्तूरी की सुगंध से प्लावित होती है । संस्कारित होती है । ठीक उसी तरह— इस चंचल चित्त को बार—बार ज्ञान—दर्शन—चारित्र आदि का पुट देने से, अनित्यादि १२ भावनाओं तथा मैत्री आदि ४ भावनाओं के द्वारा बार—बार इस मन को सुसंस्कारित करने से वह पवित्र तथा शान्त बनकर ध्येयरूप परमात्मा के ध्यान में एकाकार बन सकता है । तथा भावयोग में ये १६ भावनाएँ संवर स्वरूप हैं । अतः अशुभ कर्मों का आत्मा में प्रवेश को रोकती हैं । मन को शुभ भाव में प्रवृत्तीशील बनाकर शुद्ध की तरफ ले जाती है ।

सद्धर्मध्यानसंधानहेतवः श्री जिनेश्वरैः ।

मैत्रीप्रभृतयः प्रोक्तछ्रुतस्वो भावनाः पराः ॥

शान्तसुधारस में कहते हैं कि— ये ज्ञानादि, अनित्यादि, तथा मैत्री आदि भावनाएँ चित्त को शुभ धर्मध्यान में जोड़ने के लिए हेतुभूत बनती हैं। ऐसा शास्त्रकार महर्षी फरमाते हैं। शुभ भावनाएँ “भवनाशिनी” कहलाती हैं। भव = संसार का नाश करनेवाली हैं। अतः “भावना भवनाशिनी” होती है। (विशेष सूचना— लेखक—पंन्यास अरुणविजय महाराज द्वारा अनित्यादि १२ भावना विषयक “शान्त सुधारस” ग्रन्थ पर दिये गए प्रवचनों का स्वयं ने ही लेखन कर लिखी हुई पुस्तक “भावना भवनाशिनी” अवश्य ही पढ़ने योग्य है। जिससे भावनाओं का स्वरूप विशद रूप से जाना जा सकता है। अतः पढ़ने का प्रयत्न करिए।)

अध्यात्मसार ग्रन्थ में पू. ठपाध्यायजी म. ने ध्यानशतक की ही बात को दोहराया है—

स्थिरमध्यवसानं यत्तद्ध्यानं चित्तमस्थिरम्।

भावना चाऽप्यनुपेक्षा चिन्ता वा तत् त्रिधा मतम्॥

स्थिर अध्यवसाय को ध्यान कहा है और अस्थिर को चित्त कहा है। जो भावना, अनुप्रेक्षा और चिन्ता के रूप में ३ प्रकार का है। निश्चित ध्येयस्वरूप में रहे हुए आत्मा के ज्ञानादि रूप परिणामवाले स्थिर चित्त को ध्यान कहा है। अनित्यादि भावना है, अनु अर्थात् पश्चात् उत्तरकाल में सेवित की जाय उसे अनुप्रेक्षा, तथा शरीर—धन—विषयादि विषयक विचारणा को चिन्ता कहा है। इनमें रहनेवाला चित्त ध्यान नहीं कहलाता है। कई बार लोग भ्रान्ति—भ्रमणा में ही रह जाते हैं। थोड़ी क्षण मात्र के लिए चिन्ता में से भावना में प्रवेश कर पाता है और इतने में तो मान लेता है कि मैं ध्यान में पहुँच गया। कई बार इस भ्रान्ति में से बाहर भी नहीं निकल पाता है।

चंचलता और स्थिरता का स्वरूप—

आपने कभी जलते हुए दीपक की ज्योति देखी ही होगी। उसकी जलती हुई लौ .. कभी स्थिर होती है और कभी—कभी बहती हवा के कारण उस लौ में भी छोटा—बड़ा



पन आता रहता है। बहती हवा के कारण दीपक की लौ या मोमबत्ती की लौ स्थिर नहीं रह सकती है। वह अस्थिर प्रकार की लौ सतत हिलती डुलती ही रहती है। लेकिन जैसे ही दीपक को आप किसी खड़े डिब्बे में रख दें, या फिर चारों तरफ कोई हवा का रोधक कुछ भी खड़ा कर देंगे तो लौ स्थिर हो जाएगी। तलघर के कमरे में जहाँ हवा नहीं आती हो वहाँ दीपक की लौ कितनी ज्यादा स्थिर रहती है? और ज्यों ही हलका सा हवा का झोंका आया कि लौ फिर स्थिरता खो बैठती है और अस्थिर बनकर जैसे मानों नाचने लगती है। जैसे नाचनेवाली नर्तकी स्थिर नहीं रह सकती है, उसे प्रतिक्षण अपने प्रत्येक अंग को हिलाना ही पड़ता है। कभी कभी भरत नाट्यम् का नृत्य करती नर्तकी कुछ क्षणों तक यदि अंगों को न हिलाते हुए स्थिर हो जाय तो दर्शक नाराज हो जाते हैं। स्तब्ध हो जाते हैं। आखिर नृत्य है, उसे तो संगीत की ताल के साथ नाचना ही अनिवार्य है। ठीक इसी तरह मन भी नाचता ही रहता है। दीपक की लौ जैसे बाहरी हवा के कारण नाचती ही रहती है, या नर्तकी बाह्य संगीत की सुरावली की ताल के साथ धिरकती ही रहती है, या सरोवर का जल बाहर से आनेवाले एक कंकड़ के कारण चलायमान हो जाता है, और उसमें उत्पन्न वमल चारों दिशा में फैलते ही जाते हैं, बस, सरोवर की शान्ति भंग हो गई। अशान्ति फैल जाती है।

ये तीनों ही दृष्टान्त चल चित्त के हैं। ठीक ऐसा ही यह चंचल—चपल मन है। भावनादि में विषयान्तर होता ही रहता है। जहाँ विषयान्तरिका का प्रमाण ज्यादा रहता है वहाँ ध्यान नहीं आता है। अतः ध्यान स्थिरता में ही होता है। तीनों दृष्टान्तों में देखेंगे की चंचलता—अस्थिरता का कारण बाहरी है। दीपक की लौ को अस्थिर करनेवाला तत्त्व बाहरी हवा है। नर्तकी को नाचाते रहनेवाला बाहरी संगीत है। और सरोवर को अशान्त करनेवाला बाहरी तत्त्व कंकड़ है। अतः निश्चित है कि बाहरी तत्त्व ही अस्थिर करता है। चंचलता—चपलता लाता है।

ठीक इसी तरह हमारे लिए भी अस्थिरताकारक बाहरी कारण है। चिन्ता के सभी विषय बाहरी हैं। शरीर, धन—संपत्ति, विषयादि बाहरी पदार्थ हैं। ये बाहरी निमित्त जैसे ही मन में आते हैं कि किसी भी तरह मन चंचल—चपल हो ही जाता है। और अनादि-कालीन स्वभाव यही है कि आत्मा बहिर्मुखी ही बनी हुई है। अतः बाहरी विषयों में मन भागता ही रहता है। अतः यह चंचल—चपल रहता है। बस, ध्यान क्या करता है? मन का अन्तर्मुखीकरण करता है। अन्तर का सीधा अर्थ है— आत्मा के सम्मुख बनना। आत्मविषयक चिन्तन करना। अपने ही अन्दर के गुणों का चिन्तन करना है। बस, यही

मन आत्मा की परिधि में ही रहे, उस परिधि से बाहर न जाने को ही स्थिरता कहते हैं और ऐसा स्थिर चित्त ही ध्यान कहलाता है। जैसे ही स्थिरता भंग हुई और मन बाहर भागा कि बाह्य विषयों में लिपट जाता है। यह अस्थिरता प्रमाद जनित है। यद्यपि बाहरी विषयों में जाना भी ध्यान है क्योंकि वहाँ भी विचारधारा प्रवृत्त है। अतः वह भी ध्यान ही कहलाता है। सिर्फ भेद इतना ही है कि... वह अशुभ ध्यान है।

ध्यान के भेद— मन जो विचारात्मक स्थिति में सतत रहता है उसके प्रत्येक विचार का विषय भी रहता ही है और विषय ज्ञेय पदार्थों के साथ संलग्न रहते ही हैं। लेकिन कैसे ज्ञेय पदार्थ, कैसे विषय की विचारणा रहती है उस पर ध्यान का आधार रहता है। इसी कारण ध्यान की शुभाशुभता बनती है। संसार में मूलभूत द्रव्य दो ही तो हैं। एक तो चेतनात्मा जो स्वयं ध्याता अर्थात् ध्यान का कर्ता है। और दूसरी तरफ जड़—अजीव—निर्जीव पदार्थ है जो ध्याता के ध्यान का विषय बनता है। अरे ! चेतन आत्मा स्वयं ही अपने ध्यान का विषय ध्येय बनना चाहिए। उसके बजाय मोहवश जीवात्मा बाहरी पदार्थों को अपने ध्यान का विषय बना देता है। परिणामस्वरूप ध्यान बिगड़ जाता है। विकृत हो जाता है। वही अशुभ ध्यान कहलाता है। ठाणांग सूत्र आगम में कहते हैं—

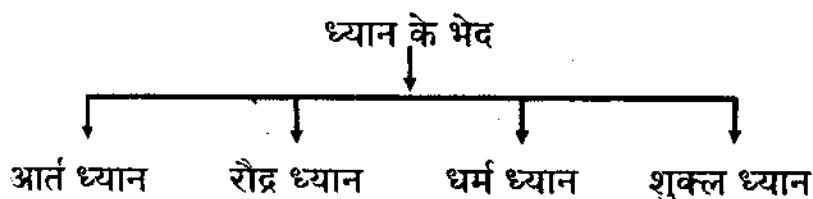
चत्तारि झाणा पण्णत्तं, तं जहा— अट्ठे झाणे, रोदे झाणे, धम्मे झाणे सुक्के झाणे।— ठाणांगसूत्र ४। १। १२। “आर्त-रौद्र-धर्म-शुक्लानि”— तत्त्वार्थ सूत्र तथा— ध्यान शतक में— “अट्ठं रुद्धं धम्मं सुक्कं झाणाइं” इसी तरह ध्यान दीपिका में कहा है—

आर्तं रौद्रं च दुर्ध्यानं प्रत्येकं तच्चतुर्विधम्।

आर्तं भवमथार्तं स्यात् रौद्रं प्राणातिपातजम् ॥ ६८ ॥

अट्ठं १. रुद्धं, २. धम्मं, ३. सुक्कं, ४. झाणाइं तत्थ अंताइं।

निव्वाण साहणाइं, भवकारणमट्ठरुद्धाइं ॥ ५ ॥



आवश्यक अवचूरी—तथा सन्मति आदि अनेक शास्त्रों ग्रन्थों में आर्त—रौद्र—धर्म और शुक्ल ध्यान के भेद से ध्यान ४ प्रकार का दर्शाया है । अतः शुभ—अशुभ के भेद की विवक्षा से कह सकते हैं—

इस तरह फल विवक्षा की दृष्टि से ध्यान दो प्रकार का होता है । एक तो निर्वाण साधक अर्थात् मोक्ष का फल देनेवाला—प्राप्त कराने में सहायक—ऐसा ध्यान शुभ ध्यान कहलाता है । और ठीक इससे विपरीत संसारवर्धक अर्थात् संसार बढ़ानेवाला भव परंपरा का कारण बननेवाला अशुभ ध्यान कहलाता है । जैसा ध्यान वैसा फल । यदि ध्यान अच्छा सही शुभ की कक्षा का होता तो संसार का—कर्म का क्षय होता, निर्जरा होती और जीव ऊर्ध्वगमन करता । लेकिन इससे विपरीत होने से कर्म का बंध ज्यादा होता है, अतः संसार—भव परंपरा बढ़ती है । ऐसा संसारवर्धक ध्यान अशुभ प्रकार का कहलाता है । इससे यह स्पष्ट होता है कि कौन कैसा ध्यान कर रहा है । यह तो किसी को कैसे पता चले ? क्योंकि ध्यान मनोगत—आन्तरिक प्रक्रिया है । अतः दृष्टिगोचर तो कुछ भी संभव नहीं है । परन्तु फल के आधार पर समझा जा सकता है कि इसका ध्यान सही शुद्ध कक्षा का है या नहीं ? कारण से भी कार्य का अनुमान हो सकता है और कभी कार्य से भी कारण का अनुमान भी हो सकता है । ठीक इसी तरह यहाँ भी यही है । निर्वाण की प्राप्तिरूप मोक्ष फलदायक होने के कारण ध्यान सर्वोच्च कक्षा का शुभ, शुद्ध, शुद्धतर, शुद्धतम कक्षा का था । और यदि इससे विपरीत संसार की वृद्धि—भव परंपरा का फल देनेवाला हो तो उसे अशुभ अशुभतर—अशुभतम कक्षा का ध्यान भी कहा जा सकता है । इससे यह स्पष्ट होता है कि... मात्र ध्यान करना ही महत्व का नहीं है परन्तु ध्येय का साफ होना और उसका निश्चित लक्ष्य होना ध्यान की शुद्धि का सूचक है ।

अशुभध्यान अशुभफलसूचक है । और शुभध्यान शुभफलसूचक है । सच तो यह है कि... अशुभध्यान को ध्यान ही क्या कहना ? यह तो चिन्ता मात्र है । आर्त का अर्थ है दुःख—पीडा, तकलीफ—कष्टादि । ऐसी संसार की अनेक वस्तुओं की प्राप्ति आदि की इच्छा करके उसे तीव्र करके जीव पाना चाहता है । बस, उसी की चिन्ता में फसा रहता है । बाहर ही नहीं निकल पाता है । उसे चिन्तात्मक ध्यान कहा गया है । बस, यही अशुभ ध्यान कहलाता है । संसार की समस्त जीवसृष्टि में अधिकांश प्रधानरूप से आर्तध्यान बहुत ज्यादा रहता है । प्रायः सभी जीव इसके आधीन होकर आर्तध्यान विषयक विचारधारा रखते हैं ।

आर्तध्यान के ४ भेद—

आर्तममनोज्ञानां सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः ॥ ९/३१ ॥
वेदनायष्ट ॥ ३२ ॥ विपरीतं मनोज्ञानाम् ॥ ३३ ॥ निदानं च ॥ ३४ ॥ —तत्त्वार्थ सूत्र

अनिष्टयोगजं चाह्य परं चेष्टवियोगजम् ।

रोगार्तं च तृतीयं स्यात् निदानार्तं चतुर्थकम् ॥ ७० ॥

अट्टे झाणे चउव्विहे पण्णत्ते, तं जहा—अमणुन्नसंपओग संपउत्ते, तस्स विष्णओगसति समण्णागए यावि भवइ । मणुन्न संपओग संपउत्ते, तस्स अविष्णओग सति समण्णागए यावि भवइ । आयक संपओग संपउत्ते, तस्स विष्णओग सति समण्णागए यावि भवइ । परिजुसिय काम भोग संपओग संपउत्ते, तस्स विष्णओग सति समण्णागए यावि भवइ ॥ ठाणांगसूत्र ४/१, १२ ॥

इस तरह ठाणांग आगम सूत्रकार, तत्त्वार्थकार आदि ने आर्तध्यान के ४ भेद बताकर विवक्षा की है। आर्तध्यान संसारवृद्धिकारक है। अतः इसके सभी विषय संसार के, तथा एक मात्र मोहनीय कर्म के विषय हैं।

- १) अनिष्ट संयोग, अमनोज्ञ वियोग चिन्ता
- २) इष्ट वियोग— मनोज्ञ अवियोग (संयोग) चिन्ता
- ३) आर्तक (रोग) चिन्ता
- ४) भोगेच्छा—भोगार्त, नियाणा, निदानकरण

संसार में अनन्तानन्त वस्तुएँ हैं। एक ही जीव को सभी वस्तुएँ प्रिय या अनुकूल हो, या अप्रिय—प्रतिकूल हो यह भी संभव नहीं है। संभव है किसी को कुछ प्रिय—पसंद हो और कुछ अप्रिय नापसंद भी हो। अतः इसके आधार पर ४ भेद होते हैं— १) इष्ट (प्रिय) संयोग, २) इष्ट (प्रिय) वियोग, ३) अनिष्ट (अप्रिय) संयोग, ४) अनिष्ट (अप्रिय) वियोग

१) इष्ट जो प्रिय वस्तु है वह चाहिए। उसका संयोग हो, मिल जाय तो अच्छा ऐसी इच्छा सतत रहती है। २) दूसरी तरह इष्ट प्रिय वस्तु का कहीं वियोग हो न जाय, कहीं कोई चुरा न जाय, यह भी एक चिन्ता लगी रहती है। ३) अनिष्ट—अप्रिय वस्तु जो नहीं चाहिए वह कहीं आ न जाय, मिल न जाय। इसकी अनिच्छा की चिन्ता लगी रहती है। ४) और इसी तरह अप्रिय—नापसंदगी की वस्तु कोई ले जाय तो अच्छा यह भी एक चिन्ता का ही प्रकार है। इन चारों प्रकार की इच्छाओंवाले जीव संसार में हैं, वे सभी आर्तध्यान के ध्यात

कहलाते हैं । ये एक मात्र मोहनीय के विषय हैं । इन चारों का संक्षिप्तीकरण करते हुए—
दो में समावेश कर दिया १) इष्ट(प्रिय) संयोग, २) अनिष्ट वियोग ।

१) अनिष्ट वियोग—

संसार में सैकड़ों वस्तुएँ अनिष्ट हैं, अप्रिय रूप से नापसंद हैं । ऐसी मिलनी तो नहीं चाहिए लेकिन हो तो भी उसका वियोग होना चाहिए । दुःख अप्रिय ही होता है । अतः उसका उलना ही अच्छा लगता है । और जब इसी का विपरीत भाव अर्थात् अनिष्ट संयोग हो जाय, जैसे आग लग जाय, घर में, दुकान में चोरी हो जाय, नई कीमती घड़ी कोई उठा ले जाय । यह सब बिल्कुल पसंद नहीं है । किसी दुश्मन का आगमन हो जाय, कोई जेलादि की सजा हो जाय । ये सब निमित्त अप्रिय नापसंद हैं । इसके लिए जीव सतत चिन्ताग्रस्त रहता है । बस, यही आर्तध्यान है ।

अमणुत्राणं सहाइविसयवध्यूण दोसमालिणस्स ।

धणियं विओगचित्तणमसंपयोगाणुसरणं च ॥ १ ॥

ध्यानशतक में कहा है कि— मन को पसंद न हो ऐसे वर्ण गंध, रस, स्पर्श, शब्दादि विषयों तथा वस्तुओं का द्वेष भाव से मलिन मन के द्वारा अत्यन्त वियोग की चिन्ता करना और फिर कहीं मिल न जाय ऐसी इच्छा—चिन्ता करना ही अनिष्ट संयोगात्मक आर्तध्यान है । पाँचों इन्द्रियों के २३ विषयों की चिन्ता आर्तध्यान ही है ।

२) इष्ट वियोग—

मनोज्ञ—पसंद—प्रिय पदार्थ जो भी चाहिए उनका वियोग न हो जाय, चले न जाय यह भी चिन्ता लगी रहती है । पत्नी, पुत्र, धन, संपत्ति, राजवैभव, सुख की साधन सामग्री आदि संसार की सैकड़ो इष्ट प्रिय वस्तुएँ हैं । ये कहीं छूट न जाय, चली न जाय, यह सत्ता—पद—प्रतिष्ठा मिली है, यह कहीं हाथ से चली न जाय, इसकी चिन्ता नहीं छूटती । या फिर वियोग हो जाय तो रात दिन की चिन्ता लागू हो जाती है । विदेश से बड़ी कीमती चीज लाई और वह कोई चुरा न जाय इसकी चिन्ता सतत परेशान करती है । और एक दिन पत्नी आगंतुक महमानों को दिखा रही थी कि अचानक हाथ से गिर गई और फूट गई । अब चिन्ता पहले से दस गुनी ज्यादा बढ़ी । इसी तरह सभी विषयों में होता है । ऐसे मनोज्ञ—प्रिय विषयों एवं वस्तुओं का वियोग नहीं होना चाहिए । यह आर्तध्यान भी चिन्ताकारक ही है ।

३) रोगार्त-आर्तध्यान—

“शरीरं खलु रोगमंदिरम्” । यह शरीर रोगों का घर है । हमारे शरीर के जितने रोमकूप हैं उससे भी हजारगुने ज्यादा रोग हैं । एक एक रोमकूप में कितने ही रोग इकट्ठे हो सकते हैं । माता के गर्भ में रहा हुआ भ्रूण भी रोगग्रस्त हो सकता है । गर्भ से जन्म लेते समय भी कई रोगों को साथ में लेकर भी जीव जन्म ले सकता है । एक बच्चा जन्म से कैंसर साथ लेकर जन्मा और कुछ ही काल में कालकवलित हो गया । इसी तरह आज कई बच्चे जन्मजात इस को साथ लेकर जन्म लेते ही हैं । अतः उनका रक्षक त्राता कौन हो सकता है ? जब किसी को कोई भी सामान्य या विशेष बड़ा भी रोग हो जाय तो ... वह बिमारी कैसे मिटे ? कब मिटे ? इसकी चिन्ता निरंतर रहती है । एक तरफ तो सहनशीलता दिन—दिन घटती ही जाती है । और रोग बढ़ते ही जाते हैं । एक तरफ सुखैषणा और दूसरी तरफ रोगग्रस्तता और तीसरी तरफ सहनशीलता का घटते ही जाना । ऐसी स्थिति में दुःखात्मक रोग से बचने की इच्छा निरंतर किसकी नहीं रहती ? यह तीसरे प्रकार का आर्तध्यान ही है ।

४) भोगेच्छा-नियाणा-निदानकरण—

भोग की अतृप्त तृष्णा, अधुरी इच्छा भावि में भी उन भोगों के भोगने की इच्छा को बढ़ाता ही रहता है । परिणामस्वरूप मुझे स्वर्ग के सुख भी भोगने को मिले, मैं भी स्वर्ग की अप्सराओं को भोगूँ, ऐसे भावि—भविष्यकालीन स्वप्ने संजोते रहता है । दिवास्वप्न या शेखचिल्ली के विचारों की तरह दिन में तारे देखने की इच्छा से व्याकुल रहता है । यहाँ तक कि वर्तमान में व्रत—तप—जपात्मक धर्म भी करता है । शायद एक नहीं अनेक उपवासादि करते हुए अट्टाई—तथा मासक्षमणादि की उग्र एवं दीर्घ तपश्चर्या करके भी इन्द्र के साम्राज्य की प्राप्ति की इच्छा, स्वर्ग के राजपाट की प्राप्ति की इच्छा, यहाँ राष्ट्रपति पद की इच्छा, विश्वभर के राज्य की प्राप्ति और मैं उसका स्वामी भोक्ता बनूँ, ढ खंड का चक्रवर्ती का राज्य मुझे मिल जाय और मैं उसका मालिक चक्रवर्ती बनूँ, ऐसी तीव्र इच्छा रहती है । यह सब क्या है ? मैं स्वर्ग में देव बनूँ ! इस पृथ्वी का भोक्ता बनूँ, इन प्रकार की भावि की भोगेच्छाओं को पूरी करने की चिन्ता यह भी आर्तध्यान है । इसे नियाणा—निदान कहते हैं । यह रागात्मक नियाणा है । और ठीक इससे विपरीत द्वेषात्मक नियाणा है । इसमें द्वेषभाव के साथ वैर—वैमनस्य दुश्मनी का भाव ज्यादा रहता है । बस, मैं उसको भविष्य में भी मारूँगा । अगले जन्मों में भी नहीं छोड़ूँगा । अरे ! जनम—जनम तक मैं इसको

मारता ही रहूँगा । मैं पूरा बदला लूँगा । इत्यादि द्वेषभाव से मरे हुए शत्रु के प्रति भी भावि में बदला लेने की वृत्ति से वह छोड़ना नहीं चाहता है । किसी भी स्थिति में कृतनिश्चयी है । और नियाणा कोई इच्छा मात्र से या विचार व्यक्त कर देने मात्र से ही थोड़ा ही जाता है ? इसके लिए बहुत बड़ी कीमत चुकानी पड़ती है । अब जो भी, जितना भी धर्म—तपश्चर्या—व्रत—जपादि करेगा उसके फल के रूप में एक मात्र अपनी रागेच्छा, या द्वेषेच्छा के निदान करण को निकाचित करता जाता है । परिणाम स्वरूप भविष्यकाल में वैसा करके ही रहता है ।

उपरोक्त चारों प्रकार के आर्तध्यान हैं । कषायभाव जनित हैं । राग—द्वेषात्मक हैं । चिन्ताकारक हैं । आर्त—दुःख—पीडाकारक हैं । मोहादि भावों से कलुषित विचारधारावाले हैं । इसलिए संसार बढ़ानेवाला संसारवर्धक है । कष् = संसार और आय = अर्थात् लाभ ऐसे कषायभाव का सीधा अर्थ संसार की वृद्धि का लाभ करानेवाला है । इसका रहस्यार्थ यह है कि... ऐसा आर्तध्यान करनेवाला जीव मरकर तिर्यचगति—पशु—पक्षी की गति में जाकर जन्म लेता है । इससे सिद्ध होता है कि संसार बढ़ा । अतः आर्तध्यान संसारवृक्ष का बीजरूप है । ध्यान शतक ग्रन्थ के सीधे शब्द इसी प्रकार के हैं—

एवं चउव्विहं रागदोस मोह कियस्स जीवस्स ।

अट्टब्बाणं संसारवद्धणं तिरियगइ मूलं ॥

रागो दोसो मोहो य जेण संसार हेयवो भणिया ।

अट्ठमि य ते तिण्णि दि, तो तं संसार तरु बीयं ॥

इस प्रकार के आर्तध्यान—चिन्ताकारक विचारधारा से बचना ही चाहिए । सही ध्यान की जो कल्पना की जाती है यद्यपि वैसा ध्यान तो नहीं है । फिर विचारात्मकता—चिन्ताकारकता तथा स्थिरताकारकता होने के कारण ध्यान की गणना में ही आता है । भले ही खराब—अशुभ की कक्षा का है लेकिन है तो ध्यान । इससे बचना ही चाहिए ।

आर्तध्यान के ४ लक्षण—

अट्ठस्स णं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पण्णत्तं ।

तं जहा कंदणया, सोयणया, तिप्पणया, परिदेवणया ।

स्थानांगसूत्र के ४/१/१२ सूत्र में आर्तध्यान के ४ लक्षण बताए हैं । आर्तध्यान के चारों भेदों में से किसी एक की प्रबलता होने से सकर्मी (भारी कर्मी) जीवों में कर्म की

प्रबलता के कारण अथवा अपने स्वभाव के कारण ४ अवस्थाएँ (लक्षण) उत्पन्न होते हैं ।
 १) कंदणया (क्रन्दनता), २) सोयणया (शोचनता), ३) तिष्णया (तेपनता) और ४) परिदेवणया (परिदेवनता) ।

१) ऊँचे स्वर से जोर से रोना—चिल्लाना, आक्रन्दन करना इसे कंदणया (क्रन्दनता) कहते हैं ।

२) चिन्ता करना, खिन्न होना, उदास होकर बैठना, खेद करना, उदासीन होकर शोकाकूल बैठना, मूर्छित होना, पागलवत् कार्य करना, दीन भाव से आँखों से आंसू बहाकर रोते रहना—यह सोयणया—(शोचनता) है ।

३) तिष्णया—वस्तु विशेष की चिन्ता करके जोर से रोना, बोलकर रोष प्रकट करना, क्रोध करना, व्यर्थ—निरर्थक बातें करना अप्रिय शब्दोच्चार करने को तिष्णया कहते हैं ।

४) माता—पिता—पुत्र—स्वजन, मित्रादि की मृत्यु होने पर अधिक विलाप करना, रोना, हाथ—पैरें पछाड़ना, हृदयपर प्रहार करना, बाल तोड़ना, अंग पछाड़ना, अपशब्दों का, अनर्थकारी शब्दों का उच्चार करना तथा क्लेश एवं दयाजनक भाषा बोलना आदि परिदेवणया ४ था प्रकार है । ये लक्षण हैं । ऐसी आर्तध्यानी की पहचान है । जब जब आर्तध्यान बढ़ता है, तब तब ऐसे भिन्न—भिन्न प्रकार के चिन्ह—लक्षण प्रकट होते हैं । जिन्हें देखने से स्पष्ट ख्याल आता है कि यह जीव आर्तध्यान की धारा में डूबा हुआ है ।

रौद्रध्यान का स्वरूप—

दुष्ट क्रूराशयो जंतु रौद्रकर्मकरो यतः ।

ततो रौद्रं मतं ध्यानं तच्चतुर्धा बुधैः स्मृतम् ॥ ८९ ॥

ध्यानदीपिकाकार कहते हैं कि ... जिन कारणों को लेकर दुष्ट क्रूर आशयवाला जीव रौद्रकर्म करता है उस कारण से उसे रौद्रध्यान कहा है । सामान्य आर्त में से रौद्रस्वरूप धारण कर लेता है । यह भी ४ प्रकार का है—

रोहे झाणे चउत्विहे पण्णत्ते, तं जहा १) हिंसाणुबंधी २) मोसाणुबंधी, ३) तेजाणुबंधी, ४) संरक्खणाणुबंधी ।

ठाणंगसूत्र ४/१/१२ में रौद्रध्यान के ४ भेद बताएँ हैं । १) हिंसाणुबंधी, २) मृषाणुबंधी, ३) स्तेयानुबंधी, और ४ था संरक्षणानुबंधी । कषाय की तीव्रता तथा लेश्याओं

में कृष्ण लेश्या की अशुभतरता बढ़ने के कारण मारने आदि की वृत्ति बन जाती है। जिसके कारण हिंसानुबंधी रौद्रध्यान कहलाता है। रौद्रता, भयंकरता, क्रूरता, कठोरता, दुष्टता, निष्ठुरता, निर्दयता आदि अनेक प्रकार की वृत्ति बन जाती है। ऐसे खराब परिणामों की वृद्धि कषाय की तीव्रता के कारण बनती है। तथा अशुभतर ऐसी कृष्णलेश्या खराब ज्यादा बन जाती है। तब हिंसा करने के, कराने आदि के क्रूर विचार रौद्रध्यान है। आर्त की अपेक्षा इसमें क्रूरता ज्यादा है। इससे वह मारने तथा मरवाने के लिए तैयार हो जाता है।

निरंतरं निर्दयतास्वभावः, स्वभावतः सर्वकषायदीप्तः।

मदोद्धतः पापमतिः कुशीलः स्यान्नास्तिको यः स हि रौद्रगेहम् ॥ ८४ ॥

ध्यानदीपिकाकार रौद्रध्यान की उत्पत्ति का कारण बताते हुए कहते हैं कि... हमेशा ही निर्दय वृत्ति का स्वभाववाला, ऐसे स्वभाव से सर्व प्रकार के क्रोधादि की प्रदीप्ति, अभिमान में आकर उद्धताइ, पापमय बुद्धि, कुशीलता और नास्तिकता ये रौद्रध्यान की उत्पत्ति का मूलस्थान है। स्वाभाविक ही है कि निर्दय दयारहित क्रूर व्यक्ति जल्दी ही क्रोधातुर होकर—हिंसा करने प्रेरित हो जाता है।

अन्य जीवों को मारने के उपाय सोचता रहे, गोत्रदेवी—देवतादि की तुष्टि के लिए बकरा, मुर्गी मारना आदि प्रकार की हिंसा करता रहे, जलचर—स्थलचरादि को मारता रहे, अरे ! आकाशी पक्षियों को भी मारता रहे। उनके अंगों को काटता रहे, आंखे फोड़ दे। इत्यादि हिंसानुबंधी रौद्रध्यान की स्थिति है।

२) दूसरा प्रकार मृषानुबंधी रौद्रध्यान में झूठ बोलने की वृत्ति है। दूसरों को ठगने के लिए... शस्त्र बनाना, संचय करना, दूसरों को दुःख में फसाना, और अपना वांछित सुख भोगना, असत् कल्पनाओं के द्वारा मन मलीन करना, मृषावाद बोलकर किसी को मरवाना, बंदी बनाना आदि मृषानुबंधी रौद्रध्यान है। यह दुष्ट वचन, मर्मभेदक शब्दों को बोलने की अशुभ चिन्ता से जन्मता है। विश्वासघात करने की वृत्ति किसी को बोलकर चिड़ाने, परेशान करने आदि में ज्यादा आनन्द माननेवाला मृषानुबंधी रौद्रध्यान है।

३) तीसरा प्रकार स्तेयानुबंधी रौद्रध्यान है। चोरी करने के क्रूर चिन्तन की सतत वृत्ति से यह उत्पन्न होता है। किसी का माल—पैसा चुराना, चोरने के लिए सोचते ही रहना, या चोरी करने के पश्चात् चोरी के अपराध में पकड़ा न जाय इसके लिए दाब—पेच खेलना, या पकड़नेवाले को भी कैसे मारकर खतम करना, या मुझे चोरी करते कोई देख ले उसको भी कैसे मारना, चोरी करने के लिए नित्य नई नई योजना बनाते रहना, चोरी करते करते

साथ ही मारपीट, लूटफाट, खून करना आदि कई निमित्त रहते हैं। ये सब निमित्त स्तेयानुबंधी हैं। स्तेयवृत्ति = अर्थात् चोरी की वृत्ति। दूसरों को भी साथ में चोरी में जोड़कर उन्हें भी योजना सिखाना। किसी स्त्री आदि का अपहरण करना उसे धाकधमकी देकर गहने लूटना आदि अनेक प्रकार का यह रौद्रध्यान कहलाता है।

४ था... संरक्षणानुबंधी प्रकार भी ऐसा है... जिसमें— धनसंपत्ति की प्राप्ति उपार्जन तथा उपार्जित धन संपत्ति का रक्षण करना आदि अनेक धन संबंधि चिन्ता इसमें रौद्ररूप धारण करती है। धन, धान्य, मकान—बंगला, गहने, आभूषण, संपत्ति, जमीन, जायदाद, दुकान हाट, हवेली, अपने वैभव, तथा कुटुम्ब—परिवार आदि सब की रक्षा के लिए... आरंभ—समारंभ करना कुछ भी करना यह संरक्षणानुबंधी रौद्र ध्यान का स्वरूप है। इसमें पत्नी पुत्र भी आ गया, वैसे ही अर्थ संपत्ति धनधान्य की सामग्री भी आ गई। अतः परियहानुबंधी रौद्रध्यान भी कहा जा सकता है। बस, रात—दिन अपनी धनसंपत्ति तथा कुटुम्ब परिवार एवं स्वजन—संबंधी की अनेक विषयक चिन्ताओं में ही फसा रहता है। बस, इससे ज्यादा अपनी आत्मा का तो विचार तक संभव ही नहीं है और कुटुम्ब—परिवार तथा धनसंपत्ति संबंधि चिन्ताओं की परिपूर्ति करने के लिए। हिंसा—झूठ—चोरी आदि किसी भी प्रकार के पाप का सेवन करके भी अपनी धारणा—इच्छा पूरी करने के लिए तैयार रहता है। प्रयत्नशील रहता है। अत्यन्त क्लेश—कषाय—कलहकारी बनता है। क्रूरता—कठोरता—निर्दयतादि का विशेष उपयोग करता है। दूसरों को दुःख में, कष्ट में डालकर भी स्वयं खुश—राजी रहना चाहता है। मार—पीटादि का प्रयोग करता हुआ भी कषाय विजय में अपनी विजय मानता है। अपने मनोज्ञ विषयों की प्राप्ति के लिए चाहे कितने ही लोगों को दुःख देना पड़े वह तैयार रहता है।

रौद्रध्यान के लक्षण—

रोहस्स षं झाणस्स चत्तारि लक्खणा पण्णत्ता तं जहा ओसन्नदोसे, बहुलदोसे, अन्नाणदोसे, आमरणंतदोसे।

क्रूरता—चित्त काठिन्यं वंचकत्वं कुदंडता।

निस्तृशत्वं च लिंगानि रौद्रस्योक्तानि सूरिभिः ॥ ९५ ॥

ध्यानदीपिकाकार तथा स्थानांग सूत्रकार दोनों ने रौद्रध्यान के लक्षण उपरोक्त रूप से ४ कहे हैं— इसमें क्रूरता, निर्दयता, चित्त की कठोरता, ठगवृत्ति, वंचकपना, खराब दंड—सजादि देने की वृत्ति... नृशंसतादि अनेक रौद्रध्यान को पहचानने के लक्षण हैं।

१) औसन्न दोष में हिंसादि, छेदन—भेदन, वधादि की प्रवृत्ति ज्यादा करने का लक्ष्य रहता है। घातक—हिंसक शस्त्रादि बनाने की भी प्रवृत्ति रहती है इन्द्रियों के पोषण के लिए विविध प्रकार के उपायों की प्रवृत्ति भी औसन्नदोषान्तर्गत आती है।

१) बहुल दोष— हिंसादि सभी साधनों की तथा रौद्रध्यान के चारों प्रकारों की अधिकाधिक इच्छा एवं वैसी प्रवृत्ति करते हुए भी उसमें संतोष तृप्ति न होना बहुल दोष है।

३) अज्ञान दोष— रौद्रध्यान का स्वभाव ही सदज्ञान का नाश करने का है इससे मूढ़ता अज्ञानतादि की वृद्धि होती है। सत्कार्य—शुभकार्य की प्रीति—इच्छा सब समाप्त हो जाती है। और दुष्कार्य—दुष्ट पापप्रवृत्ति में संलग्नता उत्पन्न होती है। सत्शास्त्र श्रवण, सत्संगति, सत्कार्य में अप्रीति रहती है। अरुचि रहती है। सभी पापों की प्रवृत्ति में रुचि रहती है। कामोत्तेजक प्रवृत्ति, हिंसादि की प्रवृत्ति में आसक्त रहना।

४) आमरणान्त दोष— मृत्यु पर्यन्त सतत क्रूर हिंसादि कार्यों में तथा १८ पापस्थानों में अनुरक्त रहना, तथा किये हुए पापों का मृत्यु शय्या पर भी पश्चात्ताप न करना, उल्टे अभिमान करना। मृत्युतक भी अपने पापों की पुष्टि करना, आदि के साथ अभी भी पाप प्रवृत्ति करने की तीव्रेच्छा रखना ये सब आमरणान्त दोष हैं।

एवं चउच्चिहं राग—दोस—मोहाउलसस जीवस्स।

रोद्धज्जाणं संसार वद्धणं नरयगई मूले॥ ध्यानशतक - २४

ध्यान शतककार ने रौद्रध्यान जैसे अशुभ ध्यान के लिए नरकगति की प्राप्ति बताई है। चारों प्रकार के राग—द्वेष—मोहादि की वृत्ति के कारण रौद्रध्यान करनेवाला जीव नरकगति में जाता है।

अशुभध्यान से दुर्गति— आर्तध्यान से तिर्यच पशु—पक्षी की गति मिलती है। जैसा आर्तध्यान का वर्णन कर आए हैं वैसी विचारधारावाला जीव मरकर तिर्यच की पशु—पक्षी की गति में जाकर जन्म लेता है। तथा संसार में आर्तध्यान की वृत्तिवाले चिन्ताग्रस्त जीव लगभग १०० में से ९० फीसदी लोग आर्तध्यानी होते हैं। और ऐसे आर्तध्यान की वृत्तिवाले मृत्यु के बाद तिर्यच गति में ज्यादा जन्मते हैं। यही कारण है कि चारों गति में से तिर्यच—पशु—पक्षी में जीव आते ही रहते हैं। यही कारण है कि तिर्यच गति में काफी संख्या बढ़ती ही जाती है। अतः तिर्यच गति में जीवों की अनन्त की संख्या है।

नरक गतिगामी जीव रौद्रध्यानी होते हैं ।



क्रूर-निर्दय निष्ठुर वृत्तिवाले जीव रौद्रध्यानी हैं । वे नरकगति में जाते हैं । आर्त और रौद्रध्यान दोनों प्रकार के अशुभ ध्यान करनेवाले की अशुभगति—अर्थात् दुर्गति होती है । मति के आधार पर गति की प्राप्ति का सिद्धान्त सही है “यथा मतिः तथा गतिः” जैसी मति वैसी गति । आर्तध्यान के कारण चिन्तातुर बुद्धि होने के कारण जीव असद्गति—दुर्गति में जाता है ।

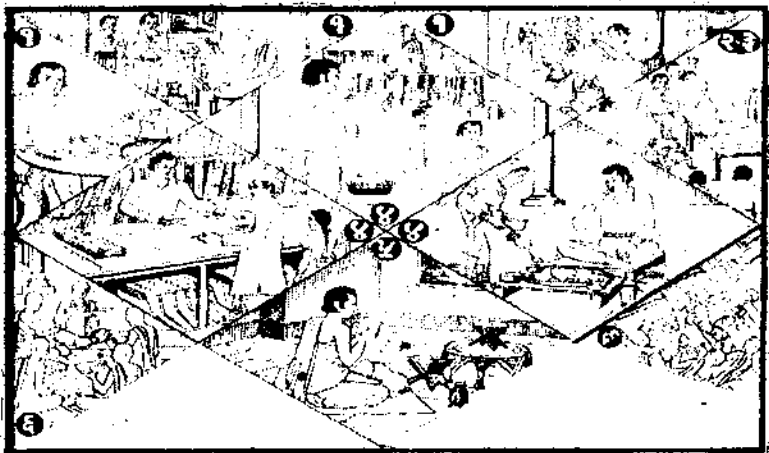
जबकि परिणति ही निम्न श्रेणि की है । अतः गति भी निम्नकक्षा की नीची होगी । रौद्रध्यानी महारंभी महापरिग्रही होता है । बहु आरंभ—समारंभी होने के कारण दुर्गति—नरक की ही होगी । स्वस्तिक के स्वरित्तक को चित्र बाकी चित्र में देखिए :... तिर्यच और नरक की दोनों गतियां नीचे हैं । नीचे की तरफ की दोनों दुर्गति है वे अधोगति है । इसलिए तिर्यच और नरक की गति दुर्गति है । वृत्ति—प्रवृत्ति दोनों ही हीन कक्षा की निम्न प्रकार की होती है । अतः गति भी अधो कक्षा की दुर्गति होती है ।

आर्त-रौद्र ध्यान के गुणस्थानक—

तदविरत-देशविरत-प्रमत्त संयतानाम् ॥ ३५ ॥

हिंसाऽनृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरत-देशविरतयोः ॥ ३६ ॥

तत्त्वार्थाधिगमसूत्र के इन दोनों सूत्रों में दोनों अशुभ ध्यान के गुणस्थान बताए हैं—



१) आर्तध्यान = चिंताग्रस्त स्थिति पहले मिथ्यात्व के गुणस्थान से लेकर छठे प्रमत्तसंयत गुणस्थान तक ६ गुणस्थानों पर अपनी सत्ता रखता है। १ ले का मालिक तो मिथ्यात्वी नास्तिक ही है। ४ थे का सम्यग् दृष्टि श्रद्धालु है, ५ वे का देशविरतिधर व्रत पच्चक्खाणवाला व्रती—तपस्वी है। लेकिन आखिर तो गृहस्थी घरबारी है। अतः चिन्ताजनकता तो बनी ही रहती है। इसलिए गृहस्थी आर्तध्यानी हो इसमें आश्चर्य नहीं है। लेकिन छठे गुणस्थान का मालिक साधु भी यदि आर्तध्यान करता है तो दुःखद स्थिति है। लेकिन... साधु जो त्यागी—तपस्वी है वह क्यों आर्तध्यानी बनता है? उसके लिए प्रमुख कारण प्रमाद और कषाय के बंध हेतु की स्थिति कारणरूप है। आहार—उपधि आदि का परिग्रह बढ़ने के कारण तथा मनोगत प्रमादग्रस्तता बढ़ने के कारण कषाय की वृत्ति भी बढ़ जाए तो आर्तध्यान साधु भी कर लेता है। अतः आर्तध्यान का आधिपत्य छठे गुणस्थान तक फैला हुआ है।

रौद्रध्यान की सत्ता १ ले से ५ वे गुणस्थान तक बताई है तत्त्वार्थकार ने। १ ला गुणस्थान तो है ही मिथ्यात्व का, अतः मिथ्यात्व के साथ उसके परम मित्ररूप में— जो अनन्तानुबंधी कषाय आदि हाजिर रहते हैं, वहाँ तो रौद्रध्यान को आमंत्रण देने की आवश्यकता ही नहीं रहती। स्वयं अपने आप आ ही जाता है। लेकिन ४ थे गुणस्थान पर जहाँ जीव सम्यग् दृष्टि श्रद्धालु बन जाता है, देव—गुरु—धर्म की प्रबल श्रद्धा धारण कर भी लेता है लेकिन गृहस्थी—घरबारी होने के नाते कभी कभी कलह के निमित्त रौद्रध्यान में डूब भी जाता है। और ५ वे गुणस्थान का मालिक देशविरतिधर श्रावक जो व्रती है, तपस्वी भी है फिर भी गृहस्थी होने के कारण पुत्र—पत्नी के मोहवश, राग—द्वेष कषायादि के वश बनकर रौद्रध्यान कर भी लेता है। यद्यपि अपने आप को फिर सम्भाल पाता होगा लेकिन एकबार तो रौद्रध्यान का भागीदार बन जाता है। वैसे अनिवार्यता तो नहीं है फिर भी कर लेता है।

साधु छठे गुणस्थान का स्वामी जिसने गृहस्थाश्रम का सर्वथा त्याग कर दिया है तथा रौद्रध्यान के निमित्त धन—स्त्री—पुत्र—पत्नी—धन—संपत्ति आदि का आजीवन के लिए सर्वथा—संपूर्ण त्याग (छोड़) ही कर दिया है। दूसरी तरफ प्राणातिपात विरमण महाव्रत आदि पाँच महाव्रत धारण कर लिये हैं। अतः पूर्ण—संपूर्ण—अहिंसा—सत्य का आचरण करता है। हिंसा—झूठ—चोरी आदि सर्वथा सेवन न करने की मृत्यु की अन्तिम श्वास पर्यन्त—तक भीष्म प्रतिज्ञा का पालन करते हुए जो महाव्रतों का पालन कर रहा है ऐसे साधु को प्रमाद का सेवन होते हुए भी रौद्रध्यान का तो संभव ही नहीं है। अतः छठे

गुणस्थान का साधक साधु रौद्रध्यान से सर्वथा बच गया । और जब छठे पर भी रौद्रध्यान है ही नहीं तो फिर आगे के गुणस्थानों पर तो सवाल ही खड़ा नहीं हो सकता है । अतः आगे के गुणस्थान शुभ ध्यान के हैं । बस, फिर तो आगे के गुणस्थान पर तो धर्मध्यान—शुक्लध्यान की ही सत्ता है ।

लेकिन एक प्रश्न यहाँ जरूर खड़ा होता है कि— साधु जीवन के अतिचार दर्शक सूत्र में— “आर्तध्यान रौद्रध्यान ध्यायां, धर्मध्यान शुक्लध्यान ध्यायां नहीं ।” अतिचार के इस सूत्र में जबकि रौद्रध्यान का अधिकारी छठे गुणस्थान का मालिक साधु है ही नहीं फिर भी उसको अतिचार लगते हैं ऐसा बताया है । तथा छठे गुणस्थान पर शुक्लध्यान की भी सत्ता बताई है । जबकि सूत्रकार ने शुक्लध्यान की सत्ता छठे गुणस्थान से बताई भी नहीं है । फिर भी छठे गुणस्थान के साधु को शुद्धध्यान न ध्याने पर भी अतिचार लगता है । और छठे गुणस्थान पर रौद्रध्यान नहीं है फिर भी रौद्रध्यान का अतिचार लगता है ।

फिर भी समझा जा सकता है कि... द्रव्य से या बाह्य रूप से वह छठे गुणस्थान पर साधु बना होगा लेकिन भाव की आभ्यन्तर कक्षा से साधु न बनने के कारण तथा साथ ही राग—द्वेष की तीव्रता, प्रमाद—कषाय की तीव्रता बढ़ने पर, परिग्रहादि के निमित्त कारण बढ़ने पर आर्त में से रौद्रध्यान में प्रवेश संभव हो भी जाता है । कुछ देर के लिए रौद्रध्यान कर भी लेता होगा । या कषायादि की तीव्रता के ही बने हुए स्वभाव के कारण बार—बार भी रौद्रध्यान होना संभव लगता है । लेकिन शुक्लध्यान भी छठे गुणस्थान पर आभ्यन्तर कक्षा में शुद्धि बढ़ने पर तथा कषाय की मन्दता होने पर... एवं प्रमादभाव का त्याग करके अप्रमत्तभाव आने पर अभ्यास के लिए... १ ले, २ रे चरण के शुक्लध्यान की संभावना लगती है । अप्रमत्तभाववाले ७ वे गुणस्थानवाले के लिए तो संभव है लेकिन छठे गुणस्थानवाले प्रमत्त साधु के लिए असंभवसा लगता है । जित्नी देर तक अप्रमत्त बने उसमें धर्मध्यान से शुक्लध्यान में प्रवेश संभव हो सकता है । साधु जो लोलक की तरह ऊपर—नीचे दोनों तरफ जाता है वैसे वह छठे से पाँचवे गुणस्थान पर तथा पुनः छठे पर और कभी कभी सातवे गुणस्थान पर भी जा सकता है । अपनी भूमिका पर स्थिर रहता भी है और नहीं भी रहता है । अतः गुणस्थान परिवर्तन होता रहता है ।

आर्त-रौद्रध्यान की लेश्याएँ—

लेश्यात्रयं च कृष्णादि नातिसंक्लिष्टकं भवेत् ॥ ७९ ॥

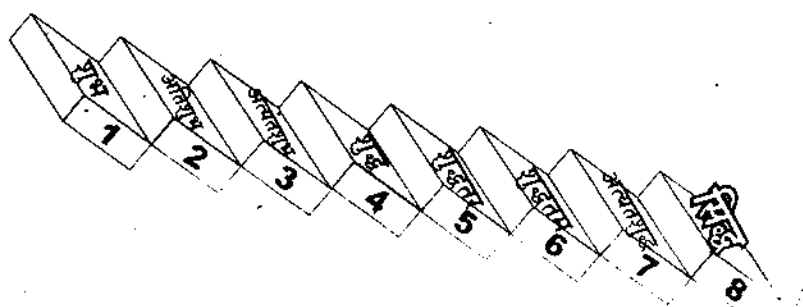
कापोत-नील-काला-अतिसंक्लिष्टा भवन्ति दुर्लेश्याः ॥ ९४ ॥

ध्यानदीपिका ग्रन्थकार ने आर्त और रौद्र दोनों प्रकार के ध्यानवाले जीवों की ६ में से प्रथम तीन कृष्ण, नील व कापोत लेश्याएँ होती हैं। वैसे आप जानते ही हैं कि ६ में से पहली ३ कृष्णादि अशुभ लेश्याएँ हैं। और शेष... पीत, पद्म, शुक्ल ये ३ लेश्याएँ शुभ कक्षा की हैं। आर्तध्यान की भी कृष्णादि ३ लेश्याएँ जो हैं वही रौद्रध्यानवाले की भी हैं। लेकिन दोनों में काफी ज्यादा अंतर है। वह श्लोककार ने अतिसंक्लिष्ट शब्द से सूचित की है।

आप पहली पट्टी में तीनों लेश्याओं को देखिए... यहाँ कालापन बहुत पतला है। धुंधला है। जैसा कि हम काला चश्मा धूप में पहनते हैं। लेकिन इतना पतलापन रहता है कि काला—श्याम होने के बावजूद भी पारदर्शकता बन पाती है। जबकि काला—श्याम पेपर ही यदि हम आँखों के सामने रखें तो बिल्कुल ही दिखाई नहीं देगा। वैसे दूसरी रौद्रध्यान की कृष्णता रहती है। यहाँ रंग दिखाया है। रंग के आधार की तरह विचारों की भी अभिव्यक्ति रहती है। यद्यपि आर्तध्यानी के विचार खराब ही होते हैं लेकिन रौद्रध्यानी के विचारों की संक्लिष्टता आर्तध्यान से भी हजारगुनी ज्यादा खराब रहती है। तीव्रता, तीव्रतरता और तीव्रतमता की तरतमता रहती है। इसलिए अतिसंक्लिष्ट शब्द का प्रयोग किया है। रौद्रध्यानी के विचारों में हिंसा की भावना—वृत्ति काम करती है। इसलिए कृष्ण लेश्या ज्यादा खतरनाक होती है। यद्यपि रौद्रध्यानी को भी कापोत एवं नील लेश्या बताई जरूर हैं, लेकिन हिंसक वृत्ति में कापोत से भी खराब ज्यादा नीललेश्या बन जाती है। और इससे भी निम्न स्तर पर उतर कर... यह कृष्ण लेश्या में परिवर्तित हो जाती है। लेश्याएँ विचारात्मक हैं। अतः विचारों के साथ ही इनका परिवर्तन यथाशीघ्र ही होना संभव है। जैसे पैर कीचड़ से खराब होने पर कैसे लगते हैं? ठीक वैसे ही लेश्याएँ अर्थात् विचारों की तरतमता भी कषायों से अधिवासित होती है। तब क्रूरता कठोरतादि काफी ज्यादा प्रमाण में मिल जाती हैं। अतः विचार ज्यादा खराब हो जाते हैं। और ऐसे समय में गति नामकर्म का निर्धारण हो जाय तो फिर आगे की गति वैसी होती है। इसलिए आर्तध्यानी की तिर्यच गति और रौद्रध्यानी की नरक गति होती है। इस तरह १४ गुणस्थानों में १ से ५ वे गुणस्थान तक के स्वामी तिर्यच तथा नरकगति में भी जा सकते हैं। ये दोनों

अशुभ और अशुभतर लेश्याएँ हैं जो अशुभ आर्तध्यान तथा इससे भी अशुभतर कक्षा के रौद्रध्यान के कारण अशुभतम होती ही जाती है। अतः इन दोनों ध्यानों का इन दोनों लेश्याओं के साथ गाढ़ मित्रता का संबंध है। अतः अनिवार्य रूप से दोनों साथ ही रहते हैं। परन्तु साधक को चाहिए कि इनका स्वरूप अच्छी तरह समझकर शुभध्यान की धारा में आगे चढ़कर इन अशुभ ध्यानों का त्याग करें। ध्यान से परिवर्तन संभव है। इसलिए ध्यान करना ही चाहिए। शुभध्यान करने की ही कोशिश ज्यादा करनी चाहिए।

शुभ शब्द अच्छे, सुंदर, स्वच्छ, सफेद अर्थ को द्योतित करता है। इसलिए शुभध्यान में धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान की गणना की जाती है। शुभ से शुभतर, शुभतम की कक्षा उसे और भी ज्यादा शुभ करती जाती है। जिसे शुभ से अतिशुभ, अत्यन्त शुभ, अतिशय शुभ, अतिशय ज्यादा शुभ भी होता जाय तब यही शुभ शुद्ध बन जाता है। शुभ से शुद्ध की कक्षा का चढ़ता हुआ क्रम देखिए।



इस तरह जैसे हम एक एक सोपान चढ़ते—चढ़ते ऊपर ही ऊपर पहुँचते ही जाते हैं ठीक वैसे ही ध्यान करते करते ध्याता अध्यवसायों की शुद्धि के आधार पर शुभ से अतिशुभ, और आगे अत्यन्त शुभतर कक्षा का होता ही जाता है। बस, फिर शुभ से शुद्ध की कक्षा में परिवर्तित होता ही जाता है। फिर शुद्ध में भी शुद्धतर, शुद्धतम, अत्यन्त शुद्ध की कक्षा के क्रमशः चढ़ते हुए सोपान आते ही जाते हैं। और अन्त में आत्मा सिद्ध बन जाती है। बस, सिद्ध बन जाने के पश्चात् अब ध्यान करना क्या है? अब तो सहज रूप से

सदाकाल तक अरे ! अनन्तकाल तक ध्यानरूप में ही रहना है । अब ध्यान में से बाहर अध्यान में आना ही नहीं है । फिर ध्यान करने न करने का सवाल ही कहीं रहता है ?

धर्मध्यान—

शुभ ध्यान का विषय भी शुभ ही होता है । तभी ध्यान भी शुभ हो सकता है । ज्ञेय विषय का शुभ होना अत्यन्त आवश्यक है । शुभ विषय से तात्पर्य ऐसा है कि... शाश्वत तत्त्वों को साधक ध्याता अपने ध्यान का विषय बनाएँ । आर्त—रौद्र में जो संसार के, मोहविषयक विषयों राग—द्वेष से अभिभावित करके बनाता था, लेकिन अब उन विषयों को छोड़कर, उनका सर्वथा त्याग करके अब तत्त्व के जो अनेक विषय आत्मा—परमात्मादि है उनको ग्रहण करें । उनको अपना ज्ञेय विषय बनाकर ध्यान की धारा में लाए । या फिर संसार के राग, द्वेष, मोह के जो जो विषय थे उनमें से राग—द्वेष की मात्रा निकालकर संपूर्ण तटस्थ भाव से, साक्षी भाव से दृष्टा मात्र बनकर देखता रहे । उनकी यथार्थता—वास्तविकता क्या है ? कितनी है ? यह ढूँढता रहे । इसलिए शोधक बन जाय । जैसे आकाश में ऊपर देखते समय बादल दिखाई देते हैं । वे काले भी हैं सफेद भी हैं, नीचे भी हैं या ऊपर भी हैं लेकिन देखनेवाला उन हवा से चलनेवाले बादलों को आते हुए, जाते हुए देखे भी सही तो ... किसी भी प्रकार का कोई राग—द्वेष होने की कोई संभावना ही नहीं रहती है । क्योंकि मैं उनसे दूर हूँ और वे मेरे से दूर हैं । इसलिए मेरा उनसे कोई संबंध नहीं है और उनका भी मेरे साथ कोई संबंध नहीं है । जब संबंध ही नहीं है तब मोह बीच में से निकल जाने के कारण कोई राग—द्वेषात्मकता बीच में नहीं रहती है । अतः मात्र ज्ञानगम्यता ही शेष रहती है । ठीक है, उन बादलों को मैं मेरे ज्ञान का विषय मात्र बना लूँ । न कि राग का या द्वेष का ।

ठीक इसी तरह हम प्रतिदिन अखबार पढ़ते हैं । रोज कितने ही लोगों के जन्मने और मरने की खबरे पढ़ते हैं । लेकिन पाठक को न तो कभी रोना आया और न ही हँसना आया । न तो दुःख हुआ और न ही सुख हुआ । क्योंकि उन मरनेवालों और जन्म लेनेवालों में मेरा कोई नहीं था । इसलिए मोहजन्य ममत्व भाव नहीं आया । तथा बिना ममत्व—मोह के राग—द्वेष हुए ही नहीं । मात्र उन खबरों को पाठक ने अपनी जानकारी (ज्ञान) का विषय बनाया और मन वहाँ से हटा लिया । वह घटना मात्र स्मृति में, जानकारी में थोड़े दिन तक रहेगी फिर लुप्त होती ही जाएगी । फिर रोज नई—नई जानकारी बढ़ती ही जाएगी और पुरानी स्मृति पटल पर से हटती भी जाएगी । यह तो प्रतिदिन का क्रम ही बन चुका है ।

बस, यही आदत या संस्कार हम अपने मोह के विषयों पर भी यदि ले लेते हैं और उन्हें भी बिना किसी राग—द्वेष, मोह—ममत्व भाव के मात्र साक्षी भाव से दर्शन मात्र का ही विषय बनाकर छोड़ दिया जाय, या फिर स्वयं उससे हट जाय तो निश्चित समझिए कि ऊँचा ध्यान हो जाय। लेकिन मनोजन्य रागभाव—द्वेषभाव—मोहभाव का नाता तोड़ना होगा। नहीं तो शायद हम ही टूट जाएँगे ? अनित्यादि १२ भावनाओं में हमें यही प्रक्रिया करनी है। पदार्थ एवं वस्तुस्थिति का स्पष्ट सही निरीक्षण करके दृष्टा भाव या साक्षी भाव से देखना मात्र है। जिससे संसार के पदार्थों का यथार्थ बोध हो सके। वास्तविकता का ख्याल आ जाय तो निरर्थक राग—द्वेष होता ही न रहे। फिर यथार्थज्ञान होने के बाद रागजन्य तथा द्वेषजन्य भ्रान्तियाँ—भ्रमणा कैसी थी, और इन भ्रान्त धारणाओं में मैं कैसा फसा हुआ रहा ? मृगजल जैसी राग और द्वेष की भ्रान्त धारणाओं में मैं निरर्थक सबको मेरा—मेरा कहकर मेरे मोह—ममत्व से जोड़ता ही रहता था। और बस, उनमें ही सुख और दुःख को भी मानकर बैठा रहता था। और व्यर्थ में ही दुःखी भी होना, व्यर्थ में ही सुखी भी होना... अरे... रे ! यह निरर्थक झमेला मैंने क्या बना रखा है ?

आत्मा को अशुभ से शुभ की तरफ ले जाय वही शुभ ध्यान है। भले ही उसे धर्मध्यान नाम दिया जाय। जो जो शुभ है वही धर्म है और जो जो धर्मरूप है वही शुभ है। अतः शुभ और धर्म एक ही सिक्के के दोनों बाजू की तरह पर्यायवाची पूरक हैं। इसलिए शुभध्यान को धर्मध्यान कहा है। धर्मध्यान शब्द की एक ध्वनि यह भी निकलती है कि आत्मा का ध्यान करने का ही धर्म है, स्वभाव है। कर्मजन्य स्वभाव अशुभ—अशुद्ध था। जबकि धर्मजन्य स्वगुणजन्य स्वभाव शुभ—शुद्ध है। बस, जब हम कर्मजन्य स्वभाव को अच्छी तरह पहचान लेंगे... उसका सही स्वरूप ख्याल आ जाएगा फिर वास्तविकता समझकर उसे हेय जानकर छोड़ना ही श्रेयस्कर होगा। लेकिन यह कब होगा ? जब आत्मस्वरूप आत्मगुणों का भी ध्यान करके तज्जन्य आनन्द का रसास्वाद एक बार कर लेंगे तब वास्तविकता का ख्याल आएगा। फिर कर्मजन्य ध्यान और कर्मरहित ध्यान दोनों में तुलना होगी। तब भेद का रहस्य खुलेगा। जिन्दगी में प्रथम बार सत्यतत्त्व के आनन्द की अनुभूति होगी। मनमयूर नाच उठेगा। झूम उठेगा। कभी नहीं पाया ऐसा आनन्द और वह भी सच्चे ज्ञान का आनन्द आएगा। तत्त्वानन्द होगा।

विकल्पविषयोत्तीर्णः स्वभावालम्बनः सदा।

ज्ञानस्थ परिपाको यः स शमः परिकीर्तितः

॥ १ ॥

अनिच्छन् कर्मवैषम्यं ब्रह्मांशेन शमं जगत् ।

आत्माभेदेन यः पश्येदसौ मोक्षगमी शमी

॥ २ ॥

महामहोपाध्यायजी जैसे ध्यानयोगी स्वानुभूति की बात ज्ञानसार के क्षमाष्टक में लिखते हुए कहते हैं कि... विकल्प के विषय से सर्वथा निवृत्त होकर निरंतर आत्मा के शुद्ध स्वभाव का आलंबन जिसे है, ऐसा जो ज्ञानात्मक परिणाम वही शम—समभाव है। कर्म के द्वारा किये हुए विविध भेद को न देखता हुआ लेकिन समस्त जीवों को आत्मत्व जाति की दृष्टि से समानरूप—एकरूप देखता हुआ उसमें अपने को भी जो अभिन्नरूप देखता है ऐसी उपशम भाववाली आत्मा... मोक्षगामी होती है।

सच तो यह है कि उपरोक्त दोनों श्लोकों के भावार्थ को गौर से पढ़ने, सोचने पर... आत्मध्यान की सुंदर प्रक्रिया इसमें से उपलब्ध होती है। ध्यानी के लिए निश्चित रूप से अन्दर प्रवेश करने के लिए विकल्प रहित होना ही पड़ेगा। संकल्प—विकल्पों के बीच परिभ्रमण करता हुआ यह चंचल चित्त विकल्प रहित हुए बिना... स्व = आत्मा के स्वभाव का आलम्बन ले ही नहीं सकता है। और विकल्प इतने ज्यादा क्यों उठते हैं? क्योंकि मन इतना ही ज्यादा बाहरी विषयों में घूमता रहता है। आत्म बाह्य समस्त विषय विकल्प के विषय हैं। वे ही मोहनीय कर्म के विषयभूत पदार्थ हैं। अनेक जन्मों का उपाजित मोहनीय कर्म अनेक—असंख्य जड़—चेतन पदार्थों पर... मोहभाव ममत्ववृत्ति उत्पन्न करता है। वे सब बाहरी पदार्थ हैं। वे अनगिनत—असंख्य हैं। अतः बन्दर की तरह छलांग लगाता हुआ यह मन... जब एक पदार्थ का ममत्व भाव से विचार करे कि इतने में तो पास का दूसरा पदार्थ उपस्थित ही है। वहाँ जाता है, सामने तीसरा पदार्थ तैयार ही है। जहाँ बैठा है वह उसे दिखाई नहीं देता लेकिन अनादि का स्वभाव बन चुका है कि... सामने का दूसरा ही अच्छा लगता है। जैसे एक पिता को अपने पुत्र की अपेक्षा पराये बच्चे ही अच्छे होशियार लगते हैं। या एक स्त्री को मोहदशावश अपने घर के बजाय दूसरे का घर ही अच्छा लगता है। या अपने सुख की अपेक्षा दूसरों का सुख ही अपने से ज्यादा लगता है, और तुलना में अपना कुछ भी नहीं लगता है। खुद के कपड़े (साड़ी आदि) की अपेक्षा दूसरों के ही ज्यादा अच्छे लगते हैं। यह स्वभाव बन गया है। ऐसी वृत्ति के कारण मन बाहर भटकता ही रहता है। एक से दूसरे पदार्थों का छलांग लगाकर दौड़ने—भटकने से कितने ज्यादा विकल्प उठते ही रहते हैं। मानों समुद्र में लहरें उठती ही रहती हो। विकल्प परिवर्तनशील है। जबकि ध्यान स्थिरता रूप है। अब आप ही सोचिए! जहाँ दोनों परस्पर विरोधी है ऐसी विरोधाभासी स्थिति में ध्यान कैसे करना?

और मान लो कि आप विकल्पों पर दौड़ नहीं भी लगाते हो। लेकिन कहीं एक विकल्प पर स्थिर भी होंगे तो उसे ही ध्यान मानकर भ्रान्ति में मत रह जाना।

ध्यान कब होता है और कब नहीं? विकल्प में ही स्थिर रह जाना उसको ही ध्यान मान लेना यह ध्यानाभास कहलाएगा। आभास मात्र में ही राजी होकर “ध्यान कर लिया” की तृप्ति मान लेंगे तो यह बहुत दुःखदायी स्थिति बन जाएगी। इसलिए विकल्पों से ऊपर उठना और स्वात्मा में प्रवेश करके अपने गुणों में चंचुपात करना ही ध्यान प्रक्रिया का प्रारंभ है। अन्दर का गुण वैभव विपुल है। इसलिए चिन्ता के समस्त विषयों से ऊपर उठकर चिन्तनात्मक तत्त्वभूत विषय पर स्थिरता प्राप्त करना ध्यान कहलाएगा।

धर्मध्यान के ४ भेद—

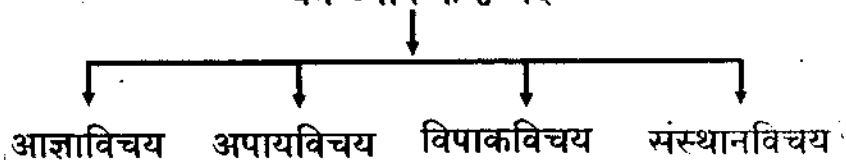
धम्मे ज्ञाणे चउव्विहे चउपडोयारे पण्णत्तं, तं जहा—आणा—विजए, अवाय विजए, विवाग विजए, संठाण विजए। स्थानांगसूत्र—४/१/१२

आज्ञापायविपाकानां संस्थानस्य च चिन्तनात्।

इत्थं वा ध्येयभेदेन धर्म्यं ध्यानं चतुर्विधम् ॥ १०/८ योगशास्त्र

स्थानांग आगम शास्त्र, योगशास्त्रादि में धर्मध्यान ४ प्रकार का बताया है—

धर्म ध्यान के ४ भेद



विचय शब्द विचार का वाचक है। विचार और चितन करने के अर्थ में प्रयुक्त है। “विचयनं विचयो—विवेको—विचारणेत्यर्थः” सर्वार्थसिद्धि कोषकार ने भी विचय शब्द विचारादि अर्थ में प्रयुक्त किया है। विचिन्तिविवेको विचारणा विचयः। विचिन्तिविचयो—विवेको—विचारणेत्यनर्थान्तरम्” तत्त्वार्थवार्तिककार ने भी ९/३६ की टीका में विचय शब्द विचार, विवेक और विचारणा, विचिन्ति आदि अर्थ में प्रयुक्त किया है।

“वत्थु सहावो धम्मो”, वस्तु का स्वभाव ही धर्म है। स्वभाव अर्थात् आत्मस्वरूप स्वगुणात्मक स्वरूप ही धर्म है। आत्मा भी एक वस्तु है। सत्, तत्त्व, पदार्थ, द्रव्य आदि शब्द वस्तु के समानार्थक शब्द हैं। जड़—चेतनात्मक मुख्य २ ही द्रव्य जगत् में हैं। दोनों

अपने—अपने गुणधर्मों के कारण परस्पर विरोधी धर्म—स्वभाववाले द्रव्य हैं। आत्मा नामक चेतन द्रव्य ज्ञान—दर्शनात्मक चेतनावाला द्रव्य है। जबकि जड़—अजीव पदार्थ वर्ण—गंध—रस—स्पर्शात्मक—ज्ञानादि रहित गुणधर्मवाले द्रव्य हैं। परस्पर विरोधी धर्मवाले स्व—स्वधर्म गुणादि धारक स्वतंत्र स्वभाववाले द्रव्य हैं। अतः आत्मा का स्वभाव ही आत्मधर्म है। आत्मा संबंधी विचारणा—विचय या ध्यान, धर्मध्यान कहलाएगा। आत्मस्वरूप प्राप्त करने के लिए जिन—जिन विचारों को करना, निर्णय संकल्पादि करना, मन के ऊपर उन—उन स्वभाव के संस्कारों को स्थायी करना उसे धर्मध्यान कहते हैं। धर्मध्यान से वस्तुस्वभाव में प्रवेश करने की योग्यता प्राप्त होती है। और शुक्लध्यान से आत्मस्वरूपमय बनकर रहा जाता है। अतः क्रमशः शुरुआत धर्मध्यान से होती है। इस प्रकार के धर्मध्यान से अशुभ भावना या वासना से मन को पीछे हटाना और शुभ भावना या विचारणा से मन को पुष्ट किया जाता है।

१) आज्ञा—जिनाज्ञा—सर्वज्ञाज्ञा संबंधी विचारों को करना, २) दुःख के कारणों संबंधी विचारणा करना, ३) दुःख के फलों संबंधी विचारणा करना, ४) तथा लोकस्वरूप ब्रह्माण्ड का विचार करना आदि धर्मध्यान है। इन चारों विषयों संबंधी योग्य विचारणा वस्तु के सत्य—यथार्थ स्वरूप को प्रकट करती है। यथार्थता की अनुभूति कराती है।

१) आज्ञाविचय धर्मध्यान—

स्वसिद्धान्तप्रसिद्धं यत् वस्तुतत्त्वं विचार्यते।

सर्वज्ञानुसारेण तदाज्ञा विचयो मतः ॥ १२१ ॥

ध्यान दीपिकाकार आज्ञाविचय की व्याख्या स्पष्ट करते हैं। जैन सिद्धान्त में प्रसिद्ध जो वस्तुतत्त्व है उनका जिनेश्वर सर्वज्ञ की आज्ञा के अनुसार ही विचार करना उसे आज्ञाविचय धर्मध्यान कहते हैं। आज्ञा शब्द का अर्थ—

आज्ञा शिष्टिर्निराङ्गिभ्यो देशो नियोगशासने।

अववादोऽप्यथा ॥ २७७ ॥

अभिधान चिन्तामणी शब्दकोष में आज्ञा, शिष्टि, निर्देश, आदेश, निदेश, नियोग, शासन, अववाद आदि आठों पर्यायवाची समानार्थक शब्द दिये हैं। आदेश—निर्देश को भी आज्ञा कहते हैं और शासन भी आज्ञा है। किसकी आज्ञा? कैसी आज्ञा मानना? इत्यादि विषयक विचारणा महत्व की है।

आज्ञा धर्म या इच्छा धर्म ?—

संसार में अधिकांश जीव अपनी इच्छा—मर्जी के अनुरूप चलने को ही धर्म मान लेते हैं। वैसे संसार में इच्छा रहित कौन है ? शतप्रतिशत सभी जीव इच्छा वाले ही हैं। इच्छाएँ मन में पनपती हैं। आखिर इच्छाओं की उत्पत्ति के पीछे क्या कारण है ? यह रहस्य समझ में आ जाय तो बेडा पार हो जाए। जबकि स्पष्ट सरल है कि... आत्मा के ८ कर्मों में मोहनीय कर्म है जो राग—द्वेष से उपाजित किया हुआ है। इस प्रकार के मोहनीय कर्म के उदय से इच्छाएँ जगती पनपती ही रहती हैं। अनेक जन्मों का अनन्त गुना मोहनीय कर्म आत्मा पर बंधा हुआ है। संसार में अनन्त वस्तुएँ हैं। अतः जीव की इच्छाएँ भी अनन्त प्रकार की हैं। अब किस किस इच्छा को महत्व देगा ? कैसी कैसी इच्छा को प्राधान्यता देगा ? अतः अधिकांश जीव जो “इच्छाएँ धम्मो” कहेंगे तो कैसे चलेगा ? एक चोर कहेगा कि मेरी तो चोरी करने की इच्छा है। कामी कहेगा कि मेरी तो काम भोग सेवन करने की इच्छा है। धनवान की इच्छा अलग और गरीब—भिखारी को पूछा जाए तो वह कहेगा कि शेट को ही मार डालने की मेरी इच्छा है। खूनी हत्यारा भी किसी का खून करने की इच्छा रखता है।

इस तरह यदि सबकी अपनी—अपनी इच्छा के अनुरूप धर्म रखा जाय, या कहा जाय तो सर्वथा अनुचित ही होगा। ऐसे धर्म में एकवाक्यता, एकरूपता तथा शाश्वततादि कुछ भी नहीं आएगी। और यह धर्म थोडा ही कहलाएगा ? यह तो कर्मपोषक—पापपोषक कहलाएगा। क्योंकि मोहनीय कर्म के उदय से इच्छाएँ जगी और उस कर्मजन्यभाव को यदि पुनः प्रकट करें, या वैसा आचरण करें तो वह धर्म का स्वरूप थोडे ही कहलाएगा ? दूसरी तरफ इच्छा करना आसान है लेकिन की हुई इच्छा को पूर्ण करना इतना आसान संभव नहीं है। किसी की इच्छा समग्र विश्व के राष्ट्रपति बनने की हो तो क्या यह पूर्ण हो सकती है ? क्या किसी की चक्रवर्ती बनने की इच्छा पूरी हो सकती है ? क्या इच्छा मात्र करके कोई स्वर्ग का मालिक इन्द्र बन सकता है ? इच्छा करने में क्या जाता है ? अच्छी खराब का भी विचार ही कहाँ करना है ? और मोहनीय कर्म द्वारा जन्य इच्छाओं से खराब इच्छाएँ ही अधिकतर ज्यादा से ज्यादा रहती हैं। शुभ कही जा सके ऐसी श्रेष्ठ कक्षा की इच्छाएँ तो बहुत असंभव जैसी लगती हैं। मानों कि कोई ऐसी इच्छा करे कि, संसार की समस्त स्त्रियों का मैं यथेच्छ उपभोग करूँ ? तो क्या यह पूर्ण हो सकती है ? और क्या यह पूर्ण करने योग्य भी है ? कदापि नहीं। अतः मोहनीय कर्म जन्य इच्छाएँ जो निरंतर मन को उछालती ही रहे और मन बिचारा पागल बनकर नाचता ही रहे तो यह कहाँ तक

उचित है कि “इच्छाए धर्म” कहना ? कदापि नहीं । यह तो संसार की सबसे बड़ी मूर्खता कहलाएगी ।

“आणाए धम्मो—”

“आणाए धम्मो” अर्थात् “आज्ञा में धर्म है” आज्ञा धर्मरूप है और धर्म आज्ञारूप ही है । आज्ञा से बाहर हो उसे धर्म नहीं कहा जा सकता, और धर्म से बाहर हो उसे आज्ञा नहीं कही जा सकती । अब यहाँ प्रश्न उठता है कि किसकी कैसी आज्ञा धर्मरूप गिनी जा सकती है ? ऐसा कौन जो समस्त जगत् को आज्ञा प्रदान कर सकता है ? इन प्रश्नों का विचार करने से स्पष्ट होता है कि ... आज्ञा प्रदाता मूलभूत सर्वज्ञ—सर्वदर्शी केवली ही होने चाहिए । क्योंकि उन्होंने ही समस्त कर्मावरण का क्षय करके केवलज्ञान—केवलदर्शन प्राप्त किया है । वे ही सर्वज्ञ सर्वदर्शी बने हैं । इसके पहले राग—द्वेष के विजेता वीतरागी बने हैं । योगशास्त्र की टीका में स्पष्ट कहा है कि—

दोषा राग-द्वेषमोहाः संभवति न तेऽर्हति ।

अदुष्टहेतुसंभूतं तत्प्रमाणं वचोऽर्हताम् ॥

आत्मा में जो कर्मजन्य दोषरूप है राग और द्वेष तथा मोह, ऐसे दोष जिनमें सर्वथा संभवते ही नहीं हैं क्योंकि वे वीतराग अर्हन् हो चुके हैं । अदुष्ट—निर्दोष हेतुभूत वचन होने से अरिहंतों के वचन ही प्रमाणभूत हैं ।

सर्वज्ञवचनं सूक्ष्मं हन्यते यत्र हेतुभिः ।

तदाज्ञारूपमादेयं न मृषा भाषिणो जिनः ॥ १०/९ ॥

योगशास्त्र के मूल श्लोक में स्पष्ट किया है कि— जिन—जिनेश्वर भगवान् जो सर्वज्ञ होने के कारण मृषाभाषी है ही नहीं ऐसे सत्यवादी सर्वज्ञ का वचन ही प्रमाण रूप होने से आज्ञा के रूप में ग्रहण करना ही चाहिए । जो किसी भी छोटे से छोटे हेतु या तर्कादि कारण से भी गलत ठहराया ही नहीं जा सकता ।

एवमाज्ञां समालम्ब्य, स्याद्वादन्याययोगतः ।

द्रव्यपर्यायरूपेण, नित्यानित्येषु वस्तुषु ॥

जो स्याद्वाद और न्यायादि द्वारा शुद्ध ऐसा द्रव्य—पर्यायादि रूप है तथा नित्यानित्यवस्तु स्वरूप जानकर आज्ञाधर्म का आलम्बन लेना ही चाहिए ।

आज्ञां यत्र पुरस्कृत्य सर्वज्ञानामबाधिताम् ।

तत्त्वतश्चिन्तयेदर्थस्तदाज्ञा ध्यानमुच्यते ॥ १०/८ ॥

सर्वज्ञ भगवंतों की अबाधित आज्ञा को ही आगे करके तत्पूर्वक ही आत्मा—परमात्मा—मोक्षादि तत्त्वों का यथार्थ चिन्तन किया जाय वही आज्ञाविचय नामक प्रथम धर्मध्यान है ।

इसलिए आज्ञा शब्द से आगम, सिद्धान्त तथा जिनवचन ये तीनों अर्थ अभिप्रेत हैं । षट्खंडागम की ध्वला टीका में यही स्पष्ट किया है कि— “तत्थ आणा णाम—आगमो, सिद्धंतो, जिणवयणमिदि एयद्धो” । इसलिए आज्ञा मानने का अर्थ जिन वचन को, आगमशास्त्र को तथा सिद्धान्त को स्वीकार करना ही चाहिए । जिनागम में प्रतिपादित नय, प्रमाण, निक्षेप, सप्तभंगी, नौ तत्त्व, पंचास्तिकाय — षट् द्रव्यादि पदार्थ जितने भी हैं उन सबका नय—निक्षेप—प्रमाणादि द्वारा चिन्तन करना ही आज्ञा विचय प्रकार का धर्म ध्यान है ।

अरिहंत तीर्थंकर परमात्मा—आप्त महापुरुष हैं । वैसे लौकिक और लोकोत्तर दोनों प्रकार के आप्त पुरुष कहे गए हैं । लौकिक आप्त—पुरुष तो माता—पितादि भी हैं । वे भी पुत्र के लिए हितभावना पूर्वक ही आज्ञा फरमाएंगे । अतः व्यवहार में उनकी आज्ञा भी ग्राह्य है । तीर्थंकर वीतराग सर्वज्ञ होने से लोकोत्तर कक्षा के महान आप्त पुरुष हैं । अतः उनकी आज्ञा को हमारी आत्मा के कल्याण के लिए संपूर्ण रूप से उपयोगी तो क्या उपकारी ही है । अतः वह तो आँख मूँदकर स्वीकार्य एवं आचरणीय है ही । इसमें रतीभर भी संदेह होना ही नहीं चाहिए । श्रद्धा का केन्द्र भी यही भाव है “जं जं जिणेहिं भाषियाइं तमेव निःसंकं सच्चं” जो जो भी जिनेश्वर भगवंतं ने कहा है वह वह निःशंक—शंकारहित रूप से सत्य ही है । ऐसा स्वीकारना ही सम्यग्दर्शन है । यही सम्यग्दर्शन की व्याख्या है । मोहनीय कर्म के अहंभाव के उदय के कारण कई जीवों की वृत्तियों में तो इतनी ज्यादा ममकार—अहंकार की बुद्धि और भाषा बन जाती है कि— “बस, मैं कहूँ वही सत्य है । लेकिन अरे भद्र ! थोड़ा सा सोच तो सही, कहाँ वे अनन्तज्ञानी और कहाँ तू । उनकी तुलना में अनन्तर्वे भाग का ज्ञानधारक ? बताइए, अनन्तर्वे भाग के ज्ञानवाला तू अल्पज्ञ और कहाँ अनन्तगुणे ज्ञानवाले वे सर्वज्ञ । दोनों का मेल ही कहाँ मिलेगा ? फिर उनका वचन छोड़कर तेरा वचन क्यों स्वीकार्य बनाना चाहिए ।

ऐसे सर्वज्ञ तीर्थंकर भगवान ने अपने अनन्त केवलज्ञान से जानकर तथा केवलदर्शन से देखकर तथा संपूर्ण वीतरागभाव से सर्वथा संपूर्ण शुद्ध सत्य तत्त्वों का स्वरूप जो

बताया है उससे जिन “जीव—अजीव—पुण्य—पाप—आश्रव—संवर—बंध—निर्जरा और मोक्ष” नामक नौ तत्त्वों का स्वरूप बताया है वही गम्य—स्वीकार्य आचरणीय उपादेय तत्त्व है। पाप—आश्रव सर्वथा हेय त्याज्य हैं। जबकि संवर—निर्जरा उपादेय है। कहा है “आश्रवो सर्वथा हेयः स्यात् संवरो मोक्षकारणम्”। आश्रव दो सर्वथा त्याज्य है और संवर मोक्ष का कारण होने से ग्राह्य है। अतः उपादेय है। आचरणीय है।

प्रवृत्ति—निवृत्ति उभयरूप आज्ञाधर्म—

जैसे रास्ते पर लिखा हुआ होता है कि—“कृपया यहाँ से रास्ता क्रॉस मत करिए.. पुल पर से जाइए”। इस वाक्य में प्रवृत्ति रूप आज्ञा आज्ञा भी है और निवृत्ति रूप आज्ञा भी है। अतः क्या करना यह प्रवृत्तिरूप—विधेयात्मक आज्ञा का स्वरूप भी दर्शाया है। और दूसरी तरफ निवृत्ति—निषेधात्मक आज्ञा भी प्रभु ने ही की है। वंदितुसूत्र में स्पष्ट किया है कि—

पडिसिद्धाणं करणे, किच्चाणमकरणे पडिवक्कमणं ।

असहहणे अ तहा, विवरीअ परुवणाए अ ॥

इस श्लोक में प्रतिक्रमण करने के पीछे प्रमुख ४ कारण बताते हुए स्पष्ट कहा है कि— १) प्रतिषेध—अर्थात् निषेध। भगवान ने जिस बात का निषेध कर दिया है उसका आचरण सर्वथा करना ही नहीं चाहिए। फिर भी जिसने आचरण कर लिया हो वह प्रतिक्रमण करने का अधिकारी है। उदा. अनन्तज्ञानी ने अनन्त जीवों के पिण्डरूप ऐसे बादर साधारण वनस्पतिकाय के आलु, प्याज, गाजर, मूला, शक्करकंद, लहसून, अदरक, अंकुरित धान्य—आदि अनन्तकाय का उपयोग करना सर्वथा निषेध कर दिया है। रात्रिभोजन करना सर्वथा निषिद्ध कर दिया है। फिर भी निषिद्ध आज्ञा का आचरण करते हैं तो पाप के भागीदार बनते हैं। अनन्त जीवों की हिंसा के भागीदार बनते हैं। शास्त्रों से विदित यह आज्ञा धर्म के रूप में आचरणीय होते हुए भी जो न आचरे, न पाले तो निश्चित रूप में वह अधर्माचरण—पापाचरण करनेवाला अधर्मी—पापी कहलाता है। अरे भगवान ! बिचारे सामान्य गृहस्थों की तो बात जाने दो लेकिन... कहलानेवाले संत, मुनि या साधु महाराज भी यदि गोचरी में—पात्र में लेकर यथेच्छ भोजन करते हैं। तो फिर औरों का तो क्या कहा जाय ? ऐसे संत—सतियां जो दूसरों को “जीव दया पालो” का उपदेश देते हैं और स्वयं अनन्त जीवों की विराधना के भागीदार बनते हैं। कितना गलत है यह। और फिर इसके बचाव के लिए बालिश तर्क देते हैं कि— “हमारे तो पात्रे पड़ीयो पचक्खणाण

है” । जबकि ऐसा कोई शास्त्रवचन है ही नहीं । अरे ! पहली बात तो यह स्पष्ट है कि संत—सती गोचरी—भिक्षा वहोरने में अप्रमत्त—सजग है या नहीं ? उसे ४२ दोष देखकर उनका त्याग करने पूर्वक भिक्षा ग्रहण करनी है । तो क्या इस शास्त्राज्ञा का भी उल्लंघन वे करते हैं ? और वे यदि कहे कि हमको थोड़े ही दोष लगता है ? बनानेवाले गृहस्थ को दोष लगता है, तो... सीधी बात है कि... आपने गृहस्थ को... । सर्वज्ञ की आज्ञा इसके निषेध के लिए है । अनन्त जीवों का पिण्ड है । अतः सर्वथा त्याज्य है । अनाचरणीय ही है । यदि सन्तों—सतीयों ने अपना कर्तव्य सही निभाकर गृहस्थों को निषेध कराते गए होते—छुड़ाते गए होते तो गृहस्थ ही त्यागी बन जाते । जिससे उनके ही घर में नहीं आता, तो संत—सतीयों के पात्रों में नहीं आता । लेकिन ऐसे संत—सतियों ने मूल दयाधर्म का उपदेश नहीं दिया मात्र पंथ—संप्रदाय का प्रचार करने में लगे रहे, परिणाम स्वरूप संप्रदाय ममत्व, पंथमोह के कारण जिन मंदिर—दर्शन—पूजा न करने की सोगनें देते रहे । अरे ! धर्म न करने की सोगनें देकर धर्म छुड़ाते जाना—और अधर्म—पाप को छुड़ाने के लिए सोगन ही न देना, ऊपर से खुद भी उसका आचरण करना । यह कहाँ तक सत्य है । अरे ! त्याग किसका करना ? पाप का कि धर्म का ? यह कैसा न्याय ? क्यों जी ? ऐसे तथाकथित भले संत—सतियों को अनन्तकायिक जीवों की हिंसा हिंसा नहीं लगी और पुष्पार्च में ही हिंसा लगी । क्या उनको इतना भी ज्ञान नहीं है कि— पुष्प प्रत्येक वनस्पतिकाय है । प्रति + एक = प्रतिशरीर में एक ही जीव रहता है । जबकि आलु, प्याज, लहसून, गाजर, मूला, शक्करकंददि जो कि साधारण वनस्पतिकायिक है जिनमें अनन्त जीव एक शरीर में साथ रहते हैं ऐसा पिण्ड अनन्तकाय कहलाता है । क्या इस बात को वे नहीं मानते ? तो तो शायद सम्यग्दर्शन में भी संदेह होता है ।

आगम वचन पर भी जब अश्रद्धा है तो फिर सवाल ही कहाँ रहा है । या तो फिर क्या वे साधारण और प्रत्येक का भेद ही वनस्पतिकाय का नहीं मानते हैं ? क्या साधारण वनस्पतिकाय के बादर उदाहरण रूप इन आलु—प्याजादि में वे तथाकथित संत—सतियाँ अनन्तजीवों का वास ही नहीं मानते हैं ? तो तो फिर सर्वज्ञ वचनरूप जिनाज्ञा ही नहीं मानते हैं । आगमाज्ञा भी नहीं मानते हैं जबकि आगम शास्त्र में है और वे भी पाठ करते ही हैं । ज्ञान धारण करने के बावजूद भी अश्रद्धा होने पर सम्यग्दर्शन ही संदिग्धास्पद हो गया । फिर तो ऐसा कहेंगे कि “किस आगम में आलु—प्याजादि नहीं खाना लिखा है ? ऐसा स्पष्ट निषेधात्मक उल्लेख कहाँ है ?” ऐसे और ये शब्द सुनकर उनकी आगम श्रद्धा का ख्याल स्पष्टरूप से आ जाता है । इससे ऐसा प्रश्न पूछने का मन होता है कि “तो फिर

किस आगमशास्त्र या अन्य धर्मशास्त्र में विधेयात्मक ऐसा विधान है कि—
 आलु—प्याज—लहसूनादि अनन्त जीवों के पिण्डरूप होने पर भी खाने ही चाहिए। खा सकते हैं। खाए जा सकते हैं। अरे ! यह मिथ्या बाते हैं। किसी भी आगमशास्त्र या धर्मशास्त्र में यह मिलना संभव ही नहीं है। या फिर इसके लिए वे स्वतंत्र मनघडंत आगम शास्त्र की रचना करे तो है। हाँ, सम्प्रदाय ममत्व यह भी करा सकता है। रागान्ध कुछ भी कर सकता है। मनघडंत अर्थघटन करना और फिर उसे ही सही बताना शायद यह कितना बड़ा धर्म लगता होगा ? अरे भगवान ! इतनी भी समझ नहीं है क्या ? कि एक तरफ अनन्त जीवों का स्वरूप—अस्तित्व—जन्म—मरणादि—बताया है। दूसरी तरफ हिंसा से बचनेरूप अहिंसा धर्म का शुद्ध सूक्ष्मतम पालन करने के लिए आज्ञा दी है। “दशवैकालिक आगम” के वचन तो स्पष्ट ही है कि— “पढमं नाणं तओ दया” अर्थात् प्रथम ज्ञान और फिर दया। जब आगमशास्त्र वनस्पतिकाय के भेद—प्रभेद समझाकर साधारण और प्रत्येक जीवों का स्वरूप स्पष्ट कर ही देते हैं उनमें साधारण की जाति में भी सूक्ष्म—बादर के प्रकार बताकर एक शरीर में अनन्त जीवों का निवास स्पष्ट ही बता दिया है, और फिर सूक्ष्मतम अहिंसा कैसे पालनी यह भी साफ साफ बता दिया है। इतना ज्यादा ढोल पीटकर कह दिया है इससे और ज्यादा क्या कहना ? समझदार को तो इशारा ही पर्याप्त होता है। फिर ऐसी हिंसा के आचरण का सवाल ही कहाँ खड़ा होता है ? और फिर बचाव के लिए तर्क देना कि हम थोड़ी ही बनाते हैं ? गृहस्थ ही बनाते हैं। हमारे तो पात्रों में पड़ा फिर बस . खाना ही पड़ता है। मैं यह जानना चाहता हूँ कि “पातरे पडीयो पच्चक्खाण” यह किस आगम में आज्ञारूप है ? क्या बता पाएंगे ? और इसी आज्ञा को शिरोधार्य करके चलेंगे तो क्या पात्रों में कोई भी अण्डे आदि अभक्ष्य वस्तु वहेरा देंगे और भिक्षा में आ जाएगी तो फिर क्या करेंगे ? क्या उसका भी भक्षण करेंगे ? वहाँ तो जवाब देंगे कि ऐसे कैसे कोई डाल देंगे ? पूछेंगे नहीं ? क्या हम आँख मूँद कर ऐसे ही थोड़ी भिक्षा ले लेते हैं ? तो क्या यही नियम अनन्तकाय के लिए लागू नहीं हो सकता है ? दूसरी तरफ करेमि भते ! सूत्र में न करना—न कराना और करते हुए को भला भी नहीं जानने की त्रिविध प्रतिज्ञा मन—वचन—काया के तीनों योग से पालनी है।

इस तरह तीनों योग से त्रिविध प्रतिज्ञा के नौ कोटि भेद होते हैं। अब आप ही सोचिए ! नौ कोटि के पच्चक्खाणवाला महाव्रती कैसे—किस बहाने के नीचे ऐसे अनन्तकाय का भक्षण कर सकता है ? ऊपर से ऐसे संत—सतियों ने धर्म छोड़ने की सौगंद देने के बजाय पाप छोड़ने के पच्चक्खाण कराए होते तो सही अर्थ में पापों से बचते और

सच्चे धर्मी बनते । आलु—प्याज को सम्प्रदायवाद के रंग में रंगने की कोई आवश्यकता ही नहीं थी । अतः जो भी आराधक आत्माएँ हो उनको अभी भी समझना ही चाहिए । ताकि अनन्तजीवों की विराधना से बच सकें । जिनाज्ञा आगमाज्ञा का सही सम्यग् पालन हो सके । ध्यान में प्रवेश करने के जिज्ञासु को आज्ञा पालन यथार्थ करने के पश्चात् आज्ञाविचय नामक धर्मध्यान में प्रवेश करने पर ध्यान भी सही हो जाएगा ।

ज्ञानार्णवादि ग्रन्थों में आज्ञाविचय—

वस्तुतत्त्वं स्वसिद्धान्तं प्रसिद्धं यत्र चिन्तयेत् ।

सर्वज्ञाज्ञाभियोगेन तदाज्ञाविचयो मतः ॥ ३२/६ ॥

अनन्तगुणपर्यायसंयुतं तत्रयात्मकम् ।

त्रिकालविषयं साक्षाज्जिनाज्ञा सिद्धमामनेत् ॥ ३२/७ ॥

सूक्ष्मं जिनेन्द्रवचनं हेतुभिर्यत्र हन्यते ।

आज्ञासिद्धं च तद्ग्राह्यं नान्यथावादिनो जिनाः ॥ ९ ॥

स्थित्युत्पत्तिव्ययोपेतं तृतीयं योगिलोचनम् ।

नयद्रव्य समावेशात्साद्यनादि व्यवस्थितम् ॥ १६ ॥

निःशेषनयनिकषाग्रावसन्निभम् ।

स्याद्वादपविनिर्घातभग्नान्यमतभूधरम् ॥ १६ ॥

सर्वज्ञाज्ञां पुरस्कृत्य सम्यगर्थान् विचिन्तयेत् ।

यत्र तद्ध्यानमाप्नातमाज्ञारख्यं योगिपुंगवैः ॥ २२ ॥

श्री शुभचन्द्राचार्य जैसे महान ज्ञानी—गीतार्थ महापुरुष ने अपनी मौलिक रचनारूप “ज्ञानार्णव” ग्रन्थ के ३२ वे सर्ग में आज्ञाविचय का २२ श्लोकों में अनोखा वर्णन किया है । उसका सारांश यहाँ इस संदर्भ में प्रस्तुत है—

जिस धर्मध्यान में जिनेश्वर के सिद्धान्त में प्रसिद्ध वस्तुस्वरूप को सर्वज्ञ भगवान की आज्ञा की प्रधानता से चिन्तन करे यह आज्ञाविचय नामक प्रथम धर्मध्यान का भेद है । इसमें तत्त्व (पदार्थ) अनन्त गुण—पर्यायों सहित त्रयात्मक त्रिकालगोचर साक्षात् जिनेश्वर परमात्मा की आज्ञा से सिद्ध हुआ चिन्तन करें । जिनोक्त सूक्ष्म तत्त्व हेतु से बाध्य नहीं है । अतः आज्ञा से ग्राह्य है । क्योंकि भगवान ही जब वीतरागी है । और जो जो वीतरागी होते हैं वे अन्यथावादी नहीं होते हैं । यदि भगवान सर्वज्ञ ही न हो तो भी बिना जाने अज्ञानवश अन्यथा कहेंगे, और यदि वीतरागी ही न हो तो राग—द्वेषवश अन्यथा—विपरीत कहेंगे ।

और जो सर्वज्ञ और वीतरागी उभय गुणधारक हो उसके लिए अन्यथा—विपरीत कहने का कोई प्रयोजन ही नहीं रहेगा। इसलिए “पुरुषविश्वासे वचनविश्वासः” सबसे पहले तो पुरुष विशेष—परमात्मा में पूर्ण विश्वास संपूर्ण श्रद्धा रखना और फिर उनके वचन रूप आज्ञा में संपूर्ण श्रद्धा रखनी ही चाहिए। जिन वचन—जिनाज्ञा—जिनोपदेश रूप जो श्रुतज्ञान है वह सर्वज्ञोपदिष्ट उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्य से संयुक्त है। बस, इसे ही योगीश्वरों के तीसरे नेत्र के समान समझना चाहिए। तथा द्रव्यार्थिक—पर्यायार्थिक दोनों नयों के कारण सादि—अनादि व्यवस्थारूप है। द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा अनादि है। और पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से यही श्रुत तीर्थकर परमात्मा की दिव्य ध्वनि से प्रगट होता है। इस कारण सादि है। यही श्रुतशास्त्र समस्त नय—निक्षेपों से वस्तुस्वरूप की परीक्षा करने के लिए कसोटी के समान है तथा स्याद्वाद—कथंचित् वचनरूपी वज्र के निर्घात से भग्न किये हैं—परास्त कर दिये हैं अन्य मतरूपी पर्वत जिसने ऐसा है। अर्थात् जिनाज्ञा—जिनवचन स्याद्वादादि से परिपुष्ट बनकर किसी भी मिथ्यामत से परास्त होनेवाला नहीं है। इसलिए जिस ध्यान में सर्वज्ञ की आज्ञा को आगे करके प्रदार्थों का सम्यग्प्रकार—सत्य रूप से चिंतन करे... यही आज्ञाविचय रूप धर्मध्यान है।

प्रशमरतिकार कहते हैं कि— आप्तवचनं प्रवचनं चाज्ञा, विचयस्तदर्थं निर्णयनम्” परमाप्त महापुरुष श्री जिनेश्वर परमात्मा का ध्यान यही आज्ञा है, जिनवचन स्वरूप द्वादशांगी—जिनागम आज्ञारूप ही है। उस आज्ञावचन के अर्थ का निर्णय करना ही विचय है। यह ऐसा आज्ञाविचय धर्मध्यान है।

जिन तथा जिनाज्ञा में अभेद—जैसे सूर्य—चन्द्र और उनकी प्रभाप्रकाश में अभेद संबंध है। वैसे सर्वज्ञ जिनेश्वर प्रभु और उनके सिद्धान्तरूप आज्ञारूप वचन में भी अभेद संबंध है। जिनाज्ञा अनादिनिदानरूप शाश्वत है। द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से द्वादशांगी का किसी भी काल में नाश होता ही नहीं है। सदा अस्तित्व रहता है। जिनाज्ञा जगत् के समस्त जीवों की पीडा—वेदना—संताप हरनेवाली है। अतः आत्यन्तिक हितकारी है। “सव्वे पाणा, सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता न हंतव्वा।” आचारांग आगमशास्त्र (४-१-१) के इस आज्ञारूप वचन का पालन त्रिविध—त्रिकरण योग से यदि व्यवस्थित आचरण—पालन किया जाय तो समस्त जीवों का हित कल्याण होगा। इस आज्ञा का पालन करके अनन्त जीवों को अभयदान देकर अनन्तजीव मोक्ष में गए हैं। जिनाज्ञा स्याद्वादरूप होने से पदार्थ के त्रैकालिक सत्य स्वरूप को प्रकट करती है। सर्वज्ञ प्रभु स्वयं ही सर्वोत्तम—पुरुषोत्तम है। अतः उनकी आज्ञा भी अनमोल और सर्वोत्तम कक्षा की ही है,

सर्व कर्मों का समूल उन्मूलन करनेवाली है। जिन पूर्व करोड वर्ष के संचित कर्मों को अज्ञानी करोडों वर्षों तक भी नहीं खपा सकता है उनको ज्ञानी जिनाज्ञानुसार आज्ञाविचय धर्मध्यान से तथा आज्ञानुसारी वचन के पालन से अल्पकाल में क्षय कर सकता है। जिनाज्ञा अर्थ गंभीर है। अर्थ की अपेक्षा से अनन्तार्थक है। ऐसे सर्वज्ञप्रभु का प्रत्येक वचन भी अनन्त अर्थ युक्त है। तत्त्वार्थसंबंधकारिका में—“एकमपि जिनवचनं निर्वाहको भवति”। ऐसा कहकर शास्त्रकार भगवन्तों ने जिनेश्वर के परमतारक सामर्थ्य को यथार्थरूप से सम्मानित किया है। जिनाज्ञा को हृदय में धारण करके महापुरुष भी कृतकृत्यता का अनुभव करते हैं। इसीसे वे सामर्थ्यधारक, लब्धिसंपन्न, विश्वोपकारी बनते हैं। जिनाज्ञा सर्वदोषरहित—निर्दोष, सर्वगुणसम्पन्न है। गूढातिगूढ गहन है। नय—गम—भंग—प्रमाण आदि से सुशोभित है। अत्यन्त गंभीर—व्यापक—गहन—सर्व विश्वोपकारी है। ऐसी जिनाज्ञा को ही “जिनाज्ञा परमो धर्मः” “आणाए धम्मो” आदि कहकर धर्मरूप में स्वीकार करके कल्याणकारी इस जिनाज्ञा का एकाग्र चित्त से ध्यान—चिंतन करना ही आज्ञाविचय रूप धर्मध्यान है।

२ अपाय विचय धर्मध्यान—

ध्येय के भेदों की अपेक्षा से ध्यान के भेद होते हैं। आज्ञाविचय में जिनाज्ञा ही ध्येय रूप थी। अपायविचय नामक इस दूसरे धर्मध्यान का ध्येयरूप पदार्थ—उपाधि तथा कष्टमय—दुःखमय यह संसार ही ध्येयरूप है। विपाक का अर्थ—फल—परिणाम है। इसमें कर्म का फल ही ध्येय रूप है। एक बात तो निश्चित ही है कि किसी भी प्रकार का ध्यान ध्येय के बिना तो हो ही नहीं सकता है। फिर भी यहाँ पर विशिष्ट ध्येय की अपेक्षा से ध्यान के भेद कहे हैं। जैसे पिण्डस्थादि ध्यानभेद सिर्फ एक ही ध्येय के हैं और यहाँ आज्ञाविचयादि भेदों के ध्यान का ध्येय भिन्न—भिन्न है। अतः ध्येयानुरूप ये ४ ध्येय भेद हैं।

वैसे देखा जाय तो ध्यान आभ्यन्तर तप है। ६ बाह्यतप में उपवास—आयंबिल आदि की गणना होती है। लेकिन शरीर की दृष्टि से शारीरिक रूप से सभी एक जैसे समान नहीं हो सकते हैं। बाह्य तप का मुख्य आधार शरीर है। शरीरावलंबी बाह्य तप की प्रधानता है। लेकिन प्रायश्चित्त विनय—वैयावच्चादि सभी आभ्यन्तर प्रकार के तप मन और आत्मा से होने की प्रधानतावाले हैं। इसलिए आभ्यन्तर तप में उपवासादि की गणना नहीं होती है। इसमें १ प्रायश्चित्त, २ विनय, ३ वैयावच्च (सेवा), ४ स्वाध्याय, ५ ध्यान और

६ कायोत्सर्गादि ६ प्रकार की गणना होती है। ध्यान को भी आध्यन्तर तप के रूप में गिना है। तप का मुख्य साध्य निर्जरा है। जितनी ज्यादा निर्जरा हो, उतने ही ज्यादा कर्म कटेंगे। पाप धुलेंगे। इसलिए ध्यान पाप प्रक्षालन करता है। कर्म के बंधन टूटते हैं। शिथिलीकरण होता है। और नष्ट होते हैं। इस तरह कर्मक्षय होता है। निर्जरा से आत्मा शुद्ध होती है। मुक्ति समीप आती है।

इस तरह ध्येयानुरूप ध्यान होता है। ध्येय फलरूप होता है। जबकि ध्यान साधना के रूप में क्रियात्मक होता है। जैसा फल निर्णय ध्येय लक्ष्य वैसी साधना उसके अनुरूप होगी।

अफसोस तो इस बात का है। कर्म निर्जरा एवं आत्मशुद्धि के लक्ष्य—ध्येयवाला ध्यान होना चाहिए। जिससे निर्वाण की प्राप्ति संभव होती है। लेकिन आज ध्यान की भी दुकानदारी चलानेवाले तथाकथित ध्यानियों—योगियों ने ध्येय भी बदल दिया। ध्येय की सर्वोच्चता से उसे उतार दिया है। और निम्नस्तर पर लाकर रख दिया है। इससे बस, भवध्यान करके मन की शान्ति पाओ, मन की बिमारियाँ, रोग मिटाओ। मात्र तनाव कुछ कम करना, मानसिक शान्ति प्राप्त करना, मनःस्वास्थ्य प्राप्ति के ही तत्कालीन फल का अनुभव कर लेना पर्याप्त समझ लिया है। सोचिए ! जब ध्येय ही इस निम्नस्तर पर ला दिया है तो फिर ध्येयानुरूपी ध्यान भी कैसा होगा ? फिर ध्यान का स्तर कितना नीचे उतरेगा। अब फिर निर्जरा का प्रमाण कितना बचेगा ?

कोई—कोई थोड़ा सा एक कदम और आगे बढ़ते हैं कि... हमारा मन तनाव मुक्त होकर शान्त बनकर मन की एकाग्रता साध लें। हम मन की उठती संवेदनाओं को सिर्फ देखते रह जाय ? यह भी कहाँ तक उचित है ? जी नहीं, ध्याता सर्व प्रथम संवर करे। आश्रव का निरोध हो जाए। नए पापकर्मों का आगमन—प्रवेश न हो। फिर पुराने कर्मों की निर्जरा हो। निर्जरा भी ढेर सारी होनी चाहिए। कर्म ध्यानरूपी अग्नि में जलकर राख बन जाय, आत्मा शुद्ध, शुद्धतर, शुद्धतम बन जाय। कर्म के औदयिक भाव की स्थिति ही बदल जाय तथा आत्म—गुणों की अनुभूति हो और उन गुणों से जन्य आनन्द की अनुभूति में साधक—ध्याता लीन हो जाय बस, उस मस्ती में रहे। यही ध्यान के फल रूप में अपेक्षित है। लेकिन तथाकथित बन बैठे गुरुओं और ध्यानियों—योगियों को निर्जरा से बिल्कुल मतलब ही नहीं है। शायद उल्टा पापाश्रव भी काफी होता होगा फिर भी ध्यान कर रहे हैं ऐसा दुनिया को आभास कराते रहना। यह कहाँ तक उचित है ?

राग-द्वेष-कषायाद्यैर्जायमानान् विचिन्तयेत् ।

यन्नापायांस्तदापायविचयध्यानमिष्यते ॥ १०/१० ॥

धर्मध्यान का दूसरा भेद अपायविचय का है । अपाय का सीधा अर्थ दुःख है । मात्र दुःख का विचार करना । इससे तो आपको भ्रान्ति हो जाएगी कि क्या दुःखों की चिन्ता—विचारण करना भी धर्मध्यान है ? जी नहीं ? इतना ही मत समझना । जी हाँ दुःख की चिन्ता—दुःख संबंधी विचारणा मात्र जरूर है । लेकिन जब व्यक्ति मात्र अपने ही दुःख की चिन्ता रोज करता रहे तो उसे धर्मध्यान नहीं लेकिन आर्तध्यान कहेंगे । ऐसे आर्तध्यान से तो मात्र कर्मबंध होगा । लेकिन धर्मध्यान तो कर्मक्षयकारक है । अतः दोनों में आसमान—जमीन का अन्तर है । इसलिए अन्तर इतना ही करना है कि... यह अपने स्वयं के दुःख की अपेक्षा संसार के समस्त जीवों के दुःख की चिन्ता करने लगे । एक बार आप करके देखिए । जब आप मात्र अपनी खुद के दुःखों की चिन्ता करेंगे तब उसमें भी मात्र कारणभाव रहित दुःख देखेंगे । सिर्फ शारीरिक—मानसिक पीड़ा—वेदना की ही चिन्ता रहेगी । लेकिन जब आप समस्त जगत् के जीवों के दुःख देखने लगेंगे और उसमें भी उन दुःखों के कारणभूत कर्मों के जन्य—जनकभाव के संबंध के साथ देखेंगे तब आपको वास्तविकता का बोध होगा । यही बात यहाँ योगशास्त्र—ज्ञानार्णव—ध्यानशतक—ध्यानदीपिकादि ध्यानविषयक अनेक ग्रन्थों में वर्णित किया गया है । साफ कहते हैं कि . . . राग—द्वेष—कषायादि से उत्पन्न निर्मित तथाप्रकार के कर्मों से जन्य जो अपाय—दुःख है उनका चिन्तन करना ही अपायविचय धर्म ध्यान है ।

दुःख का वास्तविक कारण क्या है ?—

सम्यग् दर्शन के अभाव में अनेक जीव दुःख का अनुभव जरूर कर लेते हैं । लेकिन दुःख के मूलभूत कारण का पता नहीं लगा पाते हैं । संसार में दुःख के क्षेत्र में समानता जरूर देखी जाती है । आखिर दुःख दुःख ही है । चाहे एक को हो या अनेक हो । जैसे एक बालक की माँ मर जाएगी तो उससे उसको जितना दुःख होगा उतना ही दुःख दूसरे—तीसरे—चौथे बालक की माँ के मरने पर उसे भी दुःख उतना ही होगा । किसी को चोट लगेगी तो उसे जितनी पीड़ा—वेदना होती उतनी ही . . . दूसरे—तीसरे—सबको होगी । चाहे पुत्र मृत्यु हो, या चाहे पति की मृत्यु हो, या चाहे पौत्र या पत्नी की मृत्यु हो संसार में वियोग सर्वत्र दुःखदायी ही है ।

लेकिन संसार में अधिकांश लोगों ने अपने दुःख के कारण रूप में ईश्वर को ही दुःखदाता मान रखा है। अब जब ईश्वर को ही दुःख दाता मान रखा है तो सोचिए ! आखिर ईश्वर के प्रति उनकी विचारधारा कैसी बनेगी ? कैसे भाव बनेंगे ईश्वर के प्रति ? जानवर—प्राणी भी समनस्क—मनवाले हैं। अतः वे भी विचारक जरूर हैं। बोल नहीं पाते हैं यह बात सही है। लेकिन विचार करने में कोई तकलीफ नहीं है। मूक विचारक हैं। उन्हें भी दुःखादि का अनुभव बराबर होता ही रहता है। वे दुःख के कारणरूप में किसका निर्णय करेंगे ? कुछ भी नहीं। वे न तो ईश्वर को पहचानते हैं और न ही कर्म—धर्म को। अज्ञानवश आए हुए दुःख को सहन करने के सिवाय कोई विकल्प ही नहीं है। आखिर क्या करेंगे ? वे पशु हैं। अतः अज्ञानवश कारण का निर्णय नहीं कर पाते हैं। लेकिन मनुष्य जो समझदार ज्ञानवान है वह भी यदि दुःख के सही सच्चे कारण को न ढूँढ पाए और ईश्वर को ही दुःखदाता—दुःख का कारण मान ले तो यह कितना उचित होगा ? कहाँ तक सही होगा ? भ्रान्ति—भ्रमणावश ईश्वर को ही दुःखदाता मानकर मनुष्य ने अपनी अज्ञानता, मिथ्यात्व को प्रदर्शित किया है। (वैसे ईश्वर के बारे में इसी पुस्तक में काफी विस्तार से विचारणा की गई है। अतः कृपया वह पढ़—समझकर अपने मिथ्यात्व को दूर करें और सही सच्चे सम्यग् ज्ञान की वृद्धि करिए।)

अतः सत्य यथार्थ वास्तविकता यह है कि . . . जीव स्वयं जो राग—द्वेष—मोह—कषाय—पापादि प्रवृत्ति करता है, तथा उनसे जिन कर्मों को उपार्जित करता है उन बांधे हुए कर्मों के कालान्तर—या भवान्तर में उदय में आने के कारण जो दुःख पाएँगे, भोगेंगे उनका सही विचार करना चाहिए।

जी हाँ। यह निर्विवाद स्पष्ट सत्य है और त्रैकालिक शाश्वत सत्य है कि—दुःख सुख की प्राप्ति एक मात्र कृतकर्म के कारण ही है। कर्म शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के हैं। बस, हमारी व्यावहारिक भाषा में शुभ कर्म को पुण्य तथा अशुभ कर्म को खराब

पापरूप कहते हैं। अतः जिस जीव ने अशुभ—खराब पाप कर्म किये हैं, वह उसके कालान्तर में उदय में आने के समय दुःख की अनुभूति करेगा ही। इसमें कोई सन्देह ही नहीं है। इसी प्रकार शुभ पुण्य कर्म जो अच्छा है वह उदय में आकर शुभरूप सुख देगा। इस तरह फल भी निश्चित ही हैं, इसमें कभी भी विपरीतीकरण संभव ही नहीं है।

संसार में कर्म की शाश्वत व्यवस्था में उल्टा हो ही नहीं सकता है। अर्थात् पाप कर्म करके कोई सुखरूप फल नहीं पा सकता है। और ठीक उसी तरह कोई शुभ पुण्य कर्म करके दुःखरूप फल पा ही नहीं सकता है। कर्म के साम्राज्य में अन्धेर संभव ही नहीं है। यह शाश्वत व्यवस्था है। इसमें कोई दाता—देनेवाला नहीं है। अतः किये हुए कर्म का ही उदय में आना है और वैसा फल प्रदान करना है। इसलिए अव्यवस्था का प्रश्न खड़ा ही नहीं होता है। फिर भी संसार के जीव कैसी विचित्र वृत्तिवाले हैं। उनकी मनोभावना का मानसचित्र खड़ा करते हुए हरिभद्रसूरि म. लिखते हैं कि—

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति, पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः।

फलं पापस्य नेच्छन्ति, पापं कुर्वन्ति सादराः ॥

आश्चर्य तो इस बात का है कि... पुण्य का फल जो सुख है उसकी इच्छा तो सभी करते हैं। लेकिन पुण्यकार्य करना नहीं चाहते हैं। पुण्यरूप शुभ धर्मकार्य करना कष्टदायी लगता है। और चाहना शुभ सुख की है। कैसे फलीभूत होगी? ठीक उसी तरह पाप कर्म की प्रवृत्तियाँ काफी आनन्द—मजे से रसपूर्वक करते ही जा रहे हैं। लेकिन किये हुए पाप से सुखरूप फल पाने की इच्छा रखते हैं। परन्तु पाप के फल के रूप में मुझे दुःख मिले ऐसी चाहना नहीं रखते हैं। क्यों? क्या मनुष्य मात्र अपनी इच्छा से विचारणा करके जैसी इच्छा करेगा वैसा पा लेगा? क्या मनुष्य की मिथ्यात्ववश तथा अज्ञानवश उत्पन्न हुई गलत भ्रान्त धारणाओं को सही बनाने या सही सिद्ध करने के लिए कर्म की शाश्वत व्यवस्था बदलेगी? जी नहीं। कभी भी नहीं। कदापि नहीं। अतः यह निश्चित ही है और निर्विवाद सत्य है कि... पाप कर्म से दुःख की प्राप्ति और शुभ पुण्यकर्म से सुख की प्राप्ति होगी।

अपाय दुःखवाचक शब्द है। समस्त जगत के जीव कैसे.... किन—किन पाप कर्मों की प्रवृत्तियों में रचे हुए हैं यह आप देखते ही हैं। अतः उससे स्पष्टरूप से अनुमान लगाया

जा सकता है कि... संसार के ये पाप करनेवाले जीव भविष्य में कितने ज्यादा दुःखी होंगे ? इसकी क्या कल्पना करें। संसार में रोज कितने ही जीव दुःख भोग रहे हैं ? निरंतर भुगत ही रहे हैं.... और दूसरी तरफ असंख्य जीव निरंतर पापकर्म भी करते ही जा रहे हैं। १८ पापों की प्रवृत्तियाँ संसार में अखण्ड रूप से सर्वत्र चलती ही रहती हैं। और समष्टिगत दृष्टि से देखने पर... संसार में कर्मसंयोगवश अखण्डरूप से दुःख भी संसार में देखे ही जा रहे हैं। अतः मात्र दुःख और वेदना का ही स्वरूप नहीं देखना है। लेकिन साथ ही साथ.... उसके कारणरूप में पाप कर्मों को भी देखते ही जाना है। जिससे मात्र दुःखों के प्रति ही दुर्गुणा अप्रीति या अभाव न जागे, लेकिन साथ ही साथ दुःखों के कारणरूप १८ पापकर्मों पर भी संपूर्ण अभाव... पैदा हो जाय यही जरूरी है।

माया—मोहान्धतमसविवशीकृत चेतसा ।

किं किं नाकारि कलुषं कस्कोऽपायोऽप्यवापि ॥

यद् यद् दुःखं नारकेषु तिर्यक्षु मनुजेषु च ।

मया प्रापि प्रमादोऽयं ममैव हि विचेतसः ॥

योगशास्त्रकार लिखते हैं कि... माया—मोहरूप अन्धकार के वश होकर मन से मैंने क्या—क्या नहीं किया ? ओहो । कैसे कैसे पापकर्म मैंने नहीं किये ? और कैसे कैसे दुःख पाए ? सचमुच नरकगति में, पशु—पक्षी के जन्मरूप तिर्यच की गति में, तथा मनुष्य की गति में जो जो दुःख जीव ने पाए हैं, मैंने पाए हैं तो इसमें मेरा ही एकमात्र प्रमाद है। मेरा ही मन उल्टा चला, विपरीत चला जिसका यह परिणाम है।

ध्यान शतक, ज्ञानार्णवकार आदि ने काफी ज्यादा संसार के अपायों, दुःखों का कारणरूप कर्म सहित वर्णन किया है। अवश्य ही पढ़ना चाहिए। राग—द्वेष जनित अनर्थ, मोहममत्व जन्य दुःख, कषायों के घर में रहकर जीव ने जो क्रोध—मान—माया—लोभादि किये हैं। उनके कारण उत्पन्न जो जो दुःखदायि अवस्था, मिथ्यात्वादि के कारण उपाजित संसार की वृद्धिरूप भव परंपरा देखते नहीं बनती है। ८४ लाख जीवयोनियों में जन्म लेना तथा आयुष्यकर्म निर्धारित नियत जीवन जी कर पुनः मृत्यु पाकर विदाय लेना, और दूसरी गति में चले जाना, उसके पीछे जीवों का करुण विलाप करना, दुःखदायी अवस्था का विचार करते हुए कारणों को स्पष्टरूप से देखते रहना। तथा कार्यकारण भाव का संबंध बैठकर संसार में जीवों की ऐसी स्थिति देखकर संसार स्वरूप का चिन्तन करना अपायविचय नामक धर्मध्यान है। १८ पापों का स्वरूप उनका आचरण तथा क्रिया प्रवृत्ति से जन्य कर्मों का ख्याल तथा संसार के दुःखों का स्वरूप स्पष्टरूप से ख्याल में आ जाता है।

इत्यात्मनः परेषां च ध्यात्वाऽपायपरंपराम् ।

अपायविचयं ध्यानमधिकुर्वीत योगवित् ॥ ७ ॥

इस तरह अपने तथा दूसरों की दुःखात्मक अपाय परंपरा का ध्यान करते रहना, यह अपायविचय नामक ध्यान है । जिसे योग के जानकार साधक करते हैं । इस तरह जो भी अग्रमतमुनि या ध्यानसाधक ध्याता आत्मा अपाय दुःखात्मक रागादि—दोषादि कारणों युक्त... करुणा से दयार्द्र हृदय होकर चिन्तन करता रहे यह धर्मध्यान है । अपाय विचय नामक शुभ ध्यान है । इसके प्रभाव से जीव की वीतराग—वीतद्वेष—निष्कषाय और संपूर्ण सम्यक्त्ववान बनने की पात्रता क्रमशः प्रकट होती है । इस महान गुण को प्राप्त करने के लक्ष्यरूप यह ध्यान करना चाहिए ।

विपाक विचय धर्मध्यान—

विपाक शब्द परिणाम—फल वाचक है । *Result* रूप कहते हैं । लेकिन किसका फल ? फल अन्त में प्राप्त होता है लेकिन उसके पहले क्रिया होनी अनिवार्य होता है । विद्यार्थी परीक्षा-में पेपर लिखने की क्रिया करता है तब जाकर कालान्तर में उसे फल मिलता है । प्रत्येक की हुई क्रिया भूतकालीन बन जाती है और आगे फल—विपाक मिलता है । यहाँ विषय आध्यात्मिक है । अतः आत्मा ने कब कौनसी कैसी क्रिया की, जिसके फलस्वरूप आत्मा को विपाक—फल भुगतना पड़ता है । इसके उत्तर में एक शब्द का ही प्रयोग है वह है—“कर्म” । बस, आत्मा ने भूतकाल में कालान्तर में ऐसे भारी पापादि कर्म किये हैं जिसके फलस्वरूप जीव को भावि में विपाक—फल भुगतने पड़ते हैं ।

स विपाक इति ज्ञेयो यः स्वकर्मफलोदयः ।

प्रतिक्षणसमुद्भूतश्चित्ररूपः शरीरिणाम् ॥

जीवों के द्वारा किये हुए कर्मों का जब उदय होता है तब वह फल—विपाक कहा जाता है । जो सुखात्मक—दुःखात्मक उभयरूप होता है । यह कर्मोदय क्षण—क्षण प्रति उदय होता है । ज्ञानावरणीयादि अनेक प्रकार का यह कर्म का उदय विपाकरूप—फलदायी बनता है ।

अतः इस विपाक—फल के रूप में अशुभ कर्मों के उदय को दुःख फलदायी और शुभ पुण्यकर्म सुखफलदायी है ।

प्रतिक्षण समुद्भूतो यत्र कर्मफलोदयः ।

चिन्त्यते चित्ररूपः स विपाकविचयो मतः ॥

या संपदाऽर्हतो या च विपदा नारकात्मनः ।

एकातपत्रता तत्र पुण्यापुण्यस्य कर्मणः ॥

श्री हेमचन्द्राचार्यजी म. योगशास्त्र में फरमाते हैं कि... प्रतिक्षण उत्पन्न होनेवाला जो कर्मफल का उदय सुख—दुःखात्मक है। उसी का चित्ररूप यह संसार है ऐसा चिन्तन करना ही विपाकविचय नामक धर्मध्यान है। विपाक—संपदा और विपदा उभयरूप है। संपदा—संपत्ति सुखरूप है। जो अरिहंत परमात्मा आदि को प्राप्त होती है। समवसरण की रचना, अष्टप्रातिहार्य, अतिशयादि भी सर्वोत्तम पुण्य प्रकृति के विपाकरूप ही है। और संसार में नरक गति की प्राप्ति विपदा—विपत्ति दुःखरूप विपाक ही है। पुण्य—पाप रूप कर्म का ही परिणाम है। इस तरह समूचे संसार पर कर्म की एकछत्रता—एकचक्री शासन चलता है।

अशुभशुभकर्मविपाका—नुचिन्तनार्थो विपाकविचयः स्यात् ॥ २४८ ॥

प्रशमरति प्रकरण में पू. वाचक मुख्यजी भी इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि... अशुभ और शुभकर्म के फल का चिन्तन करना ही विपाक विचय है। कर्म का स्वरूप सामान्य बोध रूप वर्णन पहले काफी कर चुके हैं। वहाँ से कर्म की समस्त विचारणा पढ़ना फिर मनन करके चिन्तन करना चाहिए। मिथ्यात्व—अविरति—प्रमाद—कषाय और योगादि इन पाँच प्रमुख बंध हेतुओं से जीव जिन १८ प्रकार की पापप्रवृत्ति करके अशुभ कर्म उपार्जन करता है। वे कर्म प्रकृति बंध, रसबंध, स्थितिबंध और प्रदेशबंधरूप चारों प्रकार से बंधस्थ होकर आत्मप्रदेशों पर लगे हुए रहते हैं। वे चारों प्रकार से बंधे हुए कर्म बंध, उदय, उदीरणा और सत्ता के रूप में चारों प्रकार से आत्मा के साथ रहते हैं। अनादि अनन्तकालीन द्रव्यस्वरूप से ध्रुवरूप रहनेवाली इस आत्मा पर कर्मणवर्गणा के पुद्गल परमाणुरूप ये कर्मपिण्ड आत्मा के साथ चिपककर अपनी जड़ प्रकृति का आवरण एक प्रकार का आच्छादन करके... आत्मगुणों को दबाकर—ढककर रखते हैं और अपनी प्रकृति की असर दिखाते हैं। परिणामस्वरूप आत्मा के गुण व्यवहार में प्रकट न होकर विपरीतभाव में दुर्गुण या दोष प्रकट करके आत्मा को वैसा बना देते हैं। काल प्रवाह की दृष्टि से अनादि सान्त होते हुए भी ये कर्म प्रत्येक व्यक्तिगत बंध की स्थिति से सादि—सान्त की कक्षा के हैं। जब नए कर्म बंधते हैं तब आदि—शुरुआत के कारण सादि है और जब उनकी अवधि—स्थिति समाप्त हो जाती है तब उदयावलिका में आकर अपनी असर दिखाकर जब आत्मप्रदेशों से अलग होकर बिखर जाते हैं तब सान्त स्थिति रहती है। इस तरह सादि—सान्त कर्म भी भूतकाल में अनादिकाल से आत्मा को अपने पंजे में जकड़े

बँठे हैं। अपने रंग में रंगकर अपनी असर में आत्मा को असरग्रस्त करना। अपना विपाक दिखाकर आत्मा को सुखी—दुःखी करना। इस तरह सादि—सान्त स्थितिवाले कर्म भी आत्मा को अनादि—अनन्त काल तक भी अपनी पक्कड़ में रख सकते हैं। जैसे अभीवी और जातिभय्यादि जीवों को अपनी पक्कड़ में बँदिस्त रखता है। अनन्त शक्तिमान यह चेतनात्मा इन जड़ कर्मों के परमाणुओं के बंधन में बँदिस्त होकर उसकी गुलामी की जंजीरों में जकड़ी हुई रहकर “कर्म नचावे तिम ही नाचत” की स्थिति खड़ी कर दी है। “कथवि बलिओ कम्पो, कथवि बलिओ अण्णा” कभी कर्म बलवान और कभी आत्मा बलवान। इस तरह इस दो मल्लों का युद्ध चलता ही रहता है। इस द्वन्द्व में अपनी पहचान कर्म के द्वारा करती—कराती हुई आत्मा अनन्तकाल व्यतीत कर देती है। यद्यपि अन्तिम विजय तो आत्मा की ही होती है, लेकिन अनन्तकाल तक कर्म की थपेड़ें खाती हुई और ८४ लाख जीवयोनियों में जन्म—मरण धारण करती हुई चार गति के चक्ररूप ऐसे संसार चक्र में अनन्तकाल तक परिभ्रमण करती हुई मदारी के हाथ में नाचते हुए बन्दर जैसा खेल खेल रही है। इसमें कर्म की लाचारी अनुभवती हुई बिचारी आत्मा... कर्म के विपाक से कभी राजा, कभी रंक, कभी साधु तो कभी शैतान, कभी इन्द्र तो कभी पशु—पक्षी, कभी चिट्ठी—मकोड़े, तो कभी पृथ्वी—पानी—वनस्पति, कभी अमीर तो कभी गरीब, कभी स्त्री तो कभी पुरुष, कभी नपुंसक, कभी नरक का नारकी तो कभी स्वर्ग का मालिक देव, कभी हीरे—मोती में तो कभी सोने—चाँदी—लोहे में और अन्त में पुनः अपने मूल उद्गमस्थान निगोद में भी जाकर संसार नाटक के मंच पर विविध रूप—रंग धारण करती हुई कर्म की थपेड़ों में धूप—छाँव की तरह सुख—दुःख सहन करती हुई अनन्त काल निर्गमन करती रहती है। इतना प्रबल और दृढ़ कर्म का बंध है कि... स्वयं अनन्तकाल तक कर्म के पाश में जकड़ी हुई रहती है। नाचती हुई रहती है। कभी ज्ञानावरणीय कर्म के आधीन मूर्ख—पागल—मूंगा—बहरा—तोतडा, कभी दर्शनावरणीय कर्म के आधीन अंधा—निद्रालु, कभी दर्शन मोहनीय कर्म के कारण उन्मत्त मिथ्यात्वी, नास्तिक बनकर पागल की तरह कुछ भी प्रताप करता रहता है। इसी तरह चारित्र मोहनीय कर्म के उदय के कारण कभी कषायी, क्रोधी, अहंकारी—मायावी, लोभी लालचु, दस्यु, चोर, लूटेरा, गुंडा, डाकु, खुनी, हत्यारा, हिंसक, स्त्री—पुरुषादि कामी वासना का कीड़ा, विदूषक, हँसी—मजाकी, रोनेवाला आदि बनकर सब पाप करनेवाला पापी बनता है। कभी अंतरायकर्म के उदय से अशक्त, कमजोर, दीन हीन—लाचार—गरीब—भिखारी—सत्त्वहीन शक्तिहीन बनकर दर—दर भटककर याचना करता रहता है। कभी नाम कर्म के कारण चित्र—विचित्र रूप—रंगादि

धारण करके भिन्न—भिन्न प्रकार के शरीरादि धारण करके किसी न किसी गति में छोटा—बड़ा बनता ही रहता है। यह जीव गोत्र कर्म के रंग में रंगा हुआ यह जीव हरिजन भंगी—चमार—ब्राह्मण—क्षत्रिय—शूद्र—वैश्य आदि बनता हुआ उच्च—नीच गोत्र में जाना पैदा होने का काम करता रहता है। वेदनीय कर्म भी अपनी असर दिखाने में कोई कभी नहीं छोड़ता है और जीव को सुखी, दुःखी, रोगिष्ठ, बिमार, दर्दी बनाता है। कभी स्वस्थ—निरोगी तो पुनः कभी अस्वस्थ रोगी बनाता है। आयुष्य कर्म चारों गति में नियत काल तक जेल में अपराधी की तरह बंदिस्त रखता है। अपने निर्धारित वर्षों के काल तक जंजीर में जकड़ कर रखता है। बस, आयुष्य की समाप्ति के कारण जीव को मरकर इस फनी दुनिया से विदाय लेकर जाना पड़ता है। और जाने के पहले आगामी जन्म का आयुष्य साथ ही ले जाता है। परिणाम स्वरूप पुनः जन्म लेना ही पड़ता है। कई बार तो उपक्रमों से तूटता हुआ सोपक्रम आयुष्य लेकर जीव अधूरे आयुष्य में ही मृत्यु की शरण स्वीकार लेता है। इस तरह आयुष्य कर्म के कारण जन्म—मरण धारण करते हुए कुछ काल देह में रहते रहते—फिर अन्य नया देह धारण करता हुआ संसार की इस जेल का अनन्त काल निर्गमन करता ही रहता है।

जी हाँ, इन कर्मों के विपाक में सुख की छाया है। कई बार कर्म सुखी भी करता है। किये हुए पुण्य कर्म के उदय से जीव सुख—वैभव—धन संपत्ति भी प्राप्त कर लेता है। सत्ता के पद पर ऊँचा बड़ा भी बन जाता है। अरे ! राजा—महाराजा से चक्रवर्ती—इन्द्र की वैभवी सत्ता भी कर्म ही देता है। और यहाँ तक कि कभी कभी तो तीर्थकर नामकर्म की उत्कृष्ट पुण्यार्थ प्रदान करके समवसरण पर बिराजमान कर देता है। सोने के मेरुपर्वत पर... जन्माभिषेक इन्द्रों—देवताओं के हाथों से करवाता है। कई देवता सेवा करते हैं। ऐसा महान तीर्थकर भगवान भी पुण्य कर्म की प्रकृति बनाता है। यह सब कर्म की लीला है।

सच्चाई इसी में है कि जीव को कृतकर्म की लीला माननी चाहिए इसके बजाय निरंजन—निराकार—वीतरागी बने हुए भगवान को आपनी अज्ञानतावश, मिथ्याज्ञानरूप विपरीतज्ञान के कारण बीच में लाया और ईश्वर की लीला कहकर ईश्वर पर आरोपण किया। बस, अब ईश्वर का स्वरूप गलत समझकर चलने लगा। फिर कैसे सम्यग् ज्ञान—सच्ची समझ कहाँ से आएगी ? निर्दोष ईश्वर को भक्त ने अपने दोषारोपण से दोषित किया और निर्दोष स्वरूप विकृत करके दोषग्रस्तरूप से मानने लगा। परिणाम स्वरूप सच्चे अर्थ में जैसे भगवान थे वैसे नहीं मान सका। लेकिन अपने आपको जैसे चाहिए थे वैसे बना

सका । सचमुच, यह ईश्वर की लीला नहीं यह तो मनुष्य की लीला ईश्वर से बड़ी रही जिसके कारण ईश्वर को इन्सान जैसा चाहता था वैसा बना पाया । इसके कारण सत्य सम्यग् स्वरूप ही ईश्वर का लुप्त कर दिया । और नहीं है वैसा विपरीत उल्टा स्वरूप धारण करके पीतल को सोना समझकर चलने लगा । उसके कारण भविष्य में धक्का लगने पर आँख खुलेगी तब रोना आएगा । ठीक इसी तरह ऐसे मिथ्यात्व के कारण अनन्त काल संसार चक्र में निर्गमन करके जब सच्चा सम्यग् ज्ञान पाएगा तब अफसोस होगा कि गलत—विपरीत धारणा में निरर्थक बहुत लम्बा काल बिताया । आखिर अन्त में जाकर हारकर भी सही सच्ची धारणा—मान्यता पर आना पडा । पहले लिखे हुए ईश्वर विषयक भ्रान्त धारणाओं के मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के चक्कर में फसकर जीव ने अनन्तकाल निर्गमन किया और अभी भी यदि मिथ्यात्व का मोह नहीं छोड़ेगा तो भविष्य भी अनन्तकाल का बनता जाएगा । क्या फायदा ? क्या इसी तरह संसार के ८४ लक्ष जीवयोनियों के चक्र में भटकता ही रहेगा । एक बात निश्चित है कि... जब तक सम्यग् दर्शन सच्चा ज्ञान प्राप्त, सच्ची श्रद्धा प्राप्त नहीं करेगा तब तक इस संसार चक्र में भटकता ही रहेगा । इसलिए सही मानिए कि न तो ईश्वर संसार को बनाता है और न ही इन्सान को चाहिए वैसा ईश्वर को बनाए । कभी भी ईश्वर की लीला मानने की मिथ्या धारणा भी मत अपनाइए । जी हाँ, एक मात्र स्वकृत कर्म की ही यह लीला है । मकड़ी जैसे अपनी ही बनाई हुई जाल में फस जाती है ठीक उसी तरह यह जीव भी स्वयं उपार्जित कर्म की जाल में फस जाता है । और विपाकरूप में सुख—दुःख को भुगतता ही रहता है ।

इति मूलप्रकृतीनां विपाकास्तान् विचिन्वतः ।

विपाकविचयं नाम धर्मध्यानं वर्तते ॥

इस तरह मूल प्रकृति और आगे उत्तर—अवान्तर कर्म की प्रकृतियों के विपाकों—फलविशेष विशेष परिणामों का चिन्तन करते हुए विपाक विचय नामक धर्मध्यान करना चाहिए ।

संस्थानविचय धर्मध्यान—

अनाद्यनन्तस्य लोकस्य स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मनः ।

आकृतिं चिन्तयेद्यत्र संस्थानविचयः स तु ॥ १०/१४ ॥

योगशास्त्र में कहते हैं कि... अनादि—अनन्त ऐसे समग्र लोकरूप इस अनन्त ब्रह्माण्ड में उत्पत्ति—स्थिति और व्यय(नाश)त्मक ऐसे पदार्थों का चिन्तन करना,

लोकाकृति का चिन्तन संस्थानविचय नामक चौथा धर्मध्यान है। यहाँ संस्थान का अर्थ आकृति—आकार विशेष है। भिन्न भिन्न प्रकार के संस्थान हैं। जीवों के शरीरों का आकार समचतुरस्रादि ६ प्रकार के संस्थान हैं। पुद्गल द्रव्यों का परिमण्डलादि संस्थान हैं। तथा धर्मास्तिकाय—अधर्मास्तिकाय का संस्थान चतुर्दशरज्जु परिमित है। जबकि आकाशास्तिकाय का लोक क्षेत्रगत संस्थान चतुर्दशरज्ज्वात्मक लोकाकाश रूप है। और अलोकाकाश अनन्त, असीम, अपरिमित होने से कोई संस्थान आकार बन ही नहीं सकता है, अतः निरंजन—निराकर है। यह लोक स्वरूप विराट् ब्रह्माण्ड षड्द्रव्यात्मक पंचास्तिकायात्मक है। अनन्त द्रव्यात्मक है। जिनका विभाजन मुख्य २ ही द्रव्यों में हो जाता है। एक जीव द्रव्य चेतनात्मक। और दूसरा अजीव द्रव्य जडात्मक है। प्रत्येक द्रव्य उत्पाद—व्यय—ध्रौव्य युक्त है। अर्थात् उत्पत्तिशील, नाशस्वभाव युक्त एवं नित्यस्थायी—ध्रुवस्वभावी है। स्वयं पदार्थ गुण—पर्यायवाला है। अनेक गुणों से युक्त तथा अनन्त पर्यायोंवाला यह द्रव्य अनादि—अनन्त रूप है। उत्पाद—व्यय स्वभावी द्रव्य उत्पन्न भी होता है और नष्ट भी होता है। यह पर्यायें बदलती रहती हैं फिर भी द्रव्य अपने स्वरूप में ध्रुव—नित्य भी रहता है। अनुत्पन्न होने से अविनाशी भी है। और उत्पन्नशील—विनाशस्वभावी द्रव्य है। ऊर्ध्व—अधो और तिर्यग् के ३ विभाग में बटा हुआ समस्त लोक त्रिलोक कहलाता है। ऊर्ध्व लोक में स्वर्गीय देव, अधोलोक की ७ नरक पृथ्वियों में नारकी जीव, तथा बीच के मध्य—तिर्च्छालोक के असंख्य द्वीप—समुद्रों में प्रथम मनुष्य तथा आगे तिर्यच पशु—पक्षी के जीव निवास करते हैं।

इस तरह समस्त लोक स्वरूप को अपने ध्यान का विषय बनाता है। आगे समग्र लोक संस्थान में जीव एक विशिष्ट ज्ञानादि चेतनावान् द्रव्य है। जो उपयोग लक्षणवाला है, नित्य है। फिर भी कर्माधीन स्थिति में संसार में जन्म—मरणाधीन होने से अनित्य भी है। अतः नित्यानित्यस्वरूपी आत्मा स्वयं अपने कर्म का कर्ता तथा फल का भोक्ता है। अन्त में अपने शुद्ध—सिद्ध स्वरूप को प्राप्त करनेवाला सिद्ध—बुद्ध—मुक्त भी यही है। इस तरह गुण—पर्याय युक्त अनन्त द्रव्यों को अपने ध्यान का विषय बनाता हुआ ध्याता संस्थानविचय ध्यान को करता है। (पुस्तक के शुभारंभ में समस्त ब्रह्माण्ड का भौगोलिक आदि स्वरूप वर्णन विस्तार से किया गया है। उसे पुनः पढ़कर संस्थानविचय ध्यान का विषय बनाना चाहिए।)

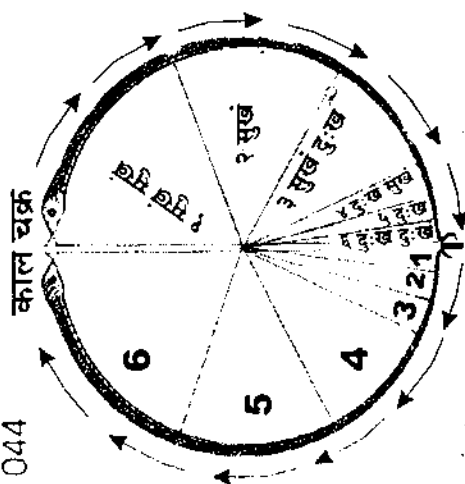
इस तरह समस्त लोक संस्थान का ध्यान करते हुए संसार समुद्र को भी देख ले। ४ गति के ८४ लक्ष जीवयोनियों में रहे हुए तथा परिभ्रमण करते हुए कर्माधीन जीवों को

भी अच्छी तरह देख ले। ऐसे संसार समुद्र में दर्शन—ज्ञानादिवान् मोक्ष मार्ग को भी देख ले। जो “सम्यग्दर्शन—ज्ञान—चारित्र्याणि मोक्षमार्गः” सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र आदिरूप यह मोक्ष का मार्ग है। जीवादि नौ तत्त्वों का विस्तार से चिन्तन कर ले। आश्रव—संवर—बंधादि का अच्छी तरह विचार करके मोक्षनगर का अवलोकन करे। जैसे फिल्म अपनी आंखों के सामने क्रमशः सभी विषयों के दृश्यों को लाती है। ठीक उसी तरह ध्याता स्वयं भी अपने ध्यान में संस्थानविचय ध्यान में लोक अलोक के समस्त विषयों को लाए। अन्त में समग्र चतुर्दश रज्ज्वात्मक लोकसंस्थान के अग्रभाग पर... अपने रहने के लिए जो शाश्वत धाम है उसका अच्छी तरह अवलोकन कर ले। ऐसी मुक्तिपुरी में मुझे वहाँ किस स्वरूप में किस तरह कैसा बनकर रहना है यह भी अवलोकन कर ले। उस शिवपुरी में अनन्त सिद्ध परमात्मा सिद्ध—बुद्ध—मुक्त स्वरूप में किस स्वरूप में कैसे बिराजमान है उनका अवलोकन संस्थानविचय ध्यान का ध्याता बड़ी सरलता से कर सकता है। फिर वहाँ बैठे हुए अपने आपको भी अच्छी तरह शुभ—शुद्ध स्वरूप में देख ले। आखिर कभी न कभी तो मुझे भी वहाँ जाना ही है। तो हाँ... जहाँ जाना है जहाँ अनन्तकाल तक स्थायी स्वरूप से स्थिर रहना है। उस स्थान विशेष एवं अपरिवर्तनशील पर्यायवाली स्थायी स्थिर पर्याय को भी ध्याता ध्यान का विषय बनाते हुए स्पष्ट देख ले। इस तरह स्वयं द्रष्टा बनकर साक्षीभाव से राग—द्वेष रहितभाव से देख ले। संस्थानविचय का ध्याता अनेक विषयों को अपने ध्यान का विषय बनाकर जो जो ब्रह्माण्ड में है वे सब अपने पिण्ड में है ऐसा स्वरूप बनाकर देख ले। ध्याता को प्रत्यक्षरूप से सब स्पष्ट दिखाई देता है। अनुभूति के स्तर पर स्पष्ट होता है। इस तरह संस्थानविचय ध्यान करके अनन्त की एक सफर कर आए। ऐसी लटार मारे कि अनन्त ब्रह्माण्ड अपनी आत्मचेतना में समा जाए। ऐसा सुंदर संस्थानविचय धर्मध्यान करे।

क्रमशः विषय विस्तार—

शुभ ध्यानरूप धर्मध्यान के चारों प्रकारों में ध्यान के ध्येयरूप विषयों का विस्तार काफी ज्यादा है। या ऐसा ही कहिए समस्त ब्रह्माण्ड विषय बनता है। आज्ञा विषय में तो समस्त सर्वज्ञभाषित श्रुत शास्त्र समा जाता है। और समस्त श्रुतज्ञान में परमात्मा ने लोकालोक के समस्त अनन्त पदार्थों का समावेश कर लिया है। जिससे जगत् का कोई भी पदार्थ छूटता नहीं है। क्योंकि किस पदार्थ को कैसा मानना? कैसा किस स्वरूप में

मानना—न माननारूप जिनाज्ञा ध्येयरूप है। अतः ज्ञानात्मक आज्ञा में कुछ भी शेष नहीं बचता। दूसरे अपायविचय में समस्त संसार के अनन्त जीवों के दुःखों एवं दुःखों के कारणों का विस्तार से विचार किया गया है। इस तरह दुःख निमित्तक विचार करते करते समग्र लोक को, लोकस्थ छोटे—बड़े जीवों को अपना विषय बना लिया है। इसी तरह तीसरे विपाक विचय में कर्म के फल का विचार करते करते... समग्र लोक—संसार का सुदीर्घ विस्तृत विषय बनाया है। और अन्त में ४ थे संस्थान विचय ध्यान में... तो लोक—अलोक कुछ भी अवशिष्ट नहीं रखा। ध्याता भले ही अनन्त ब्रह्माण्ड के किसी भी कोने में अनन्तवें भाग के कोने में भले ही बैठा हो फिर भी वह अपने भीतर ध्येय के विषय में अनन्त ब्रह्माण्ड को भी लाकर स्थित कर देता है। इस तरह धर्म ध्यान के विषय में विस्तार बहुत ज्यादा है। ध्याता चारों प्रकार के धर्मध्यान से समूचे ब्रह्माण्ड अनन्त लोकालोक के समस्त ज्ञेय पदार्थों को अपने ज्ञान का विषय बनाकर ध्यान की अनुभूति रूप कसोटी पर लाकर कस कर देखता है। इनमें अनेक शाश्वत पदार्थ हैं, अनेक अशाश्वत पदार्थ हैं। तथा इस समग्र संसार में शाश्वत व्यवस्था, शाश्वत स्वरूप भी काफी लम्बा—चौड़ा है। यह संसार गाड़ी के पहिए की तरह घूमता—फिरता चक्र समान है अतः बदलते हुए काल—कालान्तर में वही भूतकालीन स्वरूप वर्तमान बनकर वापिस आता है। फिर नया ताजा लगता है। फिर भूतकाल के गहरे गर्त में वर्तमान कहीं लुप्त होकर वापिस भूतकाल बन जाएगा। पुनः वैसा ही भविष्य दिखाई देगा। अच्छे काल की हम करेंगे। वापिस



भावि उतरकर वर्तमान में आएगा और वर्तमान तो थोड़े समय के लिए ही रहता है फिर समाप्त होकर भूत में चला जाता है। (पहले के अनुच्छेदों में ६ आराओंरूप कालचक्र के स्वरूप को पुनः पढ़िए, परिवर्तनशील काल के स्वरूप को पुनः गौर से पढ़िए।) इस तरह सतत—निरंतर गतिशील संसार काल के आधार पर परिवर्तनशील है। यह स्वरूप ध्यान की अनुभूति पर लाकर देखा जा सकता है।

संस्थानविचय ध्यान करने का कारण—

नानाद्रव्यगतानतं पर्यायपरिवर्तने ।

तदासक्तं मनो नैव रागाद्याकुलतां व्रजेत् ॥

—संस्थान विचय धर्मध्यान कितना लम्बा—चौड़ा है ? विषय का विस्तार कितना ज्यादा है । समग्र ब्रह्माण्ड का कोई विषय अछूता नहीं रहता है । विषय बदलते हुए भी ध्येय एक ही लोक स्वरूप को देखने का रहता है । प्रश्न यह उठता है कि ऐसा संस्थानविचय धर्मध्यान करने का क्या फायदा ? आखिर क्यों करना चाहिए ? इसके उत्तर में कहते हैं कि यह मन जो सतत—निरंतर राग—द्वेषाभिभूत होकर उसी में लिपटा रहकर कर्म उपार्जन करता ही रहता है, इसको राग—द्वेष से हटाना चाहिए और ऐसे विषयों पर लगाना चाहिए जिससे राग—द्वेष न हो और कर्मबंध भी न हो ।

चेतन द्रव्य के तथा पुद्गल द्रव्य के पर्यायादि का जागृतिपूर्वक विचार करता हुआ मन विश्रान्ति प्राप्त करता है । यहाँ विश्रान्ति अर्थात् जो सतत राग—द्वेष करता था उससे विराम पाता है । हमारा मुख्य उद्देश्य राग—द्वेष से बचना है । आज दिन तक सतत राग—द्वेष करता हुआ मन ने प्रत्येक विचारों को रागद्वेष से अधिवासित कर दिया था । जैसे कि रूई के प्रत्येक धागे को लाल—पीले रंग से रंग दिया हो वैसे । अब वह रंग पुनः न लग जाय इसका ध्यान रखना है । ठीक उसी तरह विचारों में से राग—द्वेष की मात्रा निकालनी है । हर्ष—खेद, रति—अरति की विचारधारा निकालनी है । जैसे किसी भी व्यक्ति या वस्तु के प्रति रागभाव हो, आसक्ति हो और उसके वियोग होते ही द्वेष—खेद होता है । यद्यपि यह आर्तध्यान का विषय है । ऐसे समय में आर्तध्यान के इस संयोग—वियोगात्मक हर्ष—शोक को परिवर्तित करके संस्थानविचय में डाल दें . . और उस वस्तु के द्रव्य—गुण—पर्यायों का विचार करने लग जाय . . . तो हर्ष—शोक छूट जाता है । ध्याता की दृष्टि जो उसके राग—द्वेष में ही लिपटी रही थी वह अब विस्तृतरूप से फैल गई है । सर्व पदार्थों, सर्व काल में, सर्व क्षेत्र में विस्तृत हो जाती है । इस तरह देखने पर बदलती हुई पर्यायों के बावजूद भी उस पदार्थ का द्रव्य रूप से नित्य रहने का स्वभाव ख्याल में आ जाता है । साफ दिखाई देता है कि अरे ! इस पदार्थ की तो मात्र पर्याय बदली है । समूल तो उसका नाश होता ही नहीं है । काल—क्षेत्र भी बदलता रहता है । यह पदार्थ इस वर्तमान काल—क्षेत्र और पर्याय को बदलकर अन्यकाल—क्षेत्र में अन्य पर्याय में परिवर्तित या स्थानान्तरित हुई है । परन्तु अन्य रूप में भी स्थायीस्वरूप से है । इसलिए हर्ष—शोक करने की आवश्यकता ही नहीं रहती है । जिस काल में वह वस्तु उपलब्ध—प्राप्त होती है

उस काल में भी उसके वर्तमान काल निमित्त भी राग—द्वेष करने की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती है। क्योंकि ध्याता ने अपनी दृष्टि को व्यापक करके चारों तरफ काल—क्षेत्र में फैला दी है। ध्याता संसार का परिवर्तनशील स्वरूप तथा स्वभाव अच्छी तरह समझ जाता है। प्रत्येक प्रदार्थ का गुणपर्यायात्मक स्वरूप उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य स्वभाववाले अर्थ में समझ जाता है। इतने उत्पाद—व्यय होते हुए, तथा पर्याय बदलते हुए भी पदार्थ मात्र ध्रुव—नित्य रहते हैं। समूल नष्ट नहीं होते हैं। इस तरह पदार्थ नित्यानित्य स्वभावी है। जो देश—क्षेत्र—काल—भाव—से परिवर्तनशील है। अतः ऐसे में क्या राग—द्वेष करना? इस तरह किसी भी वस्तु या व्यक्ति के लिए तत्—तत् काल में संयोग—वियोग मात्र हो उतने से क्या राग—द्वेष करना? क्यों करना? ऐसे समय में दृष्टि को विस्तारित करके उसकी पर्यायों आदि का पुनः विचार कर लेने से वस्तु के प्रति राग—द्वेष नहीं होगा। वस्तु के नित्य स्वरूप में या वियोगवाले अनित्यस्वरूप के विषय में द्रव्य—पर्याय की अपेक्षा से मन की विक्षिप्त स्थिति नहीं रहेगी। इसी के साथ आत्मा भी अपने अज्ञान के सिवाय क्षेत्र काल के बंधन में नहीं आ सकती है जो अपना अज्ञान दूर कर लिया जाय तो आत्मा को किसी भी द्रव्य—क्षेत्र—काल का बंधन नहीं लगेगा। इस तरह संस्थान विचय ध्यान से अनेक लाभ होते हैं।

सालंबन और निरालंबन ध्यान—

ध्याता ध्यानावस्था में किसी का आलंबन लेकर ध्यान में आगे बढ़ता है उस समय उसके लिए आलंबन बहुत ही उपयोगी—सहयोगी बनता है। देवाधिदेव—परमात्मा का, सर्वश्रेष्ठ आलंबन लेकर ध्यान में प्रगति करना यह सालंबन ध्यान कहलाता है। ऐसे सालंबन ध्यान में साधक प्रभु के मंदिर में जिन प्रासाद—जिनालय में जिन प्रतिमा समक्ष बैठता है और प्रतिमा में जो परमात्मभाव की बुद्धि—धारणा और भावना बनी हुई है उसके आधार पर प्रतिमा के आलंबन से परमात्मा के संपूर्ण स्वरूप को अपने ध्यान का विषय बनाता है। ऐसे सालंबन ध्यान से चित्त की एकाग्रता साधने में तथा ध्यान में प्रगति करने में विलंब नहीं होता है। दूसरी तरफ परमात्मा जो नाम—स्थापना—द्रव्य—क्षेत्र—काल—भाव सर्व रूप से है उनकी उपासना करनी है। सकलार्हत् स्तोत्र में हेमचन्द्राचार्यजी म. फरमाते हैं—

नामाकृति—द्रव्यभावैः पुनतस्त्रिजगज्जनम् ।

क्षेत्रे काले च सर्वस्मिन्नर्हतः समुपास्महे ॥

नाम—आकृती (आकार—स्थापना) द्रव्य से तथा भाव से सब रूपसे समस्त जगत् को पावन करते हुए तथा क्षेत्र और काल से सर्वत्र अरिहंत परमात्मा की मैं सम्यग् उपासना करता हूँ ।

नाम जिणा जिणनामा, ठवणजिणा पुण जिणिंदपडिमाओ ।

द्व्वजिणा जिणजीवा भावजिणा समवसरणत्था ॥ ५१ ॥

जिनेश्वर परमात्मा का नाम—यह नाम जिन का स्वरूप है । जिनेश्वर की प्रतिमा—मूर्तिरूप में स्थापना—आकार विशेष में स्थापना यह स्थापना जिन का स्वरूप है । द्रव्य से तो परमात्मा की जो मूलभूत आत्मा है वह चेतन द्रव्य द्रव्य जिन (जिनेश्वर) के रूप में है । तथा जब चारों घनाघाती कर्मों का क्षय हो जाता है और वीतरागता केवलज्ञान—दर्शनादि की प्राप्ति हो जाती है और देवकृत समवसरण में बिराजमान होकर तीर्थंकर नामकर्म का रसोदय होने पर देशना देते हो वैसे परमात्मा भाव जिन कहलाते हैं । इस तरह चारों स्वरूप में परमात्मा ध्येय रूप है । अतः चारों स्वरूप में नामादि का आलंबन ग्राह्य है । इस तरह सालंबन ध्यान में नामादि सभी ग्राह्य हैं ।

जिनेश्वर परमात्मा के नाम से भी अनन्तात्माएं तैर गई हैं । अनन्त तीर्थंकर परमात्मा हुए हैं । व्यक्तिगत रूप से भी एक एक तीर्थंकर प्रभु का नाम कितने लम्बे काल तक चला है ? वर्षों तक चलनेवाले नाम से अनेकों साधकों ने उनके नाम का आलम्बन लेकर जाप—स्मरणादि किया है । और भले ही काल की करवट में छिप जाने के पश्चात् पदरूप से नवकार महामंत्र के “नमो अरिहंताणं” पद में सन्निहित हो जाता है । अब व्यक्तिगत नाम भले ही न रहे लेकिन पद शाश्वत रहता है । “नमो अरिहंताणं” पद से वे ही अरिहंत वाच्य बनते हैं । अरिहंत अरुहंत, अर्हन् आदि से वे ही वाच्य बनते हैं । अतः ऐसे मंत्रात्मक एक पद का उच्चार करने मात्र से भी अनन्त अरिहंतों को नमस्कार होता है । नामालंबन इस तरह होता है ।

स्थापना—आलंबन से परमात्मा जैसे वीतरागी, ध्यानी है वैसी उनकी प्रतिमा—प्रतिकृति बनाई जाती है । ऐसी मूर्तियाँ जिस किसी भी द्रव्य की बने वह शुद्ध होनी चाहिए । शुद्ध धातु, शुद्ध काष्ठादि, शुद्ध पाषाण की बनती है । उस प्रकार के पद्मासनस्थ, ध्यानस्थ, कायोत्सर्गस्थ जिन बिंब का आलंबन लेकर साधक—ध्याता... उस प्रतिमा के आलंबन से पूर्ण परमात्मा का ध्यान कर सकता है । मन को बाहर न भटकने देने के लिए, और स्थिर करने के लिए यही श्रेष्ठ आलंबन है । इसके लिए पूर्व भूमिका के रूप में दर्शन—पूजन—वंदन—कीर्तन—स्मरणादि पूज्यभाव—अहोभाव—सद्भाव बढ़ाने

के लिए ज्यादा उपयोगी—सहयोगी सिद्ध होता है। अतः जिस किसी को भी परमात्मा का ध्यान करना हो उसे आलंबन का विरोध नहीं करना चाहिए। प्रतिमा परमात्मा की ही प्रतिकृति—आकृति विशेष है। अतः उसे स्वीकारने में तनिक भी हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए। और साथ ही उनके प्रति सद्भाव, अहोभाव, बहुमानभाव जगानेवाली दर्शन—पूजा की किसी भी प्रकार की क्रिया विधि रीति—पद्धति के प्रति अभाव—अरुचि—द्वेषादिभाव होना ही नहीं चाहिए। जैसे हमारी छबि—फोटो के प्रति हम अभेद संबंध रखते हैं वैसे ही परमात्मा की प्रतिमा के साथ अभेदभाव संबंध रखकर उसी प्रकार का व्यवहार प्रतिमा के प्रति करना चाहिए जैसा कि आप परमात्मा के प्रति करते हैं। इसलिए प्रतिमा को अब प्रतिमा मात्र, या पाषाण पत्थर की प्रतिमा—मूर्ति मात्र न कहते हुए परमात्मा कह कर व्यवहार करना चाहिए। जैसा कि १०० रु. की नोट को कागज या पिता के फोटो को कागज मात्र न कहकर हम पिताजी—रुपए कह कर व्यवहार कहते हैं उसी तरह प्रतिमा को परमात्मा कहना ही उचित है। जो कि हमारे भावों की जनक उद्योतक है। इस तरह स्थापना—आलंबन लेकर साधक को आगे बढ़ना चाहिए। चित्त की एकाग्रता शीघ्र करके स्थिरता लाकर ध्यान में तल्लीन होकर प्रगति करनी चाहिए।

समूचे लोक में ऐसी तो लाखों करोड़ों शाश्वत प्रतिमाएँ हैं। स्वर्गादि में भी अनेकों प्रतिमाएँ हैं। हमारे इस तिर्छा लोक के मनुष्य क्षेत्र तथा मनुष्य बाह्य क्षेत्र में भी सर्वत्र लाखों—करोड़ों जिन मूर्तियाँ करोड़ों वर्षों से कितनी उपकारक रही हैं। अनेकात्माओं के सम्यग् दर्शन के प्रगटीकरण में, निर्मलीकरण में अनन्तगुनी उपकारक बनी हैं।

द्रव्यालंबन में जिनेश्वर परमात्मा का जीव स्वयं ही है। जो अस्तित्वधारक है। भूतकालीन, वर्तमानकालीन तथा भविष्यकालीन सभी स्वरूप में है। भूतकालीन अवस्था में आज भावि चौबीशी में होनेवाले सभी तीर्थंकर परमात्माओं के जीव स्वर्ग—नरक क्षेत्र में मौजूद हैं। जैसे श्रेणिक राजा का जीव वर्तमान में नरकगति में उपस्थित है जो वहाँ का यह वर्तमान जन्म पूर्ण करके अगले जन्म में सीधे यहाँ मनुष्यगति में जन्म लेकर पद्मनाभस्वामी तीर्थंकर भगवान बनेंगे। बाद में मोक्ष में जाएंगे। वर्तमान काल में जो महाविदेह के पाँच क्षेत्रों में कुल २० तीर्थंकर भगवान विचर रहे हैं। उनकी गणना भी द्रव्य—जीव रूप में होती है तथा भविष्य काल में जो तीर्थंकर—भगवान मुक्त हो जाते हैं उनका जीव मोक्ष में चला जाता है, वहाँ सिद्ध बन जाता है। अतः मुक्तावस्था में भी उस मुक्तात्मा सिद्धात्मा का द्रव्य रूप से अस्तित्व तो रहता ही है। अतः द्रव्य रूप से जिनेश्वर का जीव श्रेष्ठ उपकारक आलंबन है।

भावजिन—समवसरण में जो बिराजमान होते हैं, धर्मदेशना फरमाते हैं, जिनके तीर्थंकर नामकर्म का रसोदय हो जाता है, वीतरागी सर्वज्ञ—सर्वदर्शी बनकर अपने—अतिशय प्रातिहार्यों तथा गुणों से जो सुशोभित होते रहते हैं ऐसे साक्षात् विद्यमान परमात्मा का आलंबन कितना उपयोगी एवं उपकारक सिद्ध होता है। समवसरण की धर्मसभा में उपस्थित बारह पर्षदा के समस्त जीवों के लिए परमात्मा साक्षात् उपकारक सिद्ध होते हैं।

क्षेत्र की दृष्टि से परमात्मा एवं प्रतिमारूप से मंदिर में बिराजमान होकर अनेक भूमि भागों पर संस्थापित है। इस तरह जिनालय—जिनप्रासादों से सारी धरती नंदनवन बनी हुई है। सुशोभित है। तथा काल निक्षेप की दृष्टि से प्रभु प्रतिमा तीनों काल में रहती है। इतना ही नहीं महाविदेह जैसे क्षेत्र धाम में सदा प्रवर्तमान चौथे आरे के काल में सदा ही तीर्थंकर भगवान सदेह से विद्यमान रहते हैं। अतः चारों निक्षेपादि की दृष्टि से आलंबन—स्वीकार करना हितकारी है। इस तरह का सालंबन ध्यान चित्त को एकाग्र करने में तथा बिना विलंब से ध्यान लगाने में ज्यादा सहायक एवं उपयोगी रहता है। यदि कोई सालंबन ध्यान का सर्वथा विरोध करके सीधे ही निरालंबन ध्यान की बात करता है उसके सामने शास्त्रकार महर्षि लालबत्ती धरते हुए साफ लिखते हैं कि—

यावत्प्रमादसंयुक्तस्तावत्तस्य न तिष्ठति ।

धर्मध्यानं निरालम्बमित्यूज्जिन्भास्कराः ॥ २९ ॥

जब तक जीव प्रमादग्रस्त रहता है। प्रमाद के सर्व भेद—प्रभेदों का जो वर्णन पहले कर आए हैं उनसे ग्रस्त रहनेवाले प्रमादी के लिए निरालम्बन धर्मध्यान संभव ही नहीं है ऐसा जिनेश्वर प्रभु फरमाते हैं। इसमें यह स्पष्ट होता है कि प्रमादभाव की बहुलता—प्रधानता में सालम्बन ध्यान की संभावना अच्छी लगती है। परन्तु आज्ञा विचय आदि अवलंबनों सहित मध्यम धर्मध्यान की भी गौणता रहती है। किन्तु मुख्यता नहीं रहती। इसलिए प्रमत्त नामक छठे गुणस्थानक तक के अधिकारी—प्रमादी को धर्मध्यान की प्राप्ति संभव नहीं है। जो साधक सिद्धान्तवचन पर ध्यान न देकर प्रमत्तावस्था में भी आवश्यकदि क्रिया—विधिविधानों का परित्याग करके निरालंबन ध्यान की बड़ी बातें करता है वह उपहास के पात्र हैं। उसमें तथ्य समझना बड़ा मुश्किल है। इसलिए जब तक प्रमत्तावस्था है तब तक सालंबनध्यान ही कर्तव्य है और साथ ही आवश्यकदि की व्यवहार चारित्र की समस्त क्रिया—विधियाँ भी सुविहित परंपरानुसार सुव्यवस्थित रूप से करे। करता रहे। तथा जब अप्रमत्तावस्था प्राप्त हो जाय तब निरालंबन ध्यान की स्थिरता बढ़ाते—बढ़ाते

निश्चय नय पर पहुँचे और ऐसी आन्तरिक अप्रमत्तावस्था में सातवें गुणस्थान पर आवश्यकतादि की क्रिया—विधियों की आवश्यकता नहीं रहती। तब निरालम्बन ध्यान किया जा सकता है।

निश्चय और व्यवहार—

जैन शासन अनेकान्तवाद के सिद्धान्त पर आधारित है। अतः निश्चय और व्यवहार उभय मार्ग को बरोबर न्याय दिया गया है। आचरण के क्षेत्र में मात्र एकान्तवाद की दृष्टि ही अपनाकर यदि कोई व्यवहार मार्ग का लोप करके अकेले निश्चय की ही बात करता है या फिर उसीका ही प्रतिपादन करता है तो वह अशुद्ध मार्ग है। यदि मात्र आत्मा की ऊँची—ऊँची बातें ही करता रहता है और आचार धर्म का सर्वथा निषेध करके सामायिक—प्रतिक्रमणादि को ही छोड़ा देता है, स्वयं भी छोड़ देता है तो वह उत्सूत्रभाषी अपना और दूसरों का पतन करता—कराता है। अरे ! आत्मा की इतनी ऊँची बातें करनेवाला आचार में संवर—निर्जरा जैसे उपादेय तत्त्वों को हेय बताकर छोड़ा देना, या अनाचरणीय बताना यह कहाँ तक उचित है ? या कोई साधक निश्चय मार्ग का ऐकान्तिक लोप कर दे और सर्वथा व्यवहार मार्ग ही अपनाए तो यह भी उचित नहीं है। आत्मा—मोक्षादि तत्त्वों की सर्वथा उपेक्षा करके उनके बारे में ज्ञानादि—श्रद्धा कुछ भी प्राप्त करने की चिन्ता—इच्छा न रखते हुए एकान्त क्रिया—विधि विधान के आचरण का मात्र व्यवहार मार्ग ही अपनाता है वह एकान्तवादी है। वह स्वयं भी अपना नाश करता है और दूसरों का भी विनाशक बनता है। इसलिए निश्चय के साथ व्यवहार और व्यवहार के साथ निश्चय का उभय साथ ही आचरण करे। शास्त्र सिद्धान्त भी यही कहता है—

जह जिणमयं पवज्जइ तामा ववहार विच्छएमुअह ।

ववहार न उच्छेए तित्थुच्छेओ जओ भणिओ ॥ १ ॥

जो भी कोई आराधक—साधक जैन सिद्धान्त को स्वीकारे उसे चाहिए कि... व्यवहार मार्ग को न छोड़े। क्योंकि व्यवहार मात्र का लोप करने के तीर्थ का अर्थात् धर्म का ही लोप हो जाएगा। ठीक इससे विपरीत यदि निश्चय मार्ग का कोई लोप कर देता है तो भी समूचे धर्म का लोप हो जाएगा। इसलिए उभय मार्ग साथ ही आचरणीय है। पू. उपाध्यायजी म. फरमाते हैं कि...

निश्चय दृष्टि हृदय धरी जी, पाले जे व्यवहार ।

पुण्यवंत ते पामशेजी भवसमुद्रनो पार ॥

“द्रव्य—गुण—पर्याय रास” ग्रन्थ में कहते हैं कि— निश्चय दृष्टि को हृदय में धारण करके जो भी भाग्यशाली व्यवहार मार्ग का भी साथ ही साथ व्यवस्थित आचरण करता है, वही पुण्यशाली संसार समुद्र पार उतरता है। अपना कल्याण साधता है। जैसे एक स्त्री को रसोई करने का पूरा ज्ञान—पूरी जानकारी भी होनी ही चाहिए और उस तरह उसे व्यवहार में आचरण करते हुए रसोई भी करनी ही चाहिए। तभी सबका पेट भर सकेगा। यदि दोनों में से किसी एक मार्ग का भी वह स्त्री लोप करती है तो अनर्थ होता है। बिना रसोई के ज्ञान के कोई रसोई कैसे कर सकेगी? और रसोई का ज्ञान काफी अच्छा हो फिर भी यदि क्रियात्मक रूप से रसोई न करे तो सामग्रियाँ कैसे बनेंगी? क्या खाएंगे? पेट कैसे भरेगा?

इसी तरह समझिए कि जैसे कोई मोटर, ट्रेन, प्लेन, जहाज आदि कुछ भी चलाता है तो निश्चित ही उसे चलाने का ज्ञान पूरा होना चाहिए। और ज्ञान है तो ज्ञान के अनुरूप चलाने की क्रिया भी करनी ही चाहिए। दोनों साथ ही आवश्यक है। ज्ञानात्मक स्वरूप निश्चय नय है और आचारात्मक—क्रियात्मक व्यवहार मार्ग है। अतः दोनों की पूरी आवश्यकता अनिवार्य रूप से रहती है। किसी भी एक को छोड़ दे तो चलेगा ही नहीं।

ठीक इसी तरह सामायिक की क्रिया करनेवाले को समता गुणधारक आत्म तत्त्व का ज्ञान होना ही चाहिए और पूजा करनेवाले को परमात्म तत्त्व का ज्ञान होना ही चाहिए। इसी तरह मुमुक्षु—दीक्षाधी एवं दीक्षित को मोक्ष का ज्ञान होना आवश्यक ही है। और यदि ज्ञान अच्छा पर्याप्त है तो निश्चयात्मक स्वरूप अच्छी तरह अपने आत्मसात् कर ले, फिर जो भी कुछ धर्मक्रिया—आराधना करे वह निश्चय के अनुरूप तथा अनुकूल ही होनी चाहिए। अर्थात् मोक्ष के अनुकूल—अनुरूप क्रिया प्रवृत्ति—संवर—निर्जरा की ही है। यदि वह ऐसा कहे कि... संवर—निर्जरादि किसी भी प्रकार की क्रिया—विधि की क्या आवश्यकता है? कोई जरूरी थोड़ी ही है कि सामायिक—प्रतिक्रमण करना? यदि ऐसा बोले तो निश्चित समझिए कि... वह व्यवहार धर्मलोपी है। जैसे चाय बनाने में पानी की जितनी आवश्यकता है, अरे! अग्नि, तपेले आदि एक—एक प्रत्येक अंग की आवश्यकता रहती है। यदि एक भी साधन सामग्री कम रहे या न रहे तो निश्चित रूप से चाय नहीं हो सकती है। ठीक उसी तरह दर्शन—ज्ञान—चारित्र—तपादि प्रत्येक मोक्ष के अंगभूत साधन है। अतः प्रत्येक की आवश्यकता अनिवार्य है। निषेध करता रहे तो कैसे चलेगा? जी हाँ, तप कम—ज्यादा हो सकता है। यथाशक्ति है। अतः अपनी शक्ति के अनुरूप जो भी करे जितना भी करे चलता है। लेकिन तपमार्ग का ही लोप कर दे यह सर्वथा अनुचित

है। तप में बाह्य—आभ्यन्तर दोनों ही प्रकार के तप हैं। बाह्य के साथ आभ्यन्तर तप भी जोड़े और निर्जरा का प्रमाण द्विगुणित चतुर्गुणित करें। जिससे मोक्ष और ज्यादा समीप आ सके।

इसलिए एकान्तवाद का त्याग करें। एकान्तरूप से निश्चय का लोप करके व्यवहार न चलाए, और एकान्त व्यवहार ही चलाते हुए निश्चय को भी उड़ा न दे। अनेकान्तवाद को अच्छी तरह समझते हुए उभय धर्म को साथ रखे, गाड़ी के पहिए की तरह साथ चलाए। नंदिसूत्र आगमशास्त्र के वचन को याद करिए— “नाण किरियाहिं मौक्खो” ज्ञान और क्रिया उभय मार्ग की समानान्तर साधना से ही मोक्ष की प्राप्ति संभव है। दोनों से एक का भी लोप करें तो भी नहीं चलता। ज्ञान—निश्चयात्मक मार्ग है। और क्रिया यह व्यवहार मार्ग है। अतः दोनों साथ ही चलने चाहिए। संवर—निर्जरा क्रियात्मक है। आभ्यन्तर तप में ज्ञान भी साथ ही शामिल है। जैन दर्शन की यह विशेषता है कि कभी भी... एकान्त ज्ञानात्मक मुक्ति भी नहीं मानी है, और एकान्त क्रियात्मक मुक्ति भी नहीं मानी है। अतः ज्ञान और क्रिया, निश्चय और व्यवहारत्मक उभयमार्ग की संयुक्त साधना से मुक्ति संभव मानी है। नैयायिक वैशेषिकों ने एकान्त ज्ञानमार्ग से मुक्ति ज्ञानात्मक मानी है। सांख्य दर्शन भी एकान्त रूप से पंचविंशति तत्त्वज्ञान से ही मुक्ति मानकर चलता है। जबकि जैन धर्म में एकान्तवाद सर्वथा वर्ज्य—त्याज्य ही माना गया है। ब्राह्म एक मात्र अनेकान्तवाद ही है। अतः ज्ञान—क्रिया, निश्चय—व्यवहार उभय संयुक्त रूप ही मोक्षप्रदायक सिद्ध होते हैं। इसलिए साधक को दोनों मार्गों की साधना संयुक्त रूप से साथ ही करनी चाहिए। एक का भी अपलाप नहीं करना चाहिए।

निरालंबन ध्यान—

निर्गतं आलंबनमिति निरालम्बनम्। अर्थात् किसी भी प्रकार के आलंबन के निकल जाने, न रहने की अवस्था को निरालंबन ध्यान कहते हैं। सालंबन से ठीक विपरीत कक्षा का यह ध्यान है। सालंबन में परमात्मा का आलंबन लेकर, रखकर ही ध्यान में आगे बढ़ा जाता है परन्तु यह निरालंबन ध्यान न तो अरिहंत का, न सिद्ध का किसी भी प्रकार का आलंबन लिये बिना सीधा ही चरम कक्षा का ध्यान करने की कोशिश करता है। अतः वह निष्फल जाता है।

* जिस ध्यान के केन्द्र में परमात्मा है वह सालंबन ध्यान है।

* नमस्कार महामंत्र की अर्थभावना पूर्वक की सक्रिय आराधना सालंबन ध्यान है।

* “चउसरण गमन”, दुष्कृत गर्हा, तथा सुकृत अनुमोदनापूर्वक सालंबन ध्यान ।

* नवपद—सिद्धचक्र को दृष्टिपथ में रखकर सिद्धादि का ध्यान सालंबन ध्यान है ।

जिनेषु कुशलं चित्तं तन्नमस्कार एव च ।

प्रमाणादि च संशुद्धं योगबीजमुत्तमम् ॥

योगदृष्टि समुच्चय ग्रन्थ में पू. हरिभद्रभूरि म. जिनेश्वर परमात्मा में कुशल चित्त को जोड़ने का कहते हैं, उन्हें नमस्कार करनेपूर्वक प्रमाणादि को उत्तम योग का बीज कहा है ।

प्रमत्त छोटे गुणस्थान तक के साधक को सालंबन ध्यान का आश्रय लेना आवश्यक बताया है । परन्तु ७ वे अप्रमत्त गुणस्थान के अधिकारी तथा आगे के गुणस्थानवर्ती साधकों के लिए निरालम्बन ध्यान का मार्ग खुला किया है गुणस्थान क्रमारोह ग्रन्थकार ने । बिल्कुल बात सत्य ही है कि . . निरालंबन ध्यान का आधार अप्रमत्तभाव की कक्षा है । अप्रमत्त साधक जागृत—सचेत है । तथा पहले बहुतबार सालंबन साधना कर चुका है अतः अच्छा अभ्यास है । अब अप्रमत्त बनकर निरालम्बन ध्यानी बन सकता है । लेकिन वर्तमान काल में प्रमाद—अप्रमाद का तो रतीभर भी विचार ही नहीं किया जाता है । और सीधे ही छलांग लगाकर निरालंबन ध्यान की आकांक्षा या चेष्टा की जाती है, यह कहाँ तक उचित है ? छोटे बच्चे को बचपन में अंगुली के आलंबनपूर्वक उठाया जाता है, काष्ठ गाड़ी के सहारे चलाया जाता है, फिर बाद में अभ्यास हो जाने पर जैसे अंगुली पकड़ने की या काष्ठ गाड़ी की भी आवश्यकता नहीं रहती है । परन्तु यह अभ्यास कुशलता की अवस्था किसकी कब आएगी ? किसकी कितने समय में आती है ? इसका कोई निश्चित मापदंड नहीं रहता है ।

ठीक उसी तरह सालंबन ध्यान के सुदीर्घ अभ्यास के पश्चात् तथा एक गुणस्थान ऊपर चढ़कर साधक अप्रमत्तावस्था प्राप्त करने के बाद वैसी पात्रता प्राप्त होने पर निरालंबन ध्यान करने का अधिकारी बन सकता है । अन्यथा परम संवेगरूप पर्वत के शिखरों पर आरूढ होकर भी बड़े—बड़े आचार्यों ने भी निरालंबन ध्यान की प्राप्ति का मनोरथ मात्र ही किया है । किन्तु प्राप्त नहीं किया । क्योंकि निरालम्बन ध्यान ७ वे अप्रमत्त गुणस्थान से ही प्राप्त होता है, अन्यथा नहीं । कहते हैं कि—

चेतोवृत्तिनिरोधनेन करणग्रामं विधायोद्धसं

तत्संहृत्य गतागतं च मरुतो धैर्यं समाश्रित्य च ।

पर्येकेन मया शिवाय विधिवच्छून्यैकभूभूदरी-

मध्यस्थेन कदाचिदपि तदृशा स्थातव्यमन्तर्मुखम् ॥ १ ॥

चित्त की वृत्तियों का निरोध करके, पांचो इन्द्रियों को भी अच्छी तरह वश करके—अर्थात् उनके विषयों में से मन को हटाकर आनापानरूप वायु के संचरण को रोककर, पद्मासन पूर्वक स्थिर होकर धैर्य का आश्रय ग्रहण कर विधिवत् पर्वत की गुफा में एकान्त निर्जन, नीरव शान्ति में निश्चल दृष्टि लगाकर सुविधिपूर्वक निरालंबन ध्यान की दशा मुझे कब प्राप्त होगी ? ऐसे मनोरथों का सेवन किया ।

चित्ते निश्चलतां गते प्रशमिते रागाद्यविद्या मदे,

विद्राणेऽक्षकदम्बके विघटिते ध्वान्ते भ्रमारम्पके ।

आनन्दे प्रविजृम्भिते जिनपते ज्ञाने समुन्मीलिते;

मां द्रक्ष्यन्ति कदा वनस्थमभितः शस्ताशयाः श्लाघदाः ॥ २ ॥

चित्त जो चंचल—चपल था उसका निरोध करने से जो निश्चलता—स्थिरता प्राप्त हो जाती है उसके पश्चात् भ्रान्तिजनक सांसारिक आरंभ—समारंभ के नष्ट होने पर आत्मसुखानन्द के प्राप्त होने पर तथा जिनेश्वर देव संबंधि ज्ञान के स्फुरायमान होने पर वन में ठहरे हुए को मुझे प्रशस्त आशयवाले निर्भय होकर वनवासी पशु—पक्षी कब देखेंगे ? अर्थात् पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त जंगल में रहे हुए ध्यानावस्था में मुझे जंगली पशु प्रशस्ताशयवाले होकर कब देखेंगे ?

चिदावदातैर्गवदागमानां, वाग्भेषजै रागरूजं निवर्त्य ।

मया कदा प्रौढसमाधिलक्ष्मीर्निवर्त्यते निर्वृतिनिर्विपक्षा ॥ १ ॥

रागादि हव्यानि मुहुर्लिहाने, ध्यानान्तले साक्षिणि केवलश्री ।

कलत्रतामेष्यति मे कदैषा, वपुर्व्यपायेऽप्यनुयायिनी या ॥ २ ॥

श्री सूरप्रभाचार्यजी के मनोरथ ध्यानादि के विषय में कैसे थे उस भावात्मक शब्दों के उपरोक्त श्लोक में वर्णित करते हुए लिखा है । कि हे प्रभु ! आपके आगमोक्त निर्मल ज्ञानरूप औषध के द्वारा राग—मोह को दूर करके निर्वृति निर्विपक्ष प्रौढ समाधि लक्ष्मी को मैं कब प्राप्त करूँगा ? साक्षीभूत ऐसी ध्यानरूपी अग्नि में राग द्वेष आदि हव्य का हवन करने पर शरीर का नाश होने पर भी साथ रहनेवाली केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी (स्त्री) रूप में मुझे कब प्राप्त होगी ?

पू. ध्यानस्थ योगी कलिकाल सर्वज्ञश्री हेमचन्द्राचार्यजी की अभिलाषा—

वने पद्मासनासीनं, क्रोडस्थितमृगार्धकम् ।

कदा घ्रास्यन्ति वक्त्रे मां जरन्तो मृगयूथपाः ॥ १ ॥

शत्रौ—मित्रे तृणे स्त्रौणे, स्वर्णेऽश्मनि मणौ मृदि ।

मोक्षे भवे भविष्यामि निर्विशेषमतिः कदा ? ॥ २ ॥

पद्मासन लगाकर जंगल में बैठे हुए तथा जिसकी गोद में हिरन का बच्चा बैठा हो, ऐसी दशा में मुझे वृद्ध मृग आकर कब सूंघेंगे ? अर्थात् ऐसी प्रौढ़ गहरी समाधि की दशा को मैं कब प्राप्त करूँगा ? ऐसी समाधि की दशा में वनचर पशु भी शान्त होकर मेरे मुख या शरीर को कब सूंघेंगे ? शत्रु—मित्र, तृण, स्त्री समूह, सुवर्ण—पाषाण, मणिरत्न, मिट्टि, तथा मोक्ष और संसार इन सब में समान दृष्टिवाला मैं कब बनूँगा ? ऐसी समाधि की अवस्था को मैं कब प्राप्त करूँगा ? जिसमें संसार—मोक्ष दोनों में समभाव से रहूँ, मेरी दोनों में समान बुद्धि बन जाय जिससे किसको छोड़ना और किसको प्राप्त करना ऐसा कोई भेद ही न रहे ।

इस तरह अनेक ध्यानस्थ योगी महापुरुषों ने अपने मनोरथ—भाव व्यक्त किये हैं । उनकी उत्कृष्ट ध्यान साधना में वैसी भावना व्यक्त की है । कैसी सुंदर उनकी अप्रमत्त ध्यानावस्था थी ? कितनी ऊँची उनकी आगे की अवस्था प्राप्त करने की तैयारी थी ?

इस तरह परम संवेग भाव को प्राप्त करके ढट्टे प्रमत्त गुणस्थान में रहनेवाले विवेकी पुरुषों को शुद्ध परमात्म तत्त्व संवित्ति के मनोरथ करने चाहिए । अभिलाषाएँ बढ़ानी चाहिए । षडावश्यक आदि की आचरणा के व्यवहार का त्याग नहीं करना चाहिए ।

योगिनः समतामेतां प्राप्य कल्पलतामिव ।

सदाचारमयीमस्यां वृत्तिमातन्वतां बहिः ॥ १ ॥

ये तु योगग्रहग्रस्ताः सदाचारपराङ्मुखाः ।

एवं तेषां न योगोऽपि, न लोकोऽपि जडात्मनाम् ॥ २ ॥

शास्त्रकार महर्षि फरमाते हैं कि— योगी पुरुष को चाहिए कि... कल्पलता के समान समता को प्राप्त करके उस सदाचारवाली समता में बाह्य प्रवृत्ति भी रखे । जो मनुष्य केवल योग ध्यान के ही कदाग्रह से ग्रस्त होकर आवश्यक क्रियानुष्ठान का परित्याग कर बैठते हैं, छोड़ देते हैं वे न तो योग को ही प्राप्त कर सकते हैं और न ही व्यवहारजन्य पुण्य

उपार्जन कर सकते हैं। अर्थात् निश्चय और व्यवहार उभय से भ्रष्ट हो जाते हैं। इसलिए छठे गुणस्थान के स्वामी प्रमत्त संयत को दोनों तरफ का संपूर्ण ध्यान रखना ही उचित है।

निरालम्बन ध्यान में प्रवेश—

अप्रमत्त सातवे गुणस्थान के सोपान पर आरूढ अप्रमत्त ध्यान साधक प्रमादादि भावों का सर्वथा त्याग कर... निरालम्बन ध्यान में प्रवेश करता है। निरालम्बन ध्यान में प्रवेश करनेवाले योगी ३ प्रकार के होते हैं। १) प्रारम्भक, २) तन्निष्ठ, ३) निष्पन्नयोग।

१) प्रारम्भक निरालम्बन ध्यानी— जो साधक नैसर्गिक या सांसारिक विरति—व्रत—नियमवाली आत्मपरिणति को प्राप्त करके बंदर के समान चंचल चपल मन को निरुद्ध करने के लिए किसी पर्वत की गुफा आदि एकान्त स्थान में बैठकर तथा निरन्तर नासिकाग्रभाग पर दृष्टि लगाकर निष्कम्प तथा वीरासन आदि में विधिपूर्वक समाधि का प्रारम्भ करता है उसे प्रारम्भक योगी कहते हैं।

२) तन्निष्ठ निरालम्बन योगी— जो साधक प्राणवायु, आसन—इन्द्रिय, मन, क्षुधा, पिपासा, तथा निद्रा, इन सबको वश में करके, सर्व प्राणिमात्र पर प्रमोद भावना, कारुण्य भावना तथा मैत्री भावना को धारण करके अन्तर्जल्पपने ध्यानाधिष्ठित चेष्टा से तत्त्व स्वरूप का चिन्तन करते हैं उन्हें तन्निष्ठ योगी कहते हैं।

३) निष्पन्न निरालम्बन योगी— जिन योगियों के हृदय में बाह्य तथा आन्तरिक जल्प कल्लोल—(विकल्प) उपशमता को प्राप्त हो चुके हैं अर्थात् शान्त हो गए हैं, अर्थात् अब चित्त में संकल्प—विकल्प उत्पन्न ही नहीं होते हैं और स्वच्छ विद्यारूप विकसित कमलिनि से सुशोभित मन रूपी सरोवर के अन्दर निलेपता से आत्मारूपी हंस सदा काल स्वात्मानुभवरूप अमृत का पान करता है उन्हें निष्पन्न योगी कहते हैं।

धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान के गुणस्थान—

धर्मध्यानं भवत्यत्र, मुख्यवृत्त्या जिनोदितम्।

रूपातीततया शुक्लमपि स्यादंशमात्रतः ॥ ३५ ॥

जिस तरह अशुभ—आर्त—रौद्रध्यान के गुणस्थान होते हैं वैसे ही शुभ धर्मध्यान तथा शुक्लध्यान के भी गुणस्थान दर्शाए हैं। यहाँ ७ वे अप्रमत्त गुणस्थान पर मुख्यवृत्ति से धर्मध्यान होता है। छठे प्रमत्त गुणस्थान या ४ थे, ५ वे गुणस्थान पर भी धर्मध्यान हो सकता है लेकिन वह व्यवहार से गौणरूप से होता है। इसीलिए गुणस्थान क्रमारोह

ग्रन्थकार ने श्लोक में “मुख्यवृत्ति” शब्द का प्रयोग किया है। मतलब यह है कि.... ७ वे अप्रमत्त गुणस्थान पर धर्मध्यान तो अनिवार्य रूप से होता ही होता है। अप्रमत्तभाव और धर्मध्यान के अन्योन्य पूरक संबंध हैं। ये दोनों एक दूसरे के बिना रह नहीं सकते हैं। इसलिए धर्मध्यान के साथ अप्रमत्त भाव और अप्रमत्त भाव के साथ धर्मध्यान ये अन्योन्यपूरक संबंध हैं। ये दोनों एक दूसरे के बिना रह नहीं सकते हैं। इसलिए धर्मध्यान के साथ अप्रमत्तभाव, और अप्रमत्तभाव के साथ... धर्मध्यान भी अवश्य ही रहता है। धर्मध्यान मुख्यवृत्ति से रहता है तथा रूपातीतादि रूप से शुक्लध्यान भी अंशमात्र संभव है। वैसे शुक्लध्यान की बहुलता ८ वे गुणस्थान से आगे ज्यादा है फिर भी अप्रमत्त ७ वे गुणस्थान पर भी आंशिकरूप से रहता है।

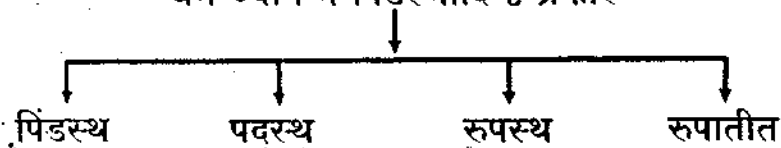
धर्मध्यान में—पिण्डस्थादि ४ प्रकार—

पिण्डस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम्।

इत्यन्यच्चापि सद्धानं ते ध्यायन्ति चतुर्विधम् ॥ १३७ ॥

सद्—(शुभ) ध्यानरूप जो धर्मध्यान है उसके ४ प्रकार बताए हैं—

धर्म ध्यान में पिण्डस्थादि ४ प्रकार



ध्याता अर्थात् जो स्वयं ध्यान करनेवाला है, ध्येय अर्थात् ध्यान करने योग्य आलंबन, ध्यान अर्थात् ध्याता और ध्येय को साथ में जोड़नेवाली ध्याता की तरफ से होती हुई सजातीय प्रवाहवाली अखंड साधना (क्रिया) अर्थात् जो आलंबनरूप ध्येय है उसमें या उस तरफ अंतर्दृष्टि करना। उस लक्ष्य के सिवाय मन अन्य कुछ भी चिन्तन न करते हुए एकरस होकर सतत उसी धारा का चिन्तन करता रहे, उसकी एक ही प्रकार की एक ही वृत्ति का अखण्डरूप से प्रवाह चलता रहे उसे ध्यान कहते हैं। १) पिण्डस्थ २) पदस्थ, ३) रूपस्थ और ४) रूपातीत इन चार प्रकार के ध्येय अर्थात् ध्यान करने योग्य आलंबन हैं। इन विषयों को लेकर ध्यान किया जाय अतः वे पिण्डस्थादि प्रकार के ध्यान कहलाएंगे। योगशास्त्र में यही कहा है—

पिण्डस्थं च पदस्थं च, रूपस्थं रूपवर्जितम्।

चतुर्धा ध्येयमाप्नातं ध्यानस्यालम्बनं बुधैः ॥ ७ ॥

पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपवर्जित (रूपातीत) इन चारों प्रकारसे सद्धान—धर्मध्यान करना चाहिए। ये ध्यान के आलंबन रूप अर्थात् ध्येयरूप हैं।

व्याख्या करते हुए कहते हैं कि १) पिण्ड का अर्थ यहाँ पर शरीर है। शरीर का आलंबन लेकर किया जानेवाला ध्यान पिण्डस्थ ध्यान है। २) पवित्र पदों का आलंबन लेकर जो ध्यान किया जाता है उसे पदस्थ ध्यान कहते हैं। ३) सर्वचिद्रूप का आलंबन लेकर जो ध्यान किया जाता है वह रूपस्थ ध्यान है। ४) तथा निरंजन—निराकाररूप ऐसे रूपरहित सिद्ध भगवंतों का आलंबन लेकर किया जानेवाला ध्यान रूपातीत ध्यान कहलाता है। स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा में इस तरह की व्याख्या करते हुए कहा है—

पदस्थं मन्त्रवाक्यस्य पिण्डस्थं स्वात्मचिन्तनम्।

रूपस्थं सर्वचिद्रूपं रूपातीतं निरंजनम् ॥

१) पिण्डस्थ ध्यान का स्वरूप—

आत्मानं विश्वरूपं त्रिदशगुणगणैरप्यचिन्त्यप्रभावं।

तत्पिण्डस्थं प्रणीतं जिनसमयमहाम्बोधिपारं प्रयातैः ॥ ३७/३२

ध्यानयोगी पू. शुभवन्दजी ज्ञानार्णव में कहते हैं कि... विश्वरूप समस्त ज्ञेय पदार्थों के आकार जिसमें प्रतिबिम्बित हो रहे हो, ऐसे देवन्द्रों के समूह से भी जिसका अधिक प्रभाव हो ऐसे “आत्मतत्त्व” का जो चिन्तन = ध्यान किया जाय उसे जैन सिद्धान्तरूपी महासागर के पार पहुँचनेवाले मुनीश्वरों ने पिण्डस्थ ध्यान कहा है। यहाँ पिण्डस्थ शब्द की व्युत्पत्तिजनक व्याख्या करते हुए स्पष्ट करते हैं कि... “पिण्डं नाम शरीरं तत्र तिष्ठतीति पिण्डस्थं ध्येयम् ॥” पिण्ड शब्द से इस शरीर को लिया है तथा उस पिण्ड रूप शरीर में रहनेवाली “आत्मा” स्थित चेतन को पिण्डस्थ कहा है। उसे ही ध्येय बनाकर जो ध्यान किया जाता है वह ध्येयानुरूप पिण्डस्थ ध्यान कहा जाता है।

स्था—तिष्ठ धातु रहने अर्थ में है। पिण्डरूप इस शरीर—देह में कौन रहता है? स्वयं शरीर तो जड़ ही है। जड़ में जड़ रहने की बात ही कहाँ है। पिण्डरूप शरीर में रहनेवाली चेतन स्वरूपी चेतनाशक्तिमान आत्मा है। बस, अपनी आत्मा को ही ध्येय बनाकर जो ध्यान किया जाय वह पिण्डस्थ ध्यान है। आत्मा शरीर से सर्वथा भिन्न है, स्वतंत्र है, देह संचालक है, सचेतन है। उसके बिना शरीर सर्वथा जड़ है। निर्जीव है। यहाँ यह भिन्नता—भेदज्ञान उपयोगी है। ध्यान का मुख्य उद्देश्य देह और आत्मा के बीच सर्वथा—संपूर्ण जो भेद है उसे जानना, पहचानना और अनुभव करना है। वर्तमान में दोनों

ही एकदूसरे में सम्मिलित—सन्निहित रूप से जो अनादि काल से रहते हैं उसमें अभेद बुद्धि बनाकर जीते जीते इस जीव ने अनन्तकाल बिता दिया है। उस अभेदबुद्धि के कारण आज दिन तक जीव ने जड़ रूप इस शरीर की चिन्ता—सेवादि ज्यादा की, लेकिन इस शरीर को नाशवंत—पौद्गलिक—क्षणिक समझ ही नहीं पाया और जन्मान्तर—भवान्तर में जानेवाली इस आत्मा को स्वतंत्र—अलग अस्तित्वधारक के रूप में पहचान ही नहीं पाया। परिणाम स्वरूप कर्म उपाजन करता हुआ भवसंसार बढ़ाता ही रहा। अब भेदज्ञान करके ... दोनों को संपूर्ण भिन्न समझकर देहभाव, देहराग और देहाध्यास सब भूलकर देहभाव से ऊपर उठकर स्व आत्मा का ध्यान करें। नय—निक्षेपों और सप्त भंगी से निश्चयादि रूप से आत्मचिन्तन इस प्रकार करें—

सप्तनयात्मक आत्मस्वरूप—

चेतन—आत्मा निश्चय नय की अपेक्षा से आदि, मध्य और अवसान (अन्त) रहित है, तथा स्व—पर प्रकाशक है। उपाधि से रहित ज्ञान—स्वरूप और निश्चय प्राणों से जीनेवाली है तथापि वह अशुद्ध निश्चय नय से अनादि कालीन संचित कर्म के वश होकर द्रव्य प्राण तथा भाव प्राणों से जीनेवाला होने से जीव कहा जाता है।

शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से परिपूर्ण निर्मल—स्वच्छ दो उपयोग हैं, तन्मय जीव है, तथापि अशुद्ध नय से जीव को क्षायोपशमिक ज्ञान—दर्शन प्राप्त होता है। व्यवहार नय से मूर्त कर्माधीन होने के कारण जीव वर्ण, गंध, रस, स्पर्श तथा रूप से मूर्तिमान दिख पड़ता है। तथापि निश्चय नय से अमूर्त, इन्द्रियों से अगोचर, और शुद्ध स्वभाव को धारण करनेवाला है। निश्चय नय से आत्मा क्रियारहित, सर्व प्रकार की उपाधियों से रहित तथा ज्ञानस्वरूप है। तथापि मन—वचन—कायिक व्यापार के करनेवाली और कर्म के ही वश से शुभाशुभ कर्मों का कर्ता है।

आत्मा निश्चय नय से स्वभाव तथा लोकाकाश प्रमाण असंख्य आत्मप्रदेशों को धारण करनेवाली है, क्योंकि जब केवलज्ञान दशा में आयुष्य कर्म के दलिक कम रहते हैं और वेदनीय कर्म के दलिक अधिक रहते हैं, तब वह केवलज्ञानी महात्मा वेदनीय कर्म के अधिक दलिकों को समाप्त करने के लिए, अर्थात् वेदनीय कर्म को आयु कर्म के समान—समकक्ष करने के लिए अपने असंख्य आत्मप्रदेशों को अपनी आत्मीय शक्ति से तमाम लोकाकाश में फैला देता है और सिर्फ ८ समय में १४ राजलोक के तमाम परमाणुओं का संस्पर्श करके पुनः आत्मप्रदेशों को शरीरस्थ कर लेता है। इसे केवली समुद्घात कहते हैं।

असंख्य प्रदेशी होने पर भी आत्मा नाम कर्म के उदय से शरीर धारण करके सशरीरी प्राणी कहलाती है। शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से आत्मा राग—द्वेष के विकल्पों से रहित है, फिर भी अशुद्ध नय से शुभाशुभ कर्मों को भुगतती है। शुद्ध निश्चय नय से आत्मा अनन्त—ज्ञान—दर्शनादि गुणों को धारण करनेवाली होने के कारण सिद्ध स्वरूपी ही है, परन्तु व्यवहार नय से कर्मोपाधि की सत्ता के कारण निजात्मस्वरूप को न प्राप्त करने से जीवात्मक कहलाती है। आत्मा का मूल स्वभाव ऊर्ध्व गति करने का है, फिर भी कर्मों के वशीभूत होकर ऊँची—नीची—तिरछी गति भी (गमन) करती है। पिण्डस्थ ध्यान में इस प्रकार नयों की दृष्टि से चिन्तन करना चाहिए।

स्याद्वाद की सप्तभंगी से आत्मचिन्तन—

नय अपने आप में एकांगी है। वे संपूर्ण रूप से सर्वाशयाही नहीं हैं। एकांश ग्रहण करके कथन करते हैं तथा एक नय अपनी दृष्टि से जो कहना है वह कहकर दूसरे नय की अपेक्षा भी नहीं करता है। अतः अपने आंशिक सत्य को ही वह पूर्ण सत्य मान लेता है। ये निरपेक्ष हैं, अतः परिणामस्वरूप में संपूर्ण सत्यस्वरूप नहीं बना पाते हैं। इसलिए प्रमाणरूप नहीं कहलाते हैं।

ठीक नयवाद से विपरीत प्रक्रिया स्याद्वाद में है। 'स्यात्' शब्द के साथ कथंचित् अर्थ में आंशिक सत्य कहकर भी प्रत्येक भंग दूसरे भंग की अपेक्षा करता है। इस तरह सातों भंग मिलकर—मिलाकर जो पूर्ण स्वरूप प्रकट करते हैं वह सर्वांशिक सत्य बनता है। इसीलिए सप्तभंगी को प्रमाण सप्तभंगी कहा है। स्याद्वाद के इन ७ भंगों की दृष्टि से आत्मस्वरूप का ध्यान करना चाहिए।

संसार के प्रत्येक पदार्थ स्व—द्रव्य—क्षेत्र—काल—भाव की अपेक्षा अस्तिस्वरूप है। इसी तरह उसी समय वह पर—द्रव्य—क्षेत्र—काल भाव की अपेक्षा नास्तिस्वरूप भी है। आत्म द्रव्य स्व—गुण—ज्ञान—दर्शन—चारित्र्यादि गुण से सदाकाल वर्तमानतया स्थित रहते हैं। इसलिए स्याद् अस्ति प्रथमभंग कहा जाता है। पर—द्रव्य—क्षेत्र—काल—भावादिकी अपेक्षा नास्तिरूप है। आत्मा से पर जो जड—अचेतन—अजीव द्रव्य है, उनके कारण उसी समय अचेतनत्वादि नास्ति धर्म भी रहता है। संस्कृत भाषा में स्यात् शब्द अव्यय है। वह अनेकान्त वाचक है। इसका "कथंचित्" अर्थ लिया गया है। आत्मा में चैतन्य का अस्तित्व है और जड का नास्तित्व है। बस, इसीलिए अस्ति—नास्ति स्वरूप एक साथ कहे जाते हैं। एक ही पदार्थ में परस्पर विरोधि कहलानेवाले उभय धर्म एकसाथ रहते हैं।

अतः एकान्तरूप से कथन नहीं किया जा सकता है । यदि केवल किसी एक ही धर्म की विवक्षा की जाय और अन्य धर्म की विवक्षा न की जाय तो पूर्ण सत्य स्वरूप नहीं बता सकेंगे । अतः स्यात् शब्द से अन्य पर धर्म की भी विवक्षा करके व्यवहार करना चाहिए । जिससे असत्य की तरफ गमन न होकर सत्य की तरफ गमन संभव होगा । एक धर्म के प्रतिपादन से अन्य का अभाव और अन्य धर्म का प्रतिपादन करने पर एक का अभाव स्याद्वाद नहीं करता । यह काम नयवाद का है । स्याद्वाद दोनों को साथ लेकर विवक्षा करता है ।

“वस्तु सहावो धम्मो”— वस्तु का स्वभाव ही धर्म है । प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है । अनन्त धर्मात्मक वस्तु है । अनन्तज्ञान जिसे प्राप्त हुआ है ऐसे सर्वज्ञ प्रभु एक ही समय एक साथ अनन्त धर्मों को देख सकते हैं । ज्ञान से जानना, दर्शन से देखना संभव है परन्तु उन सब धर्मों का एक साथ कथन नहीं किया जा सकता । पदार्थ की व्याख्या एक—एक धर्म के अनुसार क्रमानुसार ही की जा सकती है । इस क्रमानुसार करते समय स्याद् शब्द का प्रयोग करके स्याद्वाद की मुद्रा से अंकित करके ही विवक्षा करनी चाहिए ।

- १) स्यादस्ति आत्मा ।
- २) स्यान्नास्ति आत्मा ।
- ३) स्यादस्ति—नास्ति च आत्मा ।
- ४) स्यादवक्तव्यमात्मा ।
- ५) स्यादस्तिचावक्तव्यमात्मा ।
- ६) स्यान्नास्ति चावक्तव्यमात्मा ।
- ७) स्यादस्ति—नास्ति चावक्तव्यमात्मा ।

इस तरह स्याद्वाद दृष्टि से आत्मस्वरूप को पिण्डस्थ ध्यान में चिन्तना चाहिए । पिण्डस्थ ध्यान बरोबर—स्पष्ट भेदज्ञान कराता है । पिण्डरूप शरीर में रहे हुए चेतनरूप आत्मद्रव्य का ज्ञान कराता है ।

पिण्डस्थ ध्यान की ५ धारणाएँ—

पार्थिवी स्यादग्नेयी मारुती वारुणी तथा ।

पञ्चमी चेति पिण्डस्थे पञ्च धारणाः ॥ ७/८ ॥

१) पार्थिवी, २) आग्नेयी, ३) मारुती (वायवी), ४) वारुणी, तथा ५) तत्त्वभू इस प्रकार की ५ धारणाएँ पिण्डस्थ ध्यान में होती हैं । पिण्डरूप इस देह में पाँच भूत (पंचभूत—

पृथ्वी, पानी, अन्न, वायु तथा आकाश) रहते हैं। अतः प्रथम पंचभूतों की स्थूल धारणा करनी चाहिए। उनमें मन स्थिर करना चाहिए। मन स्थिर होने पर जो साध्य पिण्ड में रही हुई आत्मा उस पिण्डस्थ का ध्यान बताया है।

१) पार्थिवी धारणा में तिर्छालोकवत् क्षीरसमुद्र चित्रवन कर उसमें सुवर्णमय सुमेरु को देखते हुए अपनी आत्मा को उस मेरुपर्वत पर देखना।

२) आग्नेयी धारणा में अपनी नाभि में १६ पत्रवाले कमल के प्रत्येक पत्र पर स्वरयुक्त माला से सुशोभित कर्णिका में स्फुरायमान “अर्ह” महामंत्रबीज का चिन्तन करना।

३) वायवी धारणा में— तीनों भुवनों को भरती हुई पहाड़ों को चलायमान करती हुई, समुद्रों को शोभित करती हुई, राख—भस्म की राशी के ढेर को उड़ाती हुई दृढ अभ्यासवाला आत्मा को चिन्तवना चाहिए। पुनः वायु को शान्ति में लाना ऐसी मारुती (वायवी) धारणा चिन्तवनी।

४) वारुणी धारणा में— मेघमाला से घिरे हुए तथा अमृत बरसते हुए आकाश का चिन्तन करना। पश्चात् अर्धचन्द्राकार सुंदर वरुण बीज “व” के चिन्हवाले वरुणमण्डल का ध्यान करना। बाद में वह वरुणपुर अमृतजल से आकाशतल को सींचता हुआ देखे। जिसमें शरीर की उत्पन्न रजकण को धो डालता है। ऐसी वारुणी (जलीय) धारणा है।

५) तत्त्वभूत धारणा में— पूर्णचन्द्र समान निर्मल कान्तिवाले सर्वज्ञतुल्य अपनी आत्मा का शुद्ध स्वरूप देखे। तत्पश्चात् सिंहासन पर बैठी हुई... सर्व अतिशयों से देदीप्यमान, सर्वकर्मक्षयकारक मंगल महिमावन्त, निरंजन—निराकार आत्मा को अपने पिण्डरूप देह में ध्याना चाहिए। इसे पाँचवी तत्त्वभू धारणा कहते हैं। इस तरह पाँचों धारणाओं पूर्वक पिण्डस्थ ध्यान का सतत अभ्यास योगी मोक्ष सुख सन्मुख होता है। इन धारणाओं को स्वप्नवत् कल्पना मात्र ही नहीं लेकिन वास्तविक स्वरूप में देखे, ऐसा अभ्यास बारबार करने पर अपनी आत्मा के शुद्ध स्वरूप को साधक प्राप्त करता है। यह पिण्डस्थ ध्यान का संक्षिप्त स्वरूप वर्णन किया है। ध्यानदीपिकाकार फल के विषय में कहते हैं कि— ऐसे योगी का मारण, मोहन, उच्चाटन, स्तंभन, विद्वेषणादि दुष्ट विद्याएँ कभी भी पराभव नहीं कर सकती। कुमंत्रों की असर नहीं होती। मैली विद्याएँ असर नहीं कर सकती। कुष्टादि रोग भी अपना प्रभाव नहीं डाल सकते। युद्ध परास्त नहीं कर सकता। शस्त्रादि शक्तियों का प्रभाव नहीं होता है। भूत—प्रेत—पिशाचादि हावी नहीं हो सकते। हाथी—सिंहादि वनस्थ पशु भी घात नहीं कर सकते। स्तंभवत् दूर ही रहते हैं। इस प्रकार के अनेक फल प्राप्त होते हैं।

२) पदस्थ ध्यान का स्वरूप—

पदान्यास्तास्य पुण्यानि योगिभिर्यद्विधीयते ।

तत्पदस्थं मतं ध्यानं विचित्रनयपारगैः ॥ ३७/१ ॥

ज्ञानार्णव ग्रन्थकार पदध्यान की व्याख्या करते हुए बताते हैं कि पवित्र मंत्रों के अक्षर स्वरूप पदों का आलम्बन करके जिसका योगी महापुरुष चिंतन करते हैं उसे अनेक नयों के पार पहुँचनेवाले योगीश्वरों ने पदध्यान कहा है । मन्त्राक्षर, मन्त्रबीज पवित्र पद है, अतः पवित्र पदों का आलम्बन लेकर जो ध्यान किया जाता है उसे पदस्थ ध्यान कहा है । इसमें न हीं श्रीं अर्हं आदि बीज मंत्र हैं । मन्त्राक्षरों से पद बन जाते हैं । न यह बीजमन्त्र पंचपरमेष्ठी का वाचक है । अरिहंत का—‘अ’, सिद्ध—अशरीरी का भी ‘अ’, आचार्य का ‘आ’ उपाध्याय का—‘उ’ तथा साधु—मुनि का ‘म्’ इस तरह पाँचों परमेष्ठी के वाचक इन पंचाक्षरों का सम्मिलित स्वरूप न है । इसमें पाँचों परमेष्ठियों की स्थापना है । उसकी आकृति विशेष प्रकार की जैन धर्म में प्रचलित है । अतः इसे इसी स्वरूप में लिखा जाता है । चित्राकृति में निर्धारित स्थान में पाँचों परमेष्ठियों की स्थापना करके ध्यानस्थ योगी ध्यान में दृष्टिबंध



करके ऐसी चित्राकृति मानसचित्र में उपजाए । तथा मानस जाप करते हुए ॐ की ध्वनि का उच्चार करे । और मन एकाग्र करके नकार में लगाकर स्थिर करे । धीरे—धीरे ध्वनि की धारा लय होती जाय और चित्र स्पष्ट होते जाय । पाँचों परमेष्ठियों के वर्णात्मक रंग भी स्पष्ट होते हुए दिखाई दें । ध्याता दर्शन करते हुए आनन्दसागर में स्नान करता रहे ।

१४ पूर्वो में विद्याप्रवाद नामक पूर्व में से ‘हीं’ बीज मन्त्र लिया है । भिन्न स्वरों की मात्राएँ चढ़ाकर भिन्न भिन्न बीजाक्षरों की रचनाएँ की हैं । मूल बीजभूत इस मन्त्राक्षर में—२४ तीर्थंकरों की स्थापना है । इस तरह आदिनाथ प्रथम तीर्थंकर से लेकर २४ वे भ. महावीर स्वामी तक के २४ तीर्थंकरों की स्थापना करके इस हीं बीजमन्त्र को ध्येय बनाया गया है । इसे अपनी ध्यान साधना में ध्येयस्वरूप बनाकर ध्याता मानस चित्र उपसा कर



२४ जिन का ध्यान करें। इस तरह पदस्थ ध्यान में भिन्न-भिन्न रूप से पदों का आलंबन लेकर ध्यान करता जाय। अनेक प्रकार के ऐसे पद आदि दर्शाए गए हैं। अष्टदल कमल या चतुर्दल कमल आदि अनेक प्रकार की आकृतियों की रचना करके उनमें स्थापना करके भी ध्यान किया जाता है। इसमें आसन प्राणायाम आदि की प्रक्रिया का आधार विशेषोपयोगी सिद्ध होता है। पूरक—कुंभक—रेचक

पूर्वक के प्राणायाम पूर्वक की साधना करने से... मन की एकाग्रता शीघ्र ही बढ़ाई जा सकती है। मातृका वर्णों का भी ध्यान पदस्थ ध्यान है।

आगमोक्त जिन वचनों—जिनाज्ञा रूप पदों का आलंबन लेकर भी पदस्थ ध्यान किया जा सकता है। जैसे “अप्पा सो परमप्पा” आत्मा ही परमात्मा है। इस पद के आधार पर अपनी स्वयं की आत्मा को परमात्मवत् ध्यान में लाए। “सोऽहं” पद से ‘सो’ (सः) पद से जो अरिहंत या सिद्ध भगवंत वाच्य हैं, बस, “अहं” मैं भी उनके जैसा ही हूँ, या मैं उसी स्वरूप में वही हूँ ऐसा ध्यान करके भी आत्मा को उस रूप में ऐसा पदस्थ ध्यान रूपातीत ध्यान की तरफ अग्रसर करता है। फिर भी पद की—आगमना, पद की प्रधानता होने से पद ध्यान पदस्थ—ध्यान कहा जाता है।

३) रूपस्थ ध्यान—

सर्वातिशय—युक्तस्थ केवलज्ञानभास्वतः।

अर्हतो रूपमालम्ब्य ध्यानं रूपस्थमुच्यते ॥ ९/७ ॥

रागद्वेषमहामोहविकारैरकलंकितम्।

शान्तं कान्तं मनोहारिं सर्वलक्षणलक्षितम् ॥ ९/८ ॥

योगशास्त्र के नवम प्रकाश में रूपस्थ ध्यान का स्वरूप बताते हैं कि... सर्व अतिशयो से युक्त केवलज्ञान के सूर्यस्वरूप राग—द्वेषरूप महामोह के विकारों से रहित—अकलंकित शान्त, शोभनीय, मनोहारी इत्यादि सर्व लक्षणों से सुशोभित अरिहंत के रूप का आलंबन

लेकर ध्यान करना इसे रूपस्थ ध्यान कहते हैं। स्या—तिष्ठ धातु रहने अर्थ में है। किसमें ? रूपस्थ में प्रयुक्त परमात्मा के रूपी स्वरूप में स्थिर रहना है। परमात्मा जो केवलज्ञान प्राप्त करके वीतराग बन चुके हैं। तथा पूर्वोपार्जित तीर्थंकर नामकर्म के उदय से तीर्थंकर की शोभा जो प्राप्त हुई है उसके ध्यान में स्थिर रहना ही रूपस्थ ध्यान है पिंडस्थ और पदस्थ दोनों ध्यानों से एक कदम और आगे बढ़ा हुआ ध्याता इस रूपस्थ ध्यान में—

जिनेन्द्रप्रतिमारूपमपि निर्मलमानसः ।

निर्निमेषदृशा ध्यायन् रूपस्थध्यानवान् भवेत् ॥ ९/१० ॥

तीन लोक के नाथ त्रिभुवनपति तीर्थंकर जिनेश्वर परमात्मा की प्रतिमा के रूप को भी निर्मल मनवाला, निर्मल पवित्र मन में मानस पटल पर... अनिमेष दृष्टि से ध्यान करता ही रहे यह रूपस्थ ध्यान कहलाता है। साधक रूपस्थ ध्यानी कहलाएगा।

देखिए नियम ऐसा है कि... आप जिसका निरंतर ध्यान करेंगे... ध्याता... कालान्तर में वैसा बनता भी है। मन चिन्तित आकार में परिणत होकर वैसा बनता है। अतः साधक को अशुभ ध्यान कभी भी नहीं करना चाहिए। हेमचन्द्राचार्यजी म. स्पष्ट कहते हैं कि—

नासद्ध्यानानि सेव्यानि कौतुकेनापि किन्त्वह ।

स्वनाशायैव जायन्ते सेव्यमानानि तानि यत् ॥ ९/१५ ॥

कौतुकवश भी कभी असद् (अशुभ) ध्यान का आचरण करना ही नहीं चाहिए। ऐसा करने से अपने नाश के लिए ही होता है। अतः सद् (शुभ), शुद्ध ध्यान का ही अभ्यास करके साधक को आगे बढ़ना चाहिए।

योगी चाभ्यासयोगेन तन्मयत्वमुपागतः ।

सर्वज्ञीभूतमात्मानमवलोकयति स्फुटम् ॥ ९/११ ॥

सर्वज्ञो भगवान् योऽयमहमेवास्मि स ध्रुवम् ।

एवं तन्मयतां यातः सर्ववेदीति मन्यते ॥ ९/१२ ॥

ऐसे रूपस्थ ध्यान के आलंबन की सहायता से ध्यान का अभ्यास करनेवाला ध्याता तन्मयता को प्राप्त होकर स्वयं अपनी आत्मा को सर्वज्ञता को प्राप्त हुआ प्रत्यक्षरूप से देखे। तन्मयता कैसी लानी ? इसके लिए कहते हैं कि... जो ये सर्वज्ञ भगवान हैं, वही मैं हूँ निश्चयरूप से मैं ही हूँ। ऐसी तन्मयता को प्राप्त योगी अपने आप को सर्वज्ञ स्वरूप माने। यह रूपस्थ ध्यान में होता है।

वीतरागो विमुच्येत वीतरागं विचिन्तयन् ।

रागिणं तु समालम्ब्य रागी स्यात्क्षोभणादिकृत् ॥ ८/१६ ॥

वीतराग का चिन्तन करते हुए—ध्यान करते—करते वीतराग बनकर कर्म एवं संसार से मुक्त हो सकते हैं। और यदि आपने सरागियों का ही आलंबन लिया तो ध्याता को कामादि उत्पन्न करनेवाला सरागीपना ही प्राप्त होता है।

इस रूपस्थ ध्यान में समवसरण का आलंबन लेकर ध्यान किया जाता है। प्रथम रजत का गढ़, दूसरा सुवर्ण का गढ़, तीसरा रत्न—मणियों का बना हुआ गढ़, उसके केन्द्र में चारों तरफ स्फटिकमय सिंहासन में पूर्वादिशा के मुख्य सिंहासन पर मूल रूप से बिराजमान प्रभुजी, शेष ३ दिशा में प्रतिकृति, ऊपर ३ छत्र, बाजु में चामरादि भामण्डलादि सभी प्रातिहार्य, ऊपर सुंदर—विशाल अशोकवृक्ष, चारों तरफ प्रवेशद्वारादि अद्भुत स्वरूपवाले ३ प्राकारवाले समवसरण के ऊपर बिराजमान तीर्थंकर रूप में स्थित सर्वज्ञ वीतरागी प्रभु जगत् के जीवों के हितार्थ केवलज्ञान से देशना फरमा रहे हैं। ऐसे स्वरूप में परमात्मा को देखें। इस प्रकार के ध्यान को रूपस्थ ध्यान कहते हैं। रूपस्थ ध्यान स्वगत, और परगत दोनों प्रकार का होता है। तत्त्वतः स्वयं ध्याता अपनी आत्मा को ही उस परमात्म स्वरूप में देखें और परगत ध्यान में परमात्मा को देखें। इस तरह दोनों प्रकार का रूपस्थ ध्यान होता है।

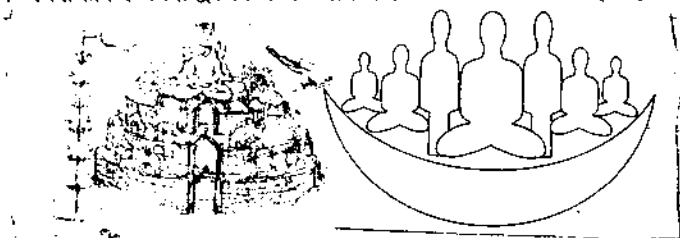
४) रूपातीत ध्यान—

क्रमशः ध्यान की कक्षा में ऊपर ही ऊपर चढ़ते हुए... आगे बढ़ते—चढ़ते हुए पिंडस्थ से पदस्थ ध्यान में, पदस्थ से रूपस्थ की कक्षा में आगमन होता है और अन्त में रूपातीत की कक्षा में पहुँचकर सिद्ध—बुद्ध—मुक्त—निरंजन—निराकार ऐसी सिद्धावस्था का ध्यान करना है। रूप + अतीत = रूपातीत। रूपस्थ ध्यान में जैसा कि... तीर्थंकर रूप में परमात्मा का चिन्तन था उसके अभ्यास के बाद एक कदम और आगे बढ़कर अब रूपातीत, रूपरहित सिद्ध भगवन्तों का ध्यान इस प्रकार में किया जाता है। ध्येय के अनुरूप यह ध्यान होने से ध्येय का जैसा रूपरहित—रूपातीत विषय है उसके अनुरूप ध्याता ध्यान करते हुए परमात्म तत्त्व को रूपरहित रूपातीत अवस्था में निरंजन—निराकार सिद्धस्वरूप में देखे। शरीररहित किसी भी आकार—प्रकार से रहित अशरीरी—अरूपी मात्र शुद्ध आत्मतत्त्व को ध्यान में देखे। योगशास्त्र में हेमचन्द्राचार्यजी य. कहते हैं—

अमूर्तस्य चिदानन्दरूपस्य परमात्मनः ।

निरञ्जनस्य सिद्धस्य ध्यानं स्यात् रूपवर्जितम् ॥ १०/१ ॥

मूर्त—आकार—प्रकार रहित चिदानन्दघन स्वरूप ऐसे परमात्मा का निरञ्जन—निराकार रूप सिद्धस्वरूप में ध्यान करना रूपातीत ध्यान कहते हैं ।



इस तरह नवकार महामंत्र में जो २ स्वरूप परमात्मा के दर्शाए गए हैं उनमें प्रथम अरिहंत है । अरिहंत परमात्मा देहधारी अपने शरीर विशेष को धारण करते हुए, आकार—प्रकारवाले, १३ वे गुणस्थान पर स्थित केवलज्ञान—वीतरामतादि गुणों के धारक तीर्थंकर प्रभु समवसरण में बिराजमान होकर देशना फरमाते हुए परमात्मा का ध्यान करना है ऐसा ध्यान रूपस्थ ध्यान कहलाएगा । नवकार के दूसरे पद में सिद्ध का स्वरूप है । अरिहंत ही देह छोड़कर—मृत्यु के पश्चात् सिद्ध बन जाते हैं । अरिहंत के सिवाय अन्य—आचार्य—उपाध्याय एवं साधु परमेष्ठि जो भी सिद्ध बनते हैं वे भी सभी सिद्ध कहलाते हैं । सिद्ध बनते ही जीव शरीर को सदा के लिए छोड़ देता है । और इस संसार से सदा के लिए मुक्त होकर लोकाग्र भाग पर स्थित हो जाता है । वहाँ शरीर रहित अवस्था में सर्वथा सर्वकर्मरहित शुद्ध आत्मा ही रहती है । आत्मा का कोई आकार—प्रकार कुछ भी नहीं रहता है । रूप—रंग—कुछ भी नहीं रहता है । इसलिए सिद्ध रूपातीत—अरूपी कहलाते हैं । अतः ऐसे ध्येय का ध्यान भी रूपातीत की कक्षा का कहलाता है ।

इत्यजस्रं स्मरन् योगी तत्स्वरूपावलम्बनः ।

तन्मयत्वमवाप्नोति ग्राह्यग्राहकवर्जितम् ॥ १०/२ ॥

अनन्यशरणीभूय स तस्मिन् लीयते तथा ।

ध्यातृध्यानोभयाभावे ध्येयेनैक्यं यथा व्रजेत् ॥ १०/३ ॥

योगशास्त्र में हेमचन्द्राचार्यजी म. फरमाते हैं कि... सिद्धस्वरूप का आलंबन लेकर इस तरह सतत निरंतर सिद्धों का स्मरण करनेवाला—ध्यान करनेवाला ध्याता योगी ग्राह्य—ग्राहकभाव रहित तन्मयता को प्राप्त करता है । अर्थात् सिद्ध स्वरूप में अपनी आत्मा को लीन—मग्न करते हुए, अर्थात् अपनी आत्मा में सिद्धस्वरूप अनुभव करते हुए अपनी

भी तदाकार स्थिति हो जाती है। इस स्थिति में अभेदता आ जाती है। ध्याता—ध्येय दोनों एक रूप ही हो जाते हैं फिर ग्रहण करनेलायक और ग्रहण न करने लायक ऐसा कोई भेद ही नहीं रहता है। एकरसता—एकाग्रता छा जाती है। अब पूर्ण—शुद्ध स्वरूप ऐसी अपनी आत्मा के सिवाय अब अन्य किसी का भी स्मरण रहता ही नहीं है, कोई आलंबन ही शेष बचता नहीं है। ऐसा आलंबनरहित निरालंबन बना हुआ योगी सिद्ध स्वरूप में इस तरह लीन होता है कि जिससे अभेद कक्षा प्राप्त होती है। ध्याता और ध्येय में कोई भेद रहता ही नहीं है। एकीकरण भाव—एकरसता, एकलीनता आ जाती है। अब ध्याता ही ध्येयरूप बन चुका है। इसमें ध्येय ऊँचा रूपातीत की कक्षा का है। अतः ध्यान की सर्वोच्चता श्रेष्ठता के आधार पर ध्याता की भी सर्वोच्चतम कक्षा प्राप्त करने की भूमिका बन गई। इसलिए रूपातीत की कक्षा का ध्यान ही सर्वोत्तम, सर्वश्रेष्ठ है।

यः परात्मा परं सोऽहं, योऽहं स परमेश्वरः।

मदन्यो न मयोपास्य, मदन्येन च नाप्यहम्॥

ध्यान दीपिकाकार कहते हैं कि— इतनी ऊँची कक्षा का अभेद भाव, एकरसीभाव, तन्मयभाव, लीनभाव आ चुका है कि जो परमात्मा है वही मैं हूँ, और जो मैं हूँ वही परमात्मा है, मेरे द्वारा जिसकी उपासना की जा रही है वह उपास्य ध्येय तत्त्व और उपासना करनेवाला मैं उपासक दोनों भिन्न नहीं हैं, हमारे में भेद नहीं है। दोनों एकरूप ही हैं, अतः उपास्य—उपासक ध्याता—ध्येय का कोई भेद ही नहीं रहता है। सच देखा जाय तो ध्यान की पराकाष्ठा यही है कि दोनों एकरूप हो जाय। अभेद कक्षा आ जाय।

अध्यात्म की प्रथम कक्षा में पहले देह और आत्मा में भेदज्ञान करता रहता है और अन्त में जाकर आत्मा + आत्मा = परमात्मा की आत्मा और अपनी स्वयं की आत्मा में अभेद करना है। यह ध्याता का कार्य ध्यान में कर्तव्य है। लेकिन कर्मोदयवश हम विपरीत ही कर बैठे हैं। अपने देह और देह संबंधि संसारभाव के साथ अभेद कर बैठे हैं तथा अपनी ही आत्मा के समान जो परमात्मा है, अपनी और परमात्मा की दोनों की जाति समान है, मैं—मेरी आत्मा परमात्मा के जैसी ही है और परमात्मा की जाति मेरी आत्मा के जैसी ही है। द्रव्य रूप से देखने पर दोनों में अभेदभाव—समानरूप ही है। भिन्नता मात्र पर्यायरूप से है। परमात्मा की आत्मा अरिहंत पर्यायरूप है, या सिद्ध पर्यायरूप है। जबकि मेरी वर्तमान पर्याय.. संसारी रूप है। अरिहंत ४ कर्मयुक्त है। मैं अभी भी आठों कर्मयुक्त हूँ। सिद्ध सर्वथा अकर्मि है, मैं सकर्मि हूँ, सिद्ध अशरीरी है, मैं सशरीरी हूँ। अरिहंत

सशरीरी है, मैं भी सशरीरी हूँ। इस तरह भेदाभेदपना किस तरह कैसा है यह ध्याता—ध्यान की कक्षा में स्पष्ट कर लेता है। भेद और अभेद दोनों भिन्न—भिन्न होने पर भी एकसाथ रहते हैं। द्रव्य रूप से हम दोनों समान आत्मरूपी हैं। मेरी भी आत्मा एक अखण्ड—असंख्यप्रदेशी द्रव्य है। इसी तरह परमात्मा भी एक अखण्ड असंख्य प्रदेशी द्रव्य है। दोनों ही समानरूप से अनादि—अनन्त हैं। अविनाशी—त्रैकालिक शाश्वत धर्म दोनों का समानरूप है। ज्ञानादि गुण भी दोनों के समानरूप हैं। अरिहंत—सिद्ध परमात्मा के ज्ञानादि गुण निरावरण अवस्था में संपूर्ण शुद्ध स्वरूप में प्रकट हैं। जबकि वे ही और वैसे ही ज्ञानादि आत्म गुण मेरे में भी हैं। भिन्नता सिर्फ इतनी ही है कि वे कर्मावरण से आच्छन्न—ढके हुए—दबे हुए हैं परन्तु सत्ता में हैं सही। इसमें कोई संदेह नहीं है। अब परमात्म स्वरूप का शुद्ध रूप, पूर्ण रूप ज्ञान एवं ध्यान दोनों से देखकर, जानकर, समझकर मैं मेरे अपूर्ण—अधूरे स्वरूप को उनके समकक्ष पूर्ण रूप प्रगट करने के लिए, ध्यानधर्म की उपासना कर रहा हूँ। अब मेरा आत्म धर्म यही है कि मैं मेरे कर्मावरणों का सर्वथा समूल क्षय करूँ, नष्ट करूँ और अपनी आत्मा के ज्ञानादि सभी गुणों की पूर्णता की कक्षा को प्राप्त कर लूँ। द्रव्यत्व जाति से आत्मा के रूप में तो समानता परमात्मा के साथ है ही, और गुणरूप में भी मैं परमात्मा के समकक्ष हो जाऊँ। बस, फिर तो... मैं पर्याय से ही भिन्न हूँ। सिद्ध की पर्याय त्रिकाल स्थिर पर्याय है जबकि एक संसारस्थ होने के नाते मेरी पर्याय अस्थिर—अस्थायी है। बस, मैं भी एक दिन सिद्ध बन जाऊँ ताकि सदा के लिए संसार की, इस शरीर की जेल से, कर्मों के बंधन से मुक्त होकर शाश्वत—मुक्तिधाम में सदा के लिए स्थिरात्मपर्याय में स्थित हो जाऊँ। बस, फिर तो अनन्तकाल तक स्थिरता ही स्थिरता पूरी बनी रहेगी। अब संपूर्ण अशरीरी, अकाल—अकर्मो स्थिति सदा काल बनी रहेगी। जो अविनाशी है, अपरिवर्तनशील है।

बस, इसीलिए तो मैं ध्यान कर रहा हूँ। ध्यान ही एक ऐसी सर्वोच्च एवं चरम कक्षा की साधना है जिसमें मैं परमात्मा को ध्येय बनाकर एकरूप—एकरस बन सकता हूँ। परमात्मा की पूर्णता सर्वज्ञता को देखते हुए मैं मेरी अपूर्णता और अल्पज्ञता को बदलकर, प्रभु के जैसा पूर्णरूप—सर्वज्ञ बन सकूँगा। ध्येयाकारता प्राप्त करनेवाली प्रक्रिया ध्यान है। अतः ध्याता—ध्येय और ध्यान तीनों एकरूप हो जाय, बस, अब अभेद रहने ही न पाए ऐसी यह ऊँची साधना है। इसीलिए कहते हैं—

सोऽयं समरसीभावस्तदेकीकरणं मतम् ।

आत्मा यदपृथक्त्वेन लीयते परमात्मनि ॥ १०/४ ॥

यह वही है इस प्रकार का समरसीभाव—समानरसभाव का एकीकरण, एकत्वमत की प्राप्ति, अपृथक्—अभेदभाव से अपनी आत्मा—परमात्मा में लीन हो जाती है ।

इस तरह पिण्डस्थ—पदस्थ—रूपस्थ और रूपातीत की कक्षा के इन चारों प्रकार के ध्यान में क्रमशः आत्मा उत्तरोत्तर प्रगति साधती है ।

उत्तरोत्तर प्रगति के चढ़ते सोपान के क्रम से इन चारों ध्यानों को ध्याता हुआ साधक साध्य की प्राप्ति की दिशा में अग्रसर होता है । इसी तरह विकास साधता हुआ ध्याता स्वयं एक दिन ध्येयरूप बन जाता है । ध्येय स्थान पर आरूढ होता है । अब वह ध्याता नहीं रहता है । जैसे इलिका भ्रमरी के ध्यान से एक दिन भ्रमरीपने को प्राप्त हो जाती है, जैसे एक दिन नोकर—मालिक बन जाता है । उसी तरह ध्यान की बलवत्तर साधना से ध्याता—साधक एक दिन भक्त से भगवान बन जाता है । यही ध्यान का सर्वश्रेष्ठ यां चरम फल है ।

ध्यानरूप भक्ति—

भक्त और भगवान के बीच में सेतु भक्ति का बना हुआ है । इसलिए भक्ति ध्यानरूप बननी चाहिए । भक्ति भगवान को ही लक्ष्य बनाकर चलनी चाहिए । भगवान को प्राप्त करने की, पहचानने की, दर्शन करने की, उनमें लीन होने की प्रक्रिया भक्ति में होनी चाहिए । अतः आदर्शभूत ऐसी भक्ति इन चारों ध्यानों का सम्मिलित स्वरूप होनी चाहिए । भक्ति के माध्यम से सामान्य भक्त ध्यान का विश्लेषणात्मक स्वरूप न जानते—समझते हुए भी उन कक्षा के ध्यान के भावों को स्पर्श लेता है । ध्यान की कक्षा का रसास्वाद कर लेता है । इसलिए भक्ति भी आदर्श ऊँची प्रक्रिया है । सालंबन के रूप में परमात्मा सामने बिराजमान है । और ज्ञानरूप से उनकी महिमा गाते गाते प्रभु का परिचय कराती है । अब अपनी आत्मा उनमें लीन—तल्लीन होनी चाहिए । अवधूतयोगी आनन्दघनजी, पू. देवचन्द्रजी, चिदानन्दजी, पू. उपाध्यायजी यशोविजयजी आदि महापुरुषों ने भक्तिगीत रूप

स्तवनों की इतनी अनोखी रचनाएँ की हैं कि मानों अपने अनुभव का सारा खजाना ही उन स्तवनों में खोल दिया हो। निचोड़ दे दिया है। स्तवनों के माध्यम से ज्ञानपूर्ण ध्यान की प्रक्रिया सिखा दी है। साधक परमात्मा को और साथ ही स्वयं अपनी आत्मा को भी पहचान ले, तथा दोनों के बीच के भेद को समझकर—अभेद साध्य की तरफ अग्रसर हो सके। अतः तल्लीन करनेवाले ऐसे उन भक्ति साधक योगियों के स्तवनों के रहस्यों को समझकर हम भी उसका रसास्वाद करें।

एवं चतुर्विधध्यानामृतमग्नं मुनेर्मनः ।

साक्षात्कृतजगत्तत्त्वं विद्यते शुद्धिमात्मनः ॥ १७८ ॥

ध्यानदीपिकाकार कहते हैं कि— इस तरह पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत की कक्षा के इन चारों धर्मध्यान, सद् या शुभ ध्यानों के ध्यानामृत में मुनियों को अपने मन को मग्न—लीन कर देना चाहिए। जिससे जगत् में सारभूत तत्त्व का यह ध्यानस्थ मन साक्षात्कार कर लेगा। निर्मल चिन्ता में यह सामर्थ्य है। यही आत्मा की शुद्धता प्रकट करती है और क्रमशः शाश्वत पद भी प्राप्त कराता है। निर्मल चित्त ही आत्मा में प्रवेश कराता है। ऐसे ध्यान से ही आत्मा में शान्ति आती है। ध्यान से चित्त में निर्मलता आती है। आत्मा स्वरूप में मस्ती का रसास्वाद करती है।

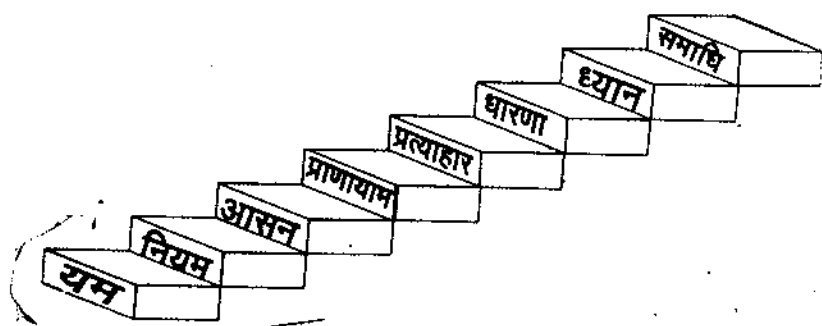
योगांग—अष्ट—

अष्टांग योग की व्याख्या तथा आवश्यकता पतंजलि जैसे योगी महात्मा ने “पातंजल योग—दर्शन” में की है। तथा इस ग्रन्थ की टीका—विवेचना करते हुए महामहोपाध्यायजी श्री यशोविजय जी महाराज ने भी अत्यन्त सुंदर कक्षा की की है। मन को साधने के लक्ष्य को लेकर अष्टांग योग की प्रक्रिया को समझाया गया है। योग के ८ अंग इस प्रकार दर्शाए हैं— १) यम, २) नियम, ३) आसन, ४) प्राणायाम, ५) प्रत्याहार, ६) धारणा, ७) ध्यान, और ८) समाधि।

यम-नियमासनेबंधं प्राणायामेन्द्रियार्थसंवरणम् ।

ध्यानं-ध्येय-समाधि-योगाष्टांगानि चेति भजः ॥ १८ ॥

इन ८ योगांगों में उत्तरोत्तर क्रमशः चढ़ते क्रम से आगे बढ़ा जाता है।



यम से प्राणायाम तक के चार भाग कायिक प्रधानतावाले हैं, और प्रत्याहार से समाधि तक के शेष चार मनोयोग की प्रधानतावाले हैं। इस अष्टांग योग के महल में प्रवेश करने का द्वार—यम है। यम—नियम अंगीकार करके ही आगे के अंगों में प्रवेश करना चाहिए। योगशास्त्र में जैसा है उसी क्रम से सुव्यवस्थित रीति से आचरण करने पर ही सही विकास होता है। वर्तमान युग में कई ऐसी विचारधारावाले हैं कि यम—नियम पालने की कोई आवश्यकता ही नहीं है— बस, सीधे ही... आसन—प्राणायाम ही करले और समाधि में पहुँच जाएँ। इन ८ अंगों में वर्तमान काल में ८० फीसदी लोग सिर्फ आसन का ही अभ्यास ज्यादा करते हैं। यही पसंद करते हैं। क्योंकि वे इसे एक प्रकार का शारीरिक व्यायाम मानकर शरीर की सुदृढ़ता के लिए विशेष उपयोगी समझकर भिन्न—भिन्न आसन सब कर लेते हैं। लेकिन यम—नियम क्या है इनका नाम मात्र भी संबंध नहीं रखते हैं। आगे प्राणायाम का आचरण करनेवाले भी २०% मिल जाते हैं। प्राणायाम भी शारीरिक लाभकारक है। उस तरह आसन और प्राणायाम दोनों को ही रोगनिवारक और स्वस्थता का लाभकारक मान कर वर्तमान काल में उपयोग करनेवाले सैंकड़ों लोग हैं, परन्तु आसन चित्त की स्थिरता के लिए भी है, और प्राणायाम भी चित्त को एकाग्र करने के लिए है यह लक्ष्य ही नहीं है। अतः जैसे प्राण निकल जाने के पश्चात् मृत शरीर को पालना—पोसना कैसा लगता है ठीक उसी तरह ध्यान के सहायक, चित्त की एकाग्रता करनेवाले ये आसन—प्राणायाम अंग हैं। इनका विचार मात्र भी न करते हुए, इस तरह लक्ष्यविहीन शारीरिक लाभ का विचार मात्र करके आचरण करना यह कहाँ तक लाभकारी सिद्ध होगा ?

क्या यम—नियम भी चित्त की एकाग्रता और ध्यान समाधि के लिए उपयोगी सिद्ध होते हैं कि नहीं ? इसके उत्तर में स्पष्ट कहते हैं कि... यम के विरुद्ध अयम तथा नियम के

भी विपरीत अनियम का आचरण करने से जीव का गमन विपरीत दिशा में होता है। यम नियम से विपरीत चलने पर पापों का आचरण होता है। और पापों के आचरण से मन विक्षुब्ध होता है। मन में उद्वेग आदि सब शुरू हो जाते हैं, बढ़ते ही जाते हैं। परिणामस्वरूप चित्त की समाधि के भाव टूट जाते हैं। अशान्ति और तनाव मन में बढ़ते जाते हैं। फिर आसन प्राणायाम से हजार प्रयत्न करने पर भी चित्त स्थिर नहीं हो पाता है। परिणाम स्वरूप अस्थिरता, अशान्ति बढ़ती ही जाती है। अतः यम—नियम अत्यन्त उपयोगी अंग हैं, उनकी उपेक्षा निष्फलता का सबसे बड़ा कारण है। जैसे किसी बच्चे को पाठशाला में अ—ब—क तथा १, २ की गिनति ही न सिखाई जाय और सीधे ही यदि १० वी कक्षा में बैठा दिया जाय तो वह क्या कर पाएगा? वह जीवन में सदा ही निष्फल जाएगा। ठीक इसी तरह यम—नियम का अनाचारी आगे किसी भी प्रकार की सफलता नहीं पा सकता। सर्वथा निष्फल रहेगा।

१) यम का स्वरूप—

तत्राहिंसा सत्यास्तेय-ब्रह्मापरिग्रहश्च यमाः ॥ ३/६ ॥

अध्यात्म तत्त्वालोक में १) अहिंसा, २) सत्य, ३) अस्तेयवृत्ति, ४) ब्रह्मचर्य, ५) अपरिग्रह ये ५ यम बताए हैं। आप अच्छी तरह जानते ही हैं कि... संसार में सबसे बड़े मुख्य ५ प्रकार के पाप हैं। सभी धर्मों, सभी धर्मशास्त्रों एवं सभी भगवानों ने भी जिनको महापाप कहा है वैसे— १) हिंसा, २) झूठ, ३) चोरी, ४) अब्रह्म = मैथुन सेवन और ५) परिग्रह— अति संग्रह। याद रखिए, समस्त पापों की जड़ें ये हैं। सब पापों के केन्द्र में ये ५ मुख्य हैं। ऐसे पाप करने से मन विक्षुब्ध, चिन्ताग्रस्त रहता है। अतः इन पापों का सर्वथा त्याग करना ही चाहिए। उदाहरणार्थ झूठ बोलने से मन कितना विक्षुब्ध रहता है? वर्षों तक वह याद आता है। वैसा ही हिंसा के कारण भी होता है। इसलिए इन पापों से त्रस्त मन साधना में कैसे प्रगति करेगा? अतः महान योगियों ने ध्यान—योग की साधना में प्रवेश करने के लिए सबसे पहले यम को प्रवेश द्वार बताया है। अतः १) अहिंसा—सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन ५ यमों का पालन करना ही चाहिए। वही साधक सच्चा साधक बन सकता है और आगे साधना में प्रगति कर सकता है। इन यमों को ही ५ व्रत भी कहा है। श्रावक के लिए ये अणुव्रत हैं, और साधु सन्तों के लिए ये ही पाँचों महाव्रत कहे जाते हैं। वर्तमान काल में इन ५ का तो क्या एक यम का भी कोई ठिकाना नहीं रहता है और सीधे ध्यान करके ध्याता बनना है। ऐसे ध्याता पर कितना विश्वास रखा जाय? और ऐसे अपने आपको समाधिस्थ बताते हैं।

२) नियम—

शौचं संतोषश्च तपः स्वाध्यायः प्रभुचिन्तनं नियमाः ॥

शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान अर्थात् प्रभुचिन्तन करना ये ५ नियम के रूप में हैं। शौचादि नियम की आराधना से साधक को वैराग्य भावना, ममत्व त्याग, सत्त्वबल, मानसिक उत्थास, एकाग्रता, इन्द्रियजय, तथा आत्मस्वरूप को देखने में योग्यता प्राप्त होती है। संतोष से उत्तम सुख, स्वाध्याय से इष्ट देव दर्शन, तप से भिन्न-भिन्न प्रकार की सिद्धियाँ, लब्धियाँ तथा ईश्वर प्रणिधान—प्रभुचिन्तन से समाधि (धर्मध्यान) की अवस्था प्राप्त होती है। इसलिए यम—नियम को प्रथम स्थान योगांगों में दिया है। यम—नियम की स्थिरता के बाद ही साधक आसनादि में स्थिरता ला सकता है।

३) आसन—

आत्मजिज्ञासु साधक समाधि सिद्धि के लिए गोदोहिकासन, उत्कटिकासन, वीरासन, पर्यकासन, सुखासन आदि आसनों से कायोत्सर्ग करते हैं।

पर्यकवीरवज्राब्जभद्रदण्डासनानि च ।

उत्कटिका गोदोहिकाकायोत्सर्गस्तथासनम् ॥ ४/१२४ ॥

पद्मासन, वीरासन, वज्रासन, भद्रासन, दण्डासनादि, उत्कटिकासन, गोदोहिकासनादि विविध प्रकार के आसनों तथा कायोत्सर्गमुद्रा आदि आसनों में स्थिर रहकर ध्यानादि करना चाहिए। वैसे विविध प्रकार के ८४ आसन बताए गए हैं। लेकिन ध्यान—साधना के लिए जो निर्धारित आसन हैं वे ही उपयोगी हैं, जिसमें सुखासन की स्थिति रह सके वही श्रेयस्कर है।

४) प्राणायाम—

आयाम शब्द विस्तार अर्थ में है। प्राण + आयाम = प्राणायाम। प्राणवायु को विस्तरित करना—फैलाना दीर्घ करना यह प्राणायाम है। जिसमें दीर्घ श्वास—लम्बी श्वास लेना फिर कुछ काल तक रोकना, फिर धीरे धीरे छोड़ना। इस तरह पूरक—कुंभक और रेचक की प्रक्रिया से प्राणायाम किया जाता है। प्राणायाम मन को एकाग्र करने में, निर्विचार स्थिति साधने के लिए उपयोगी सिद्ध होता है। प्राणवायु के आनापान की प्रक्रिया को नासाग्र दृष्टि लगाकर एकाग्रतापूर्वक देखते रहने से भी विचारधारा को रोकने एवं मन की स्थिरता साधने में काफी अच्छी मदद मिलती है। वैसे द्रव्य प्राणायाम और भातप्राणायाम

दोनों प्रकारों से साधना होती है। मुख्यतः आन, व्यान, प्राण, उदान, समानादि पाँच प्रकार के प्राण होते हैं। भ्रामरी आदि भी कई प्रकार के प्राणायाम दर्शाए गए हैं। वैसे पूरक—कुंभक—रेचक के भेद से इसे ३ का भी दर्शाया है। तथा इन ४ के साथ १) प्रत्याहार, २) सान्त, ३) उत्तर, और ४) अधर के साथ मिलाने पर ७ प्रकार भी होते हैं। योगशास्त्र में हेमचन्द्राचार्यजी म. प्राणवायु और मन दोनों को एक साथ समानान्तर बताते हुए कहते हैं कि—

मनो यत्र मरुतत्र मरुद्वत्र मनस्ततः ।

अतस्तुल्यक्रियावेतौ संवीतौ क्षीरनीरवत् ॥ ५/२ ॥

जहाँ मन हो वहाँ वायु और जहाँ वायु हो वहाँ मन इस तरह व्याप्ति संबंध से साथ रहते हैं। अतः मन को साधने के लिए वायु को साधना लाभकारी है। इससे मन यथाशीघ्र साधा जा सकता है। जैसे दूध में पानी और पानी में दूध मिले हुए—घुले हुए साथ मिश्रित—संमिश्रित रूप से रहते हैं ठीक वैसे ही मन और वायु भी तुल्य—समान क्रियावाले साथ ही रहते हैं। मन के लिए वायु सीढ़ी की तरह सहयोगी है। अतः प्राणायाम की साधना मन को साधने में काफी अच्छी सहयोगी—उपयोगी है।

प्राणायाम की इतनी उपयोगी साधना होते हुए भी मोक्ष प्राप्ति में यह पर्याप्त हेतुरूप नहीं है। ऐसा योगशास्त्र में स्पष्ट निरूपण किया है। बात भी सही है—प्राणायाम तो कोई प्रथम गुणस्थानवर्ती मिथ्यात्वग्रस्त जीव भी कर सकता है। क्योंकि यह तो मात्र बाह्य शारीरिक प्रक्रिया है। मोक्ष के लिए बीजभूत तो सम्यग् दर्शन—ज्ञान—चारित्र—तपादि अनिवार्य अंग हैं। इनकी प्राप्ति से ही मोक्ष सुलभ हो सकता है। हजारों साल तक प्राणायाम करते रहने पर भी सम्यग् दर्शन होना संभव नहीं है। इसलिए साधक को आत्मिक संपत्तिरूप सम्यग् दर्शनादि प्राप्त करना अनिवार्य है। बाह्य दृष्टि से मन की एकाग्रता के लिए प्राणायाम उपयोगी जरूर है, लेकिन मन को साधने मात्र से कोई क्या करेगा? साधे हुए स्थिर किये हुए मन को कहाँ—किसमें लगाएगा? अतः साध्यतत्त्व तो कर्मक्षयादि है जो निर्जरा से साध्य है। और निर्जरा के लिए संवर तथा संवर के लिए धर्माचरण करना, तथा धर्म में सम्यग् दर्शन—ज्ञानादि साध्य है। धर्म दर्शनादिमय है।

५) प्रत्याहार—

इन्द्रियैः सममाकृष्य विषयेभ्यः प्रशान्तधीः ।

धर्मध्यानकृते तस्मान्मनः कुर्वीत निश्चलम् ॥ ६/६ ॥

संज्ञि पंचेन्द्रिय मनुष्यों को ५ इन्द्रियाँ मिली हैं। इन ५ इन्द्रियों से मन सर्वथा भिन्न अलग से अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखता है। अतः यह अतीन्द्रिय है। पाँचों इन्द्रियाँ जो अपने २३ विषय वर्ण—गंध—रस—स्पर्श—शब्द को ग्रहण करती हैं मन उनमें आसक्त बनकर भौर की तरह रसास्वाद करता रहता है। ऐसे मन को इन्द्रियों के समग्र विषयों से हटाकर स्वस्वरूप में रममाण कराना, कछुए की तरह इन्द्रियों का गोपन करना, रागद्वेषादि भावों से रहित होकर समभाव को प्राप्त करनेपूर्वक ध्यानतंत्र में स्थिरस्वरूपना ही प्रत्याहार है।

६) धारणा—

ध्येयवस्तुनि संलीनं यन्मनोऽज्ञैर्विधीयते।

परब्रह्मात्मरूपे वा गुणिनां सद्गुणेष्वपि ॥ १०३ ॥

अर्हदाद्यंगरूपं वा, भाले नेत्रे मुखे तथा।

लये लग्नं मनो यस्य, धारणा तरस्य संमता ॥ १०४ ॥

ध्यान करनेलायक केन्द्र, आलंबनभूत आधार परब्रह्मरूप आत्मस्वरूप परमात्मस्वरूप, उनके गुण गुणी पुरुषों के सद्गुणों तथा अरिहंतादि पंच परमेष्ठियों के विषय में अथवा साधक स्वयं अपने ही ललाट—आज्ञा चक्र, नेत्रयुग्म, मुखकमल, चक्रों धूमध्य, नाभी, हृदयकमल, नासाग्रदृष्टि आदि स्थानों—केन्द्रों पर अपने मन को लीन करे, लय करे उसे धारणा कहते हैं। इसे ध्यानस्थान कहते हैं।

७) ध्यान स्वरूप—

(ध्यान की व्याख्या तथा काफी विचारणा पहले कर चुके हैं वहाँ से समझने का प्रयत्न करें।)

८) समाधि—

या धारणाया विषये च प्रत्ययैकतानताऽन्तःकरणस्य तन्मयम्।

ध्यानं समाधिः पुनरेतदेव हि स्वरूपमात्रप्रतिभासन मतः ॥ ३/१२८ ॥

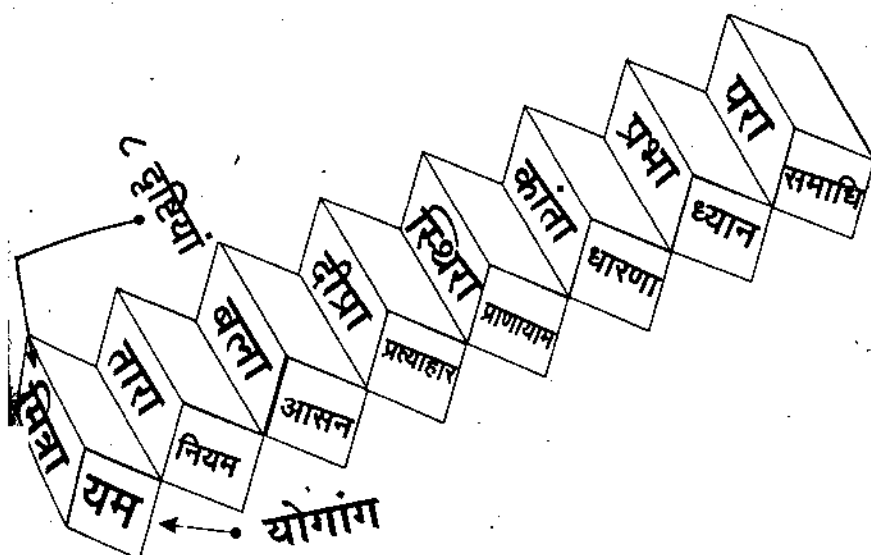
ध्यान जब स्वरूपमात्रनिर्भास की स्थिति में पहुँचता है तब उसे समाधि कहते हैं। ध्यान में ध्यानाकार वृत्ति होती है। उससे नष्ट होते ही वह ध्यान विशेषदर्शक “समाधि” के नाम से पहचाना जाता है। परम और चरम समाधि की अवस्था शुक्लध्यान के ३ रे,

४ थे प्रकार में प्राप्त होती है। ध्याता, ध्येय और ध्यान सबकी एकात्मकता, अभेदावस्था समाधिभाव है।

इस तरह अष्टांग योग की अद्भुत-अनोखी प्रक्रिया है। पातंजलि ने योग दर्शन में निर्देश किया है उन सूत्रों पर महामहोपाध्यायजी श्री यशोविजयजी म. की सुंदर टीका है। उसका पठन-मनन साधकों को अवश्यरूप से करना ही चाहिए। अष्टांग योग का सुंदर शुद्धस्वरूप समझकर एक-एक अंग को समझकर क्रमशः प्रथम-प्रथम अंग को अच्छी तरह पूर्ण स्वरूप से स्वीकार करके, जीवन में उतारकर फिर आगे-आगे के अंगों में प्रवेश करना चाहिए।

योगांग ८ और ८ दृष्टियों की समानता—

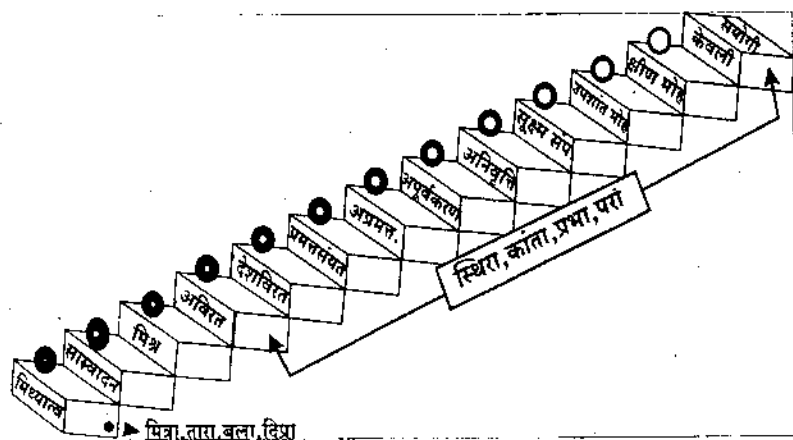
पहले जिनका वर्णन कर चुके हैं उन आठ दृष्टियों की जैन योग साहित्य में विशेष महिमा वर्णित की गई है। यहाँ दृष्टि शब्द आत्मा के ज्ञान प्रकाश-बोध की सूचक है। अतः पारिभाषिक शब्दप्रयोग निर्धारित अर्थ में है। इन ८ दृष्टियों को अष्टांग योग के ८ भेदों के साथ तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करने पर काफी अच्छी समानता दिखाई देती है। निम्न तालिका बाकी है। उसे समझना आसान रहेगा।



आठों दृष्टियों का स्वरूप—व्याख्या, तथा अष्टांगयोग की भी व्याख्यादि का सुंदर स्वरूप आपने पढ़ा, समझा, और अभ्यास अच्छी तरह किया हो तो जरूर से दोनों का तुलनात्मक अभ्यास करिए। फिर दोनों में समानता कितनी है इसका अच्छी तरह ख्याल आएगा। योगांगों में भी जैसे यम—नियम से क्रमशः क्रमिक विकास होता है ठीक उसी तरह मित्रा दृष्टिवाले जीव का प्रकाश आत्मबोध तृणाग्निरूप मात्र है। एक घास का तिनका जले उससे क्या प्रकाश फैलेगा? क्या बोध होगा? फिर भी अंशमात्र भी गिना है। ठीक उसी तरह महापापों में से बचाकर पहले ५ यम में लाया जाता है साधक को। दृष्टियाँ आत्मबोधक हैं। आत्मज्ञानरूप प्रभा का प्रकाश कितना प्रगट हुआ उसका बोध कराती है। इसलिए आठों दृष्टियों के भिन्न भिन्न प्रकाश की उपमा के लिए आठ दृष्टान्त दिये गए हैं। यह प्रकाश अपने द्रव्य—क्षेत्रादि का क्रमशः विस्तार करता है। अतः आठों में क्रमशः बोध—प्रकाश बढ़ता जाता है। ठीक उसी तरह योगांगों में प्रथम—यम—नियम जो कि अभी कुछ भी योग प्रक्रिया सिखाते नहीं हैं परन्तु योग की योग्यता, पात्रता जरूर निर्माण करते हैं। आसन साधक को स्थिरता सिखाता है। बला दृष्टि में आते आते बाह्य स्थिरता शुरू होती है। और ४ धी दीप्रा में सम्यक् दर्शन पाने की पूर्वभूमिका बनने के पश्चात् ५ वी स्थिरा दृष्टि में जीव सम्यक् दर्शन प्राप्त करता है। इसी तरह यम से प्राणायाम तक के चारों योगांग देहप्रधानता बाह्य लक्षवाले थे। अब प्रत्याहार में आने के बाद वैराग्य—विरागता—विषयविमुखता बढ़ी। तब जाकर मन शुद्ध एवं स्थिर होने लगा। कलुषितता कम होने लगी। चित्त शुद्धि के साथ साधक ध्यानयोग्यता प्राप्त करने लगा। दीपक की लौ स्थिर होने लगी। दीपक की प्रभा से अब प्रकाश स्थिर होने लगा। इसलिए स्थिरा दृष्टि में आकर रत्नप्रभा का प्रकाश बन गया। रत्न की प्रभा का प्रकाश दीपक की अपेक्षा हजार गुना ज्यादा स्थिर हो जाता है। बस, स्थिरता चित्त को और आगे बढ़ाती है। एक तरफ चित्त शुद्ध भी बन गया हो, दूसरी तरफ स्थिर भी बन गया... बस, फिर क्या चाहिए? आगे धारणा में प्रवेश किया और कांता दृष्टि का ताराओं के जैसा प्रकाश बढ़ा। यहाँ तक ध्यान की पूर्व तैयारियाँ थी। अब साधक—ध्याता की योग्यता—पात्रता निर्माण हो चुकी है। इसके पश्चात् साधक ७ वे ध्यान के योगांग में प्रवेश कर लेता है। वहाँ ध्येय को ध्यानाकार बनाता है। और एकाग्रता क्रमशः बढ़ते बढ़ते आगे के सोपान में ध्याता ही ध्येयाकारता अनुभव करता है। ध्येयरूप बने हुए ध्याता में प्रभा दृष्टि में सूर्यप्रकाशवत् प्रकाश फैलता है। और अन्त में ध्याता, ध्येय और ध्यान तीनों की एकाग्रता बढ़ने पर... एकात्मता अभेदावस्था आने पर अन्त में आठवाँ योगांग—समाधि प्राप्त

होती है। अन्तिम आठवीं परा दृष्टि का चन्द्रवत्, सौम्य—शीतल—शान्त प्रकाश फैलता है। साधक चरम कक्षा में पहुँचता है और आत्मविकास की पूर्णता को प्राप्त करता है। अन्त में शुद्ध—बुद्ध—मुक्त सिद्ध बनता है।

अष्टांगयोग में गुणस्थान विकास—



आठ दृष्टियों का ८ अष्टांग योगांगों के साथ १४ गुणस्थानों के विकास का क्रमशः ब्यार करना चाहिए। गुणस्थानों का पूरा आधार इन आठ दृष्टियों के विकास पर अवलंबित है। तथा अष्टांग योग पर भी अवलंबित है। गुणस्थान रेलगाड़ी—ट्रेन के स्थान पर आधारभूत है। आत्मविकास की मापक ये ८ दृष्टियाँ हैं, इसी तरह अष्टांग योग भी क्रमिक आध्यात्मिक विकास के द्योतक हैं। मित्रा प्रथम दृष्टि मिथ्यात्व गुणस्थान की सूचक है। मिथ्यात्वी जीव की जो अज्ञानता, विपरीत विकृत ज्ञानदशा जैसी होती है वही—वैसी मित्रा दृष्टिवाले जीव का तृणाग्नि बोध मात्र होता है।

मिथ्यात्व क्रमशः मन्दतम होता ही जाय और धीरे धीरे एक—एक दृष्टि खुलती ही जाय उस हिसाब से आत्मा का ज्ञान प्रकाश भी बढ़ता ही जाएगा। इसलिए मिथ्यात्व, सा० और मि० तीनों गुणस्थान प्रथम की ३, ४ दृष्टि तक स्थित रहेंगे। स्थिरा दृष्टि से ४

था सम्यक्त्व का गुणस्थान आया। फिर ५ वां देशविरति गुणस्थान आया। इस तरह छठे गुणस्थान पर साधु बन जाने पर भी मुश्किल से छट्टी कान्ता दृष्टि आयी। आगे ७ वें गुणस्थान पर अप्रमत्त बनकर आत्मबोध बढ़ाने पर कान्ता से आगे बढ़ेगा। ८, ९, १०, ११, १२ गुणस्थान सभी ६, ७ दृष्टि पर हैं। १३ वे गुणस्थान पर ७ वीं, ८ वीं दोनों दृष्टियों का प्रकाश पूर्णरूप से विकसित हो जाता है। अतः १३ वे गुणस्थान पर केवली सर्वज्ञ तीर्थंकर परमात्मा सूर्यचन्द्रवत् तेजस्वी प्रकाशमान है। इसीलिए कहा है कि—

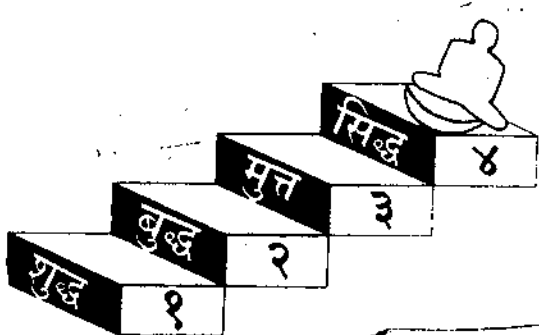
चन्द्रेषु निम्नलयर, आइच्चेसु अहियं पयासयरा ।

सागरवर गंभीरा, सिद्धा सिद्धि मम दिसंतु ॥

चन्द्र शब्द और सूर्य शब्द दोनों में बहुवचन का प्रयोग करने से १ चन्द्र या १ सूर्य ग्रहण करना अभिप्रेत नहीं है। अतः बहुवचन से अनेक चन्द्र अनेक सूर्य अभिप्रेत हैं। १३ वे गुणस्थान पर ७ वी प्रभा दृष्टि का बोध सूर्यप्रभावत् है, तथा ८ वी दृष्टि—परा का बोध चन्द्रप्रभावत् है। दोनों दृष्टियाँ पूर्णतः संपूर्णरूप से प्रकाशित हो चुकी हैं। अतः बोध प्रकाश अनेक चन्द्रों से भी ज्यादा है। अतः त्रिलोकीश सर्वज्ञ प्रभु अनेक चन्द्रों से भी ज्यादा निर्मल, शीतल, शान्त है। तथा अनेक सूर्य से भी अधिकाधिक तेजस्वी—प्रकाश फैलानेवाले है। केवलज्ञान से प्रभु लोकालोक व्यापी है तथा अनन्त—द्रव्य—गुण—पर्याय के प्रकाशक है। तथा समुद्रों में जो अन्तिम स्वयंभूरमण समुद्र से भी ज्यादा जो गंभीर है। ऐसी महान गंभीरता के धारक है। इस तरह दृष्टियाँ संपूर्ण हो गईं। दृष्टियों की दृष्टि से विकास पूर्ण हो गया। गुणस्थानों की दृष्टियों से भी आत्मा का विकास पूर्ण हो रहा है। तथा योगांगों की दृष्टि से भी अष्टांगयोग में अन्तिम समाधि भाव भी प्राप्त है। यह समाधि शुक्लध्यान के ३, ४ थे चरण में है। १३ वे गुणस्थान पर आरूढ सयोगी केवली भगवान् पूर्ण शुक्लध्यानी है। अतः पूर्णध्यानी है। पूर्णदृष्टि है। पूर्ण गुणवान् है। आत्मा के विकास की दिशा में पूर्ण विकसित है। चरम कक्षा की पूर्णता प्राप्त की है। ऐसे पूर्ण योगी पूर्णरूप परमात्मा परबह्यरूप है। १४ वे गुणस्थान के पश्चात् तो सिद्ध—बुद्ध बन जाते हैं।

शुद्ध-बुद्धादि में विकास—

इन संक्षिप्त स्वरूप के शब्दों का भी हम नियमित रूप से भाषा में प्रयोग करते ही हैं। परन्तु साधना की दृष्टि से देखने पर इनमें भी गुणस्थानों की क्रमशः विकास की प्रक्रिया स्पष्ट दिखाई देती है। अशुद्ध अवस्था में अनन्त जीव अनन्तकाल तक इस संसार चक्र में परिभ्रमण करते ही रहते हैं। अशुद्ध अवस्था यही मिथ्यात्व की कक्षा है। मिथ्यात्व में



परिभ्रमण अनन्तकालिक है। अतः इसका क्या विचार किया जाय ? हाँ, जब जीव शुद्ध की भूमिका में प्रवेश करता है... तब सम्यग् दर्शन प्राप्त करके विकास की सीढ़ि के सोपान चढ़ते चढ़ते क्रमशः साधक आगे बढ़ता है। इसमें भी शुद्ध से शुद्धतर, शुद्धतम, शुद्धातिशुद्ध, भूमिका प्राप्त करता हुआ अग्रसर होता है। प्रथम सम्यग् दर्शन प्राप्त करके जीव जितना शुद्ध हुआ था उससे भी आगे बढ़कर ५ वे, ६ ठे गुणस्थान पर व्रत—विरति को पाकर शुद्धतर हुआ। फिर अप्रमत्त भाव ७ वे गुणस्थान को पाकर शुद्धतम कक्षा पाता है। फिर ८ वे गुणस्थान से अपूर्वकरण करता हुआ आगे चढ़कर शुद्ध—अत्यन्त शुद्ध—अतिशय शुद्ध—शुद्धातिशुद्ध बनता हुआ क्रमशः ८—१०—१२ गुणस्थान पर आरूढ़ होता हुआ आगे बढ़ता है। अन्तिम शुद्धता की कक्षा १२ वे गुणस्थान के अन्त में पाकर १३ वे गुणस्थान पर प्रवेश करते ही संपूर्ण वीतरागता प्राप्त कर लेता है। आत्मा पर मोहनीय कर्मजन्य राग—द्वेषादि के कारण ही पूरी अशुद्धि थी वह निकल जाती है और चेतनात्मा पूर्ण शुद्ध बन जाती है। इस तरह पूर्ण शुद्ध बनकर १३ वे गुणस्थान पर बुद्ध बन जाती है। बोध शब्द ज्ञानवाचक है। बुद्ध सर्वज्ञतासूचक है। आत्मा १३ वे गुणस्थान पर आरूढ़ होकर केवली सर्वज्ञ बन जाती है। वही कक्षा बुद्ध की है। इसलिए बुद्ध की पूर्णता १३ वे गुणस्थान पर प्राप्त होती है। बस, इसके बाद काययोगादि से मुक्त होगा। कर्म के बंधन से मुक्त होगा। जन्म—मरण के चक्र से मुक्त होगा। १४ वे गुणस्थान पर आरूढ़ होकर संसार से सदा के लिए मुक्त होगा। ऐसा मुक्त जीव सिद्ध कहलाएगा। इसलिए सिद्धावस्था यह विकास की चरमकक्षा है। बस, विकास का भी अन्त सिद्ध बनने पर आ जाता है। अब मुक्त होकर सिद्ध बना हुआ सिद्ध जीव सिद्धशिला के ऊपर लोकाग्र भाग में स्थिर बन जाता है। अब कुछ भी वहाँ करना नहीं रहता है। मात्र स्वयं अपने जो गुण अनन्त स्वरूप में प्राप्त कर लिए हों उन अनन्तता में अनन्त काल तक मस्ती में रहना है। इस तरह इन ४ शब्दों से भी विकास की प्रक्रिया अच्छी तरह समझी जा सकती है।

भावनायोग—

अध्यात्म योग का पूरा आधार भावनायोग है। योगबिन्दु में औचित्ययुक्त आचरण अर्थात् उचित प्रवृत्ति, व्रत—महाव्रतादि युक्त साधना, साधक का मैत्र्यादि भाव प्रधानता सहित जिनागमानुसारी तत्त्वचिन्तनादि को अध्यात्मयोग कहते हैं। ध्यान की व्याख्या करते हुए “तत्र ध्यानं चिन्ता—भावना पूर्वकः स्थिरोऽध्यवसायः” इस प्रकार का जो लक्षण दिया है उसमें भावनापूर्वक के स्थिर अध्यवसाय को ध्यान कहा है। अतः तत्त्वचिन्तन तथा भावना का विषय भी ध्यान के लिए अत्यन्त आवश्यक है। विचार तन्त्र की स्थिरता करनी है जिससे वह ध्यानरूप बने। बात सही है परन्तु कैसे विचार? अच्छे—बुरे सब प्रकार के विचार रहते हैं। यदि अशुभ खराब विचार ही स्थिर हो जाएंगे तो वह आर्त—रौद्र प्रकार का अशुभ ध्यान हो जाएगा। और यदि अध्यवसाय की धारा शुद्ध रही तो उनकी एकाग्रता पूर्वक की स्थिरता यह शुद्ध ध्यानकारक बनेगी। अतः विचारों को स्थिर करने के पहले उन्हें शुद्ध करना अत्यन्त आवश्यक है। विचारतन्त्र में अशुद्धि राग—द्वेष—क्लेश—कषाय—पापादि की प्रवृत्ति तथा चिन्ता आदि से आती है। जबकि अशुद्धि के कारण हटने पर तत्त्व चिन्तनादि की प्रक्रिया से तथा भावनाओं के आधार पर राग—द्वेषादि की मात्रा काफी कम होती है। जिन भावों को बार—बार घूटा जाय वे भावना बन जाते हैं। भावना भवनाशिनी कही जाती है। भव अर्थात् संसार। इस संसार का नाश करने का सामर्थ्य भावनायोग में अच्छा है। बाह्य जगत् का नाश नहीं लेकिन अपने ही मन में रहे हुए राग—द्वेषात्मक संसार को जरूर समाप्त करना ही चाहिए। अतः भावनाओं का आश्रय लेने से आन्तर मन में काफी अच्छा परिवर्तन आता है। ऐसी १२ भावनाएं विशेष रूप से अनेक ग्रन्थों में दर्शायी है। “अनित्या-शरण-संसारैकत्वान्यत्वाशुचित्वास्त्रव-निर्जरा-लोकबोधि-दुर्लभ-धर्मस्वाख्यातत्त्वानुचिन्तनमनु-प्रेक्षाः” ८/७। तत्त्वार्थ सूत्र में इन भावनाओं का अनुप्रेक्षा नामकरण करके इस तरह १२ बताई है। १) अनित्य भावना, २) अशरण भावना, ३) संसार भावना, ४) एकत्व भावना, ५) अन्यत्व भावना, ६) अशुचि भावना, ७) आस्त्रव भावना, ८) संवर भावना, ९) निर्जरा भावना, १०) लोकस्वभाव भावना, ११) बोधि दुर्लभ भावना, और १२) धर्मस्वाख्यातत्त्व भावना।

छद्मस्थ जीवों का चित्त निरंतर इतना ज्यादा स्थिर नहीं रह सकता है। इसलिए ध्यान की व्युत्थान दशा में सर्व पदार्थों की अनित्यता, संसार की अशरणता और विचित्रता, आत्म तत्त्व की एकता, पर द्रव्यों से अत्यन्त भिन्नता, शरीरादि पदार्थों की अपवित्रता—अशुचिता,

कर्मबंध की हेतुता, कर्मनिरोध की हेतुता, कर्मक्षय हेतुता, समस्त ब्रह्माण्डरूप संपूर्ण लोकक्षेत्र की विविधता, विचित्रता, बोधिदुर्लभता, तथा धर्मसाधक श्री अरिहंतादि पंचपरमेष्ठियों की प्राप्ति की दुर्लभता का स्वरूप चिंतन करना ध्यानसहायक है। इस तरह ध्यानाभ्यासी साधक चिन्ता (चिन्तन) तथा भावनाओं के आलंबन से ध्यानारंभ करता है। तथा पुनः ध्यान की समाप्ति के बाद पुनः अनित्यादि अनुप्रेक्षाओंनुं चिंतन करता है और यदि थोड़े विराम—विश्राम के पश्चात् पुनः ध्यान करने की इच्छा या उत्साह हो तो तद्विषयक चिंतन तथा भावनाओं का आलंबन लेकर पुनः ध्यान में प्रवेश कर सकता है। इस तरह ध्यान में प्रवेश के पूर्व, तथा ध्यान के पश्चात्, तथा दो ध्यान के अन्तराल काल में भी भावनाओं—अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करने का आलंबन लेकर ही साधक को आगे बढ़ना चाहिए। अनु + प्रेक्षा = अनुप्रेक्षा शब्द का प्रयोग उमास्वातिजी ने तत्त्वार्थ में किया है। अनु = अर्थात् पश्चात्—प्रेक्षा—निरीक्षण—ज्ञानयोग से चिन्तन करते हुए देखना। इस तरह अनुप्रेक्षा को चिन्तनात्मक प्रक्रिया बतायी है। अतः भावनाएं चिन्तनात्मक हैं। वैसे शान्तसुधारस आदि स्वतंत्र रूप से भावना विषयक स्वतंत्र विशिष्ट ग्रन्थ हैं (फिर भी मैंने शान्तसुधारस के ही आधार पर... “भावना भवनाशिनी” नामक स्वतंत्र पुस्तक लिखी है, उसमें से भावनाओं का स्वरूप विस्तार से अच्छी तरह समझकर साधक ध्यान साधना में आगे बढ़ें।) भावना विषयक अभ्यास के लिए ज्ञान का खजाना इस पुस्तक में काफी अच्छा है। प्रस्तुत ग्रन्थ में अत्यन्त उपयोगी है। अतः संक्षिप्त में १२ भावनाओं का कुछ विवेचन जरूर प्रस्तुत करता हूँ।

१) अनित्य भावना—

प्रिय जनों के संयोग, संबंध, धन—संपत्ति, विषय—सुख, शरीर, आरोग्य, यौवन, आयुष्य, संसार की अनन्त वस्तुएं सब अनित्य हैं। जो भी कुछ संसार में परिवर्तनशील है, उत्पन्न तथा नष्ट होनेवाले हैं वे सब अनित्य हैं। पौद्गलिक—भौतिक पदार्थ इष्ट संयोगादि सब अनित्य हैं। जन्म—मरण की दृष्टि से नित्य ऐसी आत्मा भी अनित्य है। लेकिन सभी मात्र अनित्य ही है ऐसा एकान्त नहीं है। द्रव्य रूप से ध्रुव नित्य है। और गुण—पर्यायरूप से उत्पाद—व्यय होने के कारण अनित्य है। अतः उत्पाद—व्यय यही ध्रुव स्वभाव है ऐसी मूर्खों के जैसी भूल मत करना। अनेकान्त दृष्टि से स्याद्वाद के निकष पर कष कर नित्यानित्य उभयरूप मानना ही सत्य स्वरूप है। सत्य ज्ञान है। अन्यथा कुछ लोग एकान्त अनित्य ही मानते हैं और उत्पाद—व्ययात्मक स्वरूप ही मानते हैं परन्तु ध्रुव स्वरूप मानते ही नहीं

है। ध्रुव स्वरूप द्रव्य मूल पदार्थ को ही न मानें—न स्वीकारो तो फिर गुण—पर्यायों का अस्तित्व ही कैसे रहेगा ? तब तो फिर अनित्यता का भी आधार क्या रहेगा ? अतः यह भी पूरी अज्ञानता है। अतः अनित्यता भी सच्चे अर्थ में मानिए। अनित्य पदार्थ के ज्ञेय विषयों—एवं वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप को देखने—चिंतन करने से पर पदार्थों का मोह—ममत्व घटता है। और उनकी क्षणभंगुरतादि समझने से तथा एक मात्र चेतनात्मा नित्यरूप ख्याल में आती है। अतः अनित्य भावना अत्यन्त उपयोगी है।

२) अशरण भावना—

आधि, व्याधि, उपाधि, आपत्ति और भय से त्रस्त इसे संसार में सच्चे अर्थ में कोई स्नेही—स्वजन अपना सगा नहीं है। दुःख, पीडा और रोगादि से भरपूर इस संसार में दूसरे कौन आपको शरण देने में समर्थ हैं ? जी नहीं। कोई नहीं। राजा, मालिक आदि कोई शरण देनेवाले नहीं हैं। वे सभी अशरणरूप हैं। ऐसा इस अशरणभावना में चिन्तन करते हुए देव—गुरु—धर्म ही एकमात्र सच्चे शरणदाता है ऐसा समझकर संसार स्वरूप की वास्तविकता दृष्टि पथ में लाकर स्वयं अपने मन को समझाए।

३) एकत्व भावना—

एगोऽहं नत्थि में कोई, नाहमन्नस्स कस्सई।

एवमदीण मणसो अप्पाणमणुसासई ॥

मैं अकेला ही हूँ मेरा कोई नहीं है और मैं भी किसी का नहीं हूँ। संसार की यह माया तो मात्र स्वार्थिक है। अपना स्वार्थ सिद्ध होता हो तो सभी स्वजन संबंधी तैयार बनने—रहने के लिए तैयार हो जाते हैं मात्र लोक व्यवहार से। परन्तु सच्चाई यह है कि मैं इस संसार में अकेला ही आया हूँ और अकेला ही जाऊँगा। मैं किसी के साथ आया नहीं हूँ और मेरे साथ भी कोई पत्नी—पुत्रादि कभी भी नहीं आएंगे। यह स्वार्थी अर्थ में अशुभ भावना नहीं है परन्तु संसार की सच्चाई को समझानेवाली यह भावना है। अतः इस भावना से मन को भावित करके कभी भी किसी की मदद की अपेक्षा न रखकर स्वयं ही अपनी आत्मा को समभाव में रखकर रागद्वेष से बचना ही श्रेष्ठ स्वरूप है।

४) अन्यत्व भावना—

अन्यत्व नामक इस भावना के बल पर साधक को विजातीय समस्त पदार्थों से पर रहने की कला सीखनी है। यह शरीर कितना ही मनोहर हो पर मैं देहरूप नहीं हूँ। यह

मकान, मालामित्कत, धन—संपत्ति आदि सब कुछ मैं नहीं हूँ, सच तो यह है कि मैं इन सब से परे—अलिप्त हूँ। मैं तो अजर—अमर—अमल—अनुपम—शब्दातीत—रूपातीत—तर्कातीत—आत्म द्रव्य हूँ। बस, वही मैं। शेष सभी मैं हूँ तो अहंकार का ही आविष्कार है। जी हाँ ! शरीरादि सब कुछ आदि और अन्त से युक्त स्थूल है। जबकि मैं तो आदि—अन्त रहित चेतन शाश्वत तत्त्व हूँ।

बस, मेरी आत्मा इन शरीरादि समस्त जड पदार्थों से सर्वथा भिन्न है। ज्ञान—आनन्दमय मैं चेतन हूँ। चांदी आदि वातावरण की असर में काली पड़ती है वैसे ही मेरी आत्मा भी कर्माणुओं से मलीन काली पड़ी हुई है। परन्तु वास्तव में वैसी नहीं है। देह और आत्मा का जो एकत्व का अध्यास अनन्त काल से हो चुका है उसे हटाने में यह भावना समर्थ है।

५) संसार भावना—

४ गति और पाँच जातियों में जन्म—मरण करते रहने रूप अनादि—अनन्तकालीन इस सतत संसरणशील स्वभाव को संसार कहा है। ऐसे संसार का सही स्वरूप चिन्तन करते हुए वास्तविकता समझकर संसार की घटनाओं से हर्षशोक न करते हुए अपने आप को स्थितप्रज्ञ बनाना। कर्मजन्य मोहकर्म से बढने—चलनेवाले ऐसे संसार में पिता—पुत्र—पत्नी आदि किसके प्रति मोह तथा संयोग—वियोग में हर्ष—शोक करना ? अरे ! आज की कन्या संभव है गत जन्म की पत्नी भी हो और गत जन्म की माता आज इस जन्म में पत्नी बन जाय, तथा पुनः भवान्तर में पुत्री या माता—बहन भी बन सकती है। इस तरह कर्म से बना हुआ यह संसार सदा ही चलता रहता है। इसलिए सभी संबंधों को हम सांसारिक संबंध कहते हैं। ये मोहवश चलते हैं। रागवश बढते—बनते हैं। और द्वेषवश बिगडते हैं। संसार तीनों काल में सदा ही एक जैसा रहा है। और रहेगा। चलता ही आया है और चलता ही रहेगा। इस तरह संसार भावना का चिन्तन करना।

६) अशुचि भावना—

संसार में जीवों को सबसे ज्यादा मोह—ममत्व अपनी काया—शरीर पर होता है। अतः शरीर के कारण ही, शरीर को केन्द्र में रखकर ही यह जीव वर्षों से सैंकड़ों पाप उपार्जित करता रहा है और कर रहा है। अतः इस शरीर के बारे में चिन्तन करना चाहिए कि... रज—वीर्य से बना यह पुद्गल पिण्ड मांस—रक्त—रुधिर—मज्जा आदि का बना हुआ

है। गर्भ में भी माता के मल—मूत्रादि के अंगों के बीच साडे नौ महीने तक उल्टे सिर लटकता रहा। मानों कोई भारी सजा भुगतता हो। फिर मृत्युतुल्य असह्य वेदना भोगता हुआ जन्म लेकर धरती पर आया, अपने ही मलमूत्र में खेल कूद कर बड़ा बना। जिन अंगों से स्तनपान कर दूध पीकर जिन्दा रहा, बड़ा बना, अब उन्हीं अंगों के प्रति राग भाव—मोहभाव से अपनी वासना संतोषता रहा। जिन जननांगों से जन्म लेकर अंधेरी काली कोठड़ी की सजा से मुक्त होकर धरतीपर आया, बस बड़ा होकर आज अनेक स्त्रियों के गुप्तांगों के प्रति विकृत वासना का राग बढ़ाकर अपनी हवसवृत्ति संतोषने के लिए पुनः पागलपन दिखाता है। बस, सिर्फ ऊपर सजी हुई इस गोरी चमड़ी को देखकर मोहित होता है लेकिन उसे यह पता नहीं है कि... दिखाई देती रूप रंगवाली इस गोरी चमड़ी को कुछ क्षणभर के लिए भी हटाकर देखा जाय तो कैसा रूप दिखाई देगा? देख नहीं पाओगे। चकरा जाओगे। क्यों? क्या है इस चमड़ी के नीचे। गलीचे से शोभा अच्छी लगती है लेकिन गलीचे के नीचे की गद्दी तो बच्चे की पिशाब की हुई ही है। वैसे यह काया मल—मूत्र—दुर्गंध से भरी हुई है। जिन गुप्तांगों आदिपर मोहित होता है वे भी दुर्गंध और अशुचि के साव से मलीन है। मांस—रक्त—रुधिर—मज्जा—हाडपिंजर आदि का भयावह स्वरूप चिन्तन करते हुए, तथा रोगादि जन्य विचित्र स्थिति का विचार करते हुए अशुचि भावना का चिन्तन करके इस मन को काया की माया पर से हटा लेना चाहिए।

७) आश्रव भावना—

समुद्र में तैरते पोत में जैसे छिद्र हो जाय और उसमें से जैसे पानी आता ही रहे तो जहाज डूब जाता है, ठीक उसी तरह पाँचों इन्द्रियों, मन, वचन और काया के छिद्रों से कषायादि कारणों द्वारा कर्माणु आत्मा में प्रवेश करते ही रहें तो आत्मा इस संसार के भंवर में डूब जाती है। इन्द्रियों के विषय भोगों की रुचि, अव्रतादि के कारण हिंसादि १८ पापों की प्रवृत्ति, क्रोधादि भाव जन्य सभी कषायों का सेवन, योगादि मन—वचन—काया द्वारा पापों का आगमन यह आश्रव स्वरूप है। शुभाशुभ दोनों ही आश्रव आत्मा का पतन करते हैं। इस तरह आश्रव भावना का चिन्तन करके उससे कैसे बचना इसका उपाय ढूँढ़ना चाहिए। तथा समस्त जगत् के समग्र जीव इसी के आधीन होकर आश्रव मार्ग में फसे हुए रहकर संसार बढ़ाते रहते हैं।

८) संवर भावना—

आश्रव यह कर्म विषयक भावना है तो इसी की औषध समान संवर भावना है। जहाज में छिद्र में से आते हुए पानी को देखकर अब उसे कैसे रोकना ताकि जहाज डूब न जाय—बचाना, इसी तरह डूबती आत्मा को कैसे बचाना इसके लिए संवर भावना चिन्तवनी चाहिए। इसमें कर्म के सामने रक्षक एक मात्र धर्म ही है। अतः समिति—गुप्ति—परीषहजय, यति धर्म क्षमादि १० गुणों का चिन्तन, १२ भावनाओं का चिन्तन—आचरण, चारित्र धर्म तपधर्म आदि संवर कारक धर्मों का चिन्तन—मनन करना चाहिए। धर्म का स्वरूप कैसा है? किस प्रकार का है? इत्यादि सोच समझकर आचरण करे ताकि आश्रव मार्ग से आनेवाले कर्मों से स्वयं बच सके। संवर भावना का यही हेतु है कि आश्रव से बचने का उपाय ख्याल में आ जाय। संवर धर्म ही कल्याणकारक है।

८) निर्जरा भावना—

क्रमशः आगे बढ़ती हुई भावना के क्षेत्र में आश्रव में कर्म, संवर में धर्म तथा निर्जरा में धर्म का फल, परिणाम देखना है। आचरण में लाए हुए समस्त प्रकार के धर्म से कितने कर्मों का क्षय हुआ? कितने प्रमाण में कर्म कट रहे हैं, निर्जरित होते हुए आत्म प्रदेश से कर्माणु = कर्मणवर्गणा दूर हो रही है? और उतनी ही आत्मा शुद्ध होती है। अतः आत्म शुद्धीकरण का आधार निर्जरा पर है। बाह्य ६ तथा आभ्यन्तर ६ ऐसे १२ प्रकार के तप भेदों से निर्जरा साध्य बताई है। ऐसा मत समझिए कि कर्म अनादि है इसलिए अनन्त है। जी नहीं। सान्त है। अन्त हो सकता है। कर्मक्षय साध्य है। आत्मा की संपूर्ण शुद्धि संभव है ध्यान—स्वाध्यायादि निर्जराकारक है। अरे! धर्म के समस्त प्रकार निर्जराकारक हैं। छोटा से बड़ा कोई एक भी भेद धर्म का निर्जरा न करा सके वैसा है ही नहीं। अतः अच्छी तरह निर्जरा हो सकती है। साध्य है। इस तरह का चिन्तन इस भावना में करके वैसे लक्ष्यवाला मानस तथा भाव बनाकर ही धर्म करना चाहिए। यही इस भावना का साध्य है।

१०) लोक स्वभाव भावना—

इस भावना में चिन्तक समग्र लोक क्षेत्र का चिन्तन करता है। समग्र ब्रह्माण्डरूप लोक संस्थान लोकस्थ समस्त पदार्थों, वस्तुओं, पुद्गलों, तथा जीवों पर चिन्तन करता है। इसी लोक का एक अंशभूत यह जीव थोड़ा ऊपर उठकर साक्षीभाव से दृष्टा बनकर स्वयं

इस लोक—जगत् को अपने ज्ञान का विषय बनाए। जी हौं, संसार भावना और लोक भावना में आसमान—जमीन का अन्तर है। संसार भावना में कषायादि जन्म राग—द्वेषात्मक कर्मात्मक स्थिति का दुःखात्मकादि स्वरूप देखना है। जबकि इस लोक भावना में... भौगोलिक स्थिति के साथ द्रव्यों पदार्थों की स्थिति—स्वरूप तथा पदार्थों का अपना गुणधर्म स्वभावादि देखना है। ऊर्ध्वलोक स्वर्ग रूप है, अधोलोक नरक रूप है, तब मध्य—तिरछालोक मनुष्य तथा तिर्यच क्षेत्र है। इनमें देव—नारक, मनुष्य तथा तिर्यचादि जीवों का निवास है। चेतन—अचेतन जड़ पदार्थादि अनन्त पदार्थ हैं अनन्त जीव हैं। अनन्तानन्त पुद्गल परमाणु हैं। संचात—विघात से परिवर्तन स्कंध—परमाणु में होता ही रहता है। निगोद से एकेन्द्रिय के पृथ्वी—पानी—अग्नि—वायु—वनस्पति तथा चिंटी—मकोड़े, मक्खी—मच्छर, हाथी—घोड़े आदि समस्त प्रकार के अनन्त जीवों की स्थिति का स्वरूप तथा जड़—अजीवादि पदार्थों का स्वरूप देखें। नरकादि में वहाँ की पृथ्वियों की स्वाभाविक स्थिति देखें। शाश्वत पदार्थों का भावात्मक स्वभाव स्वरूप देखें। उत्पाद—व्यय—ध्रौव्यात्मक द्रव्य—गुण—पर्याय का स्वरूप देखें। इस तरह लोक स्वरूप का चिन्तन इस भावना में करे... ताकि आगे संस्थानविचय ध्यान करने में स्थिरता आ सके।

११) बोधिदुर्लभ भावना—

८४ लक्ष योनियों में जन्म—मरण धारण करते हुए संसार चक्र में परिभ्रमण करते हुए चारों गतियों तथा पाँचों जातियों में जन्म लेते हुए जीवों को मनुष्य गति, धर्मी कुल, साधु महात्माओं का सत्संग, धर्मश्रवण, धर्मश्रद्धा, धर्माचरणादि क्रमशः काफी दुर्लभ है। बोधि अर्थात् आत्मबोध, जिन धर्म—आत्मधर्म की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है। मोक्ष का बोध होना और उसके अनुरूप मोक्षप्रापक धर्म की प्राप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ है। उस प्रकार के आत्मधर्म की आचरणा करते हुए भी कर्म निर्जरा करना सर्वथा दुर्लभ है। जिनोक्त दया—दान—शियल—तप—भावनादि प्रकार के धर्म की अत्यन्त दुर्लभता रूप इस भावना चित्तवनी चाहिए। इस भावना के चिन्तन से आत्मा को धर्म का सही स्वरूप ख्याल में आ सके। रुचि—जिज्ञासा जागे।

१२) धर्मस्वाख्यात भावना—

बोधि दुर्लभ में ऐसे धर्म की प्राप्ति की दुर्लभता की बात थी और इस धर्मस्वाख्यात भावना में सर्वज्ञ भगवन्तों के द्वारा प्रकाशित धर्म स्वरूप को बार बार चित्तवनी करना है।

धर्म कैसा है ? क्या स्वरूप है ? सर्व कर्मों का समूल उच्छेद—नाश करने के स्वभाववाला है । धर्म का कितना महान उपकार है । आहा .. शुद्ध आत्म स्वरूप—स्वभाव द्योतक यह धर्म कितना ऊँचा है । ऐसे धर्म प्ररूपक अरिहंत तीर्थंकर परमात्मा एवं गुरु भगवंतों का कितना महान उपकार है ? जड़ का राग और जीवों का द्वेष इस भावना से नष्ट हो जाता है । क्षमा—समता—नम्रतादि अनेक आत्मगुणों का द्योतक यह धर्म कितना महान है ? श्रुतधर्म, चारित्र धर्मादि कितना कल्याणकारी है ? इत्यादि इस भावना में चिंतवना ।

ये भावनाएं क्रमशः उत्तरोत्तर चढते विषय की हैं । इन भावनाओं का चिंतवन करना चाहिए । इससे उत्तरोत्तर आत्मा को विशेष विशेष बोध होता है । भावनाएं मन को शान्त करती हैं । राग—द्वेषों को शमाती हैं । संसार के स्वरूप, पदार्थों के यथार्थ स्वरूप की वास्तविकता का बोध कराती हैं । उन्माद में फिरते लोगों को ठिकाने के लिए भावनाएं सहायक हैं । भावनाएं भव विनाशक हैं । ऐसी भावनाओं को चिन्तवने से ध्यान में काफी अच्छी और शीघ्र ही स्थिरता आती है । तथा ध्यानान्तरिका में भी भावनाएं काम आती हैं । इस तरह ध्यान से च्युत होते समय भी भावनाओं का चिन्तन उपयोगी सिद्ध होता है । भावनाओं के चिन्तन से साधक पुनः अपनी बाजी संभाल लेता है । चित्त को निर्मल शान्त करके उद्वेग को टालने का काम इन भावनाओं से होता है । अतः साधक को इनका आलंबन अवश्य ही लेना चाहिए ।

मैत्री आदि ४ भावनाएं—

चतश्रो भावना भाव्या उक्ता ध्यानस्य सूरिभिः ।

मैत्र्यादयश्चिंतने विधेया धर्मसिद्धये ॥ १०७ ॥

आचार्य भगवंत ध्यानदीपिका ग्रन्थ में कहते हैं कि ... ध्यान करने के पहले ... मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ इन चारों भावनाओं का चिन्तन करना अत्यन्त उपयोगी है । चिर काल तक इन चारों भावनाओं का चिन्तन करना ही चाहिए । राग—द्वेष की वृत्तियाँ दूर करने के लिए तथा समस्त जीवों के साथ उचित सौहार्द बढ़ाने के लिए इन चारों भावनाओं का चिन्तन तथा वैसा ही आचरण अत्यन्त आवश्यक है ।

मैत्री परेषां हितचिन्तनं यद्भवेत्प्रमोदो गुणपक्षपातः ।

कारुण्यमार्ताङ्गिरुजां जिहीर्षेत्युपेक्षणं दुष्टधियामुपेक्षा ॥

पू. विनयविजय महामहोपाध्यायजी शान्तसुधारस ग्रन्थ में लिखते हैं कि ... संसार के समस्त जीवों के हित का चिन्तन करना मैत्री भावना का कार्य है । हित भावना को मैत्री

भावना कहा है। अपने से बड़े—वडील गुणवान महात्माओं के गुणों का अनुराग रखने को प्रमोद भावना कहते हैं। गुणग्राही, गुणानुरागी, गुणप्रेक्षी इस भावना से बना जाता है। संसार के दीन—दुःखी—आर्त—पीडित जीवों को देखकर मन में उनके प्रति दया लानी इसे करुणा भावना कहते हैं। संसार में सभी जीव एक समान नहीं होते हैं। संसार में जो भारी कर्म प्रकृतिवाले—पाप करनेवाले जीव हैं, दुष्ट बुद्धिवाले हैं, अनेक बार समझाने पर भी दुष्टता कभी न छोड़े, उल्टे क्रोधादि करके उद्धताई व्यक्त करते ही रहे तो ऐसे जीवों के प्रति माध्यस्थ भावना रखनी चाहिए।

परहित चिन्ता मैत्री, परदुःखविनाशिनी तथा करुणा।

परसुखतुष्टिर्मुदिता, परदोषोपेक्षणमुपेक्षा ॥

उपरोक्त बात को ही पुनः स्पष्ट करते हैं कि... दूसरों का हितचिन्तन करने को मैत्री भावना, दूसरों के दुःख दूर करने की उदार भावना को करुणा भावना, दूसरों के सुख को देखकर भी आनन्द आए उसे प्रमोद भावना, तथा अनेकों के दोषों को देखकर दूर करने के प्रयत्न करने के बाद भी निष्फलता मिलने पर उपेक्षा रखने को माध्यस्थ भावना कहा है। इस तरह इन चारों भावनाओं का चिन्तन करनेवाले अधिकारी कैसे होने चाहिए? चिन्तक के लक्षण, उनका कार्यक्षेत्र स्पष्ट किया है। उसी तरह क्या करना? तथा कैसे कैसे जीवों को देखकर क्या करना यह भी भावना के क्षेत्र और ज्यादा स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि—

सत्त्वेषु मैत्री, गुणेषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम्।

माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देव ॥

संसार अनन्त जीव समूहों का बना हुआ है। इसमें कैसे—कैसे किस—किस कक्षा के किस—किस प्रकार के जीव हैं? यह कार्य भावना का चिन्तन करनेवाला साधक ही अच्छी तरह पहचान सकता है तथा वही उनके प्रति क्या करना यह कर सकता है। सभी जीवों के प्रति सामान्यरूप से मित्रता—मैत्री का व्यवहार करना, गुणवान—गुणीयल आत्माओं के प्रति प्रमोद भावना रखनी, क्लिष्ट अर्थात् जो कष्ट—पीडा—दुःख भोग रहे हो ऐसे दुःखी जीवों के प्रति करुणा रखे। किसी के दुःख के प्रति अपने दिल में दया रखे। स्वयं दयालु बने। तथा संसार में जो विपरीत वृत्तिवाले सही सच्चे मार्ग से उल्टे चलनेवाले हो उनके प्रति सुधारने का प्रयत्न करने के बावजूद भी वे न सुधरे तो माध्यस्थ भावना रखकर उपेक्षा करे लेकिन... निरर्थक क्लेश—कषाय—कलह या विवाद—संघर्ष न करे।

मैत्री भावना से सबके मित्र बना जाता है ।

प्रमोद भावना से गुणीयल-गुणवान बना जाता है ।

करुणा भावना से दयालु बना जाता है ।

माध्यस्थ भावना से शान्त-निश्चित बना जाता है ।

संसार के समस्त जीवों को ४ विभागों में विभक्त कर दिया गया है । मित्र, गुणवान, दीन, दुःखी तथा भारी पापकर्मी इन सब प्रकार की वृत्तिवाले जीवों का समूह ही यह संसार है । ऐसे संसार में रहनेवाला मनुष्य सामाजिक प्राणी है, जो समाज में ज्ञाति-जाति के ज्ञातिजनों के बीच ही रहता है । अतः सबके साथ संपर्क-परिचय-व्यवहार में आएगा ही । सबके साथ बोलना-चलना-व्यवहारादि करने ही पड़ेंगे । ऐसी स्थिति में किसी के भी साथ राग द्वेष न करना पड़े, न तो मेरे निमित्त कोई राग-द्वेष करे और न ही किसी के साथ मैं राग-द्वेष-कलहादि करूँ इस तरह इन भावनाओं के चिन्तन का मुख्य उद्देश्य-सही हेतु यही है । इस तरह अध्यात्ममार्ग पर निरंतर आगे बढ़नेवाले साधक के लिए तो इन भावनाओं का आलंबन लेकर चिन्तन करता हुआ ऐसे जीवों के बीच या साथ रहकर भी आगे बढ़ता रहे । ये भावनाएं अपने स्वभाव को बनाने-बदलने में अत्यन्त ज्यादा उपयोगी-सहयोगी हैं । सच देखा जाय तो महात्मा पुरुषों ने इस-ऐसे संसार के बीच किस तरह जीना ? कैसे जीना ? कैसा बनकर जीना ? कैसा व्यवहार करते हुए जीना इत्यादि व्यवस्था बताई है । भावनाएं मन का विषय है । अतः मन द्वारा ऐसा सुंदर भावनात्मक चिन्तन स्वभाव-मन को बदलकर सुधार कर... शान्ति-आनन्द से सही ढंग से जीने लायक-पात्र बनाता है । इससे मनुष्य शान्तिपूर्वक निश्चिन्तता एवं संतोष आनन्दपूर्वक संसार में जी सकता है ।

इस तरह $१२ + ४ = १६$ भावनाओं का निरंतर चिन्तन-मनन साधक को अवश्य ही करना चाहिए । “भावना भवनाशिनि” कहकर सचमुच भावनाओं को संसार का नाश करनेवाली, क्लेश-क्षय-कलह घटानेवाली-पापादि की प्रवृत्ति घटानेवाली कहा है, यही सही सत्य है । योग्य है ।

इस तरह भावनाएं समस्त संसार को अपना स्वयं का “वसुधैव कुटुम्बकम्” की भावना से बनाने की सुंदर प्रक्रिया है । इन १६ भावनाओं में समस्त संसार के विषय समा जाते हैं । कोई भी विषय अवशिष्ट नहीं बचते । ध्याता अपने ध्यान के लिए जिस तरह व्यापक-व्यापक विषय बनाते हुए विस्तार करता जाता है उसी तरह इन भावनाओं में भी संसार के समस्त विषयों का समावेश हो जाता है । इस तरह देखा जाय तो भावनाएं ध्यान

की पूर्व तैयारी स्वरूप है। ध्यान में कौनसा विषय चुनना? किस विषय पर केन्द्रित होकर ध्यान में स्थिर होना है उसके लिए भावनाएं पूर्वभूमिका रूप है। चयनिका रूप है। या अवतरिका रूप अवतरण है। कुएं में उतरने के लिए मानों सीढ़ि है। ध्यान के लिए सहायक है।

इस तरह अप्रमत्त ४ थे गुणस्थान के लिए तथा ७ वे से आगे के गुणस्थानों पर आगे बढ़ने के लिए ध्यान मार्ग ही एकमात्र विकल्प है। अतः ध्यानी अप्रमत्त और अप्रमत्त ही ध्यानी बनकर रहे तो ही वैसे रह सकते हैं। अप्रमत्तता ध्यान के बिना नहीं रह सकती है और ध्यान अप्रमत्तभाव के बिना नहीं टिक सकता है। दोनों एक दूसरे के पूरक, सहयोगी, उपयोगी एवं उपकारी हैं। अतः ७ वे से आगे के सभी गुणस्थान ध्यान—साधना के हैं। इसीलिए प्रतिक्रमण—आवश्यकदि का विधान गौण कर दिया गया है वह ध्यान की प्रधानता के कारण। अतः प्रस्तुत १५ वे प्रवचन पुस्तिका लेखन में विस्तार से ध्यान, ध्यानांग ध्यान सामग्री, आदि विस्तृत रूप से फिर भी संक्षिप्त में लिखी है। स्वतंत्र अभ्यासुओं को इस विषय के स्वतंत्र ग्रंथों का अभ्यास विशेष रूप से करना चाहिए। ध्यान साधना सही करके अपनी कर्मनिजरा करते हुए विकास साधते जाइए।

॥ ध्यानसाधनात् आत्मनः विकासं कुरु ॥



क्षपक श्रेणि के साधक का आगे प्रयाण

धर्म - कर्म का अनादि चैर.....	१०९४
कर्मक्षय का लक्ष्य.....	१०९६
कर्मक्षय बल पर आत्मविकास.....	१०९७
निर्जरा आधार पर आत्मशुद्धि.....	१०९९
वीर्य और वीर्यांतराय कर्म.....	११०२
आत्मवीर्य के एकार्थक नाम.....	११०५
८ करणों की व्याख्या.....	११०८
नियंतीबादर (निवृत्ति बादर) अपूर्वकरण गुणस्थान.....	१११५
कालमान तथा कर्मप्रकृतियों का क्षयादि.....	१११८
श्रेणि के श्रीगणेश.....	१११९
श्रेणि के नियम.....	११२३
संसार चक्र में - उपशम श्रेणि कितनी बार ?.....	११३३
शुक्ल ध्यान का स्वरूप.....	११४१
शुक्ल ध्यान से विशुद्धि.....	११४७
नौवा अनिवृत्ति बादर गुणस्थान.....	११४८
१०वां सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान.....	११५४
११वां उपशान्त मोह गुणस्थान.....	११५८
पतन अवस्था के गुणस्थान.....	११६२
३ रा मिश्र दृष्टि गुणस्थान.....	११६२
मिश्र गुणस्थानवर्ती का आयुष्य का बंध कहां ?.....	११६८
शुद्धि - अशुद्धि का स्वरूप.....	११६९
सास्वादन गुणस्थान पर कर्मप्रकृति.....	११७४
गुणस्थानों पर बाह्य-आभ्यंतर परिवर्तन.....	११७५
किन-किन गुणस्थान पर मृत्यु और आयुबंध ?.....	११७६
गुणस्थानों का कम-ज्यादा का.....	११८०

क्षपकश्रेणि के साथक का आगे प्रयाण

अनादि—अनन्तकालीन इस अनन्त संसार में अनन्तकाल निर्गमन कर चुकने के बावजूद भी वह जीव जो अनादि काल से कर्मोपार्जन करता ही आ रहा है, कर्म बांधने का इसका भाव स्वभाव ही बन चुका है। जिन कर्मों के कारण भूतकाल में अनन्तबार दुःखी हुआ, नरक गति के दुःख भोगे, असह्य अकल्पनीय दुःख भोगे हैं, फिर भी जब जब पापों के निमित्त, पाप—प्रवृत्ति सामने आती है कि देखते ही मोहवश जीव का मन ललचा जाता है। अनन्तकाल से इस मोहनीय कर्म के कारण विपरीत एवं विकृत बुद्धि—ज्ञान और मनवाला बनकर मतकले की तरह दौड़ता—भागता पाप करता ही रहा। पाप करने में काफी ज्यादा मजा मानता रहा। जैसे बिल्ली को दूध दिखाई देते ही वह पीने के लिए लालाबित



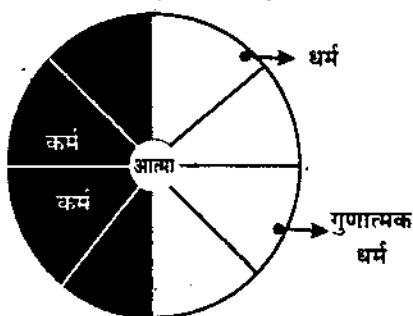
हो जाती है लेकिन ऊपर से डंडा मारनेवाला डंडा हाथ में लेकर सामने तैयार हो खड़ा है वह उसे दिखाई नहीं देता है। ठीक उसी तरह पाप कर्म करनेवाले जीवों को पाप कर्म करने की

प्रवृत्ति में जो मजा आती है, जो सुख मिलता है वही दिखाई देता है, परन्तु नरक गति में परमाधामी का डंडा तो क्या गदा पड़ेगी वह शास्त्रबधु से भी दिखाई नहीं देता है। जैसे दुराचारी—व्यभिचारी परस्त्रीसंपर्क—कामी को तीव्र काम की संज्ञा में बलात्कार—दुराचार—व्यभिचार करने की तीव्र इच्छा होती है। उस समय उसे उस मैथुन सुख की मानसिक गुदगुदीजन्य सुख की तृष्णा के ही विचार आते रहते हैं। परन्तु उस क्षणिक सुख के बाद होनेवाली भारी सजा... शायद शिरोच्छेद या आजीवन के कारावास या फांसी की सजा या मृत्युदंड की किसी भी प्रकार की सजा दिखाई नहीं देती है। वह क्षणिक सुख भोगने के पीछे इतना आतुर हो जाता है कि बस, विचारशून्य होकर... किर्तव्यमूढ होकर...

. भावि परिणाम का कुछ भी विचार किये बिना उस पाप कर्म को करने के लिए लातायित हो जाता है। आखिर कर ही बैठता है। परन्तु यहाँ की सजा ही पर्याप्त नहीं है। परन्तु मृत्यु के पश्चात् नरक गति में उसकी क्या हालत होगी? किस तरह परमाधामी उसके टुकड़े-टुकड़े करेगा? उसका उसे विचार तक नहीं आता है। इसी तरह अनादि—अनन्त काल से चलता ही आ रहा है। जीव इसी चक्र में फसा हुआ रहता है। इसी कारण अनादि—अनन्त कालीन संसार चक्र चलता रहता है। इस कर्मचक्र के वमल—भंवर में फसा हुआ रहता है। कर्म बांधने का लक्ष तो जीव का कर्मोदयभावजन्य अनादि काल से है ही। कर्मजन्य स्थिति में ही रहे हुए के लिए यह स्वाभाविक ही है। आखिर कर्म के ही घर में रहना (अर्थात् उदय में) और फिर कर्म करने—बांधने का लक्ष नहीं रहेगा तो किसका रहेगा? हाँ, धर्म के उदय में जीव रहे तो ही कर्मक्षय का लक्ष्य रहता है अन्यथा नहीं। लेकिन आप इस बात को अच्छी तरह जानते ही होंगे कि धर्म और कर्म का अनादिकालीन वैर है।

धर्म—कर्म का अनादि वैर—

धर्म और कर्म बिल्कुल पूर्व—पश्चिम दिशा की तरह सर्वथा विरुद्ध हैं। परस्पर विरोधि हैं। धर्म कर्म को हटानेका है और कर्म आते ही धर्म को मार भगाने की कोशिश



करता है। फिर इन दोनों दुश्मनों के रहने के लिए आधारभूत स्तंभ समान एक ही घर है। वह है “आत्मा”। इसी चेतनात्मा में आत्म धर्म अर्थात् अपने गुण रहते हैं। आत्मा है ही

गुणात्मक। गुण का चेतन द्रव्य आत्मा के साथ अभेद एवं अविनाभाव संबंध है। अतः गुण उत्पन्न नहीं होते हैं और बाहर से भी नहीं आते हैं। लेकिन अन्दर आत्मा में ही, आत्मा के साथ ही रहते हैं। अतः गुण आत्मा के साथ अनादि काल से हैं और अनन्तकाल तक रहेंगे ही। अनुत्पन्न—अविनाशी स्वरूप है गुण, गुणी दोनों का। कर्मों के आवरण से तो मात्र आच्छादित होते हैं। कर्म जड़ पुद्गल परमाणुरूप हैं। कर्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं जो राग—द्वेष की तीव्र वृत्ति के कारण जीव ने ग्रहण किये हैं उनका एक स्तर

जमा हुआ है आत्मा पर। वह आवरण वा आच्छादन (ढकने) का काम करता है आत्म गुणों को। अतः गुणों के आगे कर्म का 'आवरण' शब्द जोड़ने से उस कर्म का नाम बन जाता है। ज्ञान गुण है, दर्शन गुण है अतः उनका आच्छादक—आवरक कर्म— ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म कहलाता है।

अनादि काल से आत्मा देहधारी स्थिति में संसारी अवस्था में—संसार में रही है। जन्म—मृत्यु और जीवन की इस प्रक्रिया में जीवती हुई आत्मा को अनेक प्रकार के राग—द्वेषों को करते हुए अनेक कर्म कदम—कदम पर बांधने ही पड़ते हैं। कर्म बांधे बिना संसार में जी ही नहीं सकती है आत्मा। बिना कर्म बांधेन के संसार नहीं और बिना संसार के कर्म नहीं।

यहाँ मल्ल युद्ध करने के लिए २ पात्र हैं। एक कर्म और दूसरी आत्मा। इन दोनों का युद्ध अनादि काल से चल रहा है। आचारंग सूत्र में लिखते हैं कि—“कत्थं वि बलिओ कम्भो, कत्थं वि बलिओ अप्पा” इन दोनों मल्लों के युद्ध में कभी तो आत्मा बलवान, सशक्त बनती है और कभी कर्म बलवान बनने हैं। कर्म बलवान बनने में तो राग—द्वेष—क्लेश कषाय का कातावरण, आर्त—रौद्र ध्वन की वृत्ति तथा लेशकाओं की परिणति आदि सभी बांध हेतु सहायक कारण बनते हैं। आत्मा को बलवान बनाने में—धर्म ही एकमात्र सहायक है। और उसमें भी आत्म धर्म—आत्म गुणवृद्धिकरक धर्म, आत्मकर्मकारक धर्म विशेष सहायक—उपयोगी एवं उपकारी हैं।

अनादि काल से कर्म ने आत्मा को अपने कब्जे में लेकर दबोच दी है। मुलान बन दी है। कर्म मल्ल आत्मा के सीने पर चढ़ बैठा है। किसी भी तरह आत्मा कर्मक मल्ल का लगा घोट रहा है। ऐसी स्थिति में आत्मा बड़ी मुश्किल से कास सेते हुए फसल बनकर जी रही है। कालनिर्गमन कर रही है। इस अनन्त काल से कर्म की थपेड़ें खाकर किसी कदर जी रही है। कर्म के सामने हार खाकर लाचारी की स्थिति में आत्मा रह रही है।

ऐसे मल्लयुद्ध में, कर्माधीन स्थिति में आत्मा को लड़ने के लिए—जिसकी आवश्यकता भी वे सभी अत्म गुण आत्मा में ही मौजूद हैं। अनादि काल से आत्मा में ही पड़े हैं। अन्दर झाँक कर देखा होता तो गुणों का भरा हुआ खजाना मिलता। करण अर्थात् आत्मशक्ति विशेष वह भी अन्दर भरी पड़ी है। लेकिन घने—कासे—शकाम बादलों ने जैसा सूर्य के सामने कवच बना लिया हो वैसा कवच कर्म ने भी आत्मा के सामने ऐसा घना—गाढ़ बना लिया है कि जिसके कारण आत्मा में ही गुणों की राशी होते हुए भी कभी भी ख्याल

तक नहीं आने दिया । स्वयं को स्व की पहचान तक कभी नहीं होने दी । आत्मा को ऐसी गुलाम बना दी कर्म ने कि, अपनी लगाम में जकड़ लिया कि जिसके कारण लाचारी स्थिति में बिचारी बनकर काल गुजारने लगी । बस, इसी कारण अनन्त काल बीता और आज भी बीतता जा रहा है । आज भी सोचिए ... ६०, ७० या ८० साल की जिन्दगी बीतने के बावजूद भी अपनी आत्मा का विचार तक कितने लोगों को आता है ? चौबीसों घण्टे शरीर—आहार—विहार—धनोपार्जन आदि में इस तरह मशगूल बनकर जीवन बिता रहा है कि उसे स्वयं में भी आत्मा का विचार तक नहीं आता है । सोचिए, इतना मूढ़ बना हुआ जीव सब कुछ अपने पास होते हुए भी क्या कर पाएगा ? इसलिए उपाध्यायजी यशोविजयजी म. “अमृतवेल की सज्जाय” में संकेत करते हैं कि—

चेतन ! ज्ञान अजुआलीए, टालीए मोह संताप रे ।

जिन इमडोस्तु वालीए, वालीए सहज गुन आप रे ॥

हे चेतन आत्मा ! तू अपने ज्ञान के खजाने को प्रगट कर और मोह के संताप को दूर कर ! चंचल—अस्थिर मन को स्थिर कर ... और बस ! अपने सहजगुणों का पालन कर । इतनी सी छोटी एक गाथा में बड़ी कीमती बात कर दी । आत्मा को जंगाने के लिए ... जागृत करने के लिए बस इतना इश्वरा पर्याप्त है । इसमें सुंदर प्रक्रिया बता दी है कि ... हे चेतन ! सर्वप्रथम तू अपना आत्मज्ञान प्रगट कर । और आत्मज्ञान से ही मोह का संताप दूर होगा । इसी आत्मज्ञान की जागृति से चंचल चित्त शान्त होगा, स्थिर होगा । तभी अपने सहज स्वाभाविक गुणों का प्रगटीकरण होगा । उन ज्ञानादि गुणों में रममाण करने के लिए चेतन समर्थ—सक्षम हो पाएगा । अन्यथा संभव ही नहीं हो सकेगा । इसलिए अध्यात्म मार्ग ही एक मात्र मार्ग है जिसमें आत्मा स्वयं स्वस्वरूप को पहचान सकती है । प्राप्त कर सकती है । अतः अध्यात्म विद्या सर्वश्रेष्ठ—सर्वोपकारी सर्वकल्याणकारी विद्या है । हर हालत में इसका अभ्यास करके आत्मा का ऊर्ध्वगमन, आध्यात्मिक विकास करना ही चाहिए ।

कर्मक्षय का लक्ष्य—

अनादि—अनन्तकालीन कर्मसत्ता का स्वरूप समझकर दारुण भयंकर परिणाम समझकर अब सर्वप्रथम चेतनात्मा को कर्मक्षय का ही लक्ष्य बनाना चाहिए । सभी साधकों का एक मात्र लक्ष्य कर्मक्षय का ही रहना चाहिए । यही चरम कक्षा का अन्तिम लक्ष्य होना चाहिए । कर्मक्षय उसमें भी संपूर्ण कर्मक्षय, सर्वांशिक कर्मक्षय—सर्वथा सर्व कर्मों का

समूल कर्मक्षय करना ही एकमात्र अन्तिम लक्ष्य लेकर साधक को संकल्प करके ठीक उसी दिशा में कार्यान्वित होना चाहिए। सर्वकर्मक्षय का ही दूसरा नाम मोक्ष है। कर्मरहित आत्मा की बंधनरहित स्वतंत्र स्थिति ही मोक्ष है। यही बात साधक को मंत्ररूप में बार—बार रटण कराने के लिए... “अरिहंत” शब्द दिया गया है। इसका रटण करे। “अरिहंत” यह किसी व्यक्तिविशेष का नाम नहीं है। यह तो पदवाची संज्ञा है। आत्मा के लिए... ध्येयरूप अवस्था का वाचक पद है।

अरि + हंत = अरिहंत।

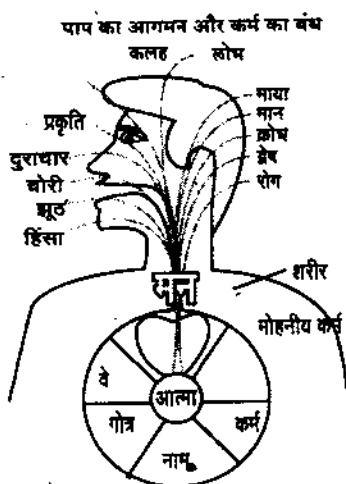
कर्मशत्रु + हन्ता आत्मा = आत्मशत्रुओं का, कर्मों का क्षय, हनन करनेवाली आत्मा अरिहंत स्वरूप है। यह साध्य जिस किसी ने भी साध लिया है वे शुद्ध परमात्मा बन चुके हैं। अतः उनको नमस्कार करने के रूप में “नमो अरिहंताणं” का मंत्र साधक को दिया गया है। परन्तु इसका मात्र शाब्दिक जाप ही नहीं करना है। अर्थात्सक, रहस्यात्मक स्वरूप में... अर्थ... रहस्य समझकर इस मन्त्र का लक्ष्य—संकल्प लेकर साधक को चलना चाहिए। जप का मन्त्र मन को जागृत करने के लिए सबेरे—सावधान करने के लिए है। अतः इस पद से मन पर प्रहार करना चाहिए। बार—बार मन पर प्रहार करते रहने से... मन उस लक्ष्य के अनुरूप बनता है। वैसे मनोगत भाव बनते हैं। यह लाभ है जप का।

कर्मक्षय के बल पर आत्मविकास—

आत्मा का आध्यात्मिक विकास कैसे होता है? क्या मात्र पुण्योपार्जन करने से आत्मा का विकास होना संभव है? पुण्य तो मात्र सुख की साधन—सामग्री बाह्यरूप से देने का भागीदार है। अच्छी—ऊँची स्वर्ग की देवगति, ऊँचे देवघराने में जन्म, वैभव, विलास, ऐश्वर्य, तथा भोगोपभोग की सर्व साधन—सामग्रियों की प्राप्ति पुण्य के उदय से हो जाती है। यहाँ तक कि धर्मोपयोगी—देव—गुरु—धर्म की साधन सामग्री आदि का योग भी पुण्योदय से प्राप्त होता है। जिससे सुलभता से धर्मप्राप्ति हो सके। पुण्य संसार में संसार के व्यवहार में बाह्य साधन सामग्री प्रदान कर जीव को सुखी—सम्पन्न, वैभवी, विलासी बनाता है। संसार में मान—सन्मान—पद—प्रतिष्ठा सत्ता आदि प्रदान करके बड़ा बना देता है। इससे संसार व्यवहार में बाह्यदृष्टि से विकास लगता है। ऐसा आभास होता है। लेकिन इससे आध्यात्मिक विकास नहीं हो पाता है।

सही अर्थ में आध्यात्मिक विकास आत्मा के ऊपर लगे हुए कर्मों के क्षय से ही होता है। कर्म यहाँ दो विभाग में गिनने चाहिए। एक तो लगे हुए कर्म जो लग कर—आत्मा

के साथ आत्मसात होकर आत्मा पर चिपककर काल के गर्त में जाकर भूतकालीन बन चुके हैं। तथा दूसरे जो प्रतिदिन नए बंध रहे हैं। नए बंधने के विभाग में—वर्तमानकालीन कल्याणक जो अशुभ क्रियास्वरूप है वे पापकर्म। पाप की प्रवृत्ति करने से अशुभ कर्मों का बंध होता रहता है। और पुण्य की शुभ प्रवृत्ति करने से शुभ कर्मों का बंध होता ही रहता है। इस तरह वह कर्म का चक्र अनन्दि से अनन्त काल तक चलता ही आ रहा है। अभी भी आत्मा की आँखें नहीं खुली कि... इस तरह कर्मोपार्जन करते ही रहने से मेरा विकास न तो कभी हुआ है, और न ही कभी होने की संभावना है। अतः कर्म ही आत्मा के लिए बंधक—बेड़ीरूप है। किसी भी स्वरूप में अपनी चेतना को कर्म के बंधन से मुक्त करनी ही चाहिए। कर्म का अनन्तकालीन संयोग संबंध सदा के लिए छोड़ना ही चाहिए। इस छोड़ने की प्रक्रिया में आसान कौन सा पद लगता है? पहला भूतकालीन कर्म का बंधन छोड़ना ज़रूरी आसान लगता है, या वर्तमानकालीन जो रोज़िदा जीवन में नए पाप कर्म करते रहने से बंध जिसका होता रहता है? यदि नई पाप की प्रवृत्ति जो अट्टारह ही पापों की होती रहती है वे सब पाप आज वर्तमानकाल में जब प्रवृत्तिरूप हैं वहाँ तक नए हैं और



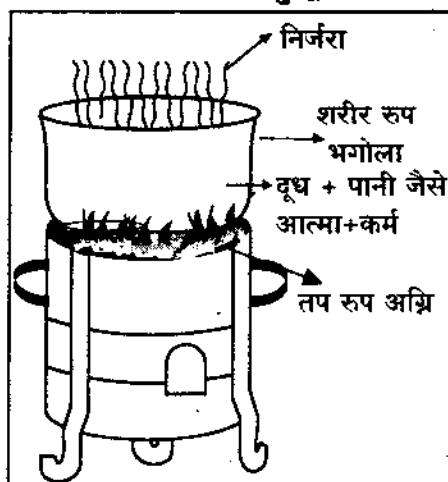
जैसे ही आत्मप्रदेशों में प्रविष्ट हुए कि फिर तो वे आत्मा के साथ बंध होकर कर्म संज्ञा पाकर भूतकाल के गर्त में जाकर पुराने हो जाएंगे। भूतकाल के खजाने में ऐसे सैंकड़ों कर्म बांधे हुए सत्ता में पड़े रहते हैं। सत्ता में कर्मों ने ढेर सारा पर्वत का रूप धारण कर रखा है। उनमें से एक एक कर्म कभी एक साथ अनेक कर्म भी अपनी अपनी अबाधाकाल की अवधि पूर्ण होने पर उदय में आते ही रहते हैं। वे अपना

सुख-दुःख रूप शुभ अशुभ का फल प्रदान करते ही रहते हैं। शुभ पुण्यात्मक कर्म जो अच्छा है वह सुख संपत्ति और सत्ता प्रदान कर जीव को कुछ काल तक राजी कर देगा। लेकिन इससे जीव का आत्मिक आध्यात्मिक विकास नहीं होगा।

दूसरी तरफ अशुभ पाप कर्म जो आत्मा पर ढेर सारे लगे हुए हैं उनकी कालिमा जो आत्मा पर छाई हुई है वह कलंक आत्मा पर बड़ा भारी है। बस, इसी पापकर्म के भार

के कारण आध्यात्मिक विकास का मार्ग अवरुद्ध हुआ है। अतः जिस किसी भी साधक को अपनी आत्मा का विकास साधना हो उसे सर्वप्रथम पहला निर्णय यह करना होगा कि ... आत्मा पर से कर्मों की कालिमा कम करनी ही है। और इसके लिए पहले वर्तमान काल में जो पाप की प्रवृत्ति हो रही है वह बंध करनी जरूरी है। और इसके लिए धर्म आराधना करनी अत्यन्त आवश्यक है। धर्म भी कैसा चाहिए? एक तरफ नए पाप लग रहे हैं उसे रोककर आत्मा को बचाए, तथा दूसरी तरफ पुराने लगे हुए अशुभ कर्मों का क्षय करे। इसके लिए धर्म में सुंदर व्यवस्था सर्वज्ञ भगवंतों ने की है। जिसमें संवर तथा निर्जरा नामक दोनों धर्मों की सुंदर व्यवस्था की है। संवर आगे हुए कर्मों को रोकने का काम करता है तथा निर्जरा भूतकाल के लगे हुए कर्मों को नष्ट करके कर्माणुओं को आत्म प्रदेशों से अलग करने का काम करता है।

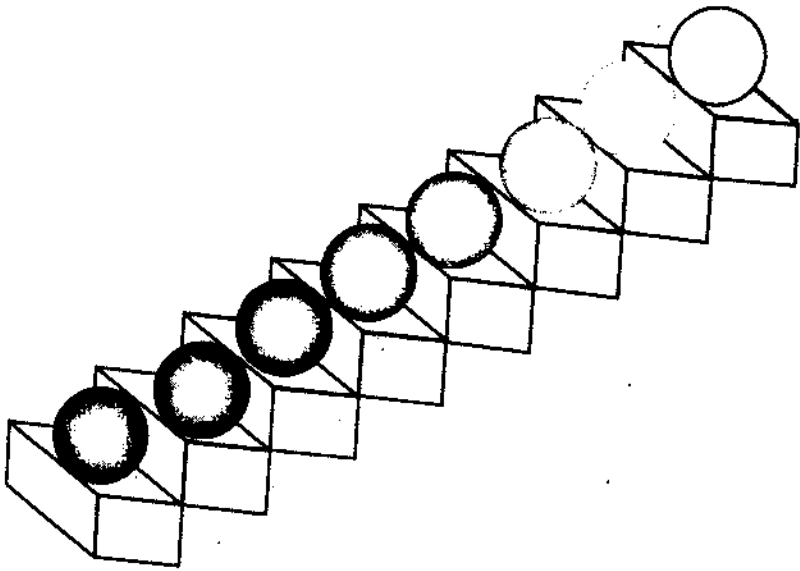
निर्जरा के आधार पर आत्मशुद्धि—



एक शरीररूपी तपेले (भगोले) में आत्मा और कर्म दोनों दूध-पानी की तरह मिले हुए मिलित अवस्था में हैं। नीचे तप (ताप) तपक से प्रकट की हुई अग्नि तुल्य है। अब जैसे जैसे अग्नि प्रकट होती हुई बढ़ती जाती है, वैसे वैसे दूध में अग्नि फैलती जाती है, और दूध में मिश्रित पानी जलकर भाप बनकर उड़ता जाता है। ठीक उसी तरह आत्मा और कर्म दोनों मिलित अवस्था में हैं।

बाह्य—आभ्यन्तर कक्षा के तप के कारण तापरूप गर्मी आत्म प्रदेशों में प्रवेष्ट करती है और शीघ्र ही आत्मप्रदेशों पर लगे हुए कर्माणुओं को दूर करती है। आत्मप्रदेशों से कर्माणुओं का वियोग इसी का नाम निर्जरा है। निर्जरा जितने प्रमाण में होगी उतनी ही आत्मशुद्धि होगी। इसलिए आत्मशुद्धि करने के लिए अत्यन्त आवश्यक है निर्जरा धर्म का आचरण।

चित्र में आप स्पष्ट देखेंगे कि काली श्याम कर्माणुओं से ग्रस्त ऐसी आत्मा जितने जितने प्रमाण में निर्जरा धर्म का शुद्ध आचरण करेगी उतने प्रमाण में कर्माणु आत्मप्रदेशों



से बिखरते—क्षय या नष्ट होते ही जाएंगे, उतने प्रमाण में आत्मा शुद्ध—शुद्धतर—शुद्धतम होती ही जाएगी। अतः सारा आधार निर्जरा पर है। वैसे भी आप जानते ही हैं कि... नीचे बर्नर में आग की मात्रा जितनी ज्यादा होगी उतनी जल्दी खिचड़ी तैयार होगी। यदि अग्नि का प्रमाण बिल्कुल कम होगा तो खिचड़ी घंटे भर में भी तैयार नहीं हो पाएगी। और यदि अग्नि का प्रमाण बहुत ज्यादा रहा तो १० भिनिट में भी खिचड़ी पक कर तैयार हो जाएगी। ठीक उसी तरह बारह ही प्रकार के तप से की जानेवाली निर्जरा धर्म की आचरणा जितनी ज्यादा प्रबल—बलवत्तर होगी उतना कर्मबन्ध ज्यादा होगा और उस तरह कर्म क्षीण होने से आत्मा उतनी ज्यादा—ज्यादा शुद्ध—शुद्धतर होती जाएगी। क्रमशः गुणस्थानों पर उत्तरोत्तर आगे—आगे बढ़ती हुई आत्मा अनेक गुनी ज्यादा निर्जरा करते करते शुद्धि की दिशा में अग्रसर होती ही जाती है और शुद्ध—शुद्धतर—शुद्धतम—शुद्धतमातिशुद्ध बनते बनते सर्वथा शुद्ध बनने पर सिद्ध बन जाती है।

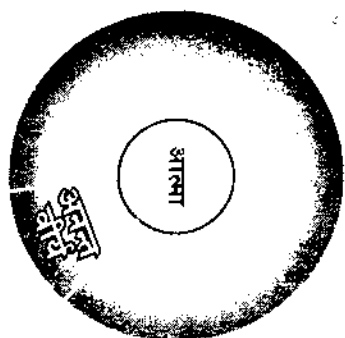
निर्जरा तो प्रतिदिन भी होती है। लेकिन वह आंशिक होती है। सहज स्वाभाविक निर्जरा का अर्थ है कि जो भी कर्म भूतकाल में उपार्जित किये हैं उनमें से जिन—जिन कर्म की अवधि पूर्ण हो चुकी है, काल परिपक्वता के कारण वे कर्म उदय में आएंगे। और उदयावलिका में आकर अपना फल दिखाकर आत्मा से अलग हो ही जाएंगे। लेकिन यह प्रक्रिया बहुत मन्द गति से चलती है। कर्म भी कई लम्बी काल अवधि के होते हैं। अतः

बंध स्थिति भी काफी दीर्घ होती है। दूसरी तरफ अबाधा काल की स्थिति के परिपक्व होने पर वह कर्म उदय में आकर अपना सुख—दुःख जो भी देना है वैसा फल दिखाकर या देकर फिर ओझल हो जाएगा। लेकिन इससे कैसे मानना कि वह कर्म संपूर्ण क्षय हो गया या नहीं ?

भगवान महावीर की आत्मा ने तीसरे मरीचि के भव में जिस नीचगोत्र कर्म को उपाजित किया... उसके पश्चात् वह कर्म अपने आबाधा काल की परिपक्वता के कारण उदय में आया और बीच के कई जन्मों तक उस कर्म ने अपनी असर बरोबर दिखाई। ५, ६, ८, १०, १२, १४ इस तरह ६ भव नीच गोत्र में याचक कुल में करने पड़े। इसके बाद भी वह कर्म समूल सर्वथा क्षय नहीं हुआ। पुनः जितना अंश उस कर्म का अवशिष्ट था वह २७ वे जन्म में प्रवेश करते ही उदय में आ गया और २६ वौं जन्म दसवें प्राणत नामक देवलोक में से २० सागरोपम की आयुस्थिति पूर्ण करके उतर कर आते ही देवानंदा की कुक्षी में फेंक दिया। परिणाम स्वरूप ८२ दिन देवानंदा की कुक्षी में बिताने ही पड़े। बस, अब इस कर्मविशेष का संपूर्ण सर्वथा समूल नाश हुआ। निर्जरा हुई। आत्मा एक कर्म से सर्वथा मुक्त हो गई। लेकिन अन्य कई कर्म अभी भी सत्ता में पड़े हैं।

इस तरह प्रत्येक बंधा हुआ कर्म उदय—उदयावलिका में आकर अपना फल देकर स्थिति काल की पूर्णता—समाप्ति के पश्चात् तो आत्मा मुक्त होती ही है। लेकिन संपूर्ण रूप से सर्व कर्मों की निर्जरा होनी चाहिए, तब आत्मा संपूर्ण रूप से मुक्त बनती है। अन्यथा थोड़ी थोड़ी निर्जरा होने से मुक्ति संभव नहीं होती है। दूसरी तरफ जैसे ही हम थोड़ी सी निर्जरा करते हैं कि... इतने में दूसरे पाप कर्म भी तो होते हैं। उनका भी बंध तो होता ही है। पुनः कर्मबंध से आत्मा बंदिस्त होती जाती है। अतः आत्मा को अपनी कर्मक्षय करने की शक्ति बढ़ानी चाहिए। जिससे अपेक्षित धारणानुसार कर्म निर्जरा हो सके।

करण विशेष आत्मवीर्य—



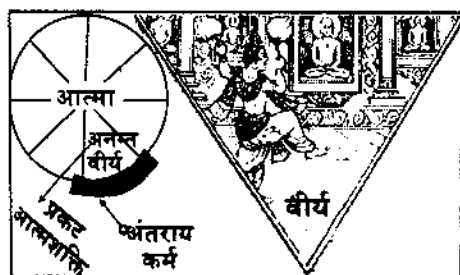
आत्मा के वैसे अनन्त गुण हैं। इनमें मुख्य आठ गुण प्रधान हैं। इन ८ गुणों में एक अनन्त वीर्य गुण है। वीर्य शब्द यहाँ पर शक्तिवाचक है। आत्मा की शक्ति... असीम, अमाप और अनन्त है, अकल्प्य है। वर्धमान महावीर जिस दिन—चैत्र शुदि १३ के दिन इस धरती पर जन्मे

उसी दिन मेरुपर्वत पर सौधर्मेन्द्रादि ६४ इन्द्रों तथा लाखों—करोड़ों देवताओं ने जल तथा क्षीर से प्रभु का अभिषेक किया। इतने बड़े बड़े कलश थे... और इतना जल था कि... सौधर्मेन्द्र महाराज को शंका हुई कि इतना ज्यादा पानी आज के जन्मे हुए परमात्मा कैसे सहन कर पाएंगे ?

इस शंका का जवाब देते हुए शैशव में ही भगवान ने अपने पैर का अंगूठा जमीन पर स्पर्श किया। बस, इतने में तो १ लाख योजन का मेरु पर्वत चलायमान हो गया। कवि ने उत्प्रेक्षाालंकार से कल्पना करते हुए काल्पनिक चित्र कल्पसूत्र में उपस्थित किया है कि... संपूर्ण सुवर्णमय मेरु पर्वत क्या कंपायमान हुआ... उसकी शिलाएँ चट्टानें लडखडाती हुई गिरने लगी। ऐसा मालूम होने लगा जैसे मानों अपने ऊपर परमात्मा को पाकर या परमात्मा का स्पर्श पाकर मेरु पर्वत नाचने लगा है। आनन्दित होकर सुवर्ण का दान देने लगा हो। इस तरह... इस घटना को स्पष्ट करते हुए कारण रूप में... आत्म प्रदेश की असीम शक्ति का परिचय दिया है। जन्म के पहले दिन शरीर कितना छोटा होता है ? शरीर की शक्ति का तो सवाल ही कहाँ है ? वह तो आत्मा की अनन्त शक्ति का परिचय है। इस तरह आत्मा की शक्ति असीम, अमाप, अकल्प्य और अनन्त है। अतः इस आत्मवीर्य का परिचय करना जस्रष्ट्र।

आत्मवीर्य ही करणरूप है। यह करण आत्मा की शक्तिविशेष के अर्थ में है। आत्मबल भी कह सकते हैं। जैन आध्यात्मिक शास्त्रों में यह 'करण' पारिभाषिक शब्द है। आसन्न शास्त्र तथा कर्मविषयक शास्त्रों में इसका उपयोग विशेष रूप से ज्यादा उपलब्ध है तथा इसी आत्म वीर्य के अर्थ में प्रयुक्त है।

वीर्य और वीर्यन्तराय कर्म—



वीर्य शब्द शक्ति—सामर्थ्य अर्थ में प्रयुक्त है। वीर्य आत्मा का अपना मौलिक गुण है। ज्ञानादि की तरह यह भी स्वतंत्र गुणविशेष है अतः जैसे ज्ञान गुण से चेतन जानता है, सब कुछ दर्शनगुण से प्रत्यक्ष स्पष्ट देखता है, ठीक उसी तरह चेतनात्मा अनन्तवीर्य—शक्तिमान है जैसे

दर्शनावरणीय कर्म दर्शनगुण का आच्छादक आवरक बनता है। ठीक उसी तरह अन्तराय कर्म आत्मा के अनन्त वीर्य गुण का आवरक—आच्छादक बनता है। अतः अन्तराय कर्म आत्मा की अनन्त शक्ति को रोकता है। अन्तराय शब्द का सीधा अर्थ विघ्न पैदा करना है। जो स्वयम् सहज प्रकट होता ही रहता है। उसमें विघ्न पैदा करके उसकी शक्ति होते हुए भी कुंठित कर देना, जितनी है उतनी प्रकट होने न देना, उसे रोकना और अल्पसीमित मात्रा में ही प्रकट करने देना यह अन्तराय कर्म का काम है।

जैसे ज्ञान गुण में ५ प्रकार के मति आदि ज्ञान हैं, ठीक उसी तरह अनन्त वीर्य गुण में आत्म वीर्य ५ प्रकार का है। अतः ५ रूप में आत्मशक्ति प्रकट होती है। १) अनन्त दान, २) अनन्त लाभ, ३) अनन्त भोग, ४) अनन्त उपभोग, ५) अनन्त वीर्य।

जिस समय आत्मा सर्वथा निरावरण अर्थात् सर्वकर्मरहित मुक्तावस्था सिद्धस्वरूपी होती है तब भी ये अनन्तदानादि लब्धि स्पष्ट रूप में, पूर्णरूप में प्रकट रहती है। अतः सिद्धों के भी अनन्त दान, अनन्त लाभ आदि गुण प्रकट रहते हैं। उनसे क्या कैसा स्वरूप होता है यह पंचसंग्रहकार स्पष्ट करते हैं—

हमारे संसार के व्यवहार में हम जो दानादि की व्यावहारिक प्रवृत्ति देखते हैं वैसी दानादि की व्यावहारिक प्रवृत्ति सिद्धों को नहीं होती है। अतः दानादि प्रवृत्ति रूप नहीं अपितु लब्धिरूप होती है। अतः ये दानादि शक्ति सिद्धों में लब्धिरूप से होती हैं। जो नैश्चयिक रूप से होती है। सर्वथा संपूर्ण रूप से आत्मा की अनन्त शक्ति, अनन्तलब्धि प्रकट होने से... दानादि लब्धियाँ भी अनन्त के स्वरूप में प्रकट होती हैं। नैश्चयिक दानादि का स्वरूप इस प्रकार समझते हैं— १) परभाव पौद्गलिक भाव के त्याग रूप दान लब्धि रहती है। परभाव, पौद्गलिक भाव ये सब कर्म के क्षयोपशमजन्य हैं। जबकि क्षायिक भाव जो सर्वथा—संपूर्ण कर्म के क्षय से जन्य है उसके प्रगटीकरण से सिद्धात्मा अनन्त परभाव पुद्गल पदार्थों संबंधि पौद्गलिक भाव का संपूर्ण त्याग करती है। २) सर्वथा संपूर्ण कर्मक्षय के कारण अपनी आत्मा के स्वरूप की निरावरण स्थिति में प्राप्ति यह अनन्त शुद्ध आत्मा स्वरूप का लाभ है। ३, ४) ऐसे अनन्तात्मिक शुद्ध स्वरूप का अनुभव करना अनुभूति—स्वानुभूतिरूप भोग और उसीका निरंतर, अखंड रूप से अनन्तकाल तक बार—बार भोग यही उपयोग है। ५) और ऐसी स्वानुभूति रूप स्वभाव दशा में ही रमणता, रममाण स्थिति अखण्ड रूप से निरंतर—अविरत—सतत बनाई रखनी, उस स्वभाव में ही प्रवृत्ति रूप वीर्य प्रवृत्त करना—यह अनन्तवीर्यगुण है। एक बार सिद्धशिला पर आ जाने

क बाद सिद्ध बनने के बाद सिद्ध के जीव अनन्त काल तक एक ही आकाश प्रदेश को स्पर्श करता रहता है। जब से आया जीव तब से एक ही जो निर्धारित जगह ग्रहण की है उसी और उतने ही आकाश प्रदेशों में अनन्त काल तक बिना हिले, पास के समीपस्थ आकाश प्रदेश का भी स्पर्श नहीं करता है। अनन्त काल तक स्थिर रहना यह आत्मा का अनन्त वीर्यगुण है। अनन्त काल तक स्वस्वरूप में स्थित रहना, आत्मगुण में ही रमणता करना, अपने ही आत्मगुण जो अनन्त स्वरूप में ज्ञानादि प्रकट हुए हैं, उनका ही भोग—उपभोग करना है। यही आत्मा की अनन्त भोगलब्धि तथा अनन्त उपभोगलब्धि गुण है। क्योंकि सिद्धावस्था में सर्वथा कर्ममुक्त, देहमुक्त, संसारमुक्त, बंधनमुक्त, जन्म—मरण के चक्र से मुक्त सिद्धात्मा—मुक्तात्मा के किसी भी प्रकार का पौद्गलिक संबंध—पर पदार्थ का संबंध तो है ही नहीं। अतः अन्य किसी पर पदार्थ का भोग—उपभोग तो है ही नहीं। यह स्थिति तो संसार में थी। इसलिए यह सवाल तो खड़ा ही नहीं होता है। दूसरी तरफ संसारावस्था में जब अनन्त भौतिक—पौद्गलिक पदार्थों की उपलब्धि—प्राप्ति थी उस दिन अनन्त भोगोपभोग की लब्धि प्रकट नहीं थी। उस दिन तो अन्तराय कर्म के भोगान्तराय और उपयोगान्तराय कर्म के कारण यथेच्छ रूप से जीव भोग ही नहीं पाया और सिद्धात्मा बन जाने के पश्चात् जब अनन्त भोग लब्धि और अनन्त उपभोगलब्धि प्रकट—प्राप्त हो चुकी है तब अनन्त पौद्गलिक—भौतिक पदार्थ ही छूट गए। किसी का भी साथ ही नहीं रहा। कोई हरकत नहीं। लेकिन उनके सामने आत्मा के अनन्त ज्ञानादि गुण प्रकट हो चुके हैं। अतः अनन्त भोगोपभोग लब्धि के आधार पर यदि भोग और उपभोग आत्मा करना चाहती है तो अपने ही अनन्त ज्ञानादि का भोगोपभोग करें।

एक तरफ ज्ञान—दर्शनादि गुण भी अनन्त की चरम कक्षा के प्राप्त हैं और दूसरी तरफ यदि भोग—उपभोग की लब्धि भी अनन्त स्वरूप में प्राप्त है तो ऐसी दोनों की अनन्तता की स्थिति में... काल भी अनन्त का प्राप्त होता है। अतः अनन्त काल तक सिद्धात्मा अनन्त भोगोपभोग की लब्धि से अनन्त ज्ञानादि गुणों का भोगोपभोग करती रहे तो कभी भी अन्त होनेवाला ही नहीं है। सम्भव ही नहीं है। इस तरह दानादि लब्धियों निष्फल नहीं सार्थक—सहेतुक हैं। लेकिन संसारी सकर्मों अवस्था में अनन्तगुण अन्तराय कर्म के उदय के कारण आत्मा की स्थिति सचमुच काफी दयनीय—शोचनीय बन जाती है। क्योंकि अनन्त दानादि लब्धियों में से मात्र अनन्तवें भाग की ही दानादि की लब्धि क्षायोपशमिक भाव से प्रकट रहती है। उदय में रहती है। अतः बिचारा संसारी जीव अनेक पदार्थ होते हुए भी कैसे भोग पाए? दानान्तराय कर्म दिलाने ही नहीं देता है। वह दाता

के बजाय कृपण कंबूस बना देता है। लाभान्तराय कर्म वस्तु होते हुए भी, मिलने की आशा होने पर भी मिलने ही नहीं देता है। यह कर्म तो भिखारी—गरीब बना देता है। तीसरा भोगान्तराय कर्म... मिली हुई होने के बावजूद भी भोगने नहीं देता है। चौथा उपभोगान्तराय कर्म मिली—हुई वस्तु का बार—बार उपभोग भी नहीं करने देता है। तथा पाँचवा वीर्यान्तराय कर्म आत्मा की शक्ति अनन्तगुनी होने के बावजूद भी... अशक्त—कमजोर बिल्कुल निर्वीर्य तेज—ओज एवं वीर्यहीन बना देता है। ऐसे एक अन्तराय कर्म पाँच प्रकार का होने के कारण पाँचों तरफ से आत्मा को मार मारता है। गिरा देता है। कमजोर—खोखला बना देता है। देखिए कैसी है कर्म की विटंबना। इसलिए साधक को कर्म का ऐसा दारुण—भयंकर स्वरूप समझकर किसी भी स्वरूप में, हर हालत में कर्मक्षय समूल नाश—नष्ट करने का ही लक्ष्य बनाकर या होम करके मैदान में उतरना ही पड़ेगा। इसके लिए लब्धि शक्ति के रूप में—आत्मा को अपनी करण—शक्ति—आत्मवीर्य को प्रकट करना ही होगा। आखिर सामर्थ्य योगादि कैसे हैं? किस अर्थ में हैं? उसके लिए समानार्थक पर्यायवाची नाम पंचसंग्रहकार ने इस प्रकार प्रकट किये हैं—

आत्मवीर्य के एकार्थक नाम—

योगो विरियं ध्यामो उत्साहः पराक्रमो चेष्टा ।

शक्तिः सामर्थ्यं चित्तं योगस्य भवन्ति पर्यायका ॥ ४ ॥

(योगो वीर्यं स्थामः उत्साहः पराक्रमः तथा चेष्टा ।

शक्तिः सामर्थ्यमिव योगस्य भवन्ति पर्यायकाः ॥)

१) योग, २) वीर्य, ३) स्थाम, ४) उत्साह, ५) पराक्रम, ६) चेष्टा, ७) शक्ति, तथा ८) सामर्थ्य ये आठों नाम योग — आत्मवीर्य के ही समानार्थक पर्यायवाची नाम हैं।

१) योग— जीवप्रदेशानां कर्मक्षयं प्रति व्यापारणं नियोगिनामिव जीवेन संप्रिय योगः। जैसे कोई राजा कार्य का योग आने पर अपने कर्मचारियों—अधिकारियों को कार्यशील बनाता है, उसी तरह जीव भी कर्मक्षय के कार्य के लिए अपने आत्मप्रदेशों को ध्यानविशेष के द्वारा कार्यशील बनाता है, उसे योग कहते हैं।

२) वीर्य— जीवप्रदेशैः कर्मणः प्रेरणं ध्यानाग्नौ चेष्टिकथैव कचकरस्व । जैसे दासी—नोकर के द्वारा कचरा बाहर फेंक दिया जाता है, वैसे ही जीवात्मा ध्यान विशेष के द्वारा कर्म रूपी कचरे को ध्यानाग्नि में होम करने के लिए प्रेरणा करे उसे “वीर्य” कहते हैं।

३) **स्थाम**— जीवप्रदेशेभ्यः क्षपणार्थं कर्मप्रदेशानामाकर्षणं दन्तालिकयैव कचवरस्य । जिस तरह दन्ताली — झाडु से विशेष तरह से जमीन पर के कचरे को खींच लिया जाता है ठीक उसी तरह आत्मप्रदेशों पर से कर्मदलिकों को क्षय—नष्ट करने के लिए ध्यान से खींच लाए उसे स्थाम कहते हैं ।

४) **उत्साह**— जीवप्रदेशेभ्यः कर्मणामूर्ध्वं नयनं नलिकयैव जलस्य । जैसे पाइप—नली के द्वारा पानी को ऊपर चढ़ाया जाता है वैसे ही जिस ध्यान विशेष के द्वारा आत्मप्रदेशों पर से कर्मों को ऊपर ले जाना—अर्थात् ऊर्ध्वीकरण करने की प्रक्रिया को उत्साह कहते हैं ।

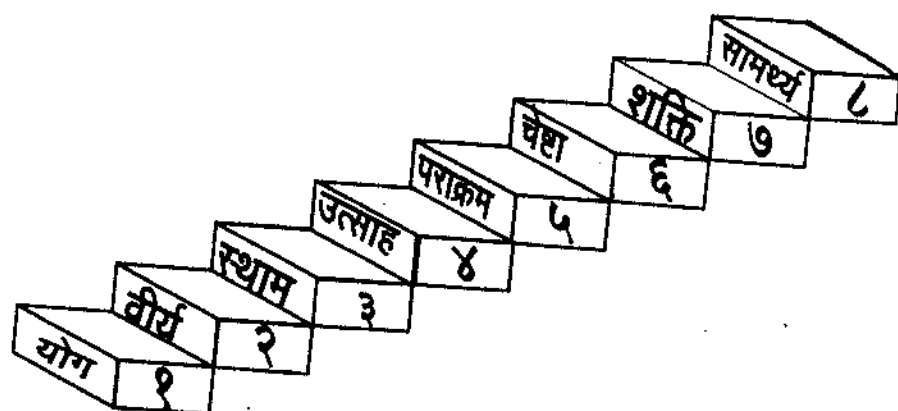
५) **पराक्रम**— अधोनयनं कर्मणः सच्छिद्रकुतुपात् तैलस्यैव घण्टिकायां वाऽमृतकलायाः । जैसे सच्छिद्र कोठी (पीप) में से तेल को नीचे गिराया जाय अथवा अमृतकला में से जैसे अमृत घटिका दें गिरे वैसे ही ऊपर गए हुए कर्मों को नीचे पटकना—अधोनयन की प्रक्रिया को पराक्रम कहते हैं ।

६) **चेष्टा**— स्वस्थानस्य कर्मणः शोषणं तप्तस्य सभाजनस्य जलस्यैव । जैसे गरम तपे हुए बर्तन में थोड़ा सा पानी जल्दी बाष्पीभवन हो जाता है, वैसे ही स्वस्थान आत्मप्रदेशों में रहे हुए कर्मों को सुखा देना उसे चेष्टा कहते हैं । इसमें शोषण क्रिया होती है ।

७) **शक्ति**— जीवकर्मणोर्वियोगं प्रत्याभिमुख्यजननं, तिलानामिव तैलवियोजनं यथा घाणकेन निपीडनम् । जैसे तिल में तैल अलग करने के लिए उसे तैली घाणी में पीलन करके निकालता है ठीक उसी तरह जीव—कर्म का वियोग करने के लिए अभिमुख होने को 'शक्ति' कहते हैं ।

८) **सामर्थ्य**— साक्षाज्जीव-कर्मणोर्वियोगकरणं खलतैलयोरिव । जैसे खल और तेल अलग किये जाते हैं वैसे ही कर्म और जीव का सर्वथा वियोग करने को सामर्थ्य कहते हैं । अथवा आत्मप्रदेशों से कर्मों को सर्वथा दूर—अलग ही कर देना सामर्थ्य है ।

इस तरह उपरोक्त इन आठों प्रकार की प्रक्रिया में समानार्थकता है । अतः योग—वीर्यादि पर्यायवाची शब्द हैं । सब का काम है ध्यान विशेष से निर्जरा = कर्मक्षय करना । लेकिन कर्मक्षय की इस प्रक्रिया में अन्दर गहराई में कितना थोड़ा सा अन्तर है वह व्याख्याकार ने दर्शाया है । इन आठों में आप देख सकते हैं कि क्रमशः एक से दूसरा प्रकार ज्यादा ऊँची कक्षा का है । एक से दूसरे में ध्यान की धारा तीव्र—तीव्रतर—तीव्रतम



बनती जाती है। जिसके आधार पर निर्जरा = कर्मक्षय भी ज्यादा-ज्यादा तीव्रतर-तीव्रतम होता ही जाता है। अतः क्रमशः उत्तरोत्तर ये विशेष बलशाली-प्रभावी है। लक्ष्य तो कर्मक्षय का ही है।

करण— करण भी जैन कर्मशास्त्र का विशेष (टेक्नीकल) पारिभाषिक शब्द है। यह आत्मा की विशिष्ट वीर्य शक्ति, आत्मा का विशुद्ध परिणाम विशेष अर्थ में प्रयुक्त है। कहाँ किस समय आत्मा के कर्मक्षय विषयक कौन से परिणाम कैसे होते हैं उसके आधार पर करण के भेद होते हैं। इस तरह करण के ८ प्रकार विशेष रूप से बताए गए हैं। वे इस प्रकार हैं— १) बंधन करण २) संक्रमण करण, ३) उद्धर्तना करण, ४) अपवर्तना करण, ५) उदीरणा करण, ६) उपशमना करण, ७) निषत्त करण, ८) निकाचना करण।

वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से प्रगट हुई आत्मा की वीर्यशक्ति—वीर्यगुण अथवा सुविशुद्ध आत्मपरिणामरूप आठों करण ये “स्थाम योग प्रकार” के आलंबन रूप है। “स्थाम” यह विशुद्ध ध्यान रूप है जो योग और वीर्य से भी ज्यादा सामर्थ्य रखता है। उसमें ज्ञानादि पाँच आचारों के सेवनपूर्वक अपूर्व भावोल्लास सहित विशुद्ध आत्म परिणामरूप कारण ही आलंबन रूप बनता है।

उपशमना—करण (अपूर्वकरण) करते समय जीवात्मा को प्रति समय अनंतगुण विशुद्ध आत्मपरिणाम होते हैं। उपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति के समय जीव शुभ कर्मों का बंध करता है। अशुभ कर्मप्रकृतियों का शुभ में संक्रमण करने को **संक्रमणकरण** कहते हैं। शुभ कर्मों की स्थिति और रस में वृद्धि अर्थात् उद्धर्तना करता है उसे **उद्धर्तनाकरण** कहते हैं। अशुभ कर्मों की स्थिति और रस में हानि—अर्थात् **अपवर्तनाकरण** करता है। तथा अशुभ कर्मों का क्षय करने अर्थात् खपाने के लिए उनकी उदीरणा की जाती है। उसे

उद्दीरणाकरण कहते हैं। मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का उपशमन करता है। अतः उसे उपशमनाकरण कहते हैं। कुछ शुभ प्रकृतियों की निधत्ती और निकाचना भी करता है। उसे निधत्तकरण तथा निकाचनाकरण कहते हैं।

इस तरह आत्मा की विशिष्ट वीर्यशक्ति अथवा—विशुद्ध आत्मपरिणाम द्वारा उपरोक्त आठों करण रूप कार्य होते हैं। उस विशिष्ट वीर्य या विशुद्ध आत्म परिणाम यह स्थाम योग का आलंबन कारण बनता है। अर्थात् 'स्थाम' यह उसका कार्य है। इस "स्थाम योग" विशेष शक्ति के प्रभाव से अपने आत्मप्रदेशों में से अलग हुए भिन्न हुए कर्मदलिकों को वहाँ—वहाँ से आकर्षित करता है। जैसे दंताली—झाड़ु के द्वारा कचरा धास—तृणादि को खींच लिया जाता है वैसे स्थाम शक्ति द्वारा ध्यान में ऐसी प्रबल शक्ति है कि जिससे आत्मप्रदेशों से अलग हुए कर्मदलिक एकत्रित हो जाते हैं। जिससे उनका क्षय करने का कार्य आसान बन जाता है।

८ करणों की व्याख्या—

पंच संग्रहकार श्री चन्द्रमहत्तराचार्य जैसे गीतार्थ ज्ञानी महापुरुष जिन्होंने पंचसंग्रह ग्रन्थ का सर्जन किया है उन्होंने अद्भुत विवेचन किया है। आठों करणों के विषय में स्वतंत्र दूसरे भाग का सर्जन किया है। उसमें काफी विस्तार से विवेचन किया है।

१) ?

२) संक्रमण करण—

बज्झंतियासु इयरा ता ओवि य संकमंति अत्रोत्रं ।

जा संतयाए चिद्धहि बंधाभावेवि दिद्धीओ ॥ १ ॥

जो कर्मप्रकृतियाँ सत्तास्वरूप में विद्यमान हैं वे अबध्यमान अर्थात् नहीं बंधाती प्रकृतियों का बध्यमान—बंधाती हुई प्रकृतियों में जो संक्रम होता है, अर्थात् बध्यमान प्रकृतियों के रूप में परिणमन होता है, अर्थात् अपने स्वरूप को छोड़कर बंधाती हुई प्रकृति के स्वरूप को धारण करती है उसे संक्रमणकरण कहते हैं। बंध का अभाव होते हुए भी दो दृष्टि से संक्रमण होता है। जिसे कर्मप्रकृति का जिसमें संक्रमण—परिणमन होता है वह उसमें समा जाती है। उसी रूप बन जाती है। अतः जिसमें संक्रमी उमी का कार्य करेगी।

३) उद्धर्तनाकरण — ४) अपवर्तनाकरण—

संक्रमकरण के पश्चात् उद्धर्तना तथा अपवर्तनाकरण होता है। ये दोनों शब्द परस्पर विरोधी गुणवाले विरुद्ध शब्द हैं। उद्धर्तना में शुभ कर्मों की रस और स्थिति में वृद्धि होती है, उसे उद्धर्तना कहते हैं। और अशुभ कर्मों की स्थिति तथा रस में हानि होती है, उसे अपवर्तना कहते हैं। अतः उद्धर्तना और अपवर्तना ये दोनों स्थिति और अनुष्ठान अर्थात् रस के विषयभूत हैं। उनमें स्थिति हो तो ही अनुष्ठान रस का संभव होने से प्रथम स्थिति की उद्धर्तना—अपवर्तना कही है। उसके पश्चात् रस की कही है। आत्मा के अपने पुरुषार्थ द्वारा स्थिति और रस की वृद्धि होती है उसे स्थिति और रस की उद्धर्तना कहते हैं। अतः उद्धर्तना का विषय प्रकृति—प्रदेश नहीं परन्तु रस और स्थिति है। प्रकृतिसंबंध तथा प्रदेशाबंध में किसी प्रकार की वृद्धि—हानि नहीं होती है। अर्थात् उद्धर्तना—अपवर्तना नहीं होता है। मात्र रस और स्थिति में ही होती है।

५) उदीरणाकरण—

जं करणेणो कङ्किय दिज्जइ उदए उदीरणा एसा ।

पनत्तिट्ठित्तिमाइ कज्ज मूलुत्तरमेयओ दुविहा ॥ १ ॥

जिस करण द्वारा कर्मादलिक खींचकर उदय में लाए जाते हैं उसे उदीरणाकरण कहते हैं। अर्थात् कथायुक्त या रहित जिस आत्मवीर्य की प्रकृति के द्वारा उदयावलिका की बहिर्वर्ती—ऊपर के स्थानकों में रहे हुए कर्माणुओं को खींचकर उदयावलिका में लाया जाय उनका उदयावलिका में प्रक्षेप होता है अर्थात् उदयावलिका स्थान में रहे हुए दलिकों के साथ भोगे जाय वैसे किये जाते हैं उसे उदीरणाकरण कहते हैं। उस प्रकार की उदीरणा प्रकृति, स्थिति, रस, प्रदेश इन चारों के कारण चार प्रकार की है, जिनका नामकरण इस प्रकार किया जाता है— १) प्रकृत्युदीरणा, २) स्थित्युदीरणा, ३) रसोदीरणा (अनुष्ठागोदीरणा) और ४) प्रदेशोदीरणा। ये चारों मूल प्रकृतियों के तथा उत्तरप्रकृतियों के भेद से दो प्रकार के हैं। मूल कर्म प्रकृतियाँ ८ हैं अतः आठ प्रकार से, और उत्तर कर्म प्रकृतियाँ १५८ प्रकार से हैं अतः १५८ भेद से हैं।

६) उपशमनाकरण—

देसुवसमणा सत्वाण होइ सम्भोजसामणा मोहे ।

अपसत्ता परसत्ता जा करणुवसमणाए अहिगारो ॥ १ ॥

उपशमन देश और सर्व की दृष्टि से दोनों प्रकार का होता है। देशोपशमना और सर्वोपशमना। देशोपशमना अर्थात् अल्पांश में उपशमन आठों कर्मों का होता है। जबकि सर्वोपशमना मात्र मोहनीय कर्म की ही होती है। उनके पर्यायवाची अन्य नामों में देशोपशमना को अप्रशस्तोपशमना और सर्वोपशमना को प्रशस्तोपशमना भी कहते हैं। इतना ही नहीं, देशोपशमना को १) अनुदयोपशमना, २) अगुणोपशमना और ३) अप्रशस्तोपशमना ऐसे तीनों समानार्थक-पर्यायवाची नाम भी दिये गए हैं।

इसी तरह सर्वोपशमना को उदयोपशमना, गुणोपशमना, तथा प्रशस्तोपशमना तीनों पर्यायवाची नाम दिये हैं। ये सभी पर्यायवाची नाम उस उस प्रकार की क्रिया की सार्थकता को लेकर बने हैं अतः सार्थक नाम है।

इसके अन्तर्गत ३ करण— देशोपशमना दो प्रकार से होती है। १) यथाप्रवृत्तिकरण से, और २) यथाप्रवृत्तिकरण के बिना भी। जबकि सर्वोपशमना मात्र यथाप्रवृत्तिकरण से ही होती है। १) यथाप्रवृत्तिकरण, २) अपूर्वकरण, और ३) अनिवृत्तिकरण इन तीनों के द्वारा कराई हुई जो उपशमना उसे करणकृत उपशमना कहते हैं।

जैसा कि यथाप्रवृत्तिकरणादि का विवेचन पहले काफी कर आए हैं। शायद आपको ख्याल ही होगा। १) पर्वत पर से निकलती हुई नदी जैसे अपने प्रवाह में पत्थरों को भी घसीटती ले जाती है वे पत्थर घिस-घिस कर कितने सुंदर गोल हो जाते हैं। इसे नदीगोलपाषाण न्याय कहते हैं। ठीक इसी तरह संसार में बहते दुःख के प्रवाह में अनिच्छा से भी अकाम निर्जरा करते हुए कई जीव गोल पाषाण की तरह देशोपशमनाकरण करते हुए ग्रन्थि प्रदेश के किनारे पहुँचते हैं। इसे यथाप्रवृत्तिकरण कहते हैं। याद रखिए, यह भी एक प्रकार का करणविशेष है, आत्मवीर्यविशेष है। इसमें आत्मा की शक्ति ही प्रयुक्त होती है। ऐसे तीनों करण पंचसंग्रह ग्रन्थ में दर्शाए हैं।

पञ्चम अहापवतं बीधं तु निष्कृति तद्व्यमणियद्वी ।

अंतोमुहूर्तिथाइं उवसमअइं च लहइ कमा ॥ ५ ॥

प्रथम यथाप्रवृत्तिकरण, द्वितीय अपूर्वकरण, और तृतीय अनिवृत्तिकरण इस तरह क्रम से ३ करण हैं। इन तीनों के होने का काल अंतर्मुहूर्त है। इन तीनों के बाद अन्तर्मुहूर्त कालप्रमाण उपशमन सम्यक्त्व प्राप्त होता है। अतः इनकी गणना उपशमनाकरण के अंतर्गत की गई है। करण अर्थात् पूर्व—पूर्व समय से उत्तर—उत्तर समय पर्यन्त अनन्त अनन्त गुणे बढ़ते हुए आत्मा के विशुद्धतर परिणाम विशेष। यथाप्रवृत्तिकरण और अपूर्वकरण इन

दोनों करणों में जघन्य और उत्कृष्ट ऐसी २ प्रकार की विशुद्धि होती है। कारण कि प्रति समय असंख्य लोकाकाश प्रमाण अध्यवसाय है। पंचसंग्रह के द्वितीय भाग के उपशमनाकरण के १० वे श्लोक में अध्यवसाय की विशुद्धि की बात लिखते हुए कहते हैं कि... अपूर्व करण के प्रथम समय में जो उत्कृष्ट विशुद्धि है उससे दूसरे समय की जघन्य विशुद्धि भी अनन्तगुनी होती है। उससे दूसरे समय की आत्मा के अध्यवसाय की उत्कृष्ट विशुद्धि अनन्तगुनी होती है। इस तरह संपूर्ण अपूर्व करण के अतर्मुहूर्त काल पर्यन्त जानना चाहिए। तब जाकर अनादि—अनन्त कालीन राग—द्वेष की निबिड ग्रन्थि का भेदन होता है। और आत्मा इस उपशमनाकरण से प्रथम उपशमसम्यक्त्व प्राप्त करती है। इनका वर्णन पहले काफी विशद रूप से कर चुके हैं, अतः यहाँ तो करण के अधिकार में भेद दर्शन मात्र कराया है।

अपूर्वकरण में १) अपूर्व स्थिति घात, २) अपूर्व रसघात, ३) अपूर्व गुणश्रेणि, ४) अपूर्व स्थितिबंधादि होते हैं। अनिवृत्तिकरण मोती की माला की तरह होता है। उसमें भी चढ़ते क्रम से जैसे एक मोती से दूसरा बड़ा, दूसरे से तीसरा बड़ा, इस तरह क्रमशः सभी बड़े बड़े हो उसी तरह अनिवृत्तिकरण में पूर्व—पूर्व समय से उत्तर—उत्तर करण में अनन्तगुनी विशुद्धि होती है। अतः मुक्तावली के क्रम की उपमा दी है। अपूर्वकरण की तरह ही अनिवृत्ति करण में भी स्थितिघातादि चारों होते हैं। अनिवृत्तिकरण का संख्यातवाँ भाग शेष रहता है तब प्रथमस्थिति और अंतरकरण होता है। दोनों करणों का क्रिया काल अंतर्मुहूर्त परिमित है।

७ निधत्तकरण और ८ वां निकाचनाकरण—

देसुवसमणा तुल्ला होइ निहसी निकायणा नवरि ।

संकमर्ण वि निहसीइ नतिय सध्वाणि इधरीए ॥ १०३ ॥

देशोपशमनाकरण के तुल्य निधत्तकरण और निकाचनाकरण है। मात्र निधत्ति में संक्रमण नहीं होता है और निकाचना में सभी करण लागू नहीं होते हैं। देशोपशमनाकरण में जैसे भेद स्वामी—साद्यादि प्ररूपना, तथा प्रमाणादि जो भी कुछ कहा है वह सब निद्धति और निकाचना में भी समझना चाहिए। विशेष अन्तर मात्र इतना ही है कि—देशोपशमनाकरण में जब संक्रमण, उद्धर्तना और अपवर्तना ये तीनों करण होते हैं तब निधत्तिकरण में संक्रमणकरण के बिना उद्धर्तना और अपवर्तना ये दो ही करण प्रवर्तते हैं। तथा निकाचनाकरण में कोई भी करण प्रवर्तता ही नहीं है। क्योंकि निकाचित दल सर्व

करणों के लिए अयोग्य है। जहाँ जहाँ गुणश्रेणि होती है वहाँ प्रायः देशोपशमना निधत्ति, निकाचना और यथाप्रवृत्तसंक्रम का भी संभव होता है। अतः उनका परस्पर अल्पबहुत्व कहते हैं— किसी भी कर्म की गुण-श्रेणि में गुणश्रेणि द्वारा जिन दलिकों की व्यवस्था—स्थापना होती है वह अल्प है। तथा देशोपशमना द्वारा जो उपशमित होते हैं वे असंख्यातगुणे हैं, उनसे जो दलिक निधत्तिरूप होते हैं वे असंख्यातगुणे हैं। और उनसे भी जो निकाचित रूप दलिक होते हैं वे असंख्यातगुण होते हैं, और उनसे यथाप्रवृत्त संक्रम द्वारा संक्रमित दलिक असंख्यात गुणे होते हैं। इस तरह की निधत्ति एवं निकाचनाकरण की व्याख्या है।

आठों करणों में करण रूप आत्मवीर्य के जो अध्यवसाय विशुद्धि रूप परिणाम होते हैं उनका अल्पबहुत्व इस प्रकार दर्शाते हैं। स्थितिबंध और रस (अनुभाग) बंध के अर्थात् बंधनकरण के हेतुभूत अध्यवसाय अल्प होते हैं। उनसे उदीरणा के योग्य अध्यवसाय असंख्यात गुणे होते हैं। उनसे उद्धर्तनाकरण, अपवर्तनाकरण तथा संक्रमणकरण इन तीन करणों के समुदित अध्यवसाय असंख्यातगुणे रहते हैं। उनमें उपशमनायोग्य अध्यवसाय असंख्यातगुणे हैं। उनसे निधत्तियोग्य अध्यवसाय असंख्यातगुणे होते हैं और उनसे भी निकाचनायोग्य अध्यवसाय असंख्यातगुणे ज्यादा होते हैं। इस तरह १) स्थितिबंध, २) उदीरणा, ३) त्रिविध संक्रमण, और उपशमनाकरण अर्थात् अध्यवसाय अनुक्रम से असंख्यात गुणे ज्यादा-ज्यादा होते हैं। इस तरह ये ८ जो करणरूप हैं अर्थात् आत्मा के विशुद्धतम अध्यवसाय रूप जो परिणाम हैं उनका स्वरूप समझकर शुभ विशुद्ध परिणामरूप आत्मवीर्य—आत्मबल बढ़ाना चाहिए।

८ वाँ गुणस्वरूप— अपूर्वकरण—

अपूर्वत्वगुणापित्वत्वात्पूर्वकरणं मतम्।

नामकरण की शब्दिक व्याख्या इस प्रकार की गई है— पूर्व = अर्थात् पहले...। आज के वर्तमान काल की अपेक्षा पहले भूतकाल में कभी। इस पूर्व = पहले कालवाची शब्द के आगे विशेषणकी “अ” लगा दिया है। जिससे अ + पूर्व = अपूर्व = अर्थात् पहले कभी भी नहीं। आज वर्तमान काल तक संसार के भूतकाल में जितना लम्बा—चौड़ा समय बीता है उस अनन्त भूतकाल में... करण = आत्मपरिणाम रूप जो विशुद्धतम अध्यवसाय होते हैं वे। ऐसे विशुद्धतम आत्मपरिणामविशेष जो पहले कभी भी प्राप्त नहीं हुए हैं उन्हें अपूर्वकरण कहा है।

शायद आपके मन में ऐसी शंका खड़ी होगी कि जब भूतकाल अनन्त पुद्गल परावर्त काल (अनन्त वर्षों) का बीत चुका है फिर भी ऐसे भाव या आत्म विशुद्ध परिणाम आज ही प्रकट हुए और पहले कभी क्यों नहीं हुए ? इसके उत्तर में यही कहना है कि—इतने लम्बे भूतकाल में जीव जिन कषायों की जंजीरों में बंधा हुआ रहा तथा वे कषाय भी तीव्रता की कक्षा के रहे उनके कारण आत्मगुण जो आवृत्त रहे अतः आत्मा के विशुद्ध भाव प्रगट नहीं हो पाए । कषाय आत्मगुणघातक रहे हैं । आत्मसंमुखीकरण की क्रिया ये कषाय कभी करने ही नहीं देते हैं, अतः आत्मविमुखीकरण का कार्य इन कषायों के द्वारा होता है । धीरे—धीरे अनन्तानुबंधी के—४, अप्रत्याख्यानीय की कक्षा के—४, प्रत्याख्यानीय की कक्षा के भी ४ — क्रोध, मान, माया और लोभ ऐसे ४ + ४ + ४ = १२ कषायों की निवृत्ति के बाद अब संज्वलन की कक्षा के ४ कषाय अवशिष्ट बचे हैं ।

अब सातवें अप्रमत्त गुणस्थान पर पहुँचा हुआ साधक जीव जिसके संज्वलन के क्रोध, मान, माया और लोभ ये ४ कषाय तथा हास्यादि ६ और ३ वेद के ऐसे नौ नेकषायों की अत्यन्त मन्दता के कारण पहले कभी भी नहीं प्राप्त हुए ऐसे अपूर्व परम आनन्दमय आत्म परिणाम रूप करण जब प्राप्त करता है, तब अपूर्वकरण की अवस्था प्राप्त हुई ऐसा कहा जा सकता है । आध्यात्मिक विकास का यह ८ वाँ सोपान है, गुणस्थान है । इस ८ वे गुणस्थान में योगी ध्यानी साधक को पहले अनन्त भूतकाल में कभी भी प्राप्त नहीं हुई ऐसी अपूर्व आत्मीय गुणों की, अपूर्व विशुद्ध आत्मा परिणामरूप अध्यवसायों की, अपूर्व परमानन्द की प्राप्ति होती है । जी हूँ जैसे जैसे कषायों का क्षय—नाश होता है वैसे वैसे आत्मा के अध्यवसाय अत्यन्त विशुद्ध—विशुद्धतर कक्षा के होते ही जाते हैं ।

स्वाभाविक है कि पहले कषायों की प्रचुरता बलवत्तरता थी इसलिए पूर्वकाल में कभी आत्मा में ऐसा विशुद्ध भाव—परिणाम जगे ही नहीं और आज कषायों के आवरण के विलय के कारण अब अत्यन्त शुभ अध्यवसाय—भाव आत्मा के ज्ञानादि गुणों के खजाने में से प्रगट होने लगे हैं । अतः आत्मा को परमानन्द की प्राप्ति होती है । सप्तम अप्रमत्त संयत गुणस्थान पर पहुँचे हुए महात्मा प्रति समय परिणामों की अनन्त गुनी विशुद्धि के कारण अपूर्वकरण की कक्षा के आत्मपरिणामों को प्राप्त करता है तब उस श्रमण महात्मा को अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती—आठवें सोपान पर आरूढ़ हुए माने गए हैं । गोम्पटसार के जीव काण्ड में कहते हैं कि—

अंतोमुहूतकालं गमिऊण अधापवत्तकरणं तं ।

पडिसमयं सुज्झंतो अपुव्वकरणं समल्लियई ॥ ५० ॥

अर्थात् अधःप्रवृत्तकरण के अंतर्मुहूर्त काल को व्यतीत करके सातिशय अप्रमत्त साधक प्रतिसमय जब विशुद्ध परिणामों को प्राप्त करता है तब वह अपूर्वकरण गुणस्थानवाला कहलाता है। इस ८ वें गुणस्थान में साधक प्रत्येक समय में अपूर्व आत्म-परिणामों को प्राप्त करता जाता है। अतः भिन्न समयवर्ती भिन्न जीवों के परिणाम पृथक्-पृथक् होते हैं। अर्थात् अधःप्रवृत्तकरण के समान परस्पर सदृश नहीं होते हैं परन्तु एक समयवर्ती जीवों के परिणाम सदृश और विसदृश दोनों प्रकार के होते हैं। अथवा इसको अपूर्वकरण गुणस्थान इसलिए कहा है कि... किसी आत्मोत्थानकारी आत्मा के काल में ऐसी अपूर्व अवस्था, अपूर्व आत्मबल, एवं आत्म विशुद्धि प्रगट होती है। जैसी पहले कभी भी नहीं हुई थी। ऐसे अपूर्व आत्मबलपूर्वक कर्मों की प्रदेशस्थिति तथा अप्रशस्त प्रकृतियों का अनुभाग—घात वेगपूर्वक होता है तथा शुभ कर्मों का अनुभागविशेष बढ़ता है और नूतन कर्मबंध अधन्य स्थितिवाले बन्धते हैं।

अपूर्व शब्द का एक अर्थ जो पहले किया है अर्थात् पूर्व में—पहले के काल में कभी भी नहीं ऐसा अपूर्व। अब दूसरे अर्थ में अपूर्व = अत्यन्त नवीन = नए, करण अर्थात् आत्मपरिणाम विशेष अर्थात् पहले कभी नहीं प्रगट हुए ऐसे नित्य नए—नए आत्मा के विशुद्ध—विशुद्धतर अध्यवसाय अर्थात् परिणाम विशेष। चारित्र मोहनीय कर्म की २१ प्रकृतियों के उपशम और क्षय में निमित्त होनेवाले, पूर्व में अप्राप्त, विशिष्ट वृद्धि गत, शुद्धोपयोग परिणाम युक्त जीव अपूर्वकरण प्रविष्ट शुद्धिसंयत है।

विशेषताएं—

इस अपूर्व गुणस्थान की अनेक विशेष कक्षा की विशेषताएं हैं....

- १) प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धि होती है।
- २) पूर्वबद्ध कर्मों का असंख्यातगुना स्थितिकांडकघात होता है।
- ३) नए कर्मों का स्थितिबंध बिल्कुल कम हो जाता है।
- ४) पहले बंधे हुए कर्मों का असंख्यातगुना अनुभाग—कांडक घात।
- ५) गुणश्रेणी निर्जरा।
- ६) गुण—संक्रमण अर्थात् अनेक अशुभ प्रकृतियाँ शुभ में बदलती हैं।
- ७) भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम समान नहीं होते हैं।
- ८) समान या एक समयवर्ती जीवों के परिणाम समान तथा असमान दोनों प्रकार के होते हैं।

नियट्टि बादर (निवृत्ति बादर) = अपूर्व करण गुणस्थान—

इसी आठवें गुणस्थान का दूसरा नाम निवृत्ति बादर भी है। निवृत्ति के लिए प्राकृत भाषा में नियट्टि शब्द है। कषायों के २ भेद किये हैं। १) बादर और २) सूक्ष्म। इनमें से स्थूल—कक्षा के जो बादर कषाय हैं उनका क्षय करना—नाश करना। और चौथे संज्वलन की कक्षा के जो सूक्ष्म कषाय पड़े हैं वे होते हुए भी जिसे परेशान न कर सके ऐसे बादर कषायों की निवृत्ति हो जाती है। यहाँ कषायों की निवृत्ति के बाद... जो आत्मा के उत्पन्न अध्यवसाय उसे भी नियट्टि—निवृत्ति कहते हैं। अतःकरण, आत्मपरिणाम, अध्यवसाय और निवृत्ति ये सभी समानार्थक पर्यायवाची नाम हैं। बादर कषायों की निवृत्ति हो जाती है, अतः निवृत्ति बादर अवस्था अपूर्वकरण रूप गुणस्थान है।

प्रत्याख्यानीय कषाय चतुष्क का क्षय अथवा उपशम करके जीव सातवें अप्रमत्त गुणस्थान पर आता है। वहाँ सूक्ष्म विचारों से भी पर हो जाता है। तब जाकर प्रमादरहित ध्यानावस्था बढ़ती है। ऐसे धर्मध्यान में जब आगे बढ़कर जीव कर्मों को दबाने के बजाय क्षय समूल नष्ट करता है और काफी गहरा ध्यान करता है तब आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान के सोपान पर आरूढ होता है। यहाँ आकर धर्मध्यान में से शुक्ल ध्यान में प्रवेश करता है। यहाँ ऐसी अवस्था में बादर—स्थूल कक्षा के कषायों की निवृत्ति होने से चारित्र मोहनीय कर्म के संज्वलन कषाय का क्षय करने की योग्यता प्राप्त होती है।

आध्यात्मिक विकास के पथ पर जीव दो बार = दो जगह अपूर्वकरण करता है। पहला अपूर्वकरण जीव मिथ्यात्व के गुणस्थान में करके सीधा चौथे सम्यक्त्व के गुणस्थान पर पहुँचता है। उस समय पहला अपूर्वकरण जीव ने दर्शन गुण (श्रद्धा के भाव) में किया था। दर्शनमोहनीय कर्म में जो मिथ्यात्व प्रबल था उसे हटाना था, और चारित्र मोहनीय के घर में से अनन्तानुबन्धी कषाय को भी हटाना था इसलिए उसको भी साथ लेकर अनन्तानुबन्धी सप्तक का क्षय करके अपूर्व शुद्ध अध्यवसायों से सम्यक्त्व सम्यग् दर्शन की प्राप्ति की थी। वैसे ही दूसरा अपूर्वकरण यहाँ ८ वें गुणस्थान पर चारित्र मोहनीय कर्म के घर में करना है। अतः चारित्र मोहनीय कर्म के घर में मुख्य जो कषाय भाव है उनमें भी जो बादर की कक्षा के स्थूल कषाय हैं उनका क्षय करके चारित्र गुण के अपूर्व विशुद्ध अध्यवसाय प्राप्त करना है। आत्मा के यथाख्यात स्वरूप या अनन्त चारित्र गुण के अत्यन्त विशुद्ध स्वरूप का अवलोकन या प्रगटीकरण या उस गुण का रसास्वाद या अनुभूति इस दूसरे अपूर्वकरण में प्राप्त होती है। इसमें आत्मा का पुरुषार्थ इतना ज्यादा तीव्र होता है

कि... साधक को अपूर्व भावधारा उल्लसित होती है। और उसी से कर्मों का नाश होता है। उससे शीघ्र ही कर्मप्रकृतियों का क्षय = नाश करके आगे बढ़ने लगता है। उस समय परिणाम—अध्यवसायों की धारा इतनी ज्यादा विशुद्ध हो जाती है कि.... पहले कभी भी कदापि प्राप्त न हुआ हो ऐसा उल्लास, परमानन्द, आत्मप्रकाश अपूर्व आत्मवीर्य प्रगट होता है। यही अपूर्वकरण का परिणाम है।

इस अपूर्व आत्म विशुद्ध अध्यवसायों के प्रति समय अनन्त गुनी विशुद्धि होती जाती है, जिसके कारण कर्म का उपशम, क्षय या स्थिति घात और अनुभाग खंडन होता है। मोहनीय कर्म का संज्वलन कक्षा का मान मंद होते ही या क्षय होते ही जीव श्रेणी शुरू करता है। इस कक्षा में पहुँचे हुए साधक अपने आप को पवित्र ध्यान में मग्न—तल्लीन रखता है। यहाँ ऐसी कक्षा में आत्मा के उत्थान—विकास के दो मार्ग निश्चित होते हैं। १) उपशम श्रेणी और २) क्षपक श्रेणी।

अपूर्वकरण गुणस्थान में ५ बातें—

आठवें गुणस्थान के समय जीव पाँच वस्तुओं का विधान करता है— १) अपूर्व स्थितिघात, २) अपूर्व रसघात, ३) अपूर्व गुणश्रेणी, ४) अपूर्व गुणसंक्रमण, ५) अपूर्व स्थितिबंध।

१) अपूर्व स्थितिघात— कर्मों की बड़ी स्थिति—जो कर्म दलिक आगे उदय में आनेवाले हैं, उन्हें अपवर्तनाकरण के द्वारा अपने उदय के नियत समयों से हटा देना स्थितिघात कहलाता है।

२) अपूर्व रसघात— पहले के बंधे हुए ज्ञानावरणीयादि कर्मों के फल देने की तीव्र शक्ति को अपवर्तनाकरण के द्वारा मन्द कर देना रसघात कहलाता है।

३) अपूर्व गुणश्रेणी— जिन कर्मदलिकों का स्थितिघात किया जाता है अथवा जो कर्मदलिक अपने अपने उदय के नियत समयों से हटाये जाते हैं उनको समय के क्रम से अन्तर्मुहूर्त में स्थापित कर देना गुणश्रेणी कहलाता है। स्थापित करने का क्रम इस प्रकार का है— उदय के समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त के जितने समय होते हैं उनमें से उदयावलि के समयों को छोड़कर शेष रहे समयों में से प्रथम समय में जो दलिक स्थापित किये जाते हैं, वे कम होते हैं। दूसरे समय में स्थापित किये जानेवाले दलिक पहले समय में स्थापित दलिकों से असंख्यगुणे अधिक होते हैं। इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त के चरम समय

पर्यन्त आगे—आगे के समय में स्थापित किये जानेवाले दलिक पहले—पहले के समय में स्थापित किये गए दलिकों से असंख्यात गुने ही अधिक समझने चाहिए । अत्यन्त विशुद्ध अध्यवसाय के द्वारा अपवर्तनाकरण से ऊपर की स्थिति में से उतारे हुए दलिकों को शीघ्र क्षय करने के लिए उदय के समय से प्रारंभकर अन्तर्मुहूर्त के समय प्रमाण स्थानकों में पूर्व—पूर्व स्थानक से उत्तर—उत्तर स्थानकों में असंख्य—असंख्य गुणाकाररूप से दलिकों की स्थापना करनी इसे गुणश्रेणी कहते हैं ।

४) अपूर्व गुणसंक्रम— पहले बंधी हुई सत्ता में रही हुई अशुभ प्रकृतियों को वर्तमान में बंध हो रही शुभ प्रकृतियों में स्थानांतरित कर देना अर्थात् परिणत कर देना गुण संक्रमण कहलाता है । इसके क्रम में प्रथम समय में अशुभ प्रकृतियों के जितने दलिकों का शुभ प्रकृति में संक्रमण होता है उसकी अपेक्षा दूसरे समय में असंख्यात गुने अधिक दलिकों का संक्रमण होता है । तीसरे में दूसरे से भी असंख्यगुना अधिक । इस प्रकार जब तक गुण संक्रमण होता रहता है, तब तक पहले—पहले समय में संक्रमण किये गए दलिकों में आगे—आगे के समय में असंख्य गुने अधिक दलिकों का ही संक्रमण होता है ।

५) अपूर्व स्थितिबंध— पहले अशुद्ध परिणामों के कारण कर्मों की दीर्घ स्थिति बंधती थी । अब इस गुणस्थान में तीव्र विशुद्धि होने से अल्प—अल्प स्थिति बंधती है । और वह भी पूर्व—पूर्व से उत्तर—उत्तर की स्थिति का बंध पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग घटता जाता है । अथवा अपूर्वकरण के जो पहले समय का जो स्थितिबंध होता है । उससे अनुक्रम से घटते हुए उसके पश्चात् का स्थितिबंध पल्योपम का असंख्यातवे भाग का हीन (कम) होता है । इस तरह सभी स्थितिबंधों का समझना चाहिए ।

प्रत्येक स्थिति बंध का काल दो प्रकार से होता है । अतः अपूर्वकरण भी दो प्रकार से होता है— १) क्षपक और दूसरा उपशम से ।

यथार्थ नामकरण— यद्यपि स्थितिघात आदि ये पाँचों बातें पहले के गुणस्थानों में भी होती हैं लेकिन सामान्य रूप से होती हैं । तथापि आठवें गुणस्थान में ये पाँचों अपूर्वरूप से होती हैं । क्योंकि पहले के गुणस्थानों में अध्यवसायों की जितनी शुद्धि होती है उसकी अपेक्षा आठवे गुणस्थान में उनकी शुद्धि अधिक होती है । पहले के गुणस्थान में बहुत कम स्थिति का और अत्यल्प रस का घात होता है, परंतु ८ वे गुणस्थान में अधिक स्थिति और अधिक रस का घात होता है । इसी तरह पहले के गुणस्थान में गुणश्रेणी और कालमर्यादा अधिक होती है । तथा जिन दलिकों की गुणश्रेणी (रचना या स्थापना) की

जाती है वे दलिक अल्प होते हैं। और ८ वे गुणस्थान में गुणश्रेणीयोग्य दलिक तो बहुत अधिक होते हैं, परन्तु गुणश्रेणि का कालमान बहुत कम होता है। पहले के गुणस्थान की अपेक्षा गुणसंक्रमण भी बहुत कर्मों का होता है। अतएव वह अपूर्व होता है और आठवें गुणस्थान में इतनी अल्प स्थिति के कर्म बांधे जाते हैं कि जितनी अल्पस्थिति के कर्म पहले के गुणस्थान में कदापि नहीं बंधते थे। इस प्रकार इस ८ वे गुणस्थान में स्थितिधातादि पाँचों पदार्थों का अपूर्व विधान होने से इस आठवें गुणस्थान का ३ पूर्वकरण नामकरण सार्थक है।

आठवे गुणस्थान में ध्यानयोगी आत्मा की विशिष्ट अवस्था शुरू होती है। औपशमिक या क्षायिक भावरूप विशिष्ट फल प्राप्त करने के लिए चारित्र मोहनीय कर्म का उपशमन या क्षय करना पड़ता है। इसके लिए भी ३ करण करने पड़ते हैं। १) यथा-प्रवृत्तिकरण, २) अपूर्वकरण, ३) अनिवृत्तिकरण। इनमें क्रमशः यथाप्रवृत्तिकरण—७ वाँ गुणस्थान, ८ वाँ गुणस्थान अपूर्वकरण का, तथा अनिवृत्तिकरण रूप नौवाँ गुणस्थान है। जो अपूर्वकरण गुणस्थान प्राप्त कर चुके हैं, कर रहे हैं या भविष्य में भी प्राप्त करेंगे उन सब जीवों के अध्यवसायस्थानों (परिणाम भेदों) की संख्या असंख्यात लोकाकाश के प्रदेशों के समकक्ष होती है।

कालमान तथा कर्मप्रकृतियों का क्षयादि—

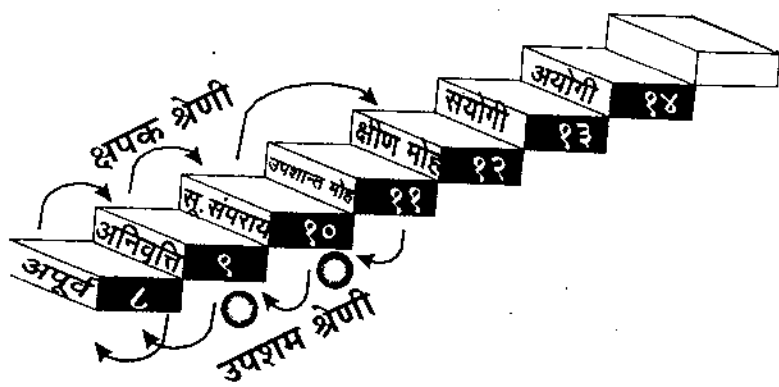
८ वे गुणस्थान का कालमान जघन्य १ समय का तथा उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। इसमें ७ भाग होते हैं। प्रथम भाग में देवायु को छोड़ ५८ कर्मप्रकृतियों का बंध होता है। २ से छठे भाग तक निद्रा और प्रचला इन दो प्रकृतियों को छोड़कर ५६ कर्मप्रकृतियों का बंध होता है। प्रथम भाग में २ प्रकृतियाँ निद्रा और प्रचला बंध की व्युच्छिति मनुष्यायु की विद्यमानता में होती है। उपशम श्रेणी पर आरूढ़ जीव नियम से चारित्र मोहनीय कर्म का उपशमन करते हैं। उपशम श्रेणी पर आरूढ़ जीव ८ वे गुणस्थान के प्रथम समय में मृत्यु नहीं पाता है, किन्तु दूसरे आदि समयों में मृत्यु संभव है। अतः निद्रा और प्रचला प्रकृतियों का बंध नहीं होता है। क्षपकश्रेणी में तो मरण वैसे भी संभव नहीं है।

पहले अशुद्ध परिणामों के कारण कर्मों की लम्बी स्थिति का बंध होता था, वे अब ८ वे गुणस्थान पर तीव्र विशुद्धि होने के कारण जघन्य १ समय और उत्कृष्ट से अन्तर्मुहूर्त परिमित काल की ही बंधाती है। यहाँ २५ क्रियाओं में से १ माया वृत्तियाँ की संभावना लगती है। आठों कर्मों की यहाँ सत्ता रहती है। बंध की स्थिति में आयुष्य कर्म को छोड़कर

शेष सातों कर्मों का बंध होता है। आठों कर्मों का वेदन करना पड़ता है। तथा आठों कर्मों का इस गुणस्थान पर उदय भी होता ही है। मोहनीय और आयुष्य कर्म इन दो की उदीरणा नहीं होती है। शेष ६ कर्मों की उदीरणा होती है। निर्जरा का तो सवाल ही नहीं है। आठों कर्मों की निर्जरा होती है। पाँच प्रकार के भावों में से उपशम श्रेणीवाले जीव के ५ तथा क्षपक श्रेणीवाले जीव के ४ भाव होते हैं। बंध हेतुओं के विषय में मिथ्यात्व और अविरति तथा प्रमाद के बंध हेतु तो यहाँ है ही नहीं। इसलिए इनका तो सवाल ही खड़ा नहीं होता है। शेष दो कषाय और योग ये बंध हेतु अभी उपस्थित हैं। ८ वे अपूर्व करण गुणस्थान में संज्वलन की कक्षा के क्रोधादि चारों कषाय स्थूल की कक्षा के हैं। तथा मन—वचन—काया के योग भी है ही, जो बंध हेतु का काम करते ही हैं। २२ परीषद उसे सहन करने ही पड़ते हैं। वैसे १५ योग में से ८ योग होते हैं। उपयोग १२ में से ७ होते हैं। इनमें ४ ज्ञान के तथा ३ दर्शन के होते हैं, ७ वे गुणस्थान की तरह। चौथे गुणस्थान पर ६ में से सिर्फ १ शुक्ल लेश्या ही होती है। ५ प्रकार के सामायिक में से सामायिक और छेदोपस्थापनीय होते हैं। तथा समकित भी उपशम और क्षायिक दो ही होते हैं।

इस तरह प्रवचन सारोद्धार ग्रन्थ में कहा है कि “अपूर्व—अभिनव करण—स्थितिधातु, रसधातु, गुणश्रेणी, गुणसंक्रम, स्थितिबंधानां पंचानां पदार्थानां निर्वर्तनं यस्यासौ अपूर्वकरणः” अभिनव पाँच पदार्थों के निर्वर्तन को “अपूर्वकरण” कहते हैं। ये पाँच पदार्थ अपूर्व स्थितिधातु, अपूर्व रसधातु, अपूर्व गुणश्रेणी, अपूर्व गुणसंग्रह और अपूर्व स्थितिबंध हैं। इनसे निर्वर्तन है।

श्रेणी के श्रीगणेश—



तत्रापूर्वगुणस्थानाद्यांशदेवाधिरोहति ।

शमको हि शमश्रेणि क्षपकः क्षपकावलीम् ॥ ३९ ॥

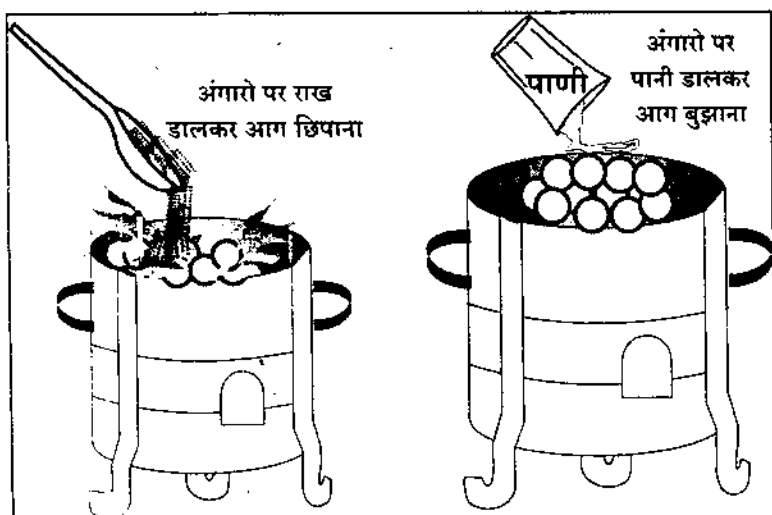
श्रेणी

उपशम श्रेणी

क्षपक श्रेणी

आठवें गुणस्थान पर आरूढ होनेवाले जीव दो प्रकार के होते हैं— १) उपशमक तथा २) दूसरा क्षपक—आत्मिक विकास यात्रा की दिशा में आगे बढ़नेवाला साधक योगी जो मोह कर्म के संस्कारों को शमाता—दबाता जाता है और आगे बढ़ने में जल्दबाजी करता है। करते—करते मोहनीय कर्म की सर्व प्रकृतियों का उपशमन कर देता है। वह उपशमक साधक कहलाता है। बस, कर्म प्रकृतियों को शमाने—शान्त करने—दबाने पर ही विश्वास रख लिया ... कि हाँ, अब अपना काम हो गया।

दूसरा जीव ठीक इसकी विपरीत वृत्तिवाला है। इसको भी आध्यात्मिक विकास यात्रा में आगे ही बढ़ना है। अतः दोनों प्रकार के साधकों का लक्ष्य एक जैसे—समान है। परन्तु दोनों की वृत्ति स्वभाव में अन्तर है। यह क्षपक साधक—मोहनीय कर्म की समस्त प्रकृतियों का जड़ मूल से समूल नाश—क्षय करता है, फिर ही विश्वास करता है। इसके बिना आगे ही नहीं बढ़ता है। दोनों साधक हैं। दोनों आत्मा का विकास—अभ्युदय साधनेवाले साधक हैं। लेकिन ... मात्र स्वभाव और प्रवृत्ति की प्रक्रिया में ही अन्तर है। एक शमक न दबानेवाला है तो दूसरा क्षपक—क्षय करने के लक्ष्यवाला है।



जी हाँ, इन दोनों चित्रों को अच्छी तरह देखिए । १) पहले चित्र में एक युवक सिगड़ी में जलते हुए अंगारों पर राख या धूल डाल रहा है । जिससे आग छिप जरूर जाएगी । लेकिन याद रखिए यह आग सर्वथा समूल बुझेगी नहीं । धूल या राख के नीचे जलते हुए अंगारे घंटों तक बिना बुझे रह सकते हैं, भले ही उसकी ज्वाला न भी उठे, लेकिन अग्नि तो अग्नि ही कही जाएगी । शायद बच्चे का हाथ लग जाय या खेलता—कूदता आकर गिर जाय तो भी जलने की पूरी संभावना रहती है । क्योंकि अभी भी राख के नीचे अंगारे जलते हुए ही हैं । आपको शायद मालूम ही होगा कि—पुराने जमाने में अपने घरों में लोग अक्सर ऐसा ही किया करते थे । रसोई का काम निपटने के पश्चात् भी महिलाएं जलते हुए कोयले के अंगारे... या गोबर के छाने—जलते हुए होते थे, या लकड़े भी जलते हुए होते थे उन्हें राख डालकर ढककर रखते थे । ताकि अचानक मेहमान आदि आ जाने के प्रसंग पर जल्दी से राख हटाई और थोड़ी सी फूंक लगाई कि... बस, वापिस सिगड़ी चालु । चाय—पानी बनाकर आगंतुक—अतिथियों का स्वागत कर लेती थी । यह तो समझने के लिए दृष्टान्त विशेष है ।

उपशम श्रेणी पर आरूढ़ होनेवाले आत्मविकासी साधक भी ऐसी ही वृत्तिवाले होते हैं । अनादिकाल से आत्मा पर कर्म का भार ढेर सारा लगा हुआ है । कर्म मल से मलीन आत्मा अनन्त काल से इस कर्म रूपी पर्वत के नीचे दबी हुई है । कर्म मल से मलीन है । काल भी अनन्त बीत जाता है । श्रान्त हुआ जीव इन कर्मों को समूल जड़सहित उखेड़कर फेंकने के बजाय आठों कर्मों के मुख्य राजा मोहनीय कर्म के सामने घुटने टेक देता है । सोचता है कुछ देर इनको शमाकर... दबाकर मैं जल्दी से छुटकारा पा जाऊँ । जैसे एक माता अपने सतत रोते—चिल्लाते—चीखते बच्चे को गोद में लेकर किसी कदर सुलाने की कोशिश करती है, घंटों के प्रयत्न के बाद... बड़ी मुश्किल से बच्चा आँखें मूंदता है । इतने में ही माता सोचती है कि चलो यह सो रहा है, वहाँ तक मैं जल्दी—जल्दी रसोई का काम निपट लूँ । इस विचार से जैसे ही गोद से उठाकर नीचे रखने जाती है इतने में तो बच्चा जग जाता है फिर रोने—चिल्लाने लग जाता है । आखिर बच्चे की बिमारी वेदनाकारक हो और वह जड़मूल से मिटी ही न हो, अन्दर ही अन्दर वेदना सहन करता हो तो ऐसी स्थिति में उसका रोना—चिल्लाना स्वाभाविक है । और माता के लिए भी ऐसी स्थिति परेशानियों से भरी हुई समस्या है । किसी कदर वह भी तो पिण्ड छुड़ाना चाहती है । मगर क्या करें ?

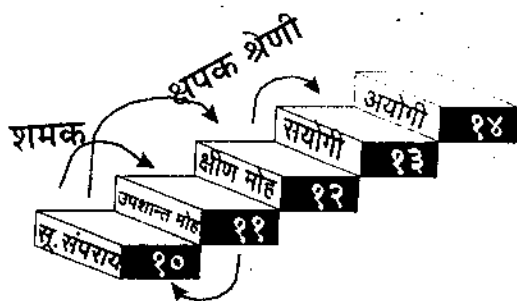
यह एक दृष्टान्त था। ठीक ऐसी ही स्थिति साधक की भी है। बच्चे के स्थान पर कर्म है, माता के स्थान पर साधक स्वयं है। रोने—चिल्लाने के स्थान पर मोहनीय कर्म की स्थिति है। यही सभी कर्मों का मुखिया मूल राजा है। आखिर साधक इसी मोहकर्म से ही ज्यादा परेशान है। पहले भी आपको बताया कि... १ ले गुणस्थान से १२ वे गुणस्थान तक ८ कर्मों में से एकमात्र मोहनीय कर्म का ही साम्राज्य है। इसी की सत्ता है। मोह की पक्कड़ आत्मा पर बड़ी भारी जबरदस्त है। दूसरे शेष ७ कर्म तो बिचारे पंगु की तरह मूक—मौन बैठे रहते हैं। उसका क्षय करने के लिए तो साधक को जल्दबाजी या चिन्ता नहीं करनी पड़ती है। परन्तु मोहनीय कर्म की प्रकृतियाँ बड़ी भारी परेशान करती हैं। इसमें विषय—कषाय की मुख्य प्रकृतियाँ जो जीव को सबसे ज्यादा सताती हैं उससे छुटकारा पाना बड़ा ही असंभव सा लगता है। ऐसी स्थिति में जान छुड़ाने के लिए.. शमक वृत्तिवाला जीव कुछ क्षण शान्त हुए बच्चे को सो गया है समझकर या भ्रमवश मानकर माता की तरह कर्मों को शान्तकर आत्मा के विकास की दिशा में आगे बढ़ने जाता है। परन्तु उसे इतना ख्याल नहीं है कि जलते हुए अंगारे कहीं राख से थोड़ी ही बुझ जाएंगे? राख से क्यों आग शान्त होती है? संभव ही कहाँ है? रास्ते में पड़े ऐसे राख से दबे अंगारों पर भूल से भी यदि... पैर आ जाय... या हाथ सिगड़ी पर लग जाय तो कहीं जल जाएंगे। क्योंकि आग दबी थी, शमी थी। लेकिन समूल बुझी नहीं थी। इसलिए दुर्घटना की पूरी संभावना रहती है। इस दृष्टान्त की तरह ही उपशम श्रेणीवाले जीव की स्थिति होती है। एक तरफ तो बड़ी मुश्किल से आत्मविकास की साधना में कदम आगे रख रहा है। और उसमें भी भ्रान्ति—भ्रमणावश शमन की प्रक्रिया को ही यदि क्षपक की मान ले तो कैसे कार्यसिद्धि होगी?

दूसरा क्षपकवृत्ति का साधक है। उसने तो पहले से ही दृढ़ निर्धार कर रखा है कि किसी भी स्थिति में इन कर्मों को जड़मूल से नष्ट करते हुए ही आगे बढ़ना है। मोहनीय कर्म की जितनी भी विषय—कषायादि की कितनी भी भारी या कैसी भी प्रकृतियाँ हो उन सबको जड़मूल में से उखाड़ कर फेंकना है। किसी वृक्ष को यदि जड़मूल से उखाड़ कर फेंकेगे तो ही पुनः नहीं उगेगा। और यदि उसकी जड़ें वैसे ही रखकर... ऊपर—ऊपर से ही उखाड़कर फेका तो निश्चित ही वह पुनः उगेगा। ठीक वैसा ही इन कर्म प्रकृतियों का है। यदि आपको अपनी आत्मा सर्वथा कर्मरहित ही करनी है तो फिर दबाने या शमाने का दूसरा विचार क्यों करना चाहिए?

जलते हुए अंगारों पर यह क्षपक वृत्तिवाला साधक... राख के बदले पानी डालता है। पानी आग का विरोधि तत्त्व है, अतः पानी पड़ते ही निश्चित रूप से आग जड़मूल से बुझ ही जाएगी। बस, फिर तो आप निश्चिन्त हैं। अब चाहे अंधेरे में आँख मूँदकर भी चलते हो और यदि सिगडी या रास्ते में पड़े अंगारों पर पैर गिर जाय, या हाथ लग जाय या बच्चा गिर जाय तो भी आपको बिल्कुल ही चिन्ता करने का सवाल ही खड़ा नहीं होता है। ठीक ऐसा ही क्षपक वृत्तिवाला साधक होता है। वह जब आध्यात्मिक विकास के एक एक सोपान पर अग्रसर होता है तब... उस उस गुणस्थान के घातक जो जो भी कर्म रहते हैं उनका जड़मूल से क्षय-नाश करके ही चढ़ता है। इसलिए निश्चिन्त रहता है। निश्चिन्तता इस बात से है कि फिर पोछे किसी भी कर्म प्रकृति का उदय होने की कोई चिन्ता ही नहीं रहती है। और इसके कारण क्षपकश्रेणिवाला साधक अन्तिम मुक्ति की प्राप्ति की सिद्धि होने तक निरंतर—सतत बिना पतन के अन्त तक आगे बढ़ता ही जाता है। और अन्त में मोक्ष को पाकर ही रहता है।

श्रेणी नियम—

७ वे अप्रमत्त गुणस्थान के बाद आठवे से आगे आत्म विकास की दो श्रेणियाँ होती हैं। अतः ८ वे से आगे के सभी गुणस्थानों की पहचान श्रेणी के आधार पर ही होती है। “शमको ही शमश्रेणि, क्षपकः क्षपकावलीम् ॥” कर्मों का शमन करनेवाला शमक उपशमश्रेणी, और कर्मों का जड़मूल से क्षय करनेवाला क्षपक... क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होते हुए आगे—आगे के गुणस्थानों पर आगे बढ़ेगा। अतः ८, ९ और १० वे इन तीनों गुणस्थानों की पहचान तो दोनों श्रेणियों में होती है। अतः दोनों श्रेणीवाले इन ३ गुणस्थानों पर चलते हैं। चढ़ते हैं। लेकिन इनके आगे ११ वाँ गुणस्थान सिर्फ उपशम श्रेणी का ही

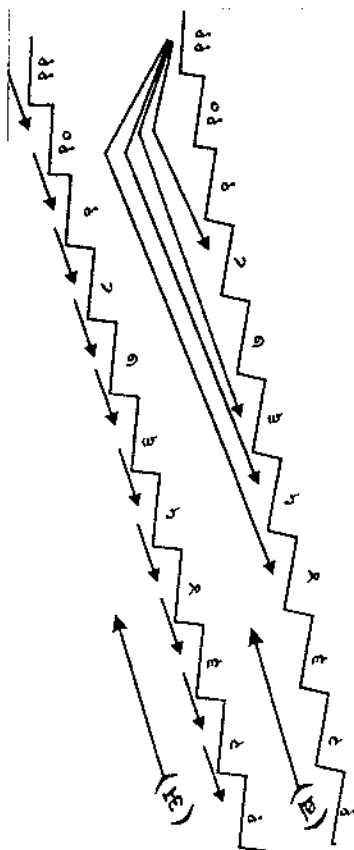


गिना जाता है। अतः नियम ही है कि... उपशमश्रेणी वाला साधक सीधे क्रम से ११ वें गुणस्थान पर ही जाएगा। बस, उससे आगे कभी भी नहीं जाएगा। श्रेणी का शुभारंभ कर शमक साधक ८ वे से नौवे होकर १० वे गुणस्थान पर

आया। अब वह आगे अपने ही घर रूप ११ वे गुणस्थान में ही जाएगा। बस, ११ वे तक ही उसका विकास संभव है। आगे तो कभी अनन्तकाल में भी संभव ही नहीं है। इसलिए ११ वाँ उपशान्त मोह गुणस्थान एकमात्र उपशम श्रेणीवाले शामक जीव के लिए ही विश्रान्ति का स्थान है। और वह भी एकमात्र २ घड़ी = ४८ मिनट का ही है बस, फिर आगे तो बढ़ ही नहीं सकता है इसलिए वापिस नीचे पतन की दिशा में मुड़ता है। अब क्रमशः एक-एक गुणस्थान पर भी पतन संभव है या सीधे पहले गुण तक भी पतन संभव है। जैसे कोई सीढ़ियों पर से गिरता है तो या तो सीधे ही नीचली अन्तिम सीढ़ी तक गिर जाता है। और दूसरा यदि गिरता भी है तो मानो लेटता हुआ क्रमशः सभी गुणस्थानों पर गिरता गिरता गिरता ही जाता है।

१) पतन

जी हाँ, ... चित्र 'अ' में देखिए— उपशम श्रेणीवाला शामक साधक जब गिरता है तो कैसे गिरता है? वह बराबर क्रमशः गिरता है। ११ वे से १० वे, १० वे से ९ वे, फिर ९ वे से आठवें, और इसी तरह पतन के गिरते समय यावत् १ ले मिथ्यात्व गुणस्थान पर भी अन्ततः आकर गिर सकता है। उसे क्रमिक पतन कहते हैं। जरूरी नहीं है कि सभी १ ले मिथ्यात्व पर आए ही। नहीं।



संभव है कि वह ४ थे पर, ५ वे पर, छठे गुणस्थान पर कहीं आकर रुक भी सकता है ।
आखिर अध्यवसायों पर आधार रहता है ।

अब चित्र 'ब' देखिए— उसमें तो बड़ी लम्बी छलांग लगाता है साधक... शमक ।
या तो सीधे ८ वे या सीधे ही छठे, या सीधे ५ वे, या फिर सीधे चौथे गुणस्थान पर आकर
गिरता है । यह क्रमिक नहीं गिरता है । सीधे ही उन गुणस्थान के अध्यवसायवाला बनने
पर उस उस गुणस्थान पर आकर रुकता है । यह पतन की प्रक्रिया है । क्यों हुआ पतन ?
शायद भेद खुल ही गया होगा और आपको रहस्य का ख्याल आ चुका होगा । यह और
कुछ नहीं, लेकिन जिन मोहनीय कर्म की प्रकृतियाँ जिनका इस शमक साधक ने पहले से
ही जड़मूल से क्षय नहीं किया था । मात्र राख से जलते अंगारे को जैसे ढक रखा था,
दबाकर रखा था । उसकी राख धीरे धीरे नीचे गिरने पर वे ही अंगारे वापिस खुले हो
गए । अब उन पर हाथ—पैर आ भी जाय तो जल जाएगा । ठीक उसी तरह जिन मोहनीय
कर्म की प्रकृतियाँ शमाकर दबाकर रखी हुई थी आज उनका ही वापिस उदय हुआ है ।
अतः उन कर्मों की प्रकृतियों के उदय में आने के कारण पतन निश्चित होता है । इस तरह
उपशम श्रेणी निश्चित पतन की श्रेणी है । किसी भी हालत में पतन होना निश्चित ही है । वह
११ वे से कभी आगे बढ़ ही नहीं सकता है ।

ठीक इससे विपरीत क्षपक श्रेणीवाला साधक है । जो कभी भी ११ वे गुणस्थान
पर जाता ही नहीं है और कभी भी पतन होता ही नहीं है । श्रेणी के इस सामान्य नियम का
प्राथमिक स्वरूप समझकर अब स्वतंत्र रूप से दोनों श्रेणियों का विचार कर लें ।

१) उपशम श्रेणी—

“इतः ऊर्ध्वं गुणस्थानानां चतुर्णां द्वे श्रेण्यौ भवतः उपशमश्रेणी—क्षपकश्रेणी चेति ।

तत्त्वार्थ राजवार्तिक टीकाकार स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि... अब यहाँ से अर्थात्
८ वे अपूर्वकरण गुणस्थान से... ४ गुणस्थान तक अर्थात् ८, ९, १० और ११ इन ४
गुणस्थान पर्यन्त दो श्रेणियाँ होती हैं । दो प्रकार के स्वभाववाले कहो या दो प्रकार की
वृत्तिवाले कहो, ऐसे जीव दो प्रकार की भिन्न—भिन्न दिशाओं का चयन करके आगे बढ़ते
हैं । गुणस्थान क्रमारोह ग्रंथकार स्पष्ट करते हैं कि..

शमको हि शमश्रेणि क्षपकः क्षपकावलीम् ॥ ३९ ॥

एक शमक—उपशमक स्वभाववाला शमक जीव उपशमश्रेणी का श्रीगणेश
करनेवाला होता है । दूसरा... क्षपक अर्थात् क्षय करने के स्वभाववाला जीव क्षपक जीव

क्षपकश्रेणी का प्रारंभ इसी गुणस्थान से करता है। श्रेणी चाहे दोनों में से कोई भी हो लेकिन गुणस्थान तो दोनों के लिए यही... एक ही ८ वाँ रहेगा। तथा ८ से आगे के ९, १०, ११ ये सभी गुणस्थान श्रेणी के गुणस्थान कहलाते हैं। जिस श्रेणी का प्रारंभ करता है साधक उसी श्रेणी का परिवर्तन—या बदलाव नहीं होता है। अर्थात् उपशम श्रेणीवाला बदलकर क्षपकश्रेणी नहीं करता है और क्षपक श्रेणीवाला अपनी श्रेणी बदलकर उपशम की नहीं करता है। इस तरह बीच में या अन्त में श्रेणी परिवर्तन संभव ही नहीं है। एक बार आरम्भ के समय जिसने जिस श्रेणी का प्रारंभ करना था कर लिया। बस, फिर वह उसी श्रेणी पर रहता है। उपशम श्रेणीवाले साधक का अन्त ११ वे गुणस्थान पर होता है। बस, फिर उल्टे क्रम में पतन होता है। गिरता—गिरता—गिरता ही जाता है। उपशम श्रेणीवाले का पतन निश्चित ही है। ठीक इससे विपरीत वृत्तिवाला क्षपक श्रेणी का साधक चढ़ते—चढ़ते आगे चढ़ता ही जाता है। चरम साध्य तक पहुँचता है।

उपशम श्रेणी का प्रारंभ—

वैसे उपशम श्रेणी का आरंभक जीव ७ वें अप्रमत्त संयत गुणस्थान का शमक साधक है। अतः ८ वें गुणस्थान के आद्यांश—प्रथम अंश से ही प्रारंभ करता है। अर्थात् ८ वे गुणस्थान में प्रवेश करते ही श्रेणी प्रारंभ होती है। उपशमक साधक ८ वे में प्रवेश करते ही प्रथमांश से ही उपशम श्रेणी का प्रारंभ करता है। इसी तरह क्षपक वृत्तिवाला साधक क्षपकश्रेणी का प्रारंभ भी ८ वें गुणस्थान में प्रवेश करते ही प्रथमांश से ही करता है।

उपशम श्रेणि के २ अंश हैं— १) उपशम भाव का सम्यक्त्व और २) उपशम भाव का चारित्र। चारित्र मोहनीय कर्म की उपशमना करने के पहले उपशमभाव का सम्यक्त्व ७ वे गुणस्थान पर प्राप्त होता है। क्योंकि दर्शन सप्तक—दर्शन मोहनीय की ३ और अनन्तानुबन्धी ४ कषाय = ७ को ७ वे गुणस्थान पर उपशमाता है। इसीलिए उपशम श्रेणी का आरंभक साधक ७ वे गुणस्थान का अप्रमत्त संयत कहा है। ४, ५, ६ और ७ वे इन चार गुणस्थान में कोई भी जीव अनन्तानुबन्धी ४ कषायों का उपशमन कर सकता है। तथा दर्शनत्रिक को तो संयम भाव में ही उपशमाता है। अतः इस मत से तो ४ थे गुणस्थान से ही उपशम श्रेणी का प्रारंभ कहा है। इसमें सर्वप्रथम अनन्तानुबन्धी कषायों का उपशमन करता है। (मतांतर से अनन्तानुबन्धी की विसंयोजना ४ थे गुणस्थान से ७ वे गुणस्थान तक कहीं भी करता है) बाद में अंतर्मुहूर्त में दर्शनत्रिक की उपशमना करता है। इस तरह दर्शन सप्तक का उपशमन हो जाने के पश्चात् वह आत्मा छठे प्रमत्त, ७ वे अप्रमत्त, गुणस्थान पर सैंकड़ों बार गमना—गमन करती है। बाद में ८ वें अपूर्वकरण गुणस्थान पर आरूढ

होती है। उस आत्मा की स्पर्शना को भी यथाप्रवृत्तिकरण कहते हैं जो ७ वे गुणस्थान के अन्त में होता है। ८ वे और ९ वे गुणस्थान पर १-१ अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त पूर्वोक्त अपूर्व स्थितिघातादि पाँच कार्यों को करता है, जिससे अशुभ कर्मों की स्थिति और रस बहुत ज्यादा घट जाता है। ८ वे गुणस्थान का संख्यातवाँ भाग बीत जाय और १ भाग अवशिष्ट रहे तब चारित्र्य मोहनीय की २१ प्रकृतियाँ (१२ कषाय + ९ नोकषाय = २१) का अंतःकरण करने का कार्य शुरू करता है। फिर क्रमशः नपुं. और स्त्री वेद, हास्यादि-६, फिर पुरुष वेद, अप्र. + प्र. के क्रोध, मान, माया, और संज्वलन कक्षा की माया इन सबका उपशमन करता है। जिस समय अप्र० + प्र० माया का उपशमन होता है उस समय संज्वलन माया के बंध—उदय और उदीरणा का विच्छेद होता है। अतः तत्पश्चात्पूर्व समय से ८ वे गुणस्थानवर्ती साधक मात्र संज्वलन लोभ का ही वेदक बनता है। यहाँ से लोभ के उदय के काल के ३ विभाग होते हैं। १) अश्वकर्णकरणाद्धा २) किट्टीकरणाद्धा, ३) किट्टीवेदनाद्धा।

१) जिस काल में सत्ता में रहे हुए रसस्पर्धक क्रमशः चढते—चढते रसवाले परमाणुओं का क्रम तोड़े बिना ही अत्यन्त अल्परसवाले बनते हैं उस अपूर्व अल्परसवाले स्पर्धक करने की क्रिया को अश्वकर्णकरणाद्धा कहते हैं। संज्वलन माया के बंधादि के विच्छेद के बाद समयन्यून २ आवलिकाकाल में संज्वलन माया का उपशमन करता है। यहाँ अश्वकर्णकरणाद्धा पूरा होता है। बाद में—किट्टीकरणाद्धा का प्रारंभ होता है।

२) किट्टी संज्ञाविशेष का तात्पर्य है। वर्गणाओं के बीच बड़ा अंतर करना अर्थात् पूर्व और अपूर्व स्पर्धकों में से प्रथम—द्वितीयादि की वर्गणा को ग्रहण करके तीव्र विशुद्धि के बल से उनको अनन्त गुणहीन रसवाली बनाकर उनका क्रमशः चढते—चढते रसणु के क्रम को तोड़कर वर्गणा—वर्गणा के बीच बड़ा अन्तर करना किट्टीकरणाद्धा कहते हैं।

इस किट्टीकरण काल में पूर्व—अपूर्व स्पर्धकों की अनन्त किट्टियाँ बनती हैं। फिर भी सत्ता में कितने ही पूर्व—अपूर्व स्पर्धक अपने रूप में रहते ही हैं। अर्थात् सभी पूर्व—अपूर्व स्पर्धकों की किट्टी होती नहीं है। किट्टीकरणकाल के चरम समय में एक साथ अप्र० प्र० लोभ को उपशमाता है तथा संज्वलन लोभ का बंध विच्छेद और बादर (स्थूल) लोभ का उदय विच्छेद होता है। अब मात्र सूक्ष्म संज्वलन लोभ का उदय प्रवर्तमान रहता है।

अब आत्मा ऐसे समय में १० वे गुणस्थान पर आरूढ़ होती है। यहाँ प्रतिसमय पूर्व में किट्टी में से कितनीक किट्टी को जीव उदय—उदीरणा से भुगतता है, और कुछ को

उपशमाता भी है। तथा २ समय न्यून आवलिका के काल में बंधे हुए लोभ के दलिकों को उतने ही काल में शान्त भी करता है। इस तरह करते करते जीव एक अन्तर्मुहूर्त के काल में गुणस्थान के चरम समय में पहुँचता है। तब सूक्ष्म संज्वलन लोभ सर्वथा शान्त होता है।

अब साधक ११ वें उपशान्त कषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान में प्रवेश करता है।

अपूर्वादि द्वयैकैकगुणेषु शमकः क्रमात्।

करोति विंशतेः शान्तिं लोभाणुत्वं च तत्त्वमम् ॥ ४२ ॥

अपूर्वकरण तथा अनिवृत्ति नौवें गुणस्थान पर उपशम श्रेणीवाला साधक... दर्शनमोहनीय की ७ प्रकृति तथा संज्वलन लोभ इन ८ प्रकृतियों के सिवाय की मोहनीय कर्म की शेष २० प्रकृतियों को उपशान्त करता है। (२८ मो. की कुल—८ = २०) इसके बाद अनुक्रम से आगे बढ़ता हुआ उपशामक महात्मा सूक्ष्म संपराय नामक १० वे गुणस्थान पर जाकर संज्वलन की कक्षा के लोभ को बिल्कुल सूक्ष्म पतला कर देता है। इस प्रकार की सूक्ष्मीकरण की प्रक्रिया के बाद उपशान्त मोहनीय नामक १२ वे गुणस्थान पर पहुँचता है। १० वे पर जिस लोभ का सूक्ष्मीकरण किया वहीं वह शमक साधक उसे उपशान्त कर देता है। ११ वे गुणस्थान पर रहा हुआ महात्मा १ ही प्रकृति का बंध कर लेता है। तथा १४८ प्रकृतियों को सत्ता में रखता है। १० वे गुणस्थान पर लोभ का उपशमन करता करता जब संपूर्ण उपशान्त हो जाता है तब १० गुणस्थान पूर्ण हो जाता है और सीधा ही ११ वा उपशान्त मो० गुणस्थान आता है। उपशान्त का सीधा अर्थ ही यह है कि... सूक्ष्म लोभ को भी जिसने संपूर्ण रूप से शान्त कर दिया है, शमा दिया है, या दबा दिया है। वह उपशामक है। अतः उपशान्त मोहनीय ११ वे गुणस्थान पर पहुँचता है।

उपशमश्रेणीवाले शमक की योग्यता—

पूर्वज्ञः शुद्धिमान् युक्तो, ह्याद्यैः संहननैस्त्रिभिः।

संख्यायन्नाद्यशुक्लांशं, स्वां श्रेणीं शमकः श्रयेत् ॥ ४० ॥

उपशम श्रेणी पर आरोहण करनेवाला योगी भी कोई जैसा—तैसा सामान्य नहीं है। गुणस्थान क्रमारोह ग्रन्थकार महर्षि फरमाते हैं कि... ४ ध्यान में चौथा जो शुक्लध्यान है उसमें प्रवेश करनेवाला प्रथम चरण का ध्यानी—योगी है। शुक्लध्यान को अपना विषय करता हुआ अपनी उपशम श्रेणी का प्रारम्भ करता है। परन्तु वह कम से कम पूर्वगत ज्ञान को जाननेवाला होता है। (जैन साहित्य—शास्त्र के विषय में—आगम शास्त्र, अंग—उपांग

शास्त्रादि की संज्ञा है। द्वादशांगी की संज्ञा है। वैसे “पूर्व” यह भी संज्ञाविशेष है। परिशिष्ट पर्व में पूर्वों के विषय में विशेष परिचय दिया है। जो हाथी प्रमाण संख्या के माप की स्याही से जितना लिखा जा सके उसे १ ला पूर्व कहते हैं। ऐसे १४ पूर्व होते हैं। जो क्रमशः १ से दुगुने—दुगुने हाथियों की बढ़ती हुई संख्या के प्रमाण परिमित स्याही से लिखे हुए धर्मशास्त्र हैं। ऐसे पूर्वों का ज्ञाता योगी शुक्ल ध्यान का ध्यानी उपशम श्रेणी का आरम्भक होता है। तथा निरतिचार अर्थात् दोषरहित—निर्दोष चारित्र का पालन करनेवाला होता है। इसी तरह देहस्थिति कैसी होती है? अतः कहते हैं कि.... प्रथम ३ प्रकार के संहननों से युक्त होता है। १) वज्रऋषभ नाराच २) ऋषभ नाराच, और ३) नाराच। इन तीन प्रकार के ऊँचे—अच्छे संहननों (संघयण) से युक्त उसकी देहरचना होती है।

ये और ऐसे गुणों से युक्त योगी उपशम श्रेणी का प्रारम्भ करता है। ऐसा मत समझिए कि हर कोई भी उपशम श्रेणी को कर सकता है। जी नहीं। ध्यानी—योगी और पूर्वज्ञ ज्ञानी ऐसी योग्यतावाला साधक ही कर सकता है। बस, फरक सिर्फ इतना ही पड़ता है कि... कर्मप्रकृतियों का संपूर्ण समूल जड़मूल से क्षय करने के बजाय उन मोहनीय की कर्मप्रकृतियों के शमन होने पर विश्वास रखकर... या शान्त करके जल्दी से आगे बढ़ जाएं, या फिर आगे—आगे की प्रकृतियों को जल्दी शान्त करने की जल्दबादी के चक्कर में फसकर क्षय की प्रक्रिया के बजाय शमन की ही प्रक्रिया हाथ में लेकर आगे बढ़ जाता है। अतः वह उपशमश्रेणी का शमक साधक कहलाता है। जड़मूल से क्षय करनेवाला क्षपक कहलाता है। उसकी श्रेणी क्षपकश्रेणी होती है। ठीक ऐसे ही उदय में आई हुई कर्मप्रकृतियों का क्षय करनेवाला क्षपक जीव होता है। जबकि उदयगत कर्मप्रकृतियों को सत्ता में दबा देनेवाला शान्त करके आगे बढ़नेवाला शामक जीव उपशम श्रेणीवाला कहलाता है।

उपशमश्रेणी में पतन की प्रक्रिया—

वृत्तमोहोदयं प्राप्यो—पशामी च्यवते ततः।

अधःकृतमलं तोयं पुनर्मालीन्यमप्नुते ॥ ४४ ॥

अपूर्वाद्यास्त्रयास्त्रयोत्पूर्ध्व—मेकं यान्ति शमोद्यताः।

चत्वारोऽपि च्युतावाद्यं सप्तमं वान्त्यदेहिनः ॥ ४५ ॥

एक सामान्य दृष्टान्त सभी जानते ही हैं कि... मैला गंदा पानी... धीरे धीरे शान्त होता है। और कचरा—मैल नीचे बैठता है, और ऊपर ऊपर का पानी साफ—स्वच्छ होता

है। तो क्या ऐसी स्थिति में प्यासे इन्सान को पीना चाहिए? क्या समझदार व्यक्ति पीयेगा? हाँ, बिचारा जानवर जरूर पी सकता है। दूसरे में कचरेवाला मटमैला मलीन पानी १० बार छानकर—उबाल—उबालकर बाष्पीभवन की प्रक्रिया से ऊपर उठी भाप को पुनः शीत कर जलधारा के रूप में स्वीकार करने से वह पानी सर्वथा मलीनतारहित निर्मल स्वच्छ—साफ सुथरा रहेगा। वैसा ही पानी कोई प्यासा पीये तो जरूर... आरोग्यकर्ता बन सकता है। प्यासे को तो पानी पीने से प्रयोजन है लेकिन इन दोनों प्रक्रिया में से कौनसी ग्राह्य है? या ग्रहण करने योग्य है?

ठीक इसी तरह की ये दोनों श्रेणियाँ हैं। उपशम श्रेणी स्थिर हुए कचरेवाले गंदे मैले पानी में जिसका कचरा या मैलापन नीचे बैठ जाय और ऊपर—ऊपर साफ स्वच्छ पानी रहे वैसी है। पानी की स्थिरता के स्थान पर... शुक्लध्यानजन्य स्थिरता है। और नीचे बैठे हुए कचरे के स्थान पर सत्ता में पड़ी हुई—दबी हुई शान्त बनी हुई कर्मप्रकृतियाँ हैं। और ऊपर ऊपर पानी की जो स्वच्छता दिखाई दे रही है वह कर्मप्रकृतियों की शान्ति है। प्यासा जैसे पानी पीता जाएगा कि इतने में ही पानी हिलने के कारण कचरा, रजकण भी हिलकर पुनः मलीनता ऊपर—ऊपर आएगी। पुनः मैलापन छा जाएगा। फिर उसे देखते ही मन खट्टा हो जाएगा।

ठीक उसी तरह उपशामक जीव... कर्मप्रकृतियों के मैल को नीचे बैठने देता है। ऊपर दिखते स्वच्छ पानी की तरह अपने शुक्ल ध्यान के आद्यांश में स्थिरता समझकर कर्मप्रकृतियों को पानी के कचरे की तरह शान्त बैठे मानकर आगे बढ़ जाता है। ध्यान की धारा में तीव्रता आने के आधार पर... आगे—आगे के गुणस्थानों के सोपान तो चढ़ता जाता है। लेकिन कचरा—मैल हिलते ही जैसे पानी पुनः मलीन बनता है, ठीक उस शल्मक की आत्मा भी उपशमन की प्रक्रिया में ११ वे गुणस्थान तक पहुँच जाती है। ११ वाँ गुणस्थान उपशान्त मोह का, यह उपशमन की प्रक्रिया का अन्तिम स्टेशन है। उपशम श्रेणीवाले के लिए ही यह विशेष कक्षा का विश्राम स्थान है। बस, इससे आगे तो जा ही नहीं सकता है।

क्योंकि कहीं न कहीं दबी हुई, शमी हुई मोहनीय कर्म की प्रकृतियाँ पुनः उछल—कूदकर जोर करती हैं। बस, इसमें तो साधक विचलित हो जाता है। साधक की साधना—मेहनत पर... पानी फिर जाता है। अन्त में ११ वे उपशान्त मोह गुणस्थान पर आने के पश्चात् या तो कालक्षय या आयुक्षय से भी उसे पुनः लौटना ही पड़ता है। ये दो कारण प्रबल हैं।

१) काल— ११ वे उपशान्त मोहनीय गुणस्थान का समय अन्तर्मुहूर्त का ही होता है। यदि इतने लम्बे काल तक यहाँ पर टिक जाय तो अन्तर्मुहूर्त का काल समाप्त हो जाने पर... उस साधक का पतन शान्त प्रकृतियों के उदय से होना निश्चित ही है। अतः जिस क्रम से चढ़ा था शायद उसी क्रम से भी पतन हो या सीधे ही ४ थे गुणस्थान तक आ सकता है, या ८ वे पर भी आकर रुक सकता है। या फिर... १ ले मिथ्यात्व गुणस्थान तक भी पतन होना संभव है परन्तु जो चरम शरीरी (तद्भवकेवली) है तो वह ७ वे अप्रमत्त गुणस्थान तक आकर रुक जाता है। क्योंकि ७ वे गुणस्थान से वे शमन करने की भूल को समझकर अब क्षय करने की प्रक्रिया से क्षपक श्रेणी का प्रारंभ कर देते हैं। परन्तु यह भी नियम है कि जिसने सिर्फ एक ही बार उपशम श्रेणी का शुभारंभ किया हो वे जीव ही उस जन्म में क्षपक श्रेणी कर सकता है। हाँ, यदि किसी ने २ बार यदि उपशम श्रेणी कर ली हो तो वैसे साधक जीव उस जन्म में क्षपक श्रेणी का प्रारंभ नहीं कर सकते हैं। शास्त्रकार फरमाते हैं कि....

जीवो हु एग जम्मंमि, इक्कर्सि उवसामगो ।

खयंपि कुज्जा नो कुज्जा, दो वारे उवसामगो ॥

एक भव (जन्म) में जिस जीव ने एक बार उपशम श्रेणी करने का कार्य कर लिया हो, वह जीव उसी जन्म में क्षपक श्रेणी को कर सकता है। परन्तु जिस जीव ने एक जन्म में २ बार उपशम श्रेणी की हो वह पुनः उसी भव में क्षपक श्रेणी नहीं कर सकता।

ऊर्ध्वगमन की प्रक्रिया में (ऊपर चढ़ने की प्रक्रिया में) उपशम श्रेणीगत योगी अपूर्वकरण गुणस्थान ८-वे से क्रमशः एक एक गुणस्थान जिस प्रकार आगे बढ़ा है। अर्थात् ८ वे से नौवे, नौवे से १० वे, फिर १० वे से ११ वे उपशान्त मोह गुणस्थान पर आता है। बस, इन ४ गुणस्थानों में ही शामक को खेलना है। इसके बाद आगे जाने का तो सवाल ही नहीं है। ११ वाँ गुणस्थान ही अन्तिम है। पतन की प्रक्रिया अध्यवसायों की अशुद्धि के आधार पर निर्भर करती है। क्रमशः एक एक गुणस्थान गिरते—गिरते १ ले मिथ्यात्व गुणस्थान तक भी जा गिरता है।

उपशम श्रेणीवाला जीव मोहजनित प्रमादरूप कालुष्यता में गिरकर संसार चक्र में परिभ्रमण करता रहता है। शास्त्रकार यहाँ तक कहते हैं कि—

सुअ केवली आहारग, अज्जुमई उवसंत गाविहुपमाया ।

हिडंति भवमणंतं तयणंतरमेव चउगइआ ॥ १ ॥

श्रुतकेवली, १४ पूर्वधर महापुरुष, आहारक लब्धिधारी महात्मा, तथा ऋजुमति मनःपर्यवज्ञानी जैसे ऊपर की कक्षा पर आरूढ़ हुए महात्मा पुरुष भी मोहजन्य प्रमादवश होकर चार गतिरूप इस संसारचक्र में अनन्त जन्म तक भी परिभ्रमण करते रहते हैं। इस तरह प्रमाद जिसमें मात्र निद्रा ही नहीं अपितु निद्रा, विकथा, कषाय, मद, विषय आदि के सभी प्रकार के प्रमादों की गणना है। ऐसे प्रमाद के कारण कितने भारी कर्मों का बंध होता है? प्रमाद भी भयंकर कक्षा का बंध हेतु है। पीछे बंध हेतुओं का विस्तृत वर्णन किया ही है। (कृपया पुनः पढ़िए।) ऐसे भारी कर्मों का बंध होने के कारण संसार चक्र की चारों गतियों में जन्म—मरण धारण करते करते परिभ्रमण करना ही पड़ता है।

उपशम श्रेणी से पतित की गति—

श्रेण्यारूढः कृते काले, अहमिन्द्रेष्वेव गच्छति।

पुष्टायुस्तूपशान्तान्तं नयेच्चारित्रमोहनम् ॥ ४१ ॥

यदि श्रेणी पर आरूढ़ हुआ मुनि अत्यायुवाला हो और श्रेणी में रहा हुआ हो यदि मृत्यु पाकर काल कर जाय तो १४ राजलोक के समस्त लोक के सर्वोपरि उपरीस्थान पर देवलोक (ऊर्ध्वलोक) में स्थित सर्वार्थसिद्ध विमान में देवता के रूप में उत्पन्न होता है। देव गति और जाति में यह सर्वोच्च कक्षा का देव कहलाता है। संसार में अनन्त जीवों में आयुष्य की तुलना में ३३ सागरोपम का सर्वोच्च आयुष्य मिलता है। ये एकावतारी ही होते हैं। अर्थात् वहाँ से उतरकर १ भव मनुष्य का करके शीघ्र मोक्ष में जानेवाले मोक्षगामी होते हैं। इस विषय में शास्त्रीय आधार इस प्रकार है—

सेवार्तेन तु गम्यते चतुरो, यावत्कल्पान् कीलिकादिषु।

चतुर्षु द्वि द्वि कल्पवृद्धिः प्रथमेन यावत्सिद्धिरपि ॥ १ ॥

अर्थात् अंतिम संहननवाला प्राणी ४ देवलोक तक जा सकता है। कीलिकादि संहननवाले जीव प्रथम देवलोक से क्रमशः २—२ देवलोकों की क्रम से वृद्धि समझ लेनी चाहिए। प्रथम वज्रक्रुषभनाराच संहननवाले मनुष्य सर्वार्थसिद्ध विमान तथा मोक्ष में भी जा सकते हैं। (क्षपक श्रेणीक) जो ७ लव अधिक आयुष्यवाला मुनि मोक्षगमन योग्य होता है वही सर्वार्थसिद्ध विमान में जा सकता है। लवसप्तम आयुवाले देवता एकावतारी सर्वार्थसिद्धविमानवासी होते हैं। सप्तलव शेष आयुवाला योगी श्रेणीगत ११ वे गुणस्थान से उपशमश्रेणी का भेदन करके नीचे ७ वे गुणस्थान पर आता है। वहाँ से पुनः ८ वे अपूर्वकरण गुणस्थान के आद्यांश से पुनः क्षपकक्षेत्री का आरंभ कर सकता है। और हो

सकता है कि सप्तलव अवशिष्ट काल में ही मोक्ष को प्राप्त कर ले । इस तरह उपशम श्रेणीवाला जीव भी उसी भव में मोक्ष में जा सकता है ।

जो दीर्घायुषी—लम्बे आयुष्यवाला जीव उपशमश्रेणी का प्रारंभ करता है वह श्रेणी को खंडित नहीं करता, पूरी तरह ११ वे गुणस्थान पर्यन्त चढ़ता है । ११ वे उपशान्त मोह गुणस्थान पर चारित्र मोहनीय कर्म को सर्वथा उपशान्त कर देता है । परन्तु सत्ता में दबाकर रखी हुई कर्मप्रकृतियाँ उसे वहाँ से ऊपर नहीं चढ़ने देती है । उस योगी को वहाँ से मोहनीय कर्म की प्रकृति जो सुषुप्त थी पुनः उदित होकर जोरकर के नीचे पतन करा देती है । कितनी प्रबल—बलवत्तर होती है मोहनीय कर्म की प्रकृति ?

यद्यपि कर्मप्रकृतियाँ उदयावलिका में से शान्त हो जानेपर आत्मा को निर्मलीकरण का एहसास जरूर होता है परन्तु उदय में पुनः जोर से आने पर छक्के छूट जाते हैं । यदि उपशम श्रेणीवाले महात्मा की आयु पूर्ण हो जाय और वह यदि श्रेणी के अन्तर्गत ही मृत्यु पा जाय तो निश्चित ही सर्वोच्च कक्षा का देव जन्म प्राप्त करता है । जो एकावतारी बनकर मोक्ष में जाता है । परन्तु ११ वे गुणस्थान से नीचे गिरते—गिरते यदि मानों क्रमशः १ ले मिथ्यात्व के गुणस्थान पर आ जाय तो . . . तो फिर संसार की नीच हल्की गतियों में परिभ्रमण करते रहना पड़ता है । यदि ११ वे से पतित होकर ७ वे गुणस्थान पर आकर गिरे, रुके और यदि आयुष्य शेष हो तथा क्षपक श्रेणी का प्रारंभ कर दे तो तो फिर मोक्षगमन भी उसी जन्म में हो जाय । फिर तो जन्मान्तर या परिभ्रमण का सवाल ही खड़ा नहीं हो सकता ।

संसार चक्र में—उपशम श्रेणी कितनी बार ?

आसंसारे चतुर्वारमेवस्याच्छमनावली ।

जीवस्यैकभवे वारद्वयं सा यदि जायते ॥ ४६ ॥

गुणस्थानक्रमारोहकार कहते हैं कि— अनादि—सान्त संसार काल पर्यन्त जीव को उपशम श्रेणी अधिक से अधिक ४ बार प्राप्त हो सकती है । बस, इससे ज्यादा संभव ही नहीं है । अर्थात् जब तक जीव मोक्ष में न जाय तब तक के संसार चक्र में परिभ्रमण काल में यदि श्रेणी प्रारंभ करे तो उपशम श्रेणी अधिक से अधिक ४ बार ही प्राप्त कर सकता है । यदि एक जन्म में उत्कृष्ट रूप से अधिक से अधिक उपशम श्रेणी का आरोहण करे तो २ बार कर सकता है । ज्यादा नहीं । प्रायः तो एक बार ही करते हैं । फिर भी अधिक से अधिक के विषय में २ बार का विधान शास्त्रकार महर्षि करते हैं—

उवसमेणि चउवकं, जायइ जीवस्स आभवं नूनं ।

साहुण दो एग भवे, खवगस्सेणी पुणो एगो ॥ १ ॥

(भाव उपरोक्त स्पष्ट है) । क्षपक श्रेणी का तो सवाल ही खड़ा नहीं होता है । वह तो अनन्त संसार काल में मात्र एक ही बार होगी । क्योंकि क्षपकश्रेणी का अंत तो सीधे मोक्ष प्राप्ति में ही होता है । अतः दूसरी बार पुनः करने का तो प्रश्न ही शेष नहीं बचता । इस तरह श्रेणी के विषय में उपशमश्रेणी का वर्णन किया है । आगे क्षपक श्रेणी की विचारणा करेंगे ।

क्षपकश्रेणी—

अतो वक्ष्ये समासेन, क्षपकश्रेणीलक्षणम् ।

योगी कर्मक्षयं कर्तुं यामारुह्य प्रवर्तते ॥ ४७ ॥

गुणस्थान क्रमारोह ग्रन्थकार अब क्षपकश्रेणी का विषय प्रारंभ करते हैं । क्षपक शब्द का सीधा अर्थ ही कर्म का क्षय करने से है । 'क' अन्तिम अक्षर करने के अर्थ में प्रयुक्त है । अतः करोति इति कर्ता, जो करता है वह कर्ता । करनेवाला—कर्ता—अर्थवाचक "क" अक्षर शब्द में साथ जुड़ा है । क्षय करनेवाला— "क्षपक" । किसका क्षय ? उपाजित कर्म का क्षय । "अरिहंताणं"— में अरि + हंत = अरिहंत शब्द में 'अरि' शब्द आत्मशत्रु अर्थ में कर्मवाचक है । हन्त हन् धातु हनन करने के अर्थ में है । उससे बना हुआ शब्द "हन्त" है । अर्थात् हनन करनेवाला । हनन करना अर्थात् क्षय करना । अरि आत्मशत्रु रूप कर्म अरि का हनन अर्थात् क्षय करना । ऐसी प्रक्रिया करनेवाला कर्ता— "अरिहन्त" है । अतः क्षपक कहो या अरिहन्त कहो दोनों ही समानार्थक शब्द हैं । अनादि काल से संचित ये कर्म ही आत्मा के आन्तर रिपु—अरि—या शत्रु हैं । बस, एकमात्र इस कर्म ने ही आत्मा की उन्नति—प्रगति एवं मोक्ष प्राप्ति को रोक रखा है । जैसा चेतन स्वरूप आत्मा का है आज दिन तक उसे कभी भी कर्म ने प्रगट होने ही नहीं दिया । अतः आत्मा बिचारी लाचार बनकर दबी ही रही । अपने गुणों को पूर्ण स्वरूप में प्रगट कर, पूर्ण रूप में अपने आप को कभी देख ही नहीं सकी । इतना ही नहीं कर्मों ने आत्मा का गला घोट कर, कुंठित करके दबा रखा और अपने कर्मों का विकृत स्वरूप उस पर हावी कर दिया । बस, वही जगत के समक्ष दिखाकर आत्मा वैसी है, ऐसा भ्रान्त स्वरूप अनन्त काल तक जगत् के सामने दिखाया । मानों बहुरूपी के नाटक के जैसा ही हो गया हो ।

इस तरह कर्म जैसे पर पदार्थ, स्व से सर्वथा भिन्न, विपरीत स्वरूपवाले, और वह भी आत्मा के शत्रुरूप स्वरूप को अज्ञानतावश कभी समझ ही न पाया और अब आत्मज्ञान की जागृति, आध्यात्मिकता के शिखर पर चढ़ते हुए आत्मवेत्ता को गुणस्थानों पर आगे बढ़ते-बढ़ते क्रमशः आत्मा के विकास को साधते-साधते :.. ८ वे अपूर्वकरण गुणस्थान पर आने के बाद सर्वप्रथम इन कर्मों का सदंतर जड़मूल से क्षय-नाश करने का निर्णयात्मक विचार आता है। वह साधक किसी भी हालत में कर्माणु के अंश मात्र को भी अवशिष्ट रखना ही नहीं चाहता है। जड़मूल से संपूर्ण क्षय करके ही रहूँगा इसी संकल्प के साथ जिस श्रेणी के श्रीगणेश करता है उसे क्षपकश्रेणी कहते हैं। किन किन कर्मप्रकृतियों का क्षय करता है वह बताते हैं—

अनिबद्धायुषः प्रान्त्यदेहिनो लघुकर्मणः ।
 असंयत-गुणस्थाने नरकायुः क्षयं व्रजेत् ॥ ४८ ॥
 तिर्यगायुः क्षयं याति, गुणस्थाने तु पंचमे ।
 सप्तमे त्रिदशायुश्च, दृग्मोहस्यापि सप्तकम् ॥ ४९ ॥
 दशैताः प्रकृतीः साधुः क्षयं नीत्वा विशुद्धीः ।
 धर्मध्याने कृताभ्यासः प्राप्नोति स्थानमष्टमम् ॥ ५० ॥

चरम शरीरी अर्थात् अन्तिम बार ही इस शरीर को धारण करनेवाला जिसने अभी तक आयुष्यकर्म का बन्ध नहीं किया है ऐसा क्षपक महात्मा असंयत-अविरत सम्यक्त्व नामक चौथे गुणस्थान में नरक गति संबंधि आयुष्य के बन्ध को सत्ता में से नष्ट कर देता है, ५ वे देशविरत गुणस्थान में जाकर तिर्यच गति संबंधि आयुष्य के बंध योग्य कर्मदलिकों को जड़मूल से क्षय करके फिर आगे बढ़ता है। फिर साधु पद के गुणस्थान में प्रवेश करके ७ वे गुणस्थान अप्रमत्त संयत बनता है। वहाँ देवगति संबंधि आयुष्य कर्म योग्य कर्मदलिकों को सर्वथा नष्ट कर देता है। फिर ४ अनन्तानुबंधी, ३ मोहनीय इस दृग्मोहसप्तक का क्षय करता है। इस प्रकार १५८ कर्मप्रकृतियों में से पूर्वोक्त १० कर्मप्रकृतियों को नष्ट करके क्षपक योगी १४८ कर्मप्रकृति की सत्तावाले ८ वे गुणस्थान पर आता है। इस ८ वे गुणस्थान पर क्षपक महात्मा ४, ५, ६, ७, वे गुणस्थान से क्रमशः उत्कृष्ट-उत्कृष्ट धर्मध्यान का अभ्यास करता हुआ ८ वे अपूर्वकरण गुणस्थान पर पहुँचता है। पूर्व अभ्यास से कैसी प्रगति होती है। इस तरह प्रगति का आधार पूर्व अभ्यास है। अभ्यास का जीवन के अनेक क्षेत्रों में काफी ज्यादा महत्व है। कहते हैं कि—

अभ्यासेन जिताहारोऽभ्यासेनैव जितात्मनः ।

अभ्यासेन जितश्वासोऽभ्यासेनैवानिस्त्रुटिः ॥ १ ॥

अभ्यासेन स्थिरं चित्तमभ्यासेन जितेन्द्रियः ।

अभ्यासेन परानन्दोऽभ्यासेनैवात्मदर्शनम् ॥ २ ॥

अभ्यासवर्जितैर्ध्यानैः शास्त्रस्य फलमस्ति न ।

भवेन्नहि फलैस्तृप्तिः पानीय प्रतिबिम्बितैः ॥ ३ ॥

अभ्यास करते—करते मनुष्य आहार पर भी नियंत्रण पा लेता है । अभ्यास के द्वारा ही वह आसन सिद्धि भी प्राप्त कर लेता है । श्वास—प्राणों को रोकने का कार्य भी कर सकता है । इन्द्रियों को वश में करके जितेन्द्रिय भी अभ्यास द्वारा बना जा सकता है । ध्यानादि का अभ्यास करते करते चित्त की एकाग्रता या मनोविजय भी संभव है । अरे ! प्रयत्न—पुरुषार्थ करते—अभ्यास से तो परमानन्द भी प्राप्त किया जा सकता है । यदि ध्यान के विषय में नियमित अभ्यास किया जाय तो आत्मदर्शन भी साधक कर सकता है । परन्तु अनभ्यासी अर्थात् अभ्यास न करनेवाला साधक शास्त्राधारित ध्यान होते हुए भी कुछ भी फल नहीं प्राप्त कर सकता है । जैसे नदी या सरोवर के किनारे रहे हुए वृक्ष का प्रतिबिम्ब जो पानी में दिखता है उसमें दिखाई देनेवाले फलों से तो पेट भरना जैसे संभव नहीं है वैसे ही शास्त्र में भी ज्ञान, ध्यान, योग, साधनादि सेकड़ों गहराइयों की सत्य बातें होने के बावजूद भी अनभ्यासी को क्या लाभ होगा ? घर में पड़ी दवाई की बोतल से आलसी—प्रमादी की बीमारी कैसे मिटेगी ? संभव ही नहीं है । शास्त्राधारित अभ्यास करते हुए आचरण में लाकर बार—बार अभ्यास करने पर लाभ प्राप्त हो सकता है । अन्यथा नहीं । यह अच्छी तरह समझकर क्षपक श्रेणी का साधक क्षपक पहले के गुणस्थानों में धर्मध्यान का अभ्यास करके ८ वे गुणस्थान पर आकर ध्यान की धारा में तीव्रता लाकर आगे बढ़ता है । अब शुक्लध्यान साधता है ।

तत्राष्टमे गुणस्थाने, शुक्लसदध्यानमादिमम् ।

ध्यातुं प्रक्रमते साधुराद्यसंहननान्वितः ॥ ५१ ॥

८ वे गुणस्थान में आकर क्षपक महात्मा जो ६ में से प्रथम २ ऊँचे संहनन (१ वज्रऋषभनाराच और २ ऋषभनाराच) का धारक योगी शुक्लध्यान में प्रवेश करता है । शुक्लध्यान के यद्यपि ४ चरण हैं । लेकिन इनके प्रथम चरण में शुक्लध्यान की प्रक्रिया का प्रारंभ होता है । ध्यान में स्थिरता लाने के लिए.... आसनादि की सिद्धि भी करता है

योगी । उत्तरोत्तर बढ़ते हुए और चढ़ते हुए अध्यवसायों से आत्मा दर्शनमोहनीय कर्म का पहले और बाद में चारित्रमोहनीय कर्म का सर्वथा जड़मूल से क्षय करता है । जिससे २ भाव प्रगट होते हैं— १) क्षायिक भाव का सम्यक्त्व, और २) क्षायिकभाव का चारित्र ।

औपशमिक-क्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदयिकपारिणामिकौ च ॥

२/१. तत्त्वार्थसूत्र में १) औपशमिक २) क्षायिक, ३) मिश्र अर्थात् क्षायोपशमिक, ४) औदयिक और ५) पारिणामिक इस प्रकार के ५ भाव दर्शाए हैं । ये पाँचों भाव जीव के स्वतत्त्व है, स्वरूप है अर्थात् स्वभाव है । भाव शब्द यहाँ गुण या धर्म का वाचक है । अब तक जो कुछ जीव ने पाया था—वह औदयिक, औपशमिक या ज्यादा से ज्यादा क्षायोपशमिक भाव का ही पाया था । लेकिन अब क्षपक श्रेणीगत जीव कर्मक्षय करता हुआ आगे बढ़ रहा है । अतः क्षायिक भाव के ही गुण पाएगा । सम्यक्त्व भी सर्वथा क्षायिक की कक्षा का और चारित्र भी संपूर्ण क्षायिक की कक्षा का । अतः क्षपक की कक्षा के जो भी भाव प्राप्त होंगे वे अप्रतिपाति होंगे । वापिस कभी भी न जानेवाले । अर्थात् एक बार क्षायिक की कक्षा के सम्यक्त्व, चारित्रादि प्राप्त हो जाने पर अनन्त काल तक भी नष्ट नहीं होते । पुनः चले नहीं जाते । सदा काल साथ ही रहते हैं । मोक्ष में भी सम्यक्त्व और चारित्र क्षायिक भाव के अनन्त काल तक साथ ही रहते हैं । क्योंकि ये सर्वथा संपूर्ण कर्मक्षयजन्य भाव हैं । जड़मूल से उस कर्म के सर्वथा क्षय हो जाने से प्रगट हुए गुण हैं । अतः ये पुनः कभी भी कर्मावृत्त नहीं होते हैं । नियम ही है कि... एक बार जो भी क्षायिक भाव से अर्थात् सर्वथा कर्म के संपूर्ण क्षय से प्रगट हो जाय वह पुनः नष्ट नहीं होता । क्योंकि वह क्षपक श्रेणी का साधक वैसे कर्म पुनः कभी बांधता नहीं है । जी हाँ, कर्मों के उपशम से, औपशमिक भाव से जो भाव या गुणादि प्रगट होंगे सदा स्थायी नहीं होंगे । विनश्वर हैं । परिवर्तनशील हैं । जबकि क्षायिक भाववाले के लिए कभी भी नष्टता का प्रश्न खड़ा ही नहीं होता है ।

क्षपक श्रेणीयोग्य—

श्रेणी मात्र मनुष्य ही कर सकता है । अन्य कोई देवादि भी नहीं । मनुष्यों में ८ वर्ष से अधिक की उम्र का ही होना चाहिए । तथा १ ला वज्रक्रषभनाराच संघयण तो होना ही चाहिए । शुद्धध्यानयुक्त मनवाला तो होना ही चाहिए । शुक्लध्यान का साधक ध्यान योगी हो । ४ थे से ७ वे गुणस्थान में प्रवर्तमान हो । क्षायोपशम सम्यक्त्वधारी ही आगे बढ़ सकता है । क्षपकश्रेणी का आरंभक जो ७ वे अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती साधक हो और यदि पूर्वधर हो तो शुक्लध्यानयुक्त होता है और यदि पूर्वधर न हो तो धर्मध्यान युक्त होगा ।

४ से ७ वे गुणस्थान में किसी भी गुणस्थानवर्ती साधक यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणदि तीनों करणों से युक्त प्रथम तो अनन्तानुबन्धी कषायों का और बाद में क्रमशः मिथ्यात्व, मिश्र और सम्यक्त्व मोह० का सर्वथा जड़मूल से क्षय करता है ।

क्षपक श्रेणी का प्रारंभ करनेवाले जीव २ प्रकार के होते हैं । एक तो श्रेणिकादि राजा के जैसे बद्धायुवाले, (पूर्व में आयुष्यकर्म नया बांधे हुए) और दूसरे अबद्धायुवाले ।

१) जिसने पहले आयुष्य कर्म का निकाचित बंध कर लिया हो अर्थात् बद्धायु हो और वह (वैसा) यदि क्षपक श्रेणी का आरम्भ करे तो अनन्तानुबन्धी ४ कषायों का क्षय करके यदि मृत्यु की संभावना होने से वहीं रुका रहे तो कभी मिथ्यात्व मोह कर्म का उदय होने से पुनः अनन्तानुबन्धी कर्म उपार्जन करता है । क्योंकि इसके बीजभूत मिथ्यात्व मोहनीय का अभी भी जड़मूल से क्षय नहीं किया है अतः । परन्तु अनन्तानुबन्धी का क्षय करके चढते हुए परिणामों के आधार पर जो बद्धायु आत्मा मिथ्यात्व मोह० का भी क्षय कर ले, उसका बीज भी क्षय हो जाने से अनन्तानुबन्धी का पुनः बंध होनेवाला ही नहीं है । इस तरह जो अनन्तानुबन्धी का क्षय करके अथवा दर्शनसप्तक का क्षय करके अपतित परिणाम के आधार पर मृत्यु पाए तो अवश्य ही वैमानिक देव बनता है । और पतित परिणाम से तो चारों गति में जाता है । बद्धायु आत्मा दर्शनसप्तक का क्षय कर लेने के पश्चात् जो मृत्यु न पाए तो भी वह चारित्र मोहनीय कर्म का क्षय करने में प्रवृत्त नहीं होता है ।

अब जिसने आगामी जन्म का आयुष्य बांधा ही नहीं है वह अबद्धायुषी जीव यदि क्षपक श्रेणी का आरम्भ करता है तो वह दर्शनसप्तक का क्षय करके परिणाम से पतन न होते हुए... चारित्रमो० कर्म का क्षय करने के लिए उद्यमवन्त होता है । अपूर्वादि तीनों करण करता है । जिसमें अप्रमत्त गुणस्थान ७ वे पर यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण, ८ वे गुणस्थान पर अपूर्वकरण, और ९ वे अनिवृत्तिकरण गुणस्थान पर अनिवृत्तिकरण इस तरह तीन गुणस्थानों पर तीनों प्रकार के करण करता है ।

८ वे गुणस्थान पर स्थितिधातादि द्वारा अप्र० + प्रत्या० इन आठों कषायों का इस तरह क्षय करता है कि... ९ वे गुणस्थान के प्रथम समय में पत्योपम के असंख्यातवे भाग प्रमाण ही स्थिति रहती है । अनिवृत्तिकरण के संख्यात भाग बीतने के पश्चात् तब स्थानार्द्धित्रिक आदि १६ प्रकृतियों को उछलना संक्रमद्वारा क्षय करता—करता पत्योपम के असंख्यातवे भाग प्रमाण स्थिति होती है । बाद में प्रति समय गुणसंक्रम द्वारा बद्धमान प्रकृति में संक्रमण करते करते... संपूर्ण क्षय होता है । यद्यपि अप्र० + प्र०, कषायाष्टक

का क्षय करने की शुरुआत तो पहले ही की थी परन्तु अभी तक उनका क्षय हुआ नहीं था। बीच में ही पूर्वोक्त १६ प्रकृतियों का क्षय कर लेता है। उसके अन्तर्मुहूर्त पश्चात्.... कषायाष्टक का क्षय करता है। इस तरह ८ कषाय + १६ प्रकृतियों का क्षय करने के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त काल में ही... नौ कषाय (हास्यादि ६ + ३ वेद = ९) संज्वलन कषाय चतुष्क इन ९ + ४ = १३ प्रकृतियों का अंतरकरण करता है। उसके पश्चात् द्वितीयस्थिति में रहे हुए... नपुं० वेद के दलिकों का उद्वर्तना संक्रमण से इस तरह क्षय करता है कि... अन्तर्मुहूर्त काल में पत्न्योपम के असंख्यातवे भाग प्रमाण ही स्थिति शेष रहती है। उसके पश्चात् गुणसंक्रम के द्वारा बद्धमान प्रकृति में संक्रमण करते हुए अंतर्मुहूर्त काल में संपूर्ण क्षय होती है।

इस तरह नपुं० वेद का सत्ता में से संपूर्ण क्षय करके इसी क्रम से स्त्रीवेद को अंतर्मुहूर्त में नष्ट करता है। उसके बाद ६ नोकषाय का एकसाथ ही क्षय करने का प्रारम्भ करता है। इसके साथ ही सत्तागत नोकषाय के दलिकों को पुंवेद में संक्रमण न करते हुए संज्वलन क्रोध में ही संक्रमित करता है। ६ नोकषायों का भी पूर्वोक्त विधि से क्षय करते हुए... पुं० वेद का बंध—उदय—उदीरणा का बंधविच्छेद होता है। इसीका उदय विच्छेद होने के पश्चात् आत्मा अवेदी—वेदरहित बन जाती है। यह सब पुं० वेद के उदय के साथ श्रेणी का प्रारंभ करनेवाले के विषय में समझना चाहिए। यदि नपुं० वेद के उदय साथ श्रेणी का प्रारंभ करे तो पहले स्त्री० नपुं० वेद को एक साथ क्षय करता है। फिर पुंवेद का...। बाद में हास्यादि षट्क का क्षय करता है। इस तरह स्त्रीवेद के उदय के साथ श्रेणी करनेवाले के विषय में भी समझना चाहिए। वह प्रथम नपुं० वेद का बाद में नपुं० वेद का क्षय करता है। साथ ही पुंवेद का भी विच्छेद होता है। बाद में हास्यादि का। और बाद में क्रोधादि का क्षय करता है।

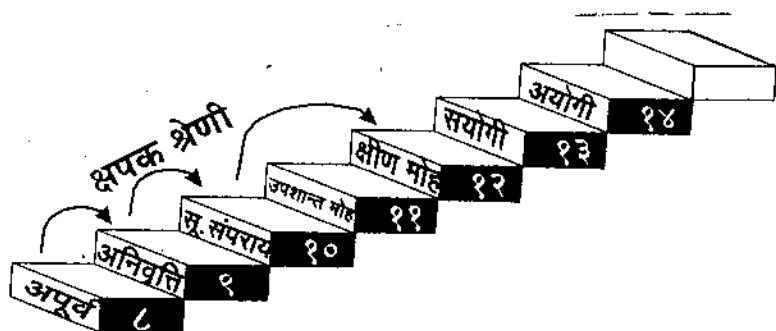
श्रेणी के श्रीगणेश ८ वे अपूर्वकरण गुणस्थान से करके मुख्य कर्मक्षय करने का काम तो नौवे अनिवृत्ति गुणस्थान पर ही होता है। १० वे गुणस्थान पर तो सिर्फ सूक्ष्म लोभ को क्षय करने का ही काम रहता है। १० वे गुणस्थान के चरम समय पर्यन्त संज्व० लोभ के दलिकों को उदय से भुगतकर सर्वथा नष्ट करता है। और चरम समय ५ ज्ञानावरण, ४ दर्शना०, यशकीर्ति, उच्चगोत्र अंतराय कर्म—५, इन १६ कर्मप्रकृतियों का बंध विच्छेद होता है। तथा मोहनीय कर्म के उदय का और उसकी सत्ता का सर्वथा विच्छेद होता है। उसके बाद के समय में आत्मा १२ वे क्षीणमोह गुणस्थान पर आरूढ होती है। क्योंकि क्षपक श्रेणीवाला साधक ११ वे गुणस्थान पर नहीं जाता है।

एकादशं गुणस्थानं, क्षपकस्य न संभवेत् ।

कन्तुं स सूक्ष्मलोभांशान् क्षपयन् द्वादशं व्रजेत् ॥ ७३ ॥

क्षपक मुनि क्षपक श्रेणी में ११ वां उपशान्त मोह गुणस्थान का स्पर्श भी नहीं करता है। वह १० वे गुणस्थान से छलांग लगाकर सीधे ही १२ वे गुणस्थान पर चला जाता है। १० वे गुणस्थान पर सूक्ष्म लोभ के अंशों का क्षय करता हुआ सीधे ही १२ वे गुणस्थान पर चला जाता है। ११ वाँ गुणस्थान निश्चित रूप से सिर्फ... उपशम श्रेणीवाले के लिये ही है। इसी तरह १२ वाँ और आगे के सिर्फ क्षपक श्रेणी के लिये निश्चितरूप से हैं। अतः उपशम श्रेणीवाला साधक १२ वे गुणस्थान पर कभी भी... कदापि आ ही नहीं सकता है और क्षपक श्रेणीवाला कभी भी... कदापि ११ वे गुणस्थान पर जा ही नहीं सकता है। यह नियम निश्चित ही है। सदा के लिए अपरिवर्तनशील नियम है। उपशमश्रेणी में पतन निश्चित है और क्षपक श्रेणी में चढ़ते हुए मोक्ष की प्राप्ति अन्त में निश्चित ही है।

क्षपक श्रेणी प्रारम्भ करनेवाले का सर्व प्रथम संकल्प ही यह रहता है कि... किसी भी तरह कर्मक्षय करके ही आगे बढ़ना है। यह जलते हुए अंगारों पर रख नहीं अपितु पानी डालकर सर्वथा आग बुझाकर ही पैर रखकर निश्चिन्त होकर चलता है। मैले पानी को अच्छी तरह छानकर, फिर उबालकर बाष्पीभवन करके ही ग्रहण करता है। ठीक वैसे ही साधना के क्षेत्र में कर्मप्रकृतियों को जड़मूल में से क्षय करके ही आगे बढ़ता है। उपशमवाले की तरह नहीं। कर्मप्रकृति का क्षय हो जाय तो ही विश्वास करना, नहीं तो नहीं।



८ वे गुणस्थान से क्षपक श्रेणी प्रारम्भ कर मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का क्षय करके एक एक गुणस्थान आगे बढ़ता हुआ ऊपर चढ़ता है। नौवे से १० वे आकर अब आगे

११ वे गुणस्थान पर न जाता हुआ... सीधा १२ वे क्षीण मोह गुणस्थान पर जाता है। क्षपक श्रेणी का साधक... किसी भी कर्मप्रकृति का अंश मात्र भी दबा हुआ अवशिष्ट नहीं रखता है... अतः उन प्रकृतियों के उदय में आने की कोई संभावना ही नहीं रहती है। न तो वे प्रकृतियाँ उदय में आए और न ही आत्मा का पतन हो। घडाधड कर्मप्रकृतियों का जडमूल से क्षय—(नाश) करके ही आगे बढ़ता है। इसलिए पतन का प्रश्न उपस्थित होता ही नहीं है। मात्र मोहनीय कर्म की ही प्रकृतियों का नहीं आगे बढ़ते बढ़ते नाम कर्म और फिर ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय तथा अन्तरायादि सभी घाती कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान पाता है। उपशमवाले के लिए तो केवलज्ञान पाने का कोई प्रश्न खड़ा ही नहीं होता है। क्योंकि केवलज्ञान की प्राप्ति तो १३ वे गुणस्थान पर होती है। और उपशम श्रेणीवाला तो ११ वे से अंशमात्र भी आगे बढ़ ही नहीं सकता है। इसलिए सवाल ही नहीं उठता है। इस तरह क्षपक श्रेणी का आरोहण स्त्री हो या पुरुष कोई भी कर सकता है। श्रेणी आत्मा करती है, गुणस्थान आत्मा के हैं, नहीं कि शरीर के। शरीर जड़ है। शरीर का आकार विशेष स्त्री का है या पुरुष का। आत्मा स्त्री भी नहीं होती और पुरुष भी नहीं होती। अतः स्त्री—पुरुष का कोई भेद ही नहीं रहता है।

शुक्लध्यान का स्वरूप—

ध्यान का स्वरूप पीछे काफी वर्णन कर आए हैं। ४ प्रकार के अशुभ आर्तध्यान, तथा ४ प्रकार के रौद्र ध्यान। इस तरह ८ प्रकार तो अशुभ (खराब) ध्यान के भेद हुए। शुभ ध्यान के भी ८ प्रकार हैं। इनमें ४ धर्मध्यान के प्रकारों का वर्णन पीछे कर चुके हैं। अब क्रम प्राप्त यहाँ शुक्लध्यान का वर्णन करना है। ध्यान की धारा में आगे चढ़ता हुआ ध्याता शुक्लध्यान में आगे बढ़ता है।

ध्यान और गुणस्थान दोनों का गाढ़ संबंध है। ध्यान की धारा के अध्यवसायों के आधार पर गुणस्थानों में परिवर्तन होता है। और गुणस्थानों के आधार पर ध्यान की धारा में भी परिवर्तन होता है। अतः दोनों अन्योन्य आधाराधेय भाव से संबंधित हैं। ७ वे गुणस्थान से आगे के गुणस्थान सभी ध्यानाश्रित ही अधिक हैं। क्योंकि अब आगे क्रिया की प्रधानता नहीं है। ध्यानानल अर्थात् ध्यान की अग्नि में जितनी तीव्रता ज्यादा होगी उतनी ही निर्जरा की मात्रा भी काफी ज्यादा बढ़ती रहेगी। और जितनी निर्जरा ज्यादा होगी... उतना जल्दी एक—एक गुणस्थान भी आगे—आगे बढ़ता ही रहेगा। अब आगे के गुणस्थानों का मुख्य आधार ध्यान में भी सर्वश्रेष्ठ शुक्ल ध्यान पर है। ८ प्रकार के शुभ

ध्यान के विभाग में ४ धर्मध्यान के भेद हैं । और वे पूरे होने के पश्चात् शुक्लध्यान की साधना शुरू होती है । शुक्लध्यान के चार—चरणों में २ चरण के बाद आगे कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है । और शेष दूसरे २ चरण के बाद तो मुक्ति भी हो जाती है । इस तरह कैवल्य और मुक्तिप्रदाता शुक्लध्यान का अद्भुत अनोखा स्वरूप शास्त्रकार महर्षियों ने काफी उच्च कक्षा का लिखा है ।

स्थानांग आगम में शुक्लध्यान के भेद दशति हुए इस प्रकार स्वरूप लिखा है—
 “सुक्के ज्ञाणे चउव्विहे चउप्पडोयारे पण्णत्ते—तंजहा १) पुहुत्त—वियक्के सवियारी, २) एगत वियक्के अवियारी, ३) सुहुम किरिए अणियट्ठी, ४) समुच्छिन्न किरिए अप्पदिवाई ॥
 ठाणांग ४/१/१२

शुक्लध्यान ४ प्रकार का कहा गया है—

१) पृथक्त्व वितर्क सविचार, २) एकत्व वितर्क अविचार ३) सूक्ष्म क्रिया अनिवृत्ति, ४) समुच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती । इन ४ भंगों में से प्रथम के २ भंग छद्मस्थ के लिए होते हैं और शेष २ भंग सर्वज्ञ केवली को होते हैं । क्योंकि प्रथम के २ भेद श्रुतज्ञानाश्रित हैं अतः वे दोनों ही अवितर्क होते हैं । इनमें भी प्रथम भेद विचार सहित सविचार है और दूसरा विचारशून्य अविचार कक्षा का है । परन्तु दोनों में आलंबन तो श्रुतज्ञान का ही है । शेष दो, ३ और ४ ये में नहीं है ।

ध्यानविचार ग्रन्थ में द्रव्य और भाव ध्यान ऐसा वर्गीकरण करके आर्त—रौद्र ध्यान की गणना द्रव्य ध्यान में की है । जबकि ४ प्रकारवाले धर्मध्यान की गणना भावध्यान में की है, और शुक्ल ध्यान को तों परम ध्यान बताया है । ध्यान दीपिका ग्रन्थकार ने भी यही बात पुष्ट की है—

शुक्लं चतुर्विधं ध्यानं, तत्राद्य द्वे च शुक्लके ।

छद्मस्थयोगिनां ज्ञेये द्वे चान्ये सर्ववेदिनाम्

॥ १९५ ॥

शुक्लध्यान के ४ प्रकार होते हैं । उनमें से प्रथम २ भेद छद्मस्थ योगियों के होते हैं और शेष २ भेद सर्वज्ञों के होते हैं । ज्ञानार्णव में शुभचन्द्रजी कहते हैं— जो निष्क्रिय अर्थात् क्रियारहित है, इन्द्रियातीत तथा ध्यान की धारणा से भी रहित है, अर्थात् “मैं इसका ध्यान करूँ” ऐसी इच्छा से रहित है अर्थात् सहजभाव से जो ध्यान होता है, जिसमें चित्त अन्तर्मुख अर्थात् स्वात्मस्वरूप में सन्निहित है उसे शुक्ल ध्यान कहते हैं । ४२/४

शुक्लध्यान के ४ भेदों में जो प्रयुक्त शब्द हैं उनके अर्थ इस प्रकार समझने चाहिए—
 पृथक्त्व = अनेकत्वम् ध्यान करने की विविधता, भिन्नता । वितर्कः = श्रुतचिन्ता । १४
 पूर्वगत श्रुतज्ञान का चिन्तन । विचारः = संक्रम = परमाणु आत्मादि पदार्थ, इनके वाचक
 शब्द तथा कायिकादि योग, इनमें विचरण संचरण तथा संक्रमण । विचार अर्थात् = अर्थ,
 व्यंजन एवं योगों के संक्रमण का नाम विचार है । एक अर्थ—पदार्थ से दूसरे की प्राप्ति
 होना अर्थसंक्रान्ति है । एक व्यंजन से दूसरे व्यंजन में प्राप्त होकर स्थिर होना यह
 व्यंजनसंक्रान्ति है । इसी तरह एक योग से योगान्तर में संक्रान्त करना यह योगसंक्रान्ति
 है ।

इस ध्यान में अर्थादिक के पलटने का तात्पर्य यह है कि ... श्रुतस्कंध अर्थात्
 द्वादशांगीशास्त्ररूप महासमुद्र में से एक अर्थ को लेकर उनका ध्यान करता हुआ दूसरे
 अर्थ को प्राप्त होता है । यह ध्यान एक शब्द से दूसरे शब्द, तथा एक योग से दूसरे योग
 पर जाता है । इसलिए सविचार सवितर्क कहते हैं ।

पहला सविचार सवितर्क पृथक्त्व कहा है । जबकि दूसरा भेद एकत्व अविचार
 वितर्क कहते हैं । सविचार से अविचार विपरीत—विरुद्ध है । पृथक्त्व से एकत्व सर्वथा
 विरुद्ध है । प्रथम प्रकार में विचार है । जबकि दूसरे में विचाररहित स्थिति है ।

१) पृथक्त्व-वितर्क सविचार—

पृथक्त्व अर्थात् भिन्नता, अनेकपना, वितर्क अर्थात् पूर्वगतश्रुत, और विचार अर्थात्
 द्रव्य—पर्याय की, अर्थ—शब्द की, तथा मनादि योगों की संक्रान्ति—परावर्तन । विचार
 सहित को सविचार कहते हैं । इस तरह इन तीनों शब्दों से ३ हकीकतें समझनी चाहिए—
 पृथक्त्व से भेद, वितर्क से पूर्वगतश्रुत, और सविचार से द्रव्य—पर्यायादि का परिवर्तन ।
 जिस ध्यान में पूर्वगतश्रुत के आधार पर आत्मादि किसी भी एक द्रव्य के आश्रय से
 उत्पादादि पर्यायों का एकाग्रतापूर्वक भेद—प्रधान, द्रव्य—पर्याय के भेदपूर्वक चिन्तन
 करना । द्रव्यपर्यायादि का जो परावर्तन होता है । उसे पृथक्त्ववितर्क सविचार नामक
 शुक्लध्यान का प्रथम भेद कहते हैं । इस प्रकार के ध्यान में १४ पूर्व शास्त्रों के अभ्यासी
 पूर्वधर महात्मा पूर्वगत श्रुत के आधार पर, आत्मा, परमाणु आदि अनेक द्रव्यों में से किसी
 एक द्रव्य का आश्रय करके विविध नयों के अनुसार उत्पाद—व्यय—धौव्य, मूर्त—अमूर्त,
 नित्य—अनित्य, आदि पर्यायों का भेद रूपसे चिन्तन करता है । इसमें एक द्रव्य से अन्य
 द्रव्य एक पर्याय से अन्य पर्याय का आलंबन लेता है । शब्द से अर्थ, अर्थ से पुनः शब्द

पर । तथा काय योग का मनोयोग का आलंबन लेता है । इस तरह अर्थ, व्यंजन और योगों का परिवर्तन करता है ।

२) एकत्व-वितर्क-अविचार—

एकत्व अर्थात् अभेद । शुक्ल ध्यान के इस भेद में द्रव्य—पर्याय का अभेद रूप से चिन्तन होता है । वितर्क और विचार का अर्थ प्रथम भेद के जैसा ही है । विचार का अभाव अविचार है । इस भेद में विचार का अभाव होता है । जिस ध्यान में पूर्वगत श्रुत के आधार पर आत्मा के परमाणु आदि किसी एक द्रव्य के आश्रय से उत्पाद आदि किसी एक पर्याय का अभेद प्रधान चिन्तन होता है । अर्थ, व्यंजन और योग के परिवर्तन का अभाव होता है । उसे एकत्व वितर्क अविचार ध्यान कहते हैं । जैसे दीपक की ज्योत हवा के अभाव में स्थिर रहती है ठीक वैसे ही विचार रहित होने से यह ध्यान निष्कंप स्थिर रहता है ।

३) सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाती—

इसके नाम में सूक्ष्मक्रिया और अप्रतिपाती ये दो शब्द हैं । अर्थात् जिसमें क्रिया अत्यन्त अल्प मात्र (सूक्ष्म) है और पतन से रहित को अप्रतिपत्ति कहते हैं । इसके ध्याता में एकमात्र श्वासोच्छ्वास की ही क्रिया शेष रही है । तथा ध्याता के आत्मपरिणामविशेष का पतन कभी संभव ही नहीं है ऐसा ध्याता सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाति ध्यानवाला कहलाता है । अपना आयुष्य मात्र १ अन्तर्मुहूर्त ही अवशिष्ट रहता है तब केवली योगनिरोध की क्रिया करते हैं । उसमें वचन और मनोयोग दोनों योगों का तो सर्वथा निरोध ही हो जाता है । तब सिर्फ श्वासोच्छ्वासरूप काययोग ही अवशिष्ट रहता है । तब यह ध्यान होता है । योग निरोध का कार्य १३ वे सयोगी केवली गुणस्थान के अन्त में (अन्तिम अन्तर्मुहूर्त में ही) होता है । अतः यह ध्यान भी १३ वे गुणस्थान के अन्त में ही होता है ।

४) व्युपरत क्रियानिवृत्ति—

तत्त्वार्थकार ने नामकरण में कुछ पर्यायवाची या समानार्थक दूसरे शब्दों का प्रयोग किया है । अनिवृत्ति के स्थान पर अप्रतिपाती शब्द रखा है । परन्तु यहाँ अर्थभेद नहीं है । इस चौथे भेद में भी व्युपरतक्रिय (समुच्छिन्नक्रिय) और अनिवृत्ति ये दो शब्द प्रयुक्त हैं । जिसमें निवृत्ति या पतन संभव ही नहीं है, उसे अनिवृत्ति कहते हैं । जिसमें वचन और काय के साथ मनोयोग की भी निवृत्ति हो जाती है । अतः तीनों योगों का संपूर्ण योग निरोध हो जाता है । योग निरोध के पश्चात् तो किसी भी प्रकार की क्रिया का होना संभव ही नहीं है ।

तथा ध्याता के आत्मिक परिणामविशेष का भी पतन होता ही नहीं है। अतः ऐसे ध्यान की स्थिरता को व्युत्पत्तिक्रियानिवृत्ति या समुच्छिन्नक्रियाऽप्रतिपाति कहते हैं।

इस तरह शुक्लध्यान के इन ४ प्रकारों में प्रथम के २ प्रकार छद्मस्थ के हैं जो अभी १३ वे गुणस्थान पर नहीं पहुँचा है। लेकिन श्रेणी में है। अतः श्रेणीगत साधक शुक्लध्यान का आलंबन लेता है। या ७ वे अप्रमत्त गुणस्थान पर भी शुक्लध्यान बताया है। इसी तरह ६ ठे गुणस्थान पर यद्यपि प्रमत्त साधु है फिर भी उसके अतिचारों में शुक्ल ध्यान न ध्याने पर दोष (अतिचार) लगते हैं ऐसा कहा है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि छठे प्रमत्त साधु को भी शुक्लध्यान का अधिकारी तो बताया ही है। पूर्वधरपना तो छठे गुणस्थान के प्रमत्त साधु में भी संभव है। १४ पूर्व का या १ पूर्व का या उससे कम ज्ञान भी छठे गुणस्थानवर्ती साधु को हो सकता है। होता भी है। अतः वह शुक्लध्यान का साधक बन सकता है। वर्तमान युग में पूर्व का ज्ञान तो नहीं है, क्योंकि पूर्व ही विच्छेद हो चुके हैं। अतः पूर्व के ज्ञानी कोई है ही नहीं। लेकिन द्वादशांगी जो उपलब्ध हो, १२ में से ११ अंग जो उपलब्ध है उनका तथा ४५ आगम सर्व है उनका ज्ञान जीवों को उपलब्ध है। अतः उस ज्ञान के बल पर साधक शुक्ल ध्यान की साधना कर सकता है। वह भी मात्र प्रथम के २ चरण की ही। आगे का तीसरा—चौथा तो वैसे भी संभव ही नहीं है।

प्राणायामक्रमप्रौढिरत्र रूढ्यैव दर्शिता।

क्षपकस्य यतः श्रेण्यारोहे भावो हि कारणम्॥ ५९ ॥

यद्यपि... गुणस्थान क्रमारोह ग्रन्थकार ने पूरक, कुम्भक और रेचक की प्राणायाम की प्रक्रिया काफी विस्तार से बताई है। साथ ही योगशास्त्र जैसे ग्रन्थ में पू. हेमचन्द्राचार्यजी ने... पवनजय से मनोजय की प्रक्रिया बताई है। शरीर में ८४ प्रकार के वायु हैं। उनमें भी आन—व्यान—उदान—समान—अपान नामक ५ प्राण मुख्य हैं। कहाँ रहते हैं? ये पाँचों प्राण शरीर के भिन्न—भिन्न स्थानों में स्थित होते हैं। इन पर योगी नियंत्रण कर सकते हैं। शरीर में जो आनापान की प्रक्रिया निरंतर—अखण्ड रूप से चल ही रही है। अनैच्छिक रूप से भी यह क्रिया अखण्डरूप से चलती ही रहती है। इसे सीढ़ी बनाकर मन यदि चढ़—उतर करे तो भी मन को साधा जा सकता है। ऐसे अनेक प्रयोग हैं, प्रक्रिया हैं, जिसके माध्यम से साधक मन को साधकर आगे बढ़ सकता है। इस तरह चित्त की स्थिरता, एकाग्रता साधने में प्राणायाम की प्रक्रिया उपयोगी—सहायक बनती है।

परन्तु यहाँ क्षपकश्रेणी के साधक के लिए जो ८ वे गुणस्थान अपूर्वकरण से श्रेणी के श्रीगणेश करके कर्मों का क्षय करके आगे बढ़ता है उसके लिए तो प्राणायाम आदि

माध्यमों की आवश्यकता ही नहीं है। उसके लिए भाव ही प्रधान कारण है। जिस ज्ञानयोग से भाव बड़े उसे ही अपनाते हुए आगे बढ़े। आखिर क्षपक श्रेणी आत्मावलम्बी है। आत्मगुणों, आत्मभावों पर आधारित है। और यदि प्राणायामादि जो कि काययोग है, मन भी तो जड़ है, फिर भी जड़ मन सूक्ष्मरूप से आत्मा के साथ जुड़ा हुआ है। उसे आत्मा के ज्ञानादि से जोड़कर ज्ञान में पदार्थों के द्रव्यगुण—पर्यायों, उत्पाद—व्यय—ध्रौव्यात्मक स्थितिरूप समस्त ब्रह्माण्ड रूप लोकस्वरूप के अनन्तानन्त पदार्थों का चिन्तन करके उनका ज्ञान प्राप्त करें। वास्तविक स्वरूप को आँखों के सामने स्पष्ट करता जाय। उससे फिर अर्थ से अर्थान्तर में, द्रव्य से द्रव्यान्तर में, गुण से गुणान्तर में और पर्याय से पर्यायान्तर में चिन्तन करता ही जाय।

अर्थादर्थान्तरे शब्दाच्छब्दान्तरे च संक्रमः ।

योगाद्योगान्तरे यत्र, सविचारं तदुच्यते ॥ ६३ ॥

द्रव्याद् द्रव्यान्तरं याति, गुणाद्याति गुणान्तरं ।

पर्यायादन्यपर्यायं, सपृथक्त्वं भवत्यतः ॥ ६४ ॥

गुणस्थान क्रमारोहकार शुक्लध्यान में जो सविचार और सपृथक्त्व की प्रक्रिया में साधक ध्यानी क्या करता है उसे स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि— एक अर्थ से दूसरे अर्थ में, एक शब्द से दूसरे शब्द में और एक योग से दूसरे योग में संक्रमण होता है। उसे ही सविचार या ससंक्रमण ध्यान कहते हैं। पृथक्त्व की प्रक्रिया में एक द्रव्य से अन्य द्रव्य में, एक गुण से अन्य गुण में और एक पर्याय से अन्य पर्याय में पूर्वोक्त वितर्क का गमन होता है उसे सपृथक्त्व ध्यान कहते हैं। द्रव्य में जो सहभावी धर्म होता है, उसे गुण होता है। और उसी द्रव्य में जो क्रमभावी धर्म होता है उसे पर्याय कहते हैं। “वत्यु सहावो धम्मो” वस्तुमात्र का स्वभाव ही उसका धर्म है। प्रत्येक वस्तु—पदार्थ गुण—पर्यायात्मक ही होता है। गुणपर्याय द्रव्याश्रयी होते हैं। ये स्वतंत्र रह ही नहीं सकते हैं। द्रव्य के साथ ही रहते हैं। और प्रत्येक द्रव्य उत्पाद—व्यय—ध्रुव स्वभावी होता ही है। गुण—पर्याय का उत्पाद—व्यय होते हुए भी द्रव्य ध्रुव स्वरूपी तीनों काल में सदा अपना अस्तित्व रखता ही है। इस तरह गुण से गुणान्तर, पर्याय से अन्य पर्यायान्तर कब कैसे होता रहता है यह शुक्लध्यानी अपने ध्यान का विषय बनाकर पदार्थमात्र के स्वभाव की एवं स्वरूप की वास्तविकता समझकर उसमें से रागादि भाव सर्वथा निकालकर स्वयं अलिप्त बन जाता है। ऐसी ध्यानरूपी अग्नि कर्मों का ढेर का ढेर जलाकर राख कर देती है और आत्म शुद्धि होते ही आत्मा एक—एक सोपान विकास के ओर आगे बढ़ती है। अतः ध्यान

विकास सहायक—सहयोगी है। इससे आध्यात्मिक विकास काफी ऊँचा एवं अच्छा होता है।

क्षपक श्रेणी हो या उपशम श्रेणी— श्रेणी का आधार ध्यान और वैसा ध्यान श्रेणीपर अग्रसर करता है। ८ वे गुणस्थान पर शुक्लध्यान की प्रधानता रहती है अतः यहाँ शुक्लध्यान की संक्षिप्त रूपरेखा दर्शायी है। क्योंकि ७ वे गुणस्थान तक धर्मध्यान की प्रधानता थी। और पूर्व में धर्मध्यान का सही अभ्यास हो तो ही आगे शुक्लध्यान संभव हो सकता है। ध्यान तो उपशमश्रेणीवाले का भी शुक्लध्यान ही है, गुणस्थान भी क्रमशः ८ से ९, नौवे से १० वाँ, तथा १० वे से ११ वाँ है। जबकि क्षपकश्रेणीवाला ११ वा गुणस्थान छोड़ कर सीधा १२ वे गुणस्थान पर जाता है। ८, ९ तथा १० ये तीनों गुणस्थान दोनों श्रेणीवालों के लिए समानरूप से एक ही हैं। सिर्फ अन्तर इतना ही है कि.. उपशम श्रेणीवाला कर्मप्रकृतियों का जड़मूल से सर्वथा क्षय—(नाश) करने के बजाय उपशमन—शान्त कर देता है। दबा देता है। जबकि क्षपकश्रेणीवाला जड़मूल से सर्वथा क्षय (नाश) करके ही आगे बढ़ता है। कर्म तो आखिर कर्म ही है। इसका विश्वास कैसे किया जा सकता है? जैसे शरीर में कोई भी रोग—बीमारी या शल्य हो वह चाहे छोटा ही क्यों न हो? फिर भी उसका विश्वास कभी नहीं किया जा सकता। जलते अंगारे राख से आच्छन्न होते हैं। उनका विश्वास जैसे नहीं किया जा सकता, वैसे ही कर्मप्रकृतियों का भी विश्वास करना बड़ी भारी भूल होगी। इनका तो सर्वथा संपूर्ण जड़मूल से क्षय—नाश करना ही हितकारी है।

शुक्लध्यान से विशुद्धि—

इति त्रयात्मकं ध्यानं, प्रथमं शुक्लमीरितं।

प्राप्नोत्यतः परां शुद्धिं सिद्धिः श्री सौख्यवर्णिकाम् ॥ ६५ ॥

यद्यपि प्रतिपात्येतदुक्तं ध्यानं प्रजायते।

तथाप्यतिविशुद्धत्वादूर्ध्वस्थानं समीहते ॥ ६६ ॥

यह जो शुक्लध्यान के ३ भेद (पहले के ३ भेद) दर्शाये हैं उनका ध्यान करता हुआ योगी महात्मा सिद्धि सुख, मोक्षलक्ष्मी को प्राप्त करने हेतु परम विशुद्धि को प्राप्त होता है। अतः यहाँ यह नियम उपयोगी बनता है कि— “प्रथम शुद्धि फिर सिद्धि”। बिना शुद्धि के सिद्धि संभव ही नहीं है। शुद्धि कर्मक्षयजन्य है, जबकि सिद्धि आत्मा की है। आत्मा की कर्मरहित मुक्तावस्था ही सिद्धावस्था है। ऐसे इस प्रकार के शुक्लध्यान से जीव

सिद्धावस्था की प्राप्ति के अत्यन्त निकट आ जाता है। यद्यपि शुक्लध्यान प्रथम चरण तक प्रतिपाती स्वरूपी है, अर्थात् आकर पुनः चला जानेवाला है फिर भी एकबार आकर इतनी अद्भुत विशुद्धि कराता है कि जिससे कई कर्म प्रकृतियाँ जड़मूल से क्षय करके आगे के गुणस्थान पर आगे आगे बढ़ता है।

८ वे अपूर्वकरण गुणस्थान पर रहा हुआ योगी निद्रा, प्रचला, देवगति, देवानुपूर्वी, पंचेन्द्रिय जाति, शुभ विहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, शुभग, सुस्वर, आदेय, वैक्रिय शरीर, आहारक शरीर, तैजस शरीर, कार्मण शरीर, वैक्रियागोपांग, आहारक अंगोपांग, प्रथम संस्थान, निर्माण नाम, पराघात और श्वासोच्छ्वास इन ३२ कर्मप्रकृतियों का क्षय करता है। इनका अभाव हो जाता है। इनमें निद्रा और प्रचला ये २ दर्शनावरणीय कर्म की प्रकृतियाँ हैं जबकि ३० कर्मप्रकृतियाँ नाम कर्म की हैं। इस तरह $2 + 30 = 32$ कर्मप्रकृतियों का क्षय करता है। इनका अभाव होने के पश्चात् २६ कर्मप्रकृतियाँ ही शेष रहती हैं। अर्धनाराच, कीलिका और सेवार्त इन ३८ अन्तिम तीन संहनन की तथा सम्यक्त्व मोहनीय की इन ४ का अभाव होने से ७२ कर्मप्रकृतियों का वेदन यहाँ करता है। तथा १३८ कर्मप्रकृतियाँ सत्ता में अभी भी पड़ी रहती हैं। अब गुणस्थान के सोपानों पर आगे बढ़ता है।

नौवा अनिवृत्ति बादर गुणस्थान—

समान समयावस्थित—जीव—परिणामानां निर्भेदेन वृत्तिः निवृत्तिः।

अथवा—निवृत्तिर्व्यावृत्तिः न विद्यते निवृत्तिर्येषां ते अनिवृत्तयः ॥

अनिवृत्ति शब्द की व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या लिखते हुए कहते हैं कि... समान—समयवर्ती जीवों के परिणामों की भेद—रहित वृत्ति को निवृत्ति कहते हैं। अथवा निवृत्ति शब्द का अर्थ व्यावृत्ति भी है। अतएव जिन परिणामों की निवृत्ति अर्थात् व्यावृत्ति नहीं होती उन्हें भी अनिवृत्ति कहते हैं।

एकस्मि कालसमए संठाणादीहिं जह णिवट्ठंति।

ण णिवट्ठंति तहच्चिय परिणामेहिं मिहो जेहु ॥ ५६ ॥

होति अणियट्ठिणो ते पडिसमयं जेस्सिमेक्कपरिणामा।

विमलयर झाण—हुयवह—सिहाहिं णिह्हु कम्मवणा ॥ ५७ ॥

गोम्मतसार जीवकाण्ड में लिखते हैं कि... अनिवृत्तिकरण के अन्तर्मुहूर्त मात्र काल में से आदि, मध्य या अन्त के एक समयवर्ती अनेक जीवों में जैसे शरीर की अवगाहना

आदि बाह्य कारणों से तथा ज्ञानावरणादिक कर्म के क्षयोपशमादि अन्तरंग कारणों से परस्पर भेद पाया जाता है। वैसे जिन परिणामों से परस्पर भेद नहीं पाया जाता, उनको अनिवृत्तिकरण कहते हैं। नौवे गुणस्थान में उत्पन्न हुए भावोत्कर्ष की निर्मलता अतितीव्र हो जाती है। इस गुणस्थान में विचारों की चंचलता नष्ट होकर . . . उनकी सर्वत्रगामिनि—वृत्ति केन्द्रित और समरूप हो जाती है। इस अवस्था में साधक की सूक्ष्मतम और अव्यक्त काम संबंधी वासना जिसे वेद संज्ञा दी है कर्मशास्त्रों ने उसे जड़मूल से नष्टकर देता है साधक। बस, इससे स्त्री—पुरुष के बीच का भेद भी मिट जाता है। कौन स्त्री और कौन पुरुष यह भेद ही नहीं रहता है। काम वासना, विकार और मैथुन के विचारों से सर्वथा ऊपर उठ जाता है। यह इस गुणस्थान की बहुत बड़ी उपलब्धि (सिद्धि) है। यह नौवा गुणस्थान श्रेणी का गुणस्थान है। अतः दोनों ही श्रेणियों में इसकी गणना होती है। श्रेणीगत साधक को तो सिर्फ कर्मप्रकृतियों को खपाना ही मुख्य लक्ष्य है। इसमें क्षपक वाला खपाए—क्षय करे और शमक दबाने का काम करे... इसलिए दोनों श्रेणी १) उपशम श्रेणी, और २) क्षपक श्रेणी के लिए यह नौवा गुणस्थान काम में आता है। उपयोगी सिद्ध होता है।

प्रधान रूप से इस नौवे गुणस्थान पर वेद मोहनीय (विषय—वासना की काम संज्ञा मैथुन विषयक) कर्म की प्रकृति जड़मूल से क्षय करके जीव प्रथमबार अवेदी या निर्वेदी बन जाता है। जिससे वेद का भेद ही मिट जाता है। अतः स्त्री—पुरुष किसी प्रकार का कोई भेद ही नहीं रहता है।

१० वे गुणस्थान को सूक्ष्म संपराय कहा है तो इसके पहले इस नौवे गुणस्थान को बादर संपराय कहा है। बादर का सीधा अर्थ स्थूल, मोटे या बड़े अर्थ में है। संपराय शब्द कषाय अर्थ में प्रयुक्त है। क्रोध, मान, माया और लोभ ये चारों जो संज्वलन की कक्षा के हैं इन सब कषायों का क्षय क्षपक जीव यहीं कर लेता है। इसलिए सचमुच तो कषायों की निवृत्ति से साधक निःकषायी—अकषायी बन जाता है। अक्रोधी, अमानी, अमायावी बन जाता है। परन्तु अभी सिर्फ लोभ बचा है। उसके भी २ अंश हैं। स्थूल लोभ और सूक्ष्म लोभ। आश्चर्य इस बात का है कि... क्रोध, मान और माया इन तीनों कषाय का सूक्ष्म—स्थूल का कोई भेद शास्त्रकार महर्षि ने नहीं दर्शाया और सिर्फ लोभ के ही स्थूल और सूक्ष्म भेद किये हैं।

१६ प्रकार के कषायों में से १२ प्रकार के कषाय तो पहले ही क्षीण हो चुके हैं। लेकिन सत्ता में जो पड़े रहते हैं। उनको जड़मूल से क्षय करने का काम साधक यहाँ नौवे

गुणस्थान पर करता है। क्रोध, मान और माया इन तीन कषायों को तो सर्वथा जड़मूल से क्षय कर भी देता है साधक। लेकिन लोभ बड़ा भारी पहाड़सा लगता है। उसमें भी स्थूल लोभ को तो नौवें गुणस्थान पर ही क्षय कर देता है परन्तु जो शेष बच जाता है उस सूक्ष्म लोभ के लिए साधक को १० वे गुणस्थान पर जाना पड़ता है। तब इसको हटाने का काम वहाँ होगा।

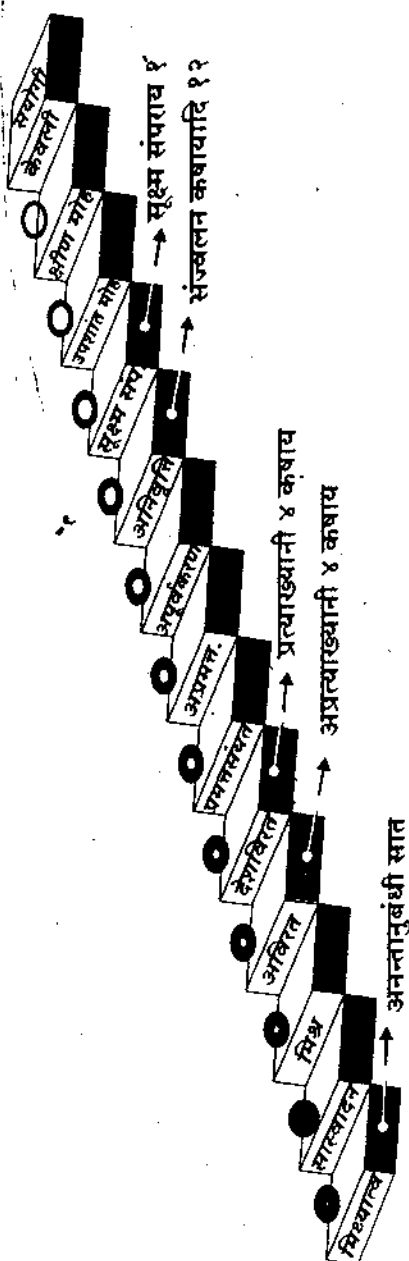
दूसरी तरफ नौवें गुणस्थान पर हास्यादि ६ कर्मप्रकृतियों को जड़मूल से क्षय करता है। बस, अब हँसना, रोना, किसी भी प्रकार की वस्तु पसंद—नापसंद, प्रिय—अप्रिय का कोई प्रश्न ही नहीं। अब भय का कोई काम ही नहीं रहता। अतः सर्वथा निर्भय, अभयदाता बन जाता है साधक। शोक तथा जुगुप्सा भी चली जाती है। अशोक की सर्वश्रेष्ठ स्थिति यहाँ आ जाती है। अब किसी की दुर्गुच्छा भी नहीं रहती है। इस तरह हास्यादि नोकषाय की सारी प्रकृतियाँ यहाँ पर क्षीण हो जाती हैं। अतः यह नौवा गुणस्थान मूल कषाय की अपेक्षा नौ नोकषाय मो० को खपाने की प्रधानतावाला गुणस्थान है। नोकषाय की हास्यादि की प्रवृत्ति जड़मूल से जाने के पश्चात् अब साधक प्रत्येक बात में इतना गंभीर बन चुका है कि... किसी स्त्री के सामने हो या किसी शेर—सिंह के सामने भी हो तो भी रती भर हंसी, खुशी या चिंता, भयादि का नाम—या अंशमात्र भी नहीं रहता है। इस तरह मोहनीय कर्म की सबसे ज्यादा प्रकृतियाँ एक ही गुणस्थान पर खपाने का सबसे बड़ा श्रेय यदि किसी को मिलता है तो वह एक मात्र नौवें गुणस्थान को ही मिलता है।

वैसे देखा जाय तो १ ले गुणस्थान से लगाकर सभी गुणस्थान मोहनीय कर्म की प्रकृतियाँ ही खपाते—उपशमाते हैं। १ ले गुणस्थान से ४ थे पर आते समय ७ (अनं—४ + दर्शन मो० की ३ = ७) प्रकृतियाँ शमाई थी। ५ वे पर आते ४ अप्रत्याख्यानीय की, ६ठे पर आते ४ प्रत्याख्यानीय की मोहनीय की प्रकृतियाँ शमायी थी। इस तरह ७ + ४ + ४ = १५ कर्म प्रकृतियाँ मोहनीय की श्रेणी के प्रारंभ के पहले ही खप (या शम) चुकी हैं। ८ वे गुणस्थान से श्रेणी के श्रीगणेश तो हो चुके हैं, लेकिन कर्म प्रकृतियों का क्षय (शमन) करने का कार्य तो नौवें गुणस्थान से प्रारंभ होता है। इसलिए श्रेणी का कार्य नौवें गुणस्थान से होता है ऐसा कहते हैं। यहाँ ६ स्थूल कषाय और नौ नोकषाय की इस तरह १२ कर्म प्रकृतियाँ मोहनीय की शमाता या खपाता है। अब १५ + १२ = २७ कर्म प्रकृतियाँ तो चली गईं। आप जानते ही हैं कि मोहनीय कर्म की कुल २८ कर्म प्रकृतियाँ ही मुख्य हैं। उनमें से २७ चली गईं अतः (२८—२७ = १) सिर्फ १ ही प्रकृति बची है। वह है सूक्ष्म लोभ की। वैसे सूक्ष्म और स्थूल की कहीं कषायों की २—२ प्रकृतियाँ नहीं

गिनी है। एक ही गिनी है। यह तो नौवे गुणस्थान पर मोहनीय की सब प्रकृतियाँ जो क्षय कर रहे थे उनमें लोभ को खपाने का काम इतना बड़ा था कि . . . खपाते—खपाते अधिकांश भाग तो खप चुका लेकिन कुछ सूक्ष्म भाग शेष रह गया और नौवे गुणस्थान का काल समाप्त हो गया और साधक १० वे गुणस्थान पर आ गया। अब यहाँ स्वतंत्र रूप से सूक्ष्म लोभ को खपाने की मेहनत करते हैं। इस तरह अधिक से अधिक सर्वाधिक मोहनीय कर्म की १२ प्रकृतियाँ नौवे गुणस्थान पर क्षीण होती हैं तो ठीक इसके विरुद्ध १० वे गुणस्थान पर सिर्फ एक ही (सूक्ष्म) लोभ कषाय की प्रकृति खपाता है। कम से कम प्रकृति खपाता है। इस तरह २८ वीं अंतिम लोभ की प्रकृति यहाँ नष्ट हो जाने पर २८ प्रकृतियाँ मोहनीय कर्म की समाप्त होती हैं। बस, एक मुख्य कर्म समाप्त होता है।

गुणस्थानों पर मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का क्षय—

इस तरह सब कर्मों में मुख्य राजा रूप जो मोहनीय कर्म था उसका संपूर्ण—सर्वथा जड़मूल से ही क्षय कर दिया है। बस, अब सारा खेल आसान है। आप भी अच्छी तरह जानते ही हैं कि युद्ध के मैदान में यदि एक राजा को जो जीता जाय बाद में दूसरे सबको जीतना तो जैसे फूँक मारने जितना आसान काम है। बात भी सही है कि— एगे जिए जिआ पंच, पंच जिए जिआ दस। ॥



उत्तराध्ययन सूत्र में कहते हैं कि... (केशी—गौतम के संवाद अध्ययन में) एक राजा रूप, मन को जीत लें तो चारों कषायों को, पाँचों इन्द्रियों को, सब को जीत सकते हैं। इस तरह सब शत्रुओं को जीत सकते हैं।

ठीक उसी तरह आत्मा नामक राजा के लिए कर्म ही उसके मूलभूत अंतर शत्रु है। इनमें ८ कर्म हैं। आठों में एक मात्र मोहनीय कर्म ही राजा है। पहले भी कह आए हैं कि ... १४ गुणस्थानों में पहले से लेकर १२ वे गुणस्थान तक एकमात्र मोहनीय कर्म खपाने का ही काम होता है। चाहे क्षपक श्रेणीवाला काम करे या चाहे उपशमश्रेणीवाले काम करे तो भी दोनों के लिए एक मात्र मोहनीयकर्म को ही खपाने का मुख्य कार्य है। लक्ष्य एक ही है। सिर्फ दोनों श्रेणीवालों की कार्यप्रणाली में अन्तर है। एक शमाता है और दूसरा खपाता है। परन्तु अभी लक्ष्य में कर्म एक ही मोहनीय है। इस तरह कर्मक्षय करते हुए नौवे गुणस्थान पर बहुत बड़ा काम किया है १२ कर्मप्रकृतियाँ मोहनीय की खपाने का। अब एक प्रकृति संज्वलन के घर का लोभ मोह० खपाने के लिए १० वे गुणस्थान पर जाना पड़ेगा।

नौवे अनिवृत्तिगुणस्थान पर शुक्ल लेश्या होती है। यहाँ आयुष्य कर्म का बंध नहीं होता है। परन्तु शेष ७ कर्मों का बंध बताया है। क्षपक श्रेणीवाले क्षपक का आयुष्य इस गुणस्थान पर समाप्त नहीं होता है। क्षपक श्रेणी प्रारंभ करनेवाला क्षपक योगी तो केवलज्ञान और मोक्ष पाकर ही रहेगा। उपशम श्रेणीवाले शमक को इस गुणस्थान पर जो परिणाम होते हैं उससे अनेक गुनी विशुद्धि क्षपकश्रेणीवाले साधक की इस गुणस्थान पर होती है।

इस नौवे गुणस्थान पर समानवर्ती जीवों के परिणामों की विशुद्धि समान ही होती है। परन्तु उनमें परस्पर निवृत्ति अर्थात् भेद नहीं होता है। अतः इस गुणस्थान पर स्थित महामुनियों के परिणामों को अनिवृत्तिकरण कहते हैं। इस अनिवृत्तिकरण का जितना काल होता है उतने ही उनके परिणाम होते हैं। अतः प्रत्येक समय में एक ही परिणाम होता है। इसी कारण से भिन्न-भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणामों में सर्वथा विसदृशता (भिन्नता) होती है। और एक समयवर्ती जीवों के परिणामों में सदृशता (समानता) अभिन्नता होती है। ओहो ! सर्वज्ञ जिनेश्वर प्रभु की कितनी महानता, सर्वज्ञता है कि ... प्रभु ने परिणामों की कितनी सूक्ष्म बात स्पष्ट की है ! यह सर्वज्ञ के अतिरिक्त जगत् में अन्य कोई कर ही नहीं सकता है। सच ही है कि सर्वज्ञता के बिना कहना संभव ही नहीं है।

ऐसे निर्मल विशुद्ध अध्यवसायों के द्वारा नौवे गुणस्थान पर स्थित महात्मा आयुष्यकर्म के सिवाय अन्य सातों कर्मों की गुणश्रेणी निर्जरा, स्थिति खंडन, गुणसंक्रमण आदि करता है। इस गुणस्थान के प्रथम समय में जो अध्यवसाय की विशुद्धि होती है वह दूसरे, तीसरे, चौथे समय में क्रमशः अनन्तगुनी बढ़ती ही जाती है। इस तरह अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त क्रमशः प्रत्येक समय पर जाननी चाहिए। इस गुणस्थान का संपूर्ण स्थितिकाल उत्कृष्ट से अन्तर्मुहूर्त का ही है। जबकि जघन्य एक समय का है।

जैसे जैसे कषायों की मंदता बढ़ती जाती है वैसे-वैसे अध्यवसायों की विशुद्धि बढ़ती ही जाती है। ८ वें की अपेक्षा भी नौवे गुणस्थान की विशुद्धि तुलना में अनेक गुनी ज्यादा, इससे परिणामों की समानता बन पाती है।

दोनों श्रेणीवाले साधकों के लिए चढ़ते समय भी यह नौवा गुणस्थान काफी अच्छा उपयोगी होता है। तथा क्षपक श्रेणीस्थ साधक तो पुनः गिरता ही नहीं है। उपशम श्रेणीवाला साधक ऊपर से १० वे से गिरता हुआ भी वापिस यहाँ नौवे में आता है। स्वाभाविक ही है कि चढ़ते हुए क्रमवाले गुणस्थान पर आरूढ़ होनेवाले की अध्यवसाय विशुद्धि अनन्त गुनी ही होती है। लेकिन गिरनेवाला जब गिरेगा तो अध्यवसाय स्थानों की विशुद्धि का प्रमाण भी गिरता ही मिलेगा। यहाँ से गिरते गिरते पहले मिथ्यात्व तक भी पहुँच सकता है। वैसे यहाँ आठों कर्मों की सत्ता होती है। ७ कर्मों का बंध होता है। (आयुष्य रहित)। आठों कर्मों का वेदन भी है तथा उदय भी है। आयु तथा मोह रहित ६ या ७ कर्मों की उदीरणा होती है। आठों कर्मों की निर्जरा होती है। अल्पत्व और बहुत्व की दृष्टि से अल्पत्व में ३ रा तथा बहुत्व में १० वाँ क्रम आता है। एक समय में जघन्य २०० और उत्कृष्ट से ९०० जीव हो सकते हैं।

नौवे के नौ विभागों में क्षय प्रवृत्ति—

अनिवृत्तिगुणस्थानं . . . ६७, ६८, ६९, ७० मानो-माया च नश्यति ॥ ७१ ॥

गुणस्थान क्रमारोह ग्रन्थकर्ता ६७ से ७१ वे श्लोकपर्यन्त पाँच गाथा में लिखते हैं कि— नौवे अनिवृत्ति गुणस्थान के ९ भाग (विभाग) करता है क्षपक साधक और एक-एक विभाग में कर्मों का क्षय इस प्रकार करता है— नरकगति, तिर्यचगति तथा इन २ गतियों की २ आनुपूर्वी, साधारण नामकर्म, उद्योत, सूक्ष्म, द्विन्द्रियजाति, त्रीन्द्रिय जाति, और चउरिन्द्रिय जाति, एवं एकेन्द्रियजाति, आतपनामकर्म, स्थानगृध्यादि ३ अर्थात्—निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, और थीणद्धि तथा, स्थावरनामकर्म इन १६ कर्म

प्रकृतियों का अनिवृत्ति नौवे गुणस्थान के प्रथम भाग में क्षय करता है। तथा अप्रत्याख्यानीय ४ और प्रत्याख्यानीय ४ इस तरह ८ मध्य के कषायों का दूसरे भाग में क्षय करता है। ३ रे भाग में नपुंसकवेद का क्षय करता है। ४ थे भाग में स्त्रीवेद का क्षय करता है। ५ वे भाग में— हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा ये ६ प्रकृतियाँ क्षय जाती हैं। अब छठे से नौवे तक के ४ भाग में ध्यान की अत्यन्त निर्मलता के आधार पर—पुरुषवेद, संज्वलन, क्रोध, सं. मान, सं. माया का क्षय करता है। छठे भाग में पुरुषवेद, ७ वे भाग में संज्वलन क्रोध, ८ वे भाग में सं. मान, ९ वे भाग में संज्वलन माया का इस क्रम से क्षय करता है।

इस नौवे गुणस्थानवर्ती साधक हास्य, रति, भय, और जुगुप्सा इन ४ प्रकृतियों का बन्ध विच्छेद होने से २२ प्रकृतियों का बन्धक, तथा हास्यादि ६ उदयविच्छेद से ६६ प्रकृतियों का उदयवाला भी होता है। तथा नौवे भाग में संज्वलन माया तक की ३५ प्रकृतियों का सत्ता विच्छेद (क्षय) होने से १०३ प्रकृतियों की सत्ता रहती है।

१० वाँ - सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान—

ततोऽसौ स्थूललोभस्य, सूक्ष्मत्वं प्रापयन् क्षणात्।

आरोहति मुनिः सूक्ष्म-सम्परायं गुणास्पदम् ॥ ७२ ॥

इस तरह नौवे गुणस्थान पर कर्मप्रकृतियों का क्षय करता हुआ क्षपक साधक... एक स्थूल (बादर) लोभ का क्षणभर में सूक्ष्मीकरण करता हुआ १० वे सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान पर आता है। नौवे गुणस्थान के अन्त में (नौवे भाग के अन्त में पुरुषवेद और संज्वलन चतुष्क क्रोधादि ४ इन ५ प्रकृतियों का बन्ध विच्छेद होने से १७ प्रकृतियों का बन्धक होता है। ३ वेद, तथा + ३ संज्वलन कषाय इन ६ प्रकृतियों का उदय विच्छेद होने से ६० प्रकृतियों का उदयवाला होता है। तथा माया की सत्ता का विच्छेद नौवे भाग के अन्त में होने से १०२ प्रकृति की सत्तावाला होता है।

१० वे गुणस्थान पर संज्वलन की कक्षा के लोभ नामक कषाय के सूक्ष्म किट्टीरूप से किये हुए सूक्ष्माणुओं को जीव क्षीण करके खपाता है। इस गुणस्थान पर सूक्ष्म लोभ का उदय होता है और करने का कार्य भी इसी का क्षय करने का है अतः इसका नाम भी इसके अनुरूप ही रखा है। यहाँ कषाय और संपराय शब्द दोनों समानार्थक पर्यायवाची हैं। अतः सूक्ष्म कषाय कहो या सूक्ष्म संपराय कहो बात एक ही है। इसी लोभ संपराय का उदय है और इसी का क्षय करना है। यह १० वाँ गुणस्थान श्रेणी का है अतः दोनों

श्रेणी करनेवालों का है। कार्य सूक्ष्म लोभ पर ही करना है। क्षपकवाला अपने स्वभाव के अनुरूप जड़मूल से क्षय करने का काम करता है जबकि शमक साधक अपने स्वभाव के अनुरूप उसी लोभ का शमन करता है। तथा पतन के समय भी १० वाँ गुणस्थान आता है और उत्थान—चढ़ने के समय भी आता है। अतः ३ बार इस गुणस्थान का स्पर्श होता है। उपशम श्रेणीवाले के लिए चढ़ते और उतरते दोनों समय होता है। जबकि क्षपक तो कभी गिरता ही नहीं है अतः सिर्फ चढ़ते समय ही होता है। इसलिए ३ बार इस १० वे गुणस्थान पर जीव आता है।

ध्रुवकोसुंभयवत्थं, होहि जहा सुहमरायसंजुतं।

एवं सुहमकसाओ, सुहमसरागोत्तिणादव्वं ॥ गो. जी. ॥

गोम्मटसार के जीवकांड में सूक्ष्मता की तुलना करने के लिए दृष्टान्त देते हुए कहते हैं कि— जैसे किसी रेशमी वस्त्र पर कसुंबी रंग चढ़ाया जाय और धोने पर जैसे कच्चा रंग उतर जाय क्योंकि रेशमी वस्त्र की चिकनाहट के कारण कच्चा रंग जल्दी से उतर जाता है। फिर भी अन्त में रंग की जो लालिमा शेष रह जाती है ठीक उसी तरह स्थूल लोभ तो रंगे हुए कपड़े के जैसा है। जबकि सूक्ष्म लोभ धोए हुए वस्त्र के जैसा है। उसकी आभा मात्र है। वैसे भी कर्मग्रन्थकार महर्षियों ने लोभ को रंग की उपमा देकर ही दर्शाया है। अनन्तानुबंधी आदि चारों प्रकार के लोभ कैसे होते हैं उसके लिए रंग के ४ दृष्टान्त दिये

हैं। यह इस चित्र को देखने से ख्याल आ जाएगा। १) पहला अनन्तानुबंधी लोभ कीरमची के पक्के रंग के जैसा है। यह कपड़े का जलने के बाद ही रंग छूट सकता है। इसके सिवाय तो कभी भी छूट ही नहीं सकता है। ठीक वैसा लोभ अनन्तानुबंधी का है। चाहे यह जन्म पूरा भी हो जाय तो भी यह लोभ नहीं जाता है। २) अप्रत्याख्यानीय लोभ तो बैलगाड़ी के चक्के की काली मली जैसा है। वह भी यदि कपड़े पर लग जाय तो कितना भी प्रयत्न करने के पश्चात् वर्ष भर की



मेहनत के बाद छूट सकता है। वैसा इस कक्षा का लोभ साल भर बाद कम होना संभव है। ३) प्रत्याख्यानीय कक्षा के लोभ को काजल के रंग के जैसा बताया है। जैसे माँ अपने बच्चे की आँख में काजल डाले और वह थोड़ी बाहर आ जाय तो उसे साफ करने में जैसे कष्ट होता है, वैसे ही साधक को इस कक्षा के लोभ को निकालने में ४ मास से भी अधिक समय लग सकता है। ४) चौथा संज्वलन कक्षा का लोभ हल्दी के रंग जैसा है। यह बिल्कुल कच्चा रंग होता है। यद्यपि हल्दी का पानी कपड़े पर गिर जाय तो जो रंग लग भी जाता है उसे पुनः धोया जाय... या धूप में सुखाया भी जाय तो बहुत जल्दी उड जाता है। यहाँ तक ये चारों स्थूल कक्षा के लोभ थे अतः स्थूल रंग के साथ इसकी तुलना—उपमा दी गई है। अब सूक्ष्मता को समझाने के लिए... रेशमी वस्त्र पर जैसे हल्दी का हल्का सा रंग लगा हो उसे धो देने से या धूप में सुखाने से रंग उड जाता है। लेकिन उसके पश्चात् भी हल्का सा पीलापन जो दृष्टिपथ में भी न आए वैसी हल्की सी आभा नाम मात्र की जो है वैसा यहाँ सूक्ष्म लोभ कहते हैं। १० वे गुणस्थान पर इतना अंशमात्र भी लोभ निकालने का प्रयत्न करना है। आखिर तो मोहनीय कर्म की यह भी एक प्रकृति है। कषाय मोहनीय की प्रकृति है। कषाय में की गई है। यह राग का घर है।

मोहनीय कर्म की २८ प्रकृतियाँ हैं। यहाँ क्षय करने की दृष्टि से क्षपक साधक जो क्षय करता है उसके लिए... क्षय करने के क्रम में यह अन्तिम कर्मप्रकृति है। वैसे पहले.... पहले... जिन भारी कर्म की प्रकृतियों को क्षय करने के लिए जितना भारीपन लगता था अब इस अन्तिम लोभ की प्रकृति का क्षय करने में इतनी ही आसानी—सरलता लगती है। आपको यह भी जानकर आश्चर्य होगा कि... ९ वें अनिवृत्ति गुणस्थान पर क्षपक साधक ने मोहनीय कर्म की १२ प्रकृतियाँ क्षीण कर दी... खपा दी जबकि मात्र १ लोभ की प्रकृति और वह भी सूक्ष्म की कक्षा के लोभ को खपाने के लिए स्वतंत्र से १० वाँ गुणस्थान करना पडा। नौवे गुणस्थान पर भी एक ही अंतर्मुहूर्त का काल अधिक से अधिक था और १० वे गुणस्थान पर भी उतना ही काल है। नौवे पर जितने काल में १२ कर्मप्रकृतियाँ मोह की खपाई उतना ही काल सूक्ष्म की कक्षा के लोभ को खपाने में १० वे गुणस्थान पर लगा। जबकि लोभ सूक्ष्म की कक्षा का है, फिर भी इसके लिए क्षपक श्रेणीवाले महात्मा को स्वतंत्र से इतना समय लगा। अर्थात् कल्पना कीजिए, सूक्ष्म लोभ भी कितना भारी होगा। यद्यपि इसी लोभ की स्थूल (बादर) स्थिति का क्षय तो नौवे गुणस्थान पर ही कर दिया था। अब तो मात्र सूक्ष्मांश ही बचा है। फिर भी कितनी कठिनाई पडती है क्षपक जैसे महात्मा को।

क्षपक की अमाप शक्ति—

क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ हुए महात्मा की क्षय करने की शक्ति कितनी असीम और अमाप है इसकी कोई कल्पना भी नहीं कर सकता है। इसके लिए प्रशमरतिकार महर्षि यहाँ तक लिखते हैं कि....

सर्वेन्ध्रनैकराशी कृत सन्दीप्तो ह्यनन्तगुणतेजाः ।

ध्यानानलस्तपः-प्रशम-संवरहविर्विवृद्धबलः

॥ २६३ ॥

क्षपकश्रेणीमुपगतः स समर्थः सर्वकर्मिणां कर्म ।

क्षपयितुमेको यदि कर्म संक्रमः स्यात्परकृतस्य

॥ २६४ ॥

क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ हुए क्षपक महात्मा जगत् के समस्त काष्ठों को इकट्ठे करके यदि उनमें अग्नि प्रगटायी जाय तो वह प्रचंड अग्नि जिस तरह समस्त काष्ठों को भस्मीभूत कर दे, ठीक उसी तरह क्षपक श्रेणी के क्षपक महात्मा की ध्यानरूपी अग्नि इतनी ज्यादा प्रबल कक्षा की होती है कि उसमें जगत के समस्त जीवों के कर्मों को भी लाकर उलेच दिया जाय तो सबका क्षय एक साथ कर सकता है। इतना सामर्थ्य होता है। ध्यानरूपी अग्नि, तप, प्रशान्तरस और संवर का सबका इतना प्रबल सामर्थ्य है कि... जगत् की समस्त आत्माओं के कर्मरूपी इन्धन को इकट्ठे करके.... और ध्यानरूपी अग्नि प्रज्वलित करके तथा प्रशम—संवर रूपी घी की आहुति डालकर अग्नि को प्रबल—प्रज्वलित की जाय तो जगत के समस्त जीवों के कर्मों को जलाकर भस्मीभूत कर सकता है। यह उपमा देकर सामर्थ्य का परिचय दिया है। परन्तु वैसा होता नहीं है।

परकृतकर्मणि यस्मान्नाक्रामति संक्रमो विभागो वा ।

तस्मात्सत्त्वानां कर्म यस्य यत्नेन तद्वेष्टम् ॥ २६५ ॥

एक जीव के द्वारा किये हुए कर्मों का अन्य जीव ने किये हुए कर्मों में संपूर्ण या आंशिक भी संक्रमण हो सकता हो ऐसा कभी भी होता ही नहीं है। संभव ही नहीं है। अतः जो कर्म जिस जीव के हो उन कर्मों को वही जीव क्षय कर सकता है। अन्य नहीं। एक जीव के कर्म उसी को भुगतने भी पड़ते हैं अन्य को नहीं। इस नियम के आधार पर कोई भी जीव दूसरे जीवों के कर्मों को भुगत नहीं सकता है और क्षय भी नहीं कर सकता है। जो भी कोई करेगा वह अपने स्वयं के ही कर्मों का क्षय कर सकता है। यही नियम बड़ा भारी है। ऐसा नहीं होता तो तीर्थंकर की आत्मा जगत् के समस्त जीवों के कर्म खपाकर मोक्ष में ले जाती। लेकिन यही असंभव है। ऐसा हो ही नहीं सकता है। जिस

जीव के उदय में जो भी सुख या दुःख आता है उसे वही जीव भुगतता है । दूसरा भुगते यह संभव ही नहीं है । जैसे मैं खाऊँ तो मेरा ही पेट भरता है दूसरे का नहीं । वैसे ही सुख—दुःख क्या है ? कर्मों का उदय—फल है । इसलिए कर्म के उदय के कारण उसका वेदन—अनुभव वही कर सकता है जिसने उपर्जित किये हैं । ठीक उसी तरह निर्जरा भी सभी कर्मों की सभी जीव अपने—अपने कर्मों की ही करेंगे । कोई किसी दूसरों के कर्मों की निर्जरा नहीं कर सकता है । यह तो क्षपक श्रेणी करनेवाले क्षपक जीव के ध्यानानल (ध्यानरूपी अग्नि) का सामर्थ्य—प्रबल शक्ति का परिचय कराने के लिए उपमा मात्र दी है ।

इस १० वे गुणस्थान पर कर्म बंध के हेतु सिर्फ दो ही रहते हैं । कषाय और योग । कषाय में तो मात्र संज्वलन लोभ । और योग में मन, वचन, काया तीनों बंध हेतु है जरूर है, लेकिन ये तीनों भी कषायादि की तीव्रता न हो तो बिचारे क्या करेंगे । आखिर कपडा तो धागे से सिया जाएगा । लेकिन सूई न हो तो अकेला धागा भी बिचारा क्या करेगा ? धागे को आगे बढ़ाने का काम तो सूई का है । ठीक उसी तरह मनादि योगों को प्रवृत्त करने का काम तो कषायों का है । कषाय भाव न रहने से ये योग नरम—ढीले पड़ जाते हैं । फिर तो कोई सवाल ही नहीं रहती है । अथवा विस्तार से बंध हेतु के भेद—प्रभेद १० होते हैं । उनमें— ९ तो योग के और १ सू लोभ का है इस तरह १० होते हैं । इस तरह यह १० वाँ गुणस्थान है । इसका काल जघन्य से १ समय का और उत्कृष्ट से १ अन्तर्मुहूर्त का है । यहाँ सत्ता की अपेक्षा से आठों कर्म सत्ता में पड़े हैं । यहाँ आयुष्य और मोहनीय कर्म इन २ को छोड़कर शेष ६ कर्मों का बंध होना संभव है । वेदन और उदय आठों कर्मों का होता है । ८ में से ५ या ६ कर्मों की उदीरणा होती है । मोह, आयु और वेदनीय कर्म इन ३ को छोड़कर ५ की उदीरणा करता है । निर्जरा आठों कर्मों की करता है । लेश्या तो हमेशा ही यहाँ शुक्ल रहती है । यहाँ १ समय में २०० से ९०० जीव होते हैं ।

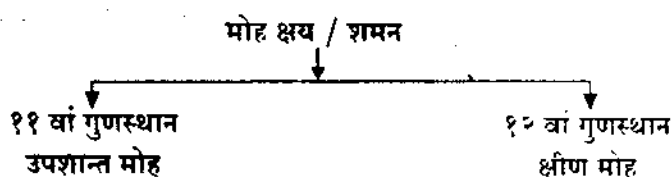
११ वा उपशान्त मोह गुणस्थान—

कदक—फलजुदजलं वा, सरए सखाणियं वणिम्मलयं ।

सवल्लोवसंतमोहो, उवसंतकसायओ होदि ॥ ६१ ॥

गोम्मतसार जीवकाण्ड में कहते हैं— निर्मली फल से सहित स्वच्छ जल के समान अथवा शरदकालीन सरोवर—जल के समान सर्व मोहोपशमन के समय व्यक्त होनेवाली वीतराग दशा को उपशान्त मोह गुणस्थान कहते हैं ।

मोहनीय कर्म का जल सर्वथा संपूर्ण उपशमन हो या क्षय हो जाता है तब साधक ११ वे और १२ वे गुणस्थान पर आरूढ़ होता है ।



ये दोनों गुणस्थान श्रेणी के गुणस्थान हैं । ८ वे गुणस्थान से जिस जीव ने जिस प्रकार की श्रेणी प्रारंभ की हो वह साधक जीव उस गुणस्थान पर जाते हैं । श्रेणी के आधार पर उस उस गुणस्थान पर विभक्त हो जाते हैं । उपशमश्रेणीवाला साधक जीव जो ८ वे गुणस्थान से कर्मों का उपशमन ही करता—करता आगे चढ़ता है वह नौवे से १० वे गुणस्थान पर होकर सीधा ११ वे गुणस्थान पर ही आता है । यही शमक जीव का अन्तिम गुणस्थान है । उपशामक का अन्त आता है अतः ११ वाँ गुणस्थान भी अन्तिम कहा जाता है । जबकि क्षपक श्रेणी का जीव केवलज्ञान पाकर मोक्ष भी प्राप्त कर लेता है । इसलिए क्षपक को ११ वे गुणस्थान पर आने की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती है । वह क्षपक साधक ११ वे गुणस्थान को छोड़कर सीधी छलांग लगाकर १२ वे क्षीणमोह गुणस्थान पर जाता है । इसलिए ११ वाँ गुणस्थान उपशम श्रेणीवाले शमक साधक का विश्रान्ति घर है, स्थान है । ठीक इसी तरह १२ वाँ गुणस्थान क्षपक साधक के लिए विश्रान्तिस्थान या घर है । उपशमवाला १२ वे कभी जा ही नहीं सकता है और क्षपकवाला कभी ११ वे गुणस्थान पर जाता ही नहीं है ।

नामकरण की दृष्टि से इस ११ वे गुणस्थान का नाम उपशान्त मोह नाम प्रसिद्ध है । दूसरा वीतराग छद्मस्थ नाम भी है । उपशान्त मोह नाम इस गुणस्थान के कार्य के कारण रखा हुआ है । उपशान्त करना अर्थात् शमाना, या दबाना । वैसे “उप” उपसर्ग समीप अर्थ में है । शान्त करने के समीप में जो पहुँचा है, किसको शान्त करना है ? मोहनीय कर्म को । इसमें भी जो कषाय उछलते कूदते थे उन कषायों को उपशान्त करना है । अतः इस कार्य की मुख्यता के कारण उपशान्त मोह नाम सही रखा गया है । दूसरा नाम वीतराग छद्मस्थ का रखा है । यद्यपि सर्व घाती कर्मों का क्षय यहाँ नहीं हुआ है अतः केवली सर्वज्ञ नहीं हुआ । इसलिए छद्मस्थ जरूर कहा जाता है । छद्म का अर्थ है आवरण उसमें स्थित रहनेवाला छद्मस्थ कहलाता है । अर्थात् ज्ञानावरणीयादि कर्मों का आवरण है । दूसरी तरफ वीतराग कहा है । क्योंकि मोहनीयकर्म का यद्यपि जड़मूल से सर्वथा क्षय नाश नहीं

हुआ है फिर भी शमन उपशमन की प्रक्रिया से इतना दबा दिया है कि सत्ता में मोहनीय कर्म कषाय राग द्वेषादि सब पड़े हुए होते हुए भी उदय में अंशमात्र भी कषायादि दिखाई नहीं देते हैं। इसलिए बाह्य स्वरूप से ऊपर—ऊपर से बहुत अच्छा वीतराग दिखाई देता है। इसलिए वीतरागी कहा जाता है। लेकिन ११ वे गुणस्थान पर वीतराग कहाँ तक दिखाई देगा? कितनी देर तक? क्योंकि ११ वे गुणस्थान की उत्कृष्ट काल अवधि ही अन्तर्मुहूर्त की है। इस अन्तर्मुहूर्त काल में आयुष्य पूरा होने की भी संभावना है और न भी हुआ तो ४८ मिनट का अन्तर्मुहूर्त काल समाप्त होते ही, उसका पतन भी निश्चित ही है। जब तक दबी हुई उपशान्त मोहनीय कर्म की कषाय की प्रकृति का उदय न हो वहाँ तक तो वह वीतराग कहलाएगा। लेकिन जैसे ही उदय हो जाय कि वह गिर जाएगा। उसका पतन हो जाएगा। और नीचे के गुणस्थानों पर गिरता—गिरता कहाँ तक? ... अरे! पहले मिथ्यात्व के गुणस्थान तक भी चला जाएगा। इस तरह ११ वे गुणस्थान से पतन निश्चित ही है। चाहे वह पतन... कालक्षय से हो या मृत्यु के कारण हो। परन्तु पतन तो निश्चित ही है। जघन्य काल यहाँ का एक समय मात्र ही है। मरण की अपेक्षा गमन ४ थे गुण. पर होता है। दसवे गुणस्थान से यहाँ आगमन होता है। भवक्षय, आयुक्षय से पतन होने पर सीधे ४ थे जाता है।

यहाँ इर्यापथिक आश्रव होता है। सांपरायिक आश्रव यहाँ संभव नहीं है। उपशम श्रेणी का जो प्रारंभ ८ वे गुणस्थान से शमक साधक ने किया था उसकी समाप्ति—पूर्णता यहाँ ११ वे में हो जाती है। बस, यहीं इसका अन्त है। इस तरह उपशम श्रेणी ८, ९, १० और ११ इन ४ गुणस्थानों की रही।

ज्ञानावरण—दर्शनावरण. कर्म के आच्छादन—ढक्कन को “छद्म” कहते हैं। अतः छद्मस्थ कहलाते हैं। ऐसे छद्मस्थ २ प्रकार के कहलाते हैं। एक तो १) सराग छद्मस्थ, और २) दूसरा वीतराग छद्मस्थ कहलाते हैं। ११ वे और १२ वे गुणस्थानवर्ती महात्मा वीतराग छद्मस्थ कहलाते हैं। ११ वे में मोह का उपशमन—शमन हो जाता है इसलिए भी वीतराग कहलाता है। और १२ वे गुणस्थान पर... मोहनीय कर्म शमन के बदले क्षीण हो चुका है। जड़मूल से क्षय हो चुका है अतः वीतरागता प्रकट हो जाती है। फिर भी छद्मस्थ कहलाता ही है। क्योंकि छद्मस्थ ज्ञानावरणीय + दर्शनावरणीय कर्म के कारण है।

आत्मा के आठ गुण मूल हैं। इन ८ मूलभूत गुणों पर... जो ८ कर्म लगते हैं वे गुणों को ढकनेवाले आच्छादक—आवरक कहलाते हैं, जिस गुण का आवरक ढकनेवाला

कर्म उस नाम से उस रूप में पहचाना जाता है। वीतरागता नामक आत्मा के मूल गुण को ढकनेवाला मोहनीय कर्म है। कर्म के आवरण के कारण गुण ढका रहता है। वह गुण उस कर्मावरण के दूर हटने से पुनः प्रगट होता है। जैसे मूलभूत सफेद कपड़ों पर यदि हल्दी या किसी का कच्चा रंग लग जाय तो उसे धोने से रंग के निकल जाने पर कपड़े की सफेदी पुनः वैसी ही चमक उठती है। सफेदी कहीं बाहर से आई नहीं है अपितु मूलभूत अन्दर पहले से थी और वह जिस कर्मावरण से आच्छादित हो चुकी थी वही उस कर्मावरण के हट जाने पर पुनः प्रकट हुई है। ठीक इसी तरह आत्मा के गुण कर्मावरण के अपगम अर्थात् नाश, क्षय के कारण प्रगट हुए हैं। यहाँ मोहनीय कर्म के संपूर्ण उपशान्त हो जाने से ११ वे गुणस्थान पर वीतरागता प्रगट हुई है। लेकिन यह चिरस्थायी, सदाकालीन नहीं है, क्योंकि मोहनीय कर्म की कषायादि की प्रकृतियाँ सत्ता में पड़ी हैं। मात्र दबी हुई, शान्त पड़ी हुई हैं, जैसे जलते अंगारे राख से दबे हो उनका विश्वास नहीं किया जा सकता वैसे ही दबे हुए, शान्त पड़े हुए मोहनीय कर्म का कोई विश्वास नहीं किया जा सकता। जैसे ही उसका पुनः उदय हुआ नहीं कि वीतरागता गायब। और पतन की प्रक्रिया प्रारंभ हो जाती है।

ऐसी वीतराग अवस्था में मोहनीय का उदय नहीं होने से यथाख्यात चारित्र होता है। भव (आयु) क्षय से जब ११ वे गुणस्थान से उपशम श्रेणीवाला गिरता है। आयुष्य समाप्त होते ही वह शमक महात्मा मृत्यु के पश्चात् सीधे अनुत्तर विमान नामक सर्वोच्च कक्षा के देवलोक में उत्पन्न होते हैं। जहाँ एकावतारी ही होता है। अर्थात् एक ही भव मनुष्य का महाविदेह क्षेत्र में करके... निश्चित ही मोक्ष में जाता है। इसमें कोई संदेह नहीं है।

११ वे गुणस्थान पर २५ में से सिर्फ १ ऐर्यापथिकी क्रिया ही होती है। आठों कर्म यहाँ सत्ता में पड़े हुए होते हैं। ८ में से १ कर्म का बंध होता है। सिर्फ शांता वेदनीय का। और इसी जन्म में भोगी जाती है। ८ में से ७ कर्मों का वेदन उदय होता है। क्योंकि मोहनीय कर्म की सभी प्रकृतियाँ दबी हुई शान्त रहती है। ८ में से ५ कर्मों की उदीरणा होती है। (१) आयु- (२) वेदनीय तथा मोहनीय की नहीं होती। मोहनीय कर्म को तो दबाकर रखा है अतः अन्य ७ कर्मों की निर्जरा हो सकती है। क्षायिक भाव न होने के कारण शेष ४ भाव होते हैं। बंधहेतुओं में से तो यहाँ सिर्फ १ ही बंध हेतु 'योग' का होता है। कषायादि भाव तो होते ही नहीं हैं। लेश्या सिर्फ शुक्ल ही होती है। इस तरह ११ वे गुणस्थान का स्वरूप शास्त्रों में वर्णित किया गया है।

पतनावस्था के गुणस्थान—

उपशम श्रेणी का शमक साधक निश्चित ही गिरनेवाला है। अन्य किसी गुणस्थान पर गिरे या न भी गिरे... परन्तु ११ वे गुणस्थान पर आकर तो अवश्य ही गिरता है। गिरते गिरते २—३ प्रक्रिया है वह भी पीछे लिखी है। गिरनेवाला... सीधा भी गिरता है और क्रमशः एक—एक गुणस्थान भी गिरता है। १०, ९, ८, ७, ६, ५, ४, ३, २ और पहले गुणस्थान पर भी आ जाता है। गिरते गिरते किस क्रम से गिरेगा उसका कोई ठिकाना नहीं है। फिर भी गिरते हुए अनुक्रम से ७ वे और छठे गुणस्थान पर तो सभी आते ही हैं। यदि वहाँ स्थिर हो जाय तो तो ठीक। लेकिन अध्यवसायों का कोई ठिकाना ही नहीं है। और नीचे गिरे तो ५ वे गुणस्थान पर आकर रुक सकता है। यह तो श्रावक का देशविरति का गुणस्थान है। यदि यहाँ भी स्थिर होकर न रुके तो ४ थे गुणस्थान पर भी आकर रुक सकता है। यहाँ श्रद्धालु सम्यक्त्वी बनकर रह सकता है। और यदि यहाँ भी न रुके तो हो सकता है कोई तीसरे गुणस्थान पर होते हुए १ ले मिथ्यात्व के गुणस्थान पर जाता है, और कोई २ रे गुणस्थान पर होते हुए १ ले गुणस्थान पर जाता है। १ ला गुणस्थान मिथ्यात्व का है।

यह उत्थान—पतन का सारा आधार एक मात्र अध्यवसायों पर है। अध्यवसायों का कोई ठिकाना नहीं रहता। कब किसके अध्यवसाय बनेंगे, शुद्ध अच्छे होंगे? और कब किसके अध्यवसाय बिगड़ेंगे? कुछ भी कहा नहीं जा सकता।

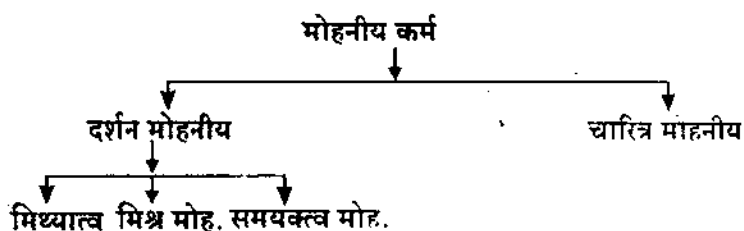
विषय सम्बन्ध के आधार पर ३ रे और २ रे गुणस्थान का वर्णन जो पहले नहीं किया था उसका वर्णन यहाँ करते हैं—

३ रा मिश्रदृष्टि गुणस्थान—

मिश्रकर्मोदयाज्जीवे, सम्यग् मिथ्यात्वमिश्रितः।

यो भावोऽन्तर्मुहूर्तस्या-तन्मिश्रस्थानमुच्यते ॥ १३ ॥

मिश्रमोहनीय कर्म के उदय से जीव को जो सम्यक्त्व और मिथ्यात्व इन दोनों के मिश्रण से जो भाव उत्पन्न होते हैं उस मिश्रित भाव को तीसरा मिथ्यात्व गुणस्थान कहते हैं। कर्मग्रन्थ का कर्म का विषय आपके ख्याल में होगा? मोहनीय कर्म के जो २ विभाग हैं—

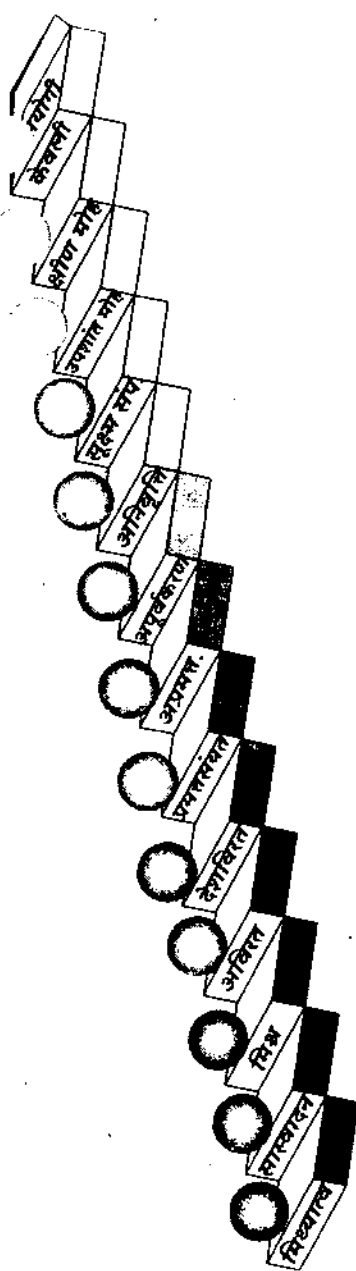


इस प्रकार के दर्शनमोहनीय कर्म के ३ विभागों में तीनों अवस्था साफ है। मिथ्यात्व मोहनीय तो बिल्कुल तत्त्व श्रद्धा से विपरीत है। वह तो आत्मा, परमात्मा मोक्षादि किसी भी तत्त्व को अंशमात्र भी मानने के लिए तैयार ही नहीं है। सम्यक्त्व मोहनीयवाला आत्मादि को मानने के लिए तो तैयार है लेकिन मोहनीय से ग्रस्तता इसकी भी है। जबकि तीसरा मिश्र मोहनीयवाला इन दोनों की मिश्र प्रकृतिवाला जीव है। यह दोनों आधा-आधा मानकर चलता है। इसमें न तो पूरी श्रद्धा ही है, न ही पूरी अश्रद्धा, मिथ्यात्व है। लेकिन दोनों की मिश्रित अवस्था बड़ी अजीबसी रहती है। इस दूसरी मिश्रमोहनीय कर्म के उदय के कारण जो सम्यक् श्रद्धा के विषय का और मिथ्यात्व अश्रद्धा के विषय का... दोनों का मिश्रित भाव जो उदय में आता है, उस समय जीव की जिस प्रकार की जैसी परिणति, या अध्यवसाय की धारा जो बनती है वह इस तीसरे गुणस्थान की बनती है। इसलिए इस तीसरे गुणस्थान का नाम मिश्र गुणस्थान रखा है।

इस गुणस्थान का काल मात्र अन्तर्मुहूर्त का है। परिवर्तन तो होता ही रहता है। इस गुणस्थान को समझने के लिए उपरोक्त तीनों भावों को स्पष्ट समझना अनिवार्य है। क्योंकि दर्शन मोहनीय कर्म विभाग की ३ प्रकृतियों के आधार पर तीनों अलग-अलग गुणस्थान हैं। १ ली प्रकृति जो मिथ्यात्व मोहनीय की है उसका बिल्कुल स्पष्ट १ ला गुणस्थान ही है। ठीक उसी तरह दूसरी प्रकृति जो मिश्रमोहनीय है उसके लिए तीसरा मिश्रगुणस्थान है। और तीसरी प्रकृति जो सम्यक्त्व मोहनीय है उसके लिए ४ था सम्यक्त्व का अविरत सम्यग् दृष्टि गुणस्थान है। वैसे पहले ही इस बात का जिक्र बार-बार कर चुका हूँ कि पहले गुणस्थान से लेकर १२ वे गुणस्थान पर्यन्त सारी साधना एक मात्र मोहनीय कर्म को खपाने की ही है। अब आप ही सोचिए ८ कर्मों में से यह मोहनीय कर्म कितना भारी-कितना खतरनाक है? कर्म तो कर्म है। ये १४ गुणस्थान तो इन कर्मों का क्षय करने की साधना की अवस्था विशेष हैं। अब आपही सोचिए, जैसे कि बच्चे को स्कूल में भर्ती किया, और उसने पढ़ना प्रारंभ किया। इतने में ही उसे समस्त ज्ञान सब एक साथ

तो प्राप्त नहीं होगा ? संभव ही नहीं है । क्योंकि जितना ज्ञान है उसमें से जितना अंश प्राप्त करता जाएगा, और उसके सामने जितना अज्ञान का अंश बचेगा—रहेगा उस हिसाब से कुछ ज्ञान भी है और कुछ अज्ञान भी है । सचमुच यह माप तो कोई नहीं निकाल सकता कि प्रतिदिन पढ़ते—पढ़ते आगे बढ़ते—किस दिन कितना ज्ञान प्रगट हुआ और कितना अज्ञान बचा ? मात्रा प्रतिशत में भी निकालना बड़ा असंभव सा काम है । जो हों, सर्वज्ञ के लिए आसान जरूर प्रतीत होता है । किसी अन्य—अन्य जीवों की तुलना करने पर भी एक से दूसरे की भिन्नता का ख्याल आ सकता है ।

वैसे ही यहाँ आत्मा जब कर्मग्रस्त है । कर्म की कालिमा को लिये हुए है और फिर उसमें से धर्म करते—करते ऊपर उठती जाएगी, जितने—जितने प्रमाण में आत्मा की शुद्धि बढ़ती जाएगी उतने—उतने प्रमाण में आत्मा गुणस्थानों के एक—एक सोपान चढ़ते चढ़ते आगे बढ़ती ही जाती है । लेकिन पहले गुणस्थान से जैसे ही ऊपर उठती है वैसे तुरंत ही सभी कर्म नहीं खपते हैं । क्रमशः एक एक कर्म की प्रकृति के क्षयोपशम भाव से आत्मा उतनी शुद्ध होती है । इसे यद्यपि आंशिक शुद्धि कहते हैं । फिर भी इतनी भी आवश्यक है । बूंद—बूंद करके सरोवर भरता है इसी न्याय से आंशिक थोड़ी—थोड़ी शुद्धि बढ़ते—बढ़ते आत्मा थोड़ी—थोड़ी आगे



बढ़ती जाती है। कर्म की मात्रा थोड़ी—थोड़ी घटती जाती है और वैसे वैसे आत्मगुणों की आत्मशुद्धि की थोड़ी—थोड़ी मात्रा बढ़ती जाती है। यद्यपि कर्म की कालिमा रहती है फिर भी वह धीरे—धीरे कम होती ही जाती है।

एक मात्र मोहनीय कर्म की कालिमा घटते—घटते १२ वे गुणस्थान पर संपूर्ण क्षय हो जाती है और आत्मा संपूर्ण घातीकर्मरहित बनकर १३ वे गुणस्थान पर सर्वज्ञ वीतराग भगवान बन जाती है। बस, फिर तो १४ वे गुणस्थान के बाद मुक्ति प्राप्त हो जाती है। बस, आठों कर्मों से रहित संपूर्ण शुद्ध अवस्था में निरंजन निराकार बन जाती है। जैसे—जैसे कर्मावरण की कालिमा क्षीण—नष्ट होती है वैसे वैसे आत्मशुद्धि होते होते आत्मा ऊपर—ऊपर के विशुद्ध गुणस्थानों पर अग्रसर होती जाती है। परन्तु इस शुद्धि के लिए धर्मसाधना की जरूरत रहती है। बिना धर्मसाधना किये कैसे कर्मक्षय होगा? इससे ख्याल आता है कि धर्म कैसा चाहिए? कौनसा चाहिए? सच तो यह है कि भिन्न भिन्न जो लेबल लगे हुए हैं उनमें से किसी की आवश्यकता नहीं है। हमें तो आत्मधर्म चाहिए। बस, जो आत्मा के कर्मों का क्षय करता हुआ शुद्ध करता जाय। वैसा निर्जराकारक धर्म चाहिए। अतः इस निर्जरा को ही कसोटी का पाषाण मानकर धर्मरूपी स्वर्ण को इसपर कसकर देखकर यदि निर्जरा होती है तो उस धर्म को अपनाना चाहिए। आराधना उपासना उसी निर्जरा धर्म की करना चाहिए। यही कर्मों की निर्जरा कराता है। निर्जरा की प्रक्रिया से कर्मों का क्षय होकर आत्मशुद्धि होगी। बस, जिस दिन संपूर्ण शुद्धि... सर्वांशिक शुद्धि हो जाय उस दिन सिद्धि हो जाएगी। शुद्धि की समाप्ति... पूर्णता ही सिद्धि की निशानी है। लेकिन इस आत्मा को आखिर उठानी कहाँ से है? कमल को जैसे कीचड़ में से निकालना है। ठीक उसी तरह आत्मा को मिथ्यात्व के १ ले गुणस्थान पर से मिथ्यात्वरूपी कीचड़ में से ऊपर उठानी है।

तीसरे गुणस्थान की स्थिति—

यह तीसरा गुणस्थान पहले की अपेक्षा काफी अच्छा है, उसकी तुलना में। क्योंकि १ ले गुणस्थान में संपूर्ण मिथ्यात्व का ही जो घोर अन्धेरा था उसके स्थान पर अब अंधेरा आधा हो चुका है और अरुणोदय काल में जैसे सूर्योदय, अरुणोदय से पहले की जो लालिमा छाई हुई रहती है, उसी तरह की मिश्रावस्था में मिथ्यात्व भी आधे अंश में रहता है और सम्यग् श्रद्धा का अंश भी इसमें मौजूद रहता है। जैसे प्रभातकाल में जबकि सूर्य निकला भी नहीं है और रात पूरी बीती भी नहीं है। तब क्या कहेंगे? क्या रात कह कर

व्यवहार करेंगे या दिन कहकर ? इसके लिए एक शब्द कहाँ से लाना जो दोनों का सूचक—वाचक हो ? अतः न होने से प्रातःकाल अरुणोदय काल नामका व्यवहार भाषा के प्रयोग में किया जाता है ।

यहाँ पर भी वैसी ही मिश्रावस्था है । दूसरा दृष्टान्त इस प्रकार है—

जात्यन्तरसमुद्भूतिर्वडवाखरयोर्यथा ।

गुडदध्नोः समायोगे, रसभेदान्तरं यथा ॥ १४ ॥

तथा धर्मद्वये श्रद्धा, जायते समबुद्धितः ।

मिश्रोऽसौ भण्यते तस्मान्द्वावो जात्यन्तरात्मकः ॥ १५ ॥

संसार में आपने घोड़ा और गधा दोनों प्राणियों को देखा ही है । घोड़े—घोड़ी नर—मादा के संयोग से पुनः घोड़ा या घोड़ी ही पैदा होगा उसी की परंपरा चलती रहती है । इसी तरह गधे—गधी की भी परंपरा चलती ही है । लेकिन गधी के साथ यदि घोड़ा, या घोड़ी के साथ यदि गधा इस तरह विजातीय संबंध होने के आधार पर जो बच्चा पैदा होगा वह न तो घोड़ा होगा और न ही गधा होगा । परन्तु एक नवीन जाती ही पैदा होगी । जिसे खच्चर कहते हैं ।

तीसरा एक और दृष्टान्त देखिए... खाते समय मुँह में एक साथ ही गुड और दही दोनों रखकर देखिए । फिर देखिए किसका स्वाद आता है ? क्या स्पष्ट गुडका आएगा या स्पष्ट दही का आएगा ? जी नहीं । दोनों की मिश्रावस्था का अलग ही किसम का स्वाद आएगा ।

ये तो समझने के लिए दृष्टान्त दिये हैं । ठीक उसी तरह जिस जीव की बुद्धि सर्वज्ञभाषित सत्य धर्म और असर्वज्ञ—छद्मस्थ भाषित मिथ्याधर्म दोनों में समान बुद्धिवाली बनती है वह जीव एक नए प्रकार की ही विचारधारावाला बनता है उसे मिश्रगुणस्थानवाला कहते हैं । वह स्पष्ट रूप से न तो सत्य धर्म की विचारणा—या श्रद्धावाला है और न ही गाढ़ मिथ्यात्वधारक असत्य धर्म की श्रद्धावाला है । इस तरह जब दोनों की स्पष्ट मान्यतावाला नहीं है तब वह दोनों की मिश्र मान्यतावाला कहलाता है । स्पष्ट मिथ्यात्व की मान्यता १ ले मिथ्यात्व के गुणस्थान पर होती है और स्पष्ट सच्ची सर्वज्ञभाषित तत्त्व की श्रद्धा ४ थे गुणस्थान पर होती है । अतः ऐसा कहा जा सकता है कि तीसरे गुणस्थानवाला जीव १ + ४ की दोनों गुणस्थान की मिश्रित मान्यतावाला है । शास्त्रकार महर्षी फरमाते हैं कि—

जह गुडदहीणि महियाणि, भाव सहिआणि हुंति मीसाणि ।

भुजं तस्स तहोभय तहिड्डी मीसदिड्डी य ॥ १ ॥

जिस तरह गुड और दही मिश्रित करके खाने पर मिश्र रसवाला स्वाद लगता है ठीक उसी तरह मिथ्यात्व और सम्यक्त्व इन दोनों की मिश्रितावस्थावाले—मिश्र विचारधारावाले जीव बनते हैं ।

ऐसे दृष्टान्तरूप सैंकड़ों जीव मिलेंगे । जो क्षणभर में सर्वज्ञभाषित सत्य तत्त्व आत्मा—मोक्षादि को मानने की श्रद्धा व्यक्त करते हुए दिखाई देंगे लेकिन दूसरी क्षण कहेंगे— नहीं नहीं, किसने देखा है आत्मा को और किसने देखा है मोक्ष को ? अभी सर्वज्ञ परमात्मा के मंदिर दर्शन—पूजा की और स्तुति में कहा कि— “त्वमेव जिनः, वीतरागस्त्वमेव” हे प्रभु ! आप ही वीतराग हैं । और तुरंत दूसरे छद्मस्थ—रागी—द्वेषी के मंदिर में वहाँ जाकर उनकी भी पूजा—भक्ति करते हुए उनकी स्तुति में भी ऐसा ही कुछ कहेगा— हे प्रभु ! आपसे बढ़कर महान—बड़े कोई भगवान ही नहीं है ।

एक बिल्कुल मिथ्यात्वी जीव साफ कहता है कि आत्मा—मोक्षादि कुछ है ही नहीं । दूसरी तरफ सम्यक्त्वी स्पष्ट कहता है कि आत्मा—मोक्षादि है, बिल्कुल सही बात है कि है । ज्ञानगम्य है । स्वयं सिद्ध करता है । लेकिन इन दोनों के बीच का मिश्रदृष्टि न तो साफ ना कहता है और न ही स्पष्ट हाँ कहता है । वह अलग ही ढंग की मिश्रित भाषा का प्रयोग करके कहता है कि— बस, यह शरीर ही आत्मा है । अरे ! स्वर्ग में भौतिक सुख—सम्पत्ति की चरमावस्था की प्राप्ति ही मोक्ष है । बस, इसे ही मानों । अब आप देखिए, इसकी भाषा में ना जैसी बात ही नहीं है लेकिन उसके कहने के शब्दों से न तो आत्मा सिद्ध होती है और न ही मोक्ष । शरीर को ही आत्मा मान लो ऐसा कह देने मात्र से क्या आत्मा सिद्ध हो गई ? कैसे होगी ? शरीर तो आखिर शरीर ही है । यह तो जड़ साधन है । जीवित शरीर भी शरीर ही है, और मृतावस्था में भी उसे शरीर कहकर ही व्यवहार होगा । व्यवहारभेद तो संभव ही नहीं है । फिर दोनों अवस्था में से किस शरीर को आत्मा कहना ? क्या आत्मा के गुणधर्म शरीर में हैं या शरीर के गुणधर्म आत्मा में हैं ? जी नहीं, कुछ भी नहीं । अंशमात्र भी संभव नहीं है । फिर भी बोलने में कुछ भी बोल दिया । ऐसे मिश्रदृष्टि की भाषा या विचार की किसी पर भी दृढ़ता स्थिरता नहीं रहती है । विचारों से वह स्थिर नहीं है । और कभी भी हो नहीं पाता है । ऐसे जीव हमेशा द्वअर्थी भाषा बोलनेवाले होते हैं । इनकी भाषा को सुनकर भी कभी कोई स्थिर स्थायी निर्णय कर ही नहीं सकता है । ये लोग कभी तारतम्य को पाकर, सत्यार्थ समझते हुए... या तत्त्व की गहराई में जाकर तो

बोल ही नहीं सकते हैं। ये कुछ भी बोल देते हैं। इनकी बात को पकड़कर यदि कोई अन्दर का रहस्य पृष्ठ ले तो वह गड़बड़ा जाएगा। डगमगा जाएगा। विचलित होकर कुछ भी कह देगा। जैसे पानी में दूध या दूध में पानी मात्रा में ज्यादा हो तो क्या कहेगा? अब ऐसा कोई शब्द ही नहीं है अतः क्या करना?

मिश्रगुणस्थानवर्ती का आयुबंध कहाँ?

आयुर्बध्नाति नो जीवो, मिश्रस्थो प्रियते न वा।

सद्दृष्टिर्वा कुदृष्टिर्वा, भूत्वा मरणमप्नुते

॥ १६ ॥

सम्यग्मिथ्यात्वयोर्मध्ये, ह्यायुर्येनार्जितं पुरा।

प्रियते तेन भावेन, गतिं याति तदाश्रिताम्

॥ १७ ॥

गुणस्थान क्रमारोहकार कहते हैं कि... ३ रे मिश्र गुणस्थान में कोई जीव आगामी जन्म योग्य नया आयुष्य बांधता नहीं है। इसी तरह इस गुणस्थान पर मरता भी नहीं है। परन्तु यहाँ से ४ थे गुणस्थान पर जाकर मृत्यु पा सकता है, या फिर १ ले गुणस्थान पर जाकर मृत्यु पाता है। परन्तु ३ रे मिश्र गुणस्थान पर रहकर मृत्यु पाना संभव नहीं है। मिश्र गुणस्थान पर १ ले मिथ्यात्व के गुणस्थान से चढ़ते समय जीव आते हैं। और गिरते समय ऊपर से आते आते... ४ थे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान से भी यहाँ तीसरे गुणस्थान पर आते हैं। इस तरह चढ़ते हुए और गिरते हुए दोनों अवस्था में यह ३ रा गुणस्थान आ ही जाता है। तीसरे गुणस्थान पर आने के पहले कोई भी जीव यदि मिथ्यात्व या सम्यक्त्व से कहीं से भी आयुष्य नया बांधकर साथ ले आए तो यहाँ के मिश्रभाव का अनुभव करके अर्थात् ३ रे गुणस्थान पर जाने के पश्चात् पुनः मिथ्यात्व या सम्यक्त्व के ही भाव में मृत्यु पाकर तदनुसार गति में जाता है।

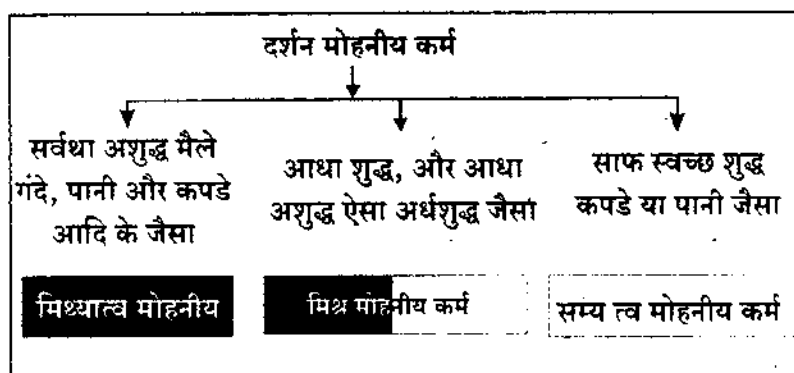
३ रे मिश्र गुणस्थान पर जीव... तिर्यचत्रिक, स्त्यानर्द्धित्रिक, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय ४ अनन्तानुबंधी आदि ४ मध्य संस्थान ४ मध्य संघयण, नीच गोत्र, उद्योत, अशुभविहायोगति और स्त्रीवेद इन २५ प्रकृतियों का बंध विच्छेद होने से तथा मनुष्यायुष्य और देवायुष्य इन २ आयुष्यकर्म का अबंध होने से ७४ प्रकृतियाँ कर्म की बांधता है।

तथा ४ अनन्तानुबंधी, स्थावर, एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रियत्रिक इन ९ प्रकृतियों का उदय विच्छेद हो जाने से देवानुपूर्वी, नरकानुपूर्वी और तिर्यचानुपूर्वी का उदय न होने के कारण तथा मिश्र मोहनीय कर्म का उदय होने के कारण १०० प्रकृतियों के उदयवाला

होता है। तथा सास्वादन दूसरे गुणस्थान की तरह १४७ कर्मप्रकृतियों की सत्तावाला जीव ३ रे मिश्र गुणस्थान पर होता है।

इस तीसरे गुणस्थान का पूरा नाम “सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान” है। किन्तु संक्षेप में दोनों का सम्मिलित स्वरूप लेकर मिश्रगुणस्थान नाम ही प्रचलित हो चुका है।

शुद्धि-अशुद्धि का स्वरूप—



कर्म शास्त्र में मोहनीय कर्म के दर्शन मोहनीय की ३ प्रकृतियाँ जो बताई उनको उपरोक्त चित्रानुसार क्रमशः १) अशुद्ध, २) अर्धशुद्ध और ३) शुद्ध प्रकार की हैं। अतः १) मिथ्यात्व मोह की प्रकृति बिल्कुल अमावस्या के काले अंधेरे के जैसी श्याम, या काले मसौते के जैसा मटमैला कपडा, या गटर—नाले का गंदे पानी के जैसी है। वैसे आत्मा पर लगे हुए दर्शन मोहनीय के पुद्गल परमाणु जो सर्वथा अशुद्ध ही हैं इनको मिथ्यात्व मोहनीय कर्म कहते हैं। ये आत्मा मोक्षादि किसी भी तत्त्व को नाम मात्र भी शुद्ध स्वरूप में मानने के लिए तैयार ही नहीं हैं।

जिसमें आधे शुद्ध और आधे अशुद्ध रखे हो उन्हें मिश्र कहते हैं। यही मिश्र मोहनीय कर्म है। तीसरा बिल्कुल साफ, स्वच्छ, सुंदर, स्पष्ट है। उसे चाहे कपडे की या पानी की जिस किसी की भी उपमा दो वह सम्यक्त्व मो० कर्म है। इसमें आत्मा, मोक्ष आदि पदार्थों की श्रद्धा स्पष्ट साफ है। क्रमशः अशुद्ध १ ले गुणस्थानवर्ती मिथ्यात्व है। २ दूसरी

मिश्रवस्था ३ रे गुणस्थान की है और तीसरी शुद्धावस्था यह चौथे गुणस्थान की सम्यक्त्व की है ।

चाहे धान्य की भी उपमा लीजिए तो भी उपरोक्त तीनों अवस्था स्पष्ट होगी । इस तरह दर्शनमोहनीय कर्म की इन ३ प्रकार की प्रकृतियों के कारण जीव भी ३ प्रकार की वृत्ति-विचारणावाले रहते हैं । वे उपरोक्त ३ गुणस्थान पर रहते हैं । दृष्टान्तों से उन कक्षा के जीवों की पहचान स्पष्ट हो सकती है । हमारे लिए उन वृत्तिवालों को पहचानना आसान होगा ।

मीसा न राग-दोसो, जिण-धम्मे अंतमुहु जहा अत्रे ।

नालियर-दीव-मणुओ, मिच्छं जिण-धम्म-विवरीअं

॥ १६ ॥

प्रथम कर्मग्रन्थकार मिश्र मोहनीय को समझाने के लिए नारिकेलद्वीप का दृष्टान्त देते हैं । ऐसा द्वीप जहाँ अनाज पैदा ही न होता हो, एकमात्र नारियल का फल ही पैदा होता है । उस द्वीप के लोगों ने नारियल के फल के सिवाय न तो कभी कुछ देखा है और न ही कुछ खाया है । बस, एकमात्र नारियल के फल ही खाए हैं । ऐसे में यदि उन्हें किसी प्रकार का अन्न लाकर खाने दिया जाय तो उनको अन्न के प्रति न कोई विशेष राग होगा और न ही द्वेष । ठीक उसी तरह ३ रे मिश्रगुण वर्ती जीव को जिन-सर्वज्ञ के धर्म के प्रति न कोई विशेष राग रहता है । या न कोई विशेष द्वेष रहता है । उसी तरह छद्मस्थ प्ररूपित मिथ्या धर्म के प्रति भी विशेष कोई राग-द्वेष-रुचि-अरुचि कुछ भी नहीं रहती । ऐसे मिश्रमोहनीय गुणस्थानवर्ती जीव होते हैं । इसका भी काल उत्कृष्टरूप से अंतर्मुहूर्त मात्र ही है । यहाँ आधी श्रद्धा भी रहती है और आधी मिथ्यात्व की वृत्ति । इस तरह दोनों मिश्रभाव की स्थिति रहती है । यह ३ रे गुणस्थानवाला जीव सकल या देश संयमादि कुछ भी ग्रहण नहीं करता है । अर्धविशुद्ध-आधी श्रद्धा आधी अश्रद्धा का जो मिश्रस्वभाव है वह अंतर्मुहूर्त की काल अवधि पूर्ण होने के पश्चात् शुद्ध या अशुद्ध किसी एक पुंज का उदय होने पर वहाँ जाता है । अर्थात् या तो मिथ्यात्व अशुद्ध पुंजवाले १ ले गुणस्थान पर जाय, या फिर . . शुद्ध पुंजवाले ४ थे सम्यक्त्व के गुणस्थान पर जाय । इस तरह यहाँ से १ ले या ४ थे दोनों गुणस्थान पर साधक जा सकता है । और १ ले और ४ थे दोनों गुणस्थान पर से आ भी संकेता है । इस तरह यहाँ गमनागमन १ ले ४ थे से और पर है । यहाँ पर छहों लेश्याएं होती हैं । इस ३ रे गुणस्थान पर चारों गति के जीव रहते हैं । अतः असंख्य की संख्या में जीव इस गुणस्थान पर होते हैं । अतः अल्पत्व में ८ वे तथा बहुत्व

में ४ थे क्रम पर रहते हैं। यहाँ आठों कर्म की सत्ता निर्जरा तथा उदय—वेदन रहते हैं। बंध आयु के सिवाय ७ का तथा उदीरणा भी ८ या ७ की रहती है।

दूसरा सास्वादन गुणस्थान—

१४ गुणस्थानों में सास्वादन नामक गुणस्थान की दूसरे क्रमांक पर गणना की गई है। इसका नाम ही ऐसा रखा गया है कि—

“आसादनं सम्यक्त्वविराधनं सह आस्वादनेन वर्तत इति सासादनो, विनाशित सम्यग्दर्शनोऽप्राप्तमिथ्यात्वकर्मोदयजनितपरिणामो मिथ्यात्वाभिमुखः सासादन इति भण्यते।”

जो सम्यक्त्व की विराधनासहित है उसे सासादन कहते हैं। जो जीव सम्यक्त्व के ४ थे गुणस्थान से गिरा हुआ है और जिसने मिथ्यात्व की भूमि का स्पर्श अभी नहीं किया हो अर्थात् सम्यक्त्व को छोड़ने, वमन करने और मिथ्यात्व को पाने के पहले की अवस्थाविशेष है वह सास्वादन की है।

आदिमसम्पत्तद्धा समयादो छावलित्ति वा सेसे।

अणअणवस्त्वयादो णासियम्मोत्ति सासणक्खोसो ॥

गोम्पटसार के जीवकाण्ड में कहते हैं कि... स + आसादन = सास्वादन। स = सहित। आसादन = विराधना। विनाश = घात। स + आसन = सासन। आसन = सम्यक्त्व की विराधना, सम्यक्त्व विराधक परिणाम सासन है। ४ थे गुणस्थान से सम्यक्त्वरूपी शिखर से नीचे गिरनेवाले पतित मिथ्यात्व रूप भूमि के सन्मुख दशा को सासादन कहते हैं।

उपशम सम्यक्त्व—

अनादिकालसंभूत-मिथ्याकर्मोपशान्तिः।

स्यादौपशमिकं नाम, जीवे सम्यक्त्वमादितः ॥ १० ॥

मिथ्यात्व और सम्यक्त्व की जो पहले काफी विचारणा कर चुके हैं उसको आप पुनः स्मृतिपटल पर लाइए... आपको ख्याल आएगा कि... अनादि काल से आत्मा पर लगे हुए जो मिथ्यात्व मोहनीय कर्म यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण आदि करणों के अथाग पुरुषार्थ द्वारा अनादिकालीन राग—द्वेष की निबीड ग्रन्थि का भेदन करके सर्वप्रथम जिस सम्यक्त्व को जीव ने पाया था वह उपशम नामक सम्यक्त्व था। यहाँ भी

कर्मों का जड़मूल से क्षय नहीं अपितु उपशमन ही था । इसलिए उपशम सम्यक्त्व प्राप्त किया था । ऐसा अंतरकरणोपशम सम्यक्त्व पूरे भव चक्र में मात्र एक बार ही प्राप्त हो सकता है । तथा

अकयतिपुंजो ऊसर-ईलिय दवदङ्गुरुक्खनाएहि ।

अन्तरकरणुवसमिओ, उवसमिओ वा ससेणिगओ ॥ १ ॥

शास्त्रकार महर्षि भी फरमाते हैं कि जिस जीव ने ३ पुंज किये नहीं हैं ऐसा जीव १) उषर क्षेत्र, २) इलिका या दवदग्ध वृक्ष के ३ दृष्टान्तों की तरह अन्तरकरणोपशम सम्यक्त्ववाला अथवा स्वश्रेणी अर्थात् उपशमश्रेणिवाला उपशमसम्यक्त्वी होता है, वह अर्थात् उपशमसम्यक्त्ववाला, तथा उपशमश्रेणिवाला उपशमसम्यक्त्वी जीव दोनों ही प्रकार का उपशमसम्यक्त्व सास्वादन गुणस्थान की उत्पत्ति में मूलभूत (मुख्य) कारण बनता है । सास्वादन की कक्षा का सम्यक्त्व उपशम सम्यक्त्व के कारण से कैसे होता है । वह कहते हैं—

एकस्मिन्नुदिते मध्याच्छान्तानन्तानुबन्धिनाम् ।

आद्यौपशमिकसम्यक्त्व, शैलमौलेः परिच्युतः ॥ ११ ॥

समयादावलिषट्कं, यावन्मिथ्यात्वभूतलम् ।

नासादयति जीवोऽयं, तावत्सास्वादो भवेत् ॥ १२ ॥

उपशम सम्यक्त्वाला यह जीव उपशान्त हुए अनन्तानुबन्धि कषाय के क्रोधादि में से कोई भी एक कषाय का उदय होने के कारण जो साधक उपशम सम्यक्त्वरूपी शिखर पर आरूढ़ था वह वहाँ से पतित होता है— गिरता है । अर्थात् श्रद्धा से पथभ्रष्ट—पदच्युत होता है । ऐसा जीव जब तक अध्यवसाय—परिणाम की धारा मिथ्यात्व की नहीं बना लेता है अर्थात् मिथ्यात्व के भूमितल पर नहीं आ जाता है तब तक वह सास्वादन वृत्तिवाला बनता है । भले वह काल मात्र १ से ६ आवलिका का हो । जघन्य समय १ आवलिका का है और उत्कृष्ट काल ६ आवलिका मात्र का

है। उस समय वह जीव इतनी देर के लिए ही सही सास्वादन गुणस्थान पर आता है। सिद्धान्त में भी कहते हैं कि—

उवसम अद्वाइ ठिओ, मिच्छमपत्तो तमेव गन्तुमणो ।

सम्मं आसायन्तो, सासायणमो मुणेयन्तो ॥ ११ ॥

उपशान्त काल (अद्वा) में प्रवर्तता लेकिन अभी तक भी मिथ्यात्व को न पाया हो परन्तु हाँ... मिथ्यात्व पाने की दिशा में मिथ्यात्व के सम्मुख हुआ हो, मिथ्यात्व के घर रूप पहले गुणस्थान पर जाने के लिए उत्सुक हुआ हो, ऐसा जीव सम्यक्त्व के वमन समय में अल्प—किञ्चित् आस्वादनवाला (अर्थात् अनुभव करनेवाला) सास्वादन दृष्टिवाला कहा जाता है। इसे सास्वादन मिथ्यात्व दृष्टि भी नहीं कहा है। परन्तु सास्वादन सम्यग् दृष्टि जरूर कहा है। क्योंकि स्वाद—आस्वाद सम्यक्त्व का है। मिथ्यात्व का नहीं।

शायद आपको यहाँ शंका हो सकती है कि... मात्र ६ आवलिका के परिमित काल के पतन समय की अवस्था को इतना बड़ा गुणस्थान का दर्जा क्यों देना? इतने से के लिए एक स्वतंत्र गुणस्थान क्यों बनाया? आपकी बात ठीक है, लेकिन कुछ देर तक और सोचिए.. समझिए... कि यह सास्वादन गुणस्थानवाला जीव चौथे — तीसरे से गिरनेवाला जीव है। सम्यक्त्व से यहाँ दूसरे पर आ रहा है। अभी १ ले मिथ्यात्व के गुणस्थान पर पहुँचा भी नहीं है, और मिथ्यात्वी बना भी नहीं है। इसलिए १ ले गुणस्थानवाले मिथ्यात्वी की अपेक्षा तो ऊँचा है। दूसरा हेतु यह भी है कि— १ ले मिथ्यात्व के गुणस्थान पर तो अभवी जीव भी होते हैं, भवी भी होते हैं, जातिभव्य भी होते हैं। लेकिन दूसरे सास्वादन गुणस्थान पर तो अनिवार्य रूप से एक मात्र भव्य जीव ही होते हैं। क्यों कि भव्य जीव ही सम्यक्त्व पाते हैं, और सम्यक्त्व पाए हुए ही गिरेंगे तो मिथ्यात्व पर आएंगे। मिथ्यात्व के ही घर में अनादि—अनन्त काल से बैठे हुए मिथ्यात्वी जीव के लिए तो गिरने का प्रश्न ही खड़ा नहीं होता है। जो चढ़ता है वही गिरता है। इस नियम के आधार पर सम्यक्त्व पाया हुआ भव्य जीव गिरेगा वही यहाँ दूसरे गुणस्थान पर आएगा। अभवी, जाति भव्य (दुर्भव्य) आदि तो सम्यक्त्व पाते ही नहीं है, अतः चौथे सम्यक्त्व के गुणस्थान पर चढ़ने का सवाल ही खड़ा नहीं होता है, तो फिर गिरने की बात कहाँ से आएगी? इसलिए दूसरे सास्वादन गुणस्थान पर आने का प्रश्न ही नहीं उठता है। अभवी, दुर्भव्य (जाति भव्य) अनन्त काल तक एक मात्र पहले मिथ्यात्व के गुणस्थान पर ही रहते हैं। जो अनादि काल से तो हैं और भविष्य में भी अनन्त काल तक रहनेवाले ही हैं। अतः उनके लिए तो गुणस्थानों के परिवर्तन का कोई सवाल ही खड़ा नहीं होता है। अतः यह गुणस्थानों का

परिवर्तन आरोह—अवरोहादि सब एकमात्र भव्यात्मा के विषय में ही होता है। इसलिए चढ़ा हुआ गिरता भी है। ऐसी पतनावस्था के काल में बीच में यह सास्वादन नामक दूसरा गुणस्थान आता है। अतः सास्वादनस्थ जीव १ ले मिथ्यात्ववाले की अपेक्षा काफी ऊँचा है। अच्छा है। अतः यह दूसरा सास्वादन गुणस्थान सम्यक्त्व से गिरते समय पतन के समय का है। १ ले गुणस्थान से चढ़ते समय का नहीं है।

भव्यात्माओं में भी जिनका तथाभव्यत्व परिपक्व हो चुका है और जिसका संसार अपार्थपुद्गलपरावर्तकाल मात्र ही शेष रहा हो वही सम्यक्त्व पाता है। सिद्धान्त में कहते हैं कि..

अंतोमुहूर्तमितं पि, फासियं हुज्ज जेहिं सम्पत्तं।

तेसिं अवड्डुपुग्गलं, परिअट्टो चेव संसारो ॥

अन्तर्मुहूर्त = ४८ मिनिट मात्र काल भी जिस जीव ने सम्यक्त्व का स्पर्श भी किया हो (भले ही बाद में पतन हो) वे जीव निश्चित रूप से अपार्थपुद्गल परावर्त परिमित काल में मोक्ष में जाते ही हैं। हो सकता है कि पतन हो, गिरे और सास्वादन पर आकर मिथ्यात्व पर जाय। लेकिन फिर वापिस चढ़ते देर नहीं लगेगी। इस तरह सास्वादन गुणस्थान का होना दोषरहित प्रतीत होता है। तथा मिथ्यात्व के पहले गुणस्थान से काफी ऊँची कक्षा का है।

सास्वादन गुणस्थान पर कर्मप्रकृति—

दूसरे सास्वादन गुणस्थानवर्ती जीव मिथ्यात्व, नरकत्रिक, एकेन्द्रियादि ४ जाति, स्थावर चतुष्क, आतप, हुंडक संस्थान, सेवार्त संहनन, नपुं० वेद इन १६ प्रकृतियों का (मिथ्यात्व के अंत में) बन्ध विच्छेद होने से... १०१ प्रकृतियों का बंध करता है। तथा सूक्ष्मत्रिक, आतप और मिथ्यात्व इन ५ प्रकृतियों का उदय विच्छेद (मिथ्यात्व के अन्त में) होने से तथा नरकानुपूर्वी का अनुदय होने से १११ प्रकृतियों का उदय इस सास्वादन गुणस्थान पर होता है। यहाँ तीर्थंकर नाम कर्म की सत्ता भी नहीं होती है। अतः सास्वादन गुणस्थान पर १४७ कर्मप्रकृति की ही सत्ता होती है। इस तरह यहाँ आठों कर्मों की सत्ता होती है। ८ या ७ कर्मों का बंध होता है। आठों कर्मों का वेदन—उदय होता है। ७ या ८ कर्म की उदीरणा भी करनी पड़ती है। आठों कर्मों की निर्जरा भी यहाँ करनी रहती है।

यहाँ बंधहेतुओं में से मिथ्यात्व को छोड़कर शेष अवत, कषाय, प्रमाद, योगादि सभी होते हैं जिससे कर्मों का बंध भी होता है। मिथ्यात्व में रहे हुए अनन्तानुबन्धी कषायों का

यहाँ सास्वादन पर उदय हो जाता है परन्तु अभी भी मिथ्यात्व का भाव प्रगट नहीं हुआ है। अतः मिथ्यात्वी जीव की अपेक्षा ऊँचा है। दूसरे सास्वादन गुणस्थान पर असंख्यात जीव होते हैं। अतः अल्पत्व में उनका क्रम ८ वाँ और बहुत्व में ५ वाँ क्रम आता है। यहाँ चारों गति के जीव आते हैं। नरक गति के नारकी, तिर्यच गति के पशु-पक्षी के जीव, मनुष्य तथा देवता चारों गति के सभी जीव सम्यक्त्व पा सकते हैं। अतः गिरते समय यहाँ आते हैं। इस दूसरे गुणस्थान से मिथ्यात्व के पहले गुणस्थान पर ही गमन होता है और आगमन चौथे गुणस्थान से होता है। चढ़ते समय के क्रमसे कोई भी जीव मिथ्यात्व के पहले गुणस्थान से दूसरे गुणस्थान पर नहीं आता है। सीधे ३ रे — ४ थे ही जाता है। अतः इस गुणस्थान को उत्क्रान्ति नहीं कहा जाता। विकास का नहीं यह तो पतन का है, उत्थान कर्म का नहीं है। अपक्रान्ति का है जैसे सूर्यास्त के पश्चात् रात्रि का अन्धेरा छा जाने के बीच के सन्धि काल जैसा है। धवला टीका में संक्षिप्तीकरण में “सान” नाम दिया गया है। स्याति धातु छेदन अर्थ में है उससे ‘सान’ शब्द बनाया है। “स” सहित “आन” अर्थात् अनन्तानुबन्धी कषाय से जो सहित है। वह सास्वादन गुणस्थानवाची शब्द है। अनन्तानुबन्धी कषाय की किसी एक प्रकृति का उदय होने से मिथ्यात्व की रुचि के कारण जीव यहाँ आ जाता है। सम्यग् दर्शन गुणस्थान की अव्यक्त अतत्त्वश्रद्धान रूप परिणति यहाँ रहती है। आय अर्थात् लाभ, प्राप्ति और सादन अर्थात् नाश = सास्वादन शब्द बनाता है।

गुणस्थानों पर बाह्य आभ्यंतर, परिवर्तन—

आध्यात्मिक विकास यात्रा के इन १४ गुणस्थानों रूपी सोपानों की बनी हुई सीढ़ी पर मुख्य रूप से ४ प्रकार के महात्मा रहते हैं। १) मिथ्यात्वी, २) सम्यक्श्रद्धालु ३) व्रती श्रावक, और ४) साधु। बस, इस ४ कक्षा के महात्मा इन गुणस्थानों पर रहते हैं। इनमें मिथ्या = विपरीत वृत्तिवाला मिथ्यात्वी जीव पहले गुणस्थान पर रहते हैं। ४ थे और ५ वे गुणस्थान पर सम्यक्त्वी रहता है। दूसरा व तीसरा इनकी मिश्रित एवं पतित अवस्था है। तथा ५ वे गुणस्थान पर व्रती श्रावक रहता है। तथा छठे से १४ वे गुणस्थान तक नौ गुणस्थान पर साधु रहता है। नौ गुणस्थान साधु के लिए हैं। इन पर साधु ही रह सकता है। ये निश्चित स्थान हैं। इन इन गुणस्थान की यह नियत अवस्था है। वही—वैसा बना हुआ साधक ही उस उस गुणस्थान का अधिकारी है। जी हाँ, ... साधु में भी और आगे बढ़ते हुए ध्यानी, योगी की कक्षा प्राप्त करें, अन्त में योगी से अयोगी बनकर मुक्त सिद्ध

बन जाता है। सिद्ध के लिए कोई गुणस्थान ही नहीं है। वे गुणस्थानातीत हैं परन्तु अनन्त गुणों के स्वामी हैं। गुणस्थानों पर आकर वैसा बनना पड़ता है। और वैसा बनकर इन गुणस्थान पर आना पड़ता है।

भावात्मक एवं द्रव्यात्मक दोनों मार्ग है इन गुणस्थान का। द्रव्यात्मक बाह्यस्थिति यह राजमार्ग है। पहले मिथ्यात्व के सोपान से आगे बढ़ा हुआ साधक चौथे गुणस्थान पर आकर तत्त्वों की श्रद्धावाला दर्शन—पूजा—पाठ, यात्रा, जपादि करनेवाला बाह्य चिन्हों से युक्त बनता है। ५ वे श्रावक के गुणस्थान पर... व्रतधारी, नियमधारी श्रावक बनता है। सामायिक प्रतिक्रमण, पौषधादि करनेवाला व्रती बनता है। और आगे छठे गुणस्थान पर आकर दीक्षा—चारित्र अंगीकार कर संसार का त्यागी बनकर, आगारादि छोड़कर अनगार-मुनि बनता है। मुनि जीवन योग्य अपनी वेशभूषा बनाकर द्रव्यलिङ्गी बनकर साधु जीवन जीता है। अब १४ वे गुणस्थान अर्थात् यही द्रव्यलिङ्ग साधुवेष ऐसा ही रहेगा। एक समान ही बना रहेगा। यदि १३ वे गुणस्थान पर जाकर भगवान् तीर्थकर बन जाता है तो यह द्रव्यलिङ्गरूप वेष भी नहीं रहेगा। फिर खंभे पर एक ही देवदूष्य वस्त्र रहेगा। वह भी कालान्तर पश्चात् नहीं रहता है और ऐसी अवस्था में... निर्ग्रन्थ त्यागी बनकर सर्वथा निर्वस्त्रावस्था में तीर्थकर की कक्षा में अतिशयोक्ति प्रातिहार्यों युक्त बनकर समवसरण में बैठकर देशना दे। और अन्त में १४ वे गुणस्थान पर अयोगी बनकर मोक्ष में चला जाता है। इस तरह १४ गुणस्थान पर बाह्य रूप—स्वरूप किसका कैसा होता है यह ख्याल आ सके अतः लिखा है।

आभ्यन्तर भाव कक्षा में तो मात्र मनोगत अध्यवसायों परिणामों का ही परिवर्तन है। व्यक्ति गृहस्थाश्रमी, घरबारी हो, अपनी वेशभूषा में रहा हुआ हो और ध्यान की धारा में गुणस्थान की श्रेणी चढ़ता ही जाय तो भी अन्त तक पहुँच सकता है। बाह्य द्रव्य वेशभूषा से वह गृहस्थाश्रमी कहलाएगा, लेकिन आभ्यन्तर भावों से उसकी कक्षा बदलती ही जाएगी। गुणस्थान की भूमिका उत्तरोत्तर चढ़ती ही जाएगी। आखिर १३ वे गुणस्थान पर जाकर द्रव्यलिङ्गी वेषधारी श्रमण बनेगा। इस तरह गुणस्थान पर बाह्य आभ्यन्तर की कक्षा का वर्णन यहाँ किया है।

किन-किन गुणस्थान पर मृत्यु और आयुबंध ?

इन १४ गुणस्थानों की साधना का काल काफी लम्बा—चौड़ा है। अतः मरना—मृत्यु भी होगी। और यदि मृत्यु होगी तो आगामी आयुष्य बांधकर ही कोई मरेगा ? यदि मोक्ष

में जाने के लिए निर्वाण प्राप्त करने हेतु मरना हो तो तो वह अन्तिम मृत्यु है। इसलिए उसे आगामी भव का आयुष्य बांधकर मरने का सवाल ही नहीं है। लेकिन इसके सिवाय कहाँ कितना अवकाश रहता है? और कहाँ जीव मर सकता है, तथा कहाँ न मरते हुए भी आगामी भव का आयुष्य बांधता है इसका भी विचार करना चाहिए। १ ले मिथ्यात्व, २ सास्वादन, ४ अविरत स०, ५ देशविरत, ६ प्रमत्त, ७ अप्रमत्त साधु, ८ अपूर्वकरण, ९ अनिवृत्ति बादर, १० सूक्ष्म संपराय, ११ उपशान्त मोहनीय, और १४ वा अयोगी केवली इन ११ (१, २, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११, १४) गुणस्थानों पर वर्तमान जीवों के वर्तमान आयुष्य की समाप्ति होने पर मृत्यु हो सकती है। इन ११ गुणस्थान पर मर सकता है। अतः इन ११ के व्यतिरिक्त ३ रा मिश्र, १२ क्षीणमोह, और १३ वा सयोगी केवली इन ३ गुणस्थान पर मृत्यु संभव ही नहीं है। कभी नहीं मरता है साधक।

१४ गुणस्थानों पर सर्वत्र सभी गुणस्थान पर आयुष्य कर्म का बंध होता है या नहीं? वैसे आठों कर्मों के बंध का विचार करना चाहिए। लेकिन यहाँ प्रसंगवश पहले मात्र आयुष्य कर्म के बंध का विचार करते हैं। जी हाँ... एक बात को सावधानी से समझ लीजिए— कि आयुष्य की समाप्ति होनी और नए आयुष्य का बंध होना ये दोनों बातें बिल्कुल अलग—अलग हैं। कई बार लोग भ्रमणावश इन दोनों बातों में भेद नहीं कर पाते हैं। आयुष्य की समाप्ति से तात्पर्य है मृत्यु। जो गत जन्म में उपाजित किया हुआ आयुष्य वर्तमान जन्म में जो भुगत रहा है वह चालु आयुष्य पूर्ण होता है। समाप्त होता है। बस, आयुष्य की समाप्ति को ही मृत्यु कहते हैं।

आयुष्य बंध का तात्पर्य है जो वर्तमान भव का आयुष्य समाप्त करने से पहले, अर्थात् मरने के पहले आगामी जन्म में जिसे जहाँ उत्पन्न होना है उसे तो आयुष्य बांधना ही पड़ता है। मोक्ष में जानेवाला ही आयुष्य नहीं बांधता है लेकिन उसके सिवाय अर्थात् मोक्ष में जो न जानेवाला हो वह तो आयुष्य बांधे बिना मृत्यु पाएगा ही नहीं। तो वह कहाँ किस गुणस्थान पर आयुष्य बांधता है? यह भी देखना है। ऐसा भी कोई नियम नहीं है कि... जिस गुणस्थान पर आयुष्य की समाप्ति करता है उसी गुणस्थान पर नया आयुष्य बांधे। अतः हो सकता है कि भिन्न गुणस्थान पर आयुष्य बांधे और भिन्न गुणस्थान पर आयुष्य समाप्त हो। हो सकता है कि... पीछले किसी गुणस्थान से आयुष्य बांध कर आगे के गुणस्थान पर आया हो और वहाँ (जहाँ आया है) उस दूसरे गुणस्थान पर मृत्यु पाए। इतना ही नहीं, सातवे गुणस्थान अप्रमत्त संयत पर आयुष्य का बंध नहीं पड़ता है लेकिन छठे गुणस्थान पर आयुष्य बांधता—बांधता गुणस्थान बदल जाय और जीव ७ वे

गुणस्थान पर आ जाय तो आयुबंध की प्रक्रिया पूरी होती है और गुणस्थान में परिवर्तन हो जाता है। ऐसी स्थिति में छठे गुणस्थान पर ही बांधे जानेवाले आयुष्य का आरोपण ७ वे गुणस्थान पर व्यवहार से किया जाता है।

किन किन गुणस्थान पर आयुष्य का बंध होता है इस विषय में कहते हैं कि— १ ले मिथ्यात्व के गुणस्थान पर आयुष्य कर्म बांध कर जीव आगे के भव में चारों गति में जा सकता है। २ दूसरे गुणस्थान सास्वादन का काल यद्यपि सिर्फ ६ आवलिका मात्र ही है फिर भी आयुष्य का नया बंध होना यहाँ भी संभव है। ३ रे मिश्र गुणस्थान पर आयु का बंध होता ही नहीं है। ४ थे, ५ वे, और छठे इन तीनों गुणस्थान पर आयुष्य कर्म का बंध होता है। ७ वे गुणस्थान की बात तो की है कि... छठे गुणस्थान से बांधता हुआ वहाँ आकर पूरा कर सकता है। बस, मुख्य रूप से आयुष्य कर्म का नया बंध सिर्फ छठे गुणस्थान तक ही है। औपचारिक रूप से ७ वे पर भी कहा जाता है। लेकिन आगे के ८, ९, १०, ११, १२, १३ और १४ वे गुणस्थान इन ७ गुणस्थानों पर तो आगामी भवयोग्य नया आयुष्य कर्म बांधता ही नहीं है। अतः सवाल ही खड़ा नहीं होता है। हाँ, यह हो सकता है कि पहले बांधा हुआ आयुष्य यहाँ आकर समाप्त करें। मृत्यु पाए। वह तो बात ऊपर लिखी ही है।

गुणस्थान पर कम-ज्यादा संख्या—

संसार में अनन्त जीव हैं। सभी जीव इन १४ गुणस्थानों में से किसी न किसी गुणस्थान पर तो होते ही हैं। जी हाँ, ... अनन्त जीवों में से अनन्त ही जीव १ ले मिथ्यात्व के गुणस्थान पर होते हैं। सिर्फ अनन्तवें भाग के ही जीव आगे के ४ थे, ५ वे, छठे आदि गुणस्थान पर रहते हैं। अतः संसार में अनन्तगुने मिथ्यात्वी जीव हैं उनकी तुलना में अनन्तवे भाग के ही जीव सम्यक्त्वी होते हैं। उन सभी सम्यक्त्वियों में से भी २% या ५% ही आगे के ५ वे गुणस्थान पर आगे बढ़कर व्रती—व्रतधारी बननेवाले होते हैं। और उनमें से भी मुश्किल से १% जीव आगे बढ़कर छठे गुणस्थान पर सर्वविरतिधर साधु बननेवाले होते हैं। साधु में मुश्किल से १% या २% ही अप्रमत्त बननेवाले अर्थात् ७ वे गुणस्थान पर पहुँचनेवाले होते हैं। फिर बाद में प्रश्न आता है श्रेणी का। श्रेणी चाहे दोनों में से कोई भी क्यों न हो लेकिन शायद करोड़ों अरबों में से मुश्किल से कोई १ हो। वह आज के वर्तमान काल में तो करोड़ों या अरबों में से १ भी संभव ही नहीं है। क्योंकि वर्तमान काल के कलियुग में श्रेणी का सर्वथा निषेध ही है। शास्त्र से सर्वथा वर्ज्य ही है।

जी हों, महाविदेह क्षेत्र में वहाँ तो सब प्रकार की अनुकूलता सदा काल रहती है। क्यों कि, वहाँ तो सदा काल चौथा आरा रहता है। सदाकाल तीर्थंकर परमात्मा विद्यमान होते हैं। गणधर, केवलज्ञानी, सर्वज्ञादि सदाकाल रहते हैं। इसलिए महाविदेह जैसे क्षेत्र में तो हमेशा ही श्रेणी का प्रारंभ आदि हो सकता है। मोक्ष में भी रोज जा सकते हैं।

रही बात यहाँ के भरत क्षेत्र की... यहाँ महाविदेह से विपरीत स्थिति है। सदा काल चौथा आरा नहीं रहता है, अतः काल—आरा परिवर्तनशील है। ६—६ १२ ही आरे बदलते हुए आते ही रहते हैं। ५ वे आरे के कलिकाल में वर्तमान में कोई तीर्थंकर, कोई गणधर, कोई केवलज्ञानी सर्वज्ञ नहीं होते हैं। लेकिन साथ ही साथ आंतरिक भी देखा जाय तो वैसा संघयण—संस्थान—बलादि जो आवश्यक सामग्री है उसकी भी उपलब्धि नहीं है। अतः वर्तमान काल में श्रेणी आदि की कोई संभावना ही नहीं है।

इस तरह ऊपर से नीचे उतरते क्रम से देखेंगे तो ऊपर ऊपर के गुणस्थान पर कम से कम संख्या होती है फिर नीचे—नीचे के गुणस्थान पर जीवों की संख्या बढ़ती ही जाती है। और इससे विपरीत... नीचे—नीचे के गुणस्थान पर ज्यादा—ज्यादा संख्या जीवों की होती ही है वह ऊपर—ऊपर चढ़ते—चढ़ते कम—कम होती ही जाती है। १ ले, ४, थे ५ वे, और छठे बस इन ४ गुणस्थानों पर ही सबसे बड़ी संख्या मिलेगी। आज के वर्तमानकाल में छठे गुणस्थान से आगे तो अरबों में भी कोई १ निकलना भी दुर्लभ सा लगता है। शायद १—२ कोई मिल भी जाय यदि अरबों में भी १ तो भी ७ वे से आगे ८ वे गुणस्थान पर और ८ वे से आगे तो सर्वथा जीरो ही रहेंगे।

अब जो १, ४, ५ और ६ इन चार गुणस्थान पर जो संख्या वर्तमान काल में उपलब्ध होगी उनमें भी अनन्तगुनी ९९% सारी संख्या १ ले मिथ्यात्व के गुणस्थान पर ही है। मुश्किल से बची हुई १% संख्या में शायद सम्यक्त्वी जीव होंगे। इनमें से भी मुश्किल से चौथा भाग या १० वाँ भाग ५ वे गुणस्थान पर बारह वतधारी श्रावक देशविरतिधर होंगे। और उस १% की भी शायद—१००% सौ वाँ भाग ही छठे गुणस्थान पर श्रमण सर्वविरतिधर होंगे और साधुओं में भी अप्रमत्त सातवे गुणस्थान के साधक ढूँढ़ने निकले तो शायद पूरी दुनिया के अरबों लोगों में मुश्किल से कोई १ या २ गिनती के निकल पाएँ। शायद यह भी संभावना रखनी या नहीं? परन्तु इससे भी आगे के ८ वे गुणस्थान पर श्रेणी आदि की बात की तो संभावना ही नहीं है। निषेध ही है, अतः दूसरा आगे का तो विचार ही नहीं करना चाहिए।

हाँ, बीच के २, ३ दूसरे—तीसरे गुणस्थान पर भी हो सकते हैं। समुद्र की लहरों की तरह चढ़ाव—उतार तो होता ही रहता है। अतः सम्यक्त्व से गिरते हुए आनेवाले ३ रे, दूसरे दोनों पर हो सकते हैं। तथा चढ़नेवाले ३ रे मिश्र वृत्तिवाले भी हो सकते हैं।

गुणस्थानों का कम-ज्यादा काल—

१ ले मिथ्यात्व के गुणस्थान का काल अनन्तवर्षों का भी है। अनादि—अनन्त भी है। अधवी—दुर्भवी जीव तो अनादि काल से मिथ्यात्वी ही है। और भविष्य के अनन्त काल तक भी मिथ्यात्वी ही रहेंगे। परन्तु भवी जीवों का मिथ्यात्व जो अनादि—सान्त है, उसका तो अन्त हो के ही रहेगा। जी हाँ, आदि नहीं अतः अनादि कहा है। लेकिन कभी न कभी अन्त तो जरूर ही होगा। इसलिए वे मोक्ष में जाएंगे ही। अतः १ ला गुणस्थान तो छूटेगा ही और मिथ्यात्व जाएगा ही और जीव आगे बढ़ेगा ही। जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है और उत्कृष्ट स्थिति तो अनन्तकालीन है ही। सादि—सान्त मिथ्यात्व की स्थिति जघन्य से अन्तर्मुहूर्त की ही रहती है। उत्कृष्ट से अर्धपुद्गल परावर्त देशोन भाग की है।

दूसरे गुणस्थान की जघन्य १ समय और उत्कृष्ट ६ आवलिका की है। तिसरे मिश्र गुणस्थान की जघन्य और उत्कृष्ट दोनों ही अन्तर्मुहूर्त की है। ४ थे गुणस्थान का काल जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से ६६ सागरोपम की है। तथा ३ पूर्व क्रोड वर्ष की भी है। देव भव में समकिती देवता का आयुष्य काफी लम्बा होता है। तथा ५ से ६ जन्म तक लगातार समकित सहित ही भव करे तो इतना लम्बा काल निकलता है।

५ वे गुणस्थान पर व्रतधारी का काल भी उत्कृष्ट से देशोन पूर्वक्रोड वर्ष का ही है। कर्म भूमि में मनुष्य का आयुष्य ज्यादा से ज्यादा पूर्व क्रोड वर्ष का होता है। १५ कर्म भूमि के मनुष्यों के सिवाय संसार में अन्य कोई जीव ५ वे गुणस्थान पर चढ़ता ही नहीं है और व्रत—पञ्चक्खाण स्वीकारते ही नहीं हैं। हाँ, तिर्यच गति के पशु—पक्षी की संभावना ५ वे गुणस्थान पर जरूर रहती है। देव—नारकी के लिए तो ५ वाँ गुणस्थान संभव ही नहीं है। कर्मभूमिज मनुष्य के जन्म के ८ ॥ वर्ष के पश्चात् व्रत—प्रतिज्ञा दीक्षादि स्वीकार करता है। अतः देशोन पूर्व क्रोड वर्ष का काल ५ वे गुणस्थान का बताया जाता है। जघन्य तो सिर्फ अन्तर्मुहूर्त है ही।

छठे प्रमत्त संयत गुणस्थान साधु की भी काल स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त तथा उत्कृष्ट से देशोनपूर्वक्रोडवर्ष की है। कर्मभूमि में पैदा हुआ मनुष्य ८ ॥ वर्ष पश्चात् दीक्षा लेकर इतने लम्बे काल तक दीक्षा—चारित्र धर्म पाल सकता है।

- ७ वे गुणस्थान का काल—जघन्य १ समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त है ।
 ८ वे गुणस्थान का काल—जघन्य १ समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त है ।
 ९ वे गुणस्थान का काल—जघन्य १ समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त है ।
 १० वे गुणस्थान का काल—जघन्य १ समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त है ।
 ११ वे गुणस्थान का काल—जघन्य १ समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त है ।
 १२ वे गुणस्थान का काल—जघन्य और उत्कृष्ट दोनों अन्तर्मुहूर्त है ।
 १३ वे गुणस्थान का काल—जघन्य १ अंतर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से
 देशोन पूर्व क्रोड वर्ष का है ।

१४ वे गुणस्थान का काल जघन्य अंतर्मुहूर्त ५ ह्रस्वाक्षरोच्चार मात्र काल रहता है ।
 इस तरह १४ गुणस्थान का जो काल निर्देश यहाँ किया है उनमें सबसे बड़ा काल १, ४,
 ५, ६, और १३ इन पाँच गुणस्थानों पर ही लम्बा रहता है । शेष तो छोटी कालावधिवाले
 ही होते हैं ।

परभव में कौन से गुणस्थान साथ जाते हैं ?

मरणप्रायोग्य ११ गुणस्थान हैं । १, २, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११ और १४ ये
 ग्यारह गुणस्थान मरणप्रायोग्य हैं । अर्थात् इन पर मृत्यु पाता है और मरकर अन्य गति में
 अगले जन्म में जीव जाता है । मृत्यु पाकर अगले जन्म में जाते समय कौन से गुणस्थान
 साथ जाते हैं ? उसके बारे में शास्त्रकार महर्षी फरमाते हैं कि ... १ ला मिथ्यात्व का
 गुणस्थान जीवों के साथ मृत्यु के पश्चात् जाता है । अर्थात् इस जन्म में तो मिथ्यात्वी है ही
 और मृत्यु पाकर अगले दूसरे जन्म में जहाँ जाता है वहाँ पुनः जन्मजात मिथ्यात्वी ही
 रहेगा ।

दूसरा सास्वादन गुणस्थान भी मृत्यु के समय साथ जा सकता है । यद्यपि काल तो
 उत्कृष्ट से ६ आवलिका मात्र का ही है । आवलिका में तो समय असंख्य बीत जाते हैं ।
 जबकि ... मृत्यु पाकर जीव को दूसरी गति में जाने का बीच का काल १, २, ३, ४, ५
 समय मात्र का मुश्किल से लगता है । बीच का अवग्रह काल या विहायोगति का काल
 वह मात्र इतने समयों का ही होता है । इतने से समयों के काल के सामने आवलिका का
 काल तो काफी लम्बा—बड़ा है । अतः इस गुणस्थान में रहा हुआ कोई जीव मृत्यु पाए तो
 इस गुणस्थान को साथ ले जा सकता है । अन्यथा नहीं जाय ऐसा निश्चित नियम नहीं है ।
 लेकिन ले जा सकता है ।

तथा ४ था सम्यक्त्व का गुणस्थान भी जीव साथ में ले जा सकता है। इस जन्म का सम्यग् दृष्टि जीव मृत्यु पाकर जहाँ जाय वहाँ जन्म लेते ही तुरंत सम्यक्त्वी ही रहे। स्वर्ग से तीर्थंकर का जीव यदि वहाँ से मृत्यु पाकर उतर कर मनुष्य की गति में आकर जन्म ले तो पुनः सीधा ही सम्यक्त्वी बनता है। और क्षायिक सम्यक्त्वी जीव भी यदि यहाँ से मृत्यु पाकर स्वर्ग में जाय तो वह भी सम्यक्त्व का चौथा गुणस्थान लेकर जाता है। वहाँ जन्मते ही सीधा सम्यक्त्वी बनता है। क्षायिक सम्यक्त्व की स्थिति उत्कृष्ट से ६६ सागरोपम काल की निर्दिष्ट है।

बस, ये १, २ और ४ तीन ही गुणस्थान जन्मान्तर में अगले भव में साथ जाते हैं। बस, इनके सिवाय अन्य शेष ११ गुणस्थानों में से कोई भी गुणस्थान अगले जन्म में जन्मान्तर में साथ नहीं जाते हैं। जैसे कोई व्रतधारी श्रावक या साधु मरकर पुनः तुरंत अगले जन्म में व्रती या दीक्षित साधु नहीं बनता है। परन्तु मिथ्यात्वी या सम्यक्त्वी बन सकता है। ये भावात्मक—अध्यवसायात्मक है। प्रायः प्रधानता मिथ्यात्व और सम्यक्त्व की रहती है। इनमें ९८% मात्रा मिथ्यात्व की ही ज्यादा सविशेष रहती है। सम्यक्त्व की मात्रा तो १% भी नहीं रहती। क्योंकि संसार में सम्यक्त्वी जीव है ही कितने? समस्त संसार की चारों गतियों में अनन्तगुने जीव मिथ्यात्वी हैं, उसके सामने, उनकी तुलना में उनके सिर्फ अनन्तवे भाग के ही जीव सम्यक्त्वधारी हैं। इन सम्यक्त्वियों में भी क्षायिक सम्यक्त्वी तो मुश्किल से गिनती के होंगे? अतः मिथ्यात्व को जन्मान्तर में साथ ले जाना और जन्मते ही मिथ्यात्वी बना रहना सामान्य बात है। जबकि सम्यक्त्व के विषय में बहुत मुश्किल है। इस तरह गुणस्थानों के विषय में काफी विचारणा की। अब संक्षिप्त से तालिकाओं द्वारा भी कई बातें गुणस्थान के विषय में समझी जा सकती हैं।

* * * * *

आत्मिक विकास का अन्त - आत्मा से परमात्मा बनना

क्षयक श्रेणि में - १२वां गुणस्थान.....	११८६
नामकरण और कार्य.....	११९०
वीतरागतादि गुणों का आनन्द.....	११९१
सादि - अनन्त गुण स्थिति.....	११९५
वीतरागता की प्राप्ति कहां ?.....	११९८
गुणस्थानों के नामकरण की व्यवस्था	१२०१
क्षीण मोहनीय १२वे गुणस्थान का कार्य.....	१२०२
सिर्फ २ समय में प्रकृतियों का क्षय.....	१२११
अनादि कालीन कर्मबंध की आदत.....	१२१२
कौन बलवान है? आत्मा कि कर्म ?.....	१२१६
८ कर्मों में २ विभाजन.....	१२१८
१३वे सयोगी गुणस्थान पर आरोहण.....	१२२१
क्या केवलज्ञानादि पुण्योदयजन्य है ?.....	१२२४
१४ गुणस्थानों में ५ भाव.....	१२३१
तीर्थंकर के लिए समवसरण.....	१२३३
भगवान बनने की प्रक्रिया.....	१२३६
वाणी के ३५ गुण.....	१२६०
अनन्तज्ञान - केवलज्ञान.....	१२६४
केवलज्ञान पानेवाले अनेक महात्मा.....	१२६९
कैवल्य प्राप्ति का राजमार्ग.....	१२९२
क्या स्त्री को केवलज्ञान हो सकता है ये नहीं ?.....	१२९६
ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम और क्षय से ज्ञान... १२९८	
१३वे गुणस्थान पर भी कर्मबंध.....	१३०७
केवली को प्रदेशबंध और स्थिति.....	१३१३
१३वे गुणस्थान का स्थिति काल.....	१३१६
केवलभुक्ति सिद्धि.....	१३२०
केवलि समुद्धात की प्रक्रिया.....	१३२८

आत्मिक विकास का अन्त आत्मा से परमात्मा बनना

संसार में आत्मा ही एक मात्र चेतन द्रव्य है। ऐसी अनन्त आत्माएँ हैं। छोटे-बड़े दीपक की तरह अनन्त चेतनाएँ संसार में सदाकाल टिमटिमाती रहती हैं। आत्मा स्वयं एक अखण्ड—असंख्य प्रदेशी द्रव्य है। यह अनुत्पन्न—अविनाशी है। अतः त्रिकाल शाश्वत चेतन पदार्थ है। अदाह्य—अकाट्य—अछेद्य—अभेद्यादि अनेक विशेषणों से युक्त यही एक द्रव्य है। अनन्तकालीन है। संसार में भी अनन्तकाल से कर्माधीन स्थिति में चारों गतियों में जन्म—मरण धारण करती हुई, जीवन यापन करती हुई ८४ लक्ष जीवयोनियों में परिभ्रमण करती हुई काल व्यतीत करती है। समुद्र की लहरों की तरह संसार समुद्र की चारों गतियों में कर्म की थपेड़ें खाती हुई सुख—दुःखों का अनुभव करती हुई अनन्त बार नरक गति में भी गई। वहाँ नारकी का जन्म लेकर अनन्त बार शरीर के अंगोपांगों का छेदन—भेदन दाहन—ताडन—मारण हुआ है फिर भी इस शाश्वत नित्य द्रव्यरूप आत्मा नामक द्रव्य के असंख्य प्रदेशों में से एक प्रदेश भी खंडित नहीं हुआ। बिखरा भी नहीं। अलग भी नहीं हुआ। जन्म—मरण के संयोग—वियोग की प्रक्रिया में मात्र उत्पत्ति—विनाश की कर्माधीन प्रवृत्ति के कारण अनित्य लेकिन स्व-स्वरूप से सदा नित्य—इस तरह नित्यानित्य स्वरूपधारी आत्मा ही अपना विकास साधती हुई विकास की दिशा में आगे बढ़ती है।

संसार की निम्नतम श्रेणी की आत्मा को पामरात्मा कहते हैं। और विकास का जहाँ अन्त आ जाता है उस चरम स्वरूप को परमात्मा कहते हैं।

१) पामर + आत्मा = पामरात्मा

२) परम + आत्मा = परमात्मा।

इन दोनों विशेषणों में विशेष्य रूप आत्म द्रव्य दोनों में समान ही है, एक ही है। परन्तु संख्या में आत्मा संसार में एक ही नहीं अनन्त हैं। गुण—धर्मों की दृष्टि से समान

जरूर है। अतः स्वस्वरूपजन्य—समानता है। जबकि कर्मरूपजन्य विषमता—भेदयुक्त है। भेद—भिन्नता है। अतः द्रव्यगत, गुणगत समानता की दृष्टि से आत्मा एक जैसी कही जा सकती है परन्तु एक ही है यह कहकर संख्या का भेद मिटाना यह मिथ्यात्व है। ऐसे नहीं होता और संसार में एक ही आत्मा होती हो एक के मुक्त होने से सभी मुक्त हो जाते। फिर संसार का अस्तित्व ही नहीं रहता। लेकिन अनन्त आत्माओं के मुक्त होने के बावजूद भी अनन्तानन्त आत्माएँ आज भी संसार में मौजूद हैं। तथा अनन्त काल के बाद भी अनन्त आत्माएँ संसार में रहेगी। इस तरह अनन्त काल के पश्चात् भी अनन्त आत्माओं के मोक्ष में जाने के पश्चात् भी अनन्तानन्त आत्माओं का अस्तित्व संसार में रहेगा ही। इस तरह संसार का अस्तित्व भी अनन्तकालीन है। भूतकाल में भी इस संसार को अनन्त काल बीत चुके हैं और भविष्य में भी अनन्त काल बीतनेवाला ही है। ऐसे संसार का मुख्य द्रव्य ही चेतन जीवात्मा है। दूसरा घटक द्रव्य—जड़ अजीव पदार्थ है। कर्माधीन बनकर यह आत्मा जड़—अजीव द्रव्य के साथ, मिलजुलकर या घुल—मिलकर जीती है। काल यापन करती है।

यदि एक ही आत्मा होती और वह भी मुक्त बनकर परमात्मा बन जाती तो फिर इस संसार को विकास का मार्ग बताने का उपदेश क्यों देते? संसार में जब कोई आत्मा ही नहीं रहती तो फिर उपदेश का यह मार्ग क्यों बताते? फिर किसके लिए बताते? अतः यह निश्चित ही है कि—संसार अनन्त जीवों का भरा हुआ है। कोई—कोई आत्माएँ अपना विकास साधकर संसार की सर्वोपरि कक्षा को प्राप्त कर लेती है तब अपने पीछे के अनन्त

जीवों के कल्याणार्थ वह विकास का कल्याणकारी मार्ग जगत् को दिखाती है। “महाजनो येन गतः स पन्थाः” हमारे पूर्वजो महात्मा जिस तरह—जिस मार्ग से अपना विकास साधते हुए पामर में से परम बने हैं उनका ही मार्ग हमें भी लेना चाहिए। उसी मार्ग का अनुसरण करना यही हमारा धर्म है। उन बने हुए परमात्मा की ही शरण स्वीकारना और उन्हीं के दिखाए हुए मार्ग पर चलना यही

हमारा धर्म है। वे धर्मों थे अब हमें धर्म का आचरण करके धर्मों बनना है। सही अर्थ में यही श्रेयस्कर मार्ग है जिस मार्ग पर चलकर एक पामरात्मा परमात्मा बनी है। यही विकास का मार्ग है, यह प्रमाणित हो चुका है, उनके परमात्मा बनने से। हम भी पामरात्मा ही हैं। कर्माधीन ही हैं। और हमें भी हमारी पामरता दूर करनी ही है, किसी भी तरह निकालनी ही है। अतः उनके उपदिष्ट मार्ग का अनुसरण करके परमात्मा बनना ही अपने विकास का अन्त है।

विकास की प्रारंभिक अवस्था का जीव निगोद में पड़ा है। एक निगोद के गोले में जहाँ अनन्तान्त जीव भरे पड़े हैं। उनमें से एक जीव बाहर निकलता है और ८४ लक्ष जीवयोनियों रूपी उत्पत्ति स्थानों में जन्म धारण करते हुए चारों गति के संसार चक्र में परिभ्रमण करता हुआ विकास की दिशा में आगे बढ़ता है। पामरता की सर्वथा प्राथमिक कक्षा यही है। वैसे तो जहाँ तक जीव परम नहीं बन जाता है वहाँ तक पामर ही रहता है। परमता की प्राप्ति यही पामरता का अन्त है और पारमता यही परमता ही अभावसूचक अवस्था है। वैसे दोनों ही आत्मा की पर्याय मात्र हैं। अशुद्ध कर्मजन्यावस्था ही पामरात्मा की पर्याय है और कर्मजन्य अशुद्धि से रहित संपूर्ण शुद्ध पर्याय ही परमात्म पर्याय है। दोनों आत्मा की ही पर्याय है। द्रव्यत्व समान होते हुए भी पर्याय भेद है ही। इस पर्याय भेद को सर्वथा मिटाकर अभेदावस्था प्राप्त करना ही विकास की पूर्णता—समाप्ति है। विकास का प्रारम्भ भी है अतः अन्त भी है। पूर्णता है। इसी पूर्णता की दिशा में प्रयाण करना ही अपूर्ण का कर्तव्य है। धर्म है।

इस आध्यात्मिक विकास की यात्रा के स्वरूप को प्रस्तुत पुस्तक के माध्यम से हम समझते आ रहे हैं। अब तक का जो विकास का स्वरूप समझा वह उत्थान और पतन मिश्रित स्वरूप था। इसमें उत्थान भी था और पतन भी संभव था। उपशमश्रेणी के उत्थान की प्रक्रिया में तो पतन संभव तो क्या निश्चित ही था। अनिवार्य ही था। भवक्षय और कालक्षय इन दोनों निमित्तों को प्रबल निमित्तभूत बताया गया है पतन में। जबकि सबल कारणभूत तो उपशान्त—दबे हुए कर्मों का उदय था। अतः विकास हुआ जरूर लेकिन संश्रान्त विकास था। भ्रमपूर्ण था। आखिर उपशम श्रेणी कूटके भूल ही हुई है। कर्मों को जड़मूल से क्षय करना था इसके बदले साधक ने कर्मों की प्रकृतियों को दबा दिया। शमा दिया। आखिर आग तो आग ही है। दहनशीलता का दाहक स्वभाव उसका है ही। चाहे प्रमाण में थोड़ीसी ही हो या अधिकतर हो। प्रज्वलित स्वरूप तो दाहक ही है। इसी तरह कर्म तो मारक ही है। चाहे जिस स्वरूप में भी हो कर्म तो मारक है ही। छोटी सी भी

चिनगारी जैसे पूरे गोडाउन या मार्केट को जलाकर भस्मीभूत कर सकती है, या एक तिनका मात्र भी भयंकर विस्फोट कर सकता है, वैसे ही यहाँ आध्यात्मिक क्षेत्र में... उपशान्त हुआ छोटा सा कर्म, या छोटी सी कर्म की प्रकृति भी कहीं गिरा दे ? कब उसका उदय हो और आत्मा को नीचे फेंक दे, कहीं किस स्थान से गिरा दे ? कोई ठिकाना नहीं है । यदि कर्म सत्ता में पड़ा है तो निश्चित रूप से कभी न कभी तो उदय होगा ही होगा । और ऐसे उदय की अवस्था में कर्म बलवान आत्मा को भी उठाकर फेंक देता है । बस, पतन शुरु हुआ कि गए नीचे । हो सकता है गिरते गिरते... जिस मिथ्यात्व से शुरुआत की थी पुनः वहीं जाकर गिर सकता है । कर्म पर क्या कभी अंश मात्र भी विश्वास रखना चाहिए ? आत्मा का अनादि कालीन शत्रु कर्म ही है । आत्मगुणों का घातक अहित करनेवाला भयंकर शत्रु कर्म ही है । और इसमें ही आत्मा को अनन्तकाल से संसार चक्र में परिभ्रमण करते रहना पड़ता है । तैली के बेल की तरह चार गति के चक्र में गोल गोल घूमते रहना पड़ता है । बस, संसार कर्म के स्वरूप को साधन अच्छी तरह समझकर कोई भी साधक अपनी आत्मा को भी पूर्ण स्वरूप में अच्छी तरह पहचान कर उपायरूप धर्म का आचरण करके निर्जरा द्वारा आत्मा को कर्म के बन्धन से सदा के लिए मुक्त कर ले इससे बढ़कर कोई बड़ा ज्ञानी, महात्मा ही नहीं है । यही संसार का सर्वोत्तम—सर्वोपरि महान है । यही सबका साध्य होना चाहिए । चरम लक्ष्य होना चाहिए । बस, इसमें सब कुछ समा गया । इसके अतिरिक्त कुछ भी जानने—करने जैसा है ही नहीं और इसके सिवाय दूसरा कुछ भी करने जैसा है ही नहीं । इस कार्य को संपूर्ण रूप से करना ही चाहिए । तभी सिद्धि हासिल होगी ।

क्षपक श्रेणी में - १२ वाँ गुणस्थान—

गुणस्थानों के सोपान जो क्रमशः ऊपर ही ऊपर चढ़ते—चढ़ते क्रम से हैं । उसमें भी ८ वे गुणस्थान से साधक यदि क्षपक श्रेणी का प्रारंभ कर लेता है तो फिर उसको तो कहीं गिरने का या रुकने का प्रयोजन ही नहीं रहता है । कहीं भी ज्यादा तो रुकना ही नहीं है । क्योंकि ८ वे गुणस्थान से यदि क्षपकश्रेणी का प्रारंभ करता है तो सभी गुणस्थान का काल अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त काल का ही है । अंतर्मुहूर्त ४८ मिनट = २ घड़ी का ही होता है । ८ वे गुणस्थान का काल—अंतर्मुहूर्त का है । फिर ९ वाँ, १० वाँ, और सीधा १२ वाँ गुणस्थान । ये चारों गुणस्थान अन्तर्मुहूर्त काल की अवधि के ही हैं । अतः चारों का काल मिलाकर भी जो बनता है वह ४ अंतर्मुहूर्त अर्थात् ८ घड़ी का ही है । वर्तमान काल की गणना के हिसाब से ३ घंटे और १२ मिनट का समय होता है । जन्मों—जन्म

के सभी कर्म आज इस जन्म में अर्थात् अन्तिम जन्म में वह भी श्रेणी के शुभारंभ के पश्चात् सिर्फ ८ घड़ी (३ घंटे १२ मिनट) भर के थोड़े से समय में ही क्षय करके मुक्त होना है। क्षपक श्रेणी की अग्नि = ध्यानरूपी अग्नि दावानल से भी इतनी ज्यादा प्रज्वलित और प्रबलमत कक्षा की होती है कि... इसमें जन्मोंजन्म के कर्मों की आहुति हो जाती है। सभी जलकर भस्मीभूत हो जाते हैं। आत्मा कर्म रहित बनकर मुक्त बन जाती है। इस क्षपक श्रेणी गुणस्थान में ८, ९, १०, इन तीन गुणस्थान के स्वरूप का वर्णन पहले कर चुके हैं। ये तीनों गुणस्थान दोनों श्रेणी के लिए हैं। उपशम और क्षपक दोनों श्रेणी के साधक इन तीनों गुणस्थान का उपयोग करते हैं। आखिर कार्य तो एक ही है, कृत कर्मक्षय का। उद्देश्य—लक्ष्य भी समान ही है, मुक्ति का। लेकिन साधना की पद्धति में अन्तर पड़ जाता है। एक क्षपक जड़मूल से कर्मक्षय करता हुआ आगे बढ़ता है जबकि दूसरा... उन कर्मों को शमाता हुआ, दबाता हुआ, या ऊपर ऊपर से काटता हुआ आगे बढ़ता है। अतः ८, ९ और १० ये तीन गुणस्थान दोनों श्रेणीवालों के लिए समानरूप से साधारण ही हैं।

लेकिन ११ वाँ, तथा १२ वाँ ये दो गुणस्थान दोनों के लिए अपने अपने स्वतंत्र हैं। ये मिश्रित अवस्था के समानरूप नहीं हैं। जैसी जिसकी साधना पद्धति थी वैसी ही उसकी प्रगति हुई। आखिर अन्त में आकर शमन की या क्षपक की जैसी भी साधना थी उसको वहाँ उस गुणस्थान पर रुकना पड़ा। उपशम श्रेणी को निश्चित पतन की श्रेणी कहा है। अतः वह ११ वे गुणस्थान पर आकर श्रेणी समाप्त हो जाती है। पूरी हो जाती है। अतः ११ वे गुणस्थान को पतन का गुणस्थान कहा जाता है। दूसरी तरफ क्षपक श्रेणीवाले के लिए तो पतन का—गिरने का सवाल ही खड़ा नहीं होता है। वह तो सीधे ही आगे बढ़ता है। वह श्रेणी का अन्त नहीं लाता है, परन्तु अपने कर्मों का, इस भव का, संसार का ही अन्त लाता है। इसलिए ११ वाँ गुणस्थान जो उपशम श्रेणीवाले का घर है, विश्रान्ति स्थान स्वरूप है उस पर क्षपकवाला जाता ही नहीं है। मुसाफरी में जैसे हम बीच के स्टेशन छोड़ देते हैं वैसे क्षपकवाला साधक ११ वे गुणस्थान को छोड़कर १० वे गुणस्थान से सीधे छलांग लगाकर १२ वे गुणस्थान पर आ जाता है। १२ वाँ गुणस्थान यह क्षपक श्रेणीवाले क्षपक साधक का विश्रान्ति स्थान या घर है। फिर भी कोई ज्यादा विश्रान्ति नहीं है। सिर्फ २ घड़ी के अन्तर्मुहूर्त परिमित—सीमित काल की ही विश्रान्ति है। हमारी भाषा में हम नासमझों के लिए विश्रान्ति शब्द का प्रयोग करके समझाया जा सकता है लेकिन... हकीकत में तो यहाँ १२ वे गुणस्थान पर भी क्षपक साधक बहुत बड़ा काम करता है। आखिर जिस जोर और उत्साह से उसने प्रबल शक्ति से समस्त कर्मों का क्षय करने का

बीड़ा उठाया है वह क्या विश्रान्ति करने बैठेगा ? सब काम की पूर्ण समाप्ति और लक्ष्य की पूर्ति न हो जाय वहाँ तक उसे शान्ति—चैन कहाँ से संभव है ? वह क्या करता है और उसे क्या करना है यह बात शास्त्रकार महर्षि स्पष्ट करते हैं ।

अतो वक्ष्ये समासेन, क्षपकश्रेणिलक्षणम् ।

योगी कर्मक्षयं कर्तुं, यामारूढा प्रवर्तते ॥ ४७ ॥

अब यहाँ से क्षपक श्रेणी का लक्षणादि संक्षेप से कहते हैं— जो योगी क्षपक श्रेणी पर आरूढ होकर कर्मक्षय करने का कार्य साधता है ।

कर्मक्षय की प्रक्रिया—

अनिबद्धायुषः प्रान्त्यदेहिनो लघुकर्मणः ।

असंयतगुणस्थाने, नरकायुः क्षयं व्रजेत् ॥ ४८ ॥

तिर्यगायुः क्षयं याति, गुणस्थाने तु पंचमे ।

सप्तमे त्रिदशायुश्च, दृग्मोहस्यापि सप्तकम् ॥ ४९ ॥

दर्शिताः प्रकृतीः साधुः क्षयं नीत्वा विशुद्धीः ।

धर्मध्याने कृताभ्यासः, प्राप्नोति स्थानमष्टमम् ॥ ५० ॥

गुणस्थान क्रमारोह ग्रन्थकार महर्षी फरमाते हैं कि... प्रान्त्यदेही अर्थात् चरम शरीरी जीव... कि जिसने पहले आयुष्य कर्म का बंध नहीं किया हो वैसे लघु (अल्प) कर्मों है— कम कर्म की सत्तावाला है उस साधक का ४ वे अविरत गुणस्थान पर नरक गति का आयुष्य कर्मक्षय हो जाता है । अब नरकगति आदि में जाने का कोई प्रश्न ही नहीं रहता है । तथा ५ वे गुणस्थान पर तिर्यचायु की सत्ता भी क्षीण हो जाती है । और आगे आते आते ७ वे गुणस्थान पर देवायुष्य की सत्ता भी समाप्त हो जाती है । अब ७ वे गुणस्थान पर अप्रमत्त बनने के पश्चात् दर्शनमोह + तथा अनन्तानुबंधी कषाय की मिलाकर ७ कर्मप्रकृतियाँ मोह की समूल नष्ट हो जाती हैं । क्षय हो जाती हैं । इस तरह १४८ कर्मप्रकृतियों में से ३ आयु + ३ द.मो. + ४ अनं. = १० प्रकृतियाँ चली जाती हैं अतः १४८—१० = १३८ शेष रहती हैं । ऐसा क्षपक साधक १३८ कर्मप्रकृतियों की सत्तावाला ८ वे अपूर्वकरण गुणस्थान पर आरूढ हुए साधु मुनिराज कैसे होते हैं ?

७ वे अप्रमत्त गुणस्थान पर जिसने रूपातीत की कक्षा के धर्मध्यान का काफ़ी ऊँचा—अच्छा अभ्यास किया हो वह पुनः ध्यान योग के अभ्यास से तत्त्वों की प्राप्ति करता

रहता है। शास्त्रकार फरमाते हैं कि अभ्यास से आहार, आसन, श्वासोच्छ्वास, चित्त की स्थिरता, जितेन्द्रिय होना, आनन्द, आत्मदर्शन, आदि सब कुछ बार—बार के अभ्यास से साधा जा सकता है। अभ्यास के लिए क्या असाध्य है? इस तरह बार—बार के अभ्यास से विशुद्ध बुद्धिवाला, निर्मल बुद्धिवाला बनता ही जाता है।

जिसका कि पीछे वर्णन कर चुके हैं वैसा ८ वे गुणस्थान पर शुक्लध्यान के प्रथम चरण का ध्यान करना प्रारंभ करता है। ऐसा ध्याता—ध्यानाग्नि के द्वारा... अनेकानेक कर्मों का क्षय करता हुआ आगे बढ़ता है। इस योगी की ध्यान साधना—योग साधना बाह्य और आभ्यन्तर उभय कक्षा की अद्भुत अनोखी होती है। विशुद्धतर कक्षा की होती है। जिसमें ध्यानोपयोगी पद्मासन—सिद्धासनादि आसनों पर विजय प्राप्त कर चुका है। श्वासोच्छ्वास—प्राणायाम को भी अभ्यास से जीत कर वश में कर लेता है। इस तरह प्राणशक्ति जीतने के कारण मन को भी जीत लेता है। बस, मनोविजय सबसे बड़ी जीत थी। अब इसके आगे कर्मक्षय का कार्य ही मुख्य है। गुणस्थान क्रमरोह ग्रन्थ में पूज्य श्री रत्नशेखर सूरि म. ने ध्यान, पवनजय, आसन, प्राणायाम आदि का विस्तार से वर्णन किया है। (जिज्ञासु अभ्यासुओं को वहाँ से अभ्यास कर लेना चाहिए।)

८ वे अपूर्वकरण गुणस्थान पर शुक्लध्यान के प्रथम चरण का जो ध्यान करता है यद्यपि प्राथमिक कक्षा में यह ध्यान भी प्रतिपाती की कक्षा का है—कहते हैं—

यद्यपि प्रतिपात्येतदुक्तं ध्यानं प्रजायते ।

तथाप्यतिविशुद्धत्वादूर्ध्वं स्थानं समीहते

॥ ६६ ॥

यद्यपि (पहले कहा हुआ) प्रथम भेदवाला शुक्लध्यान जो क्षपक साधक करता है वह प्रतिपाती की कक्षा का है। अर्थात् ध्यान आता है, लगता है लेकिन वापिस चला भी जाता है। फिर भी वह ध्याता, क्षपक श्रेणीवाला योगी ध्यान द्वारा अत्यन्त ऊँची विशुद्धि प्राप्त करनेवाला होता है। ऊपर—ऊपर के आगे के गुणस्थानों पर चढ़ने की तीव्र अभिलाषावाला होता है।

अब क्षपक श्रेणीवाला साधक नौवे अनिवृत्ति बादर गुणस्थान पर आरूढ़ होकर संज्वलनादि कषाय को, हास्यादि नोकषाय को, तथा वेद आदि मोहनीय कर्म की कर्मप्रकृतियों को खपाता है। बस, कर्मक्षय करने का ही प्रमुख लक्ष्य तथा प्रवृत्ति लेकर आगे बढ़नेवाला साधक नौवे गुणस्थान पर मोहनीय कर्म की सबसे ज्यादा १२ कर्म प्रकृतियाँ खपाता है। क्षय करता है। अन्य भी मिलाकर ३५ कर्म प्रकृतियाँ सत्ता में से,

बंध में से कम होती है। अतः १३८-३५ = १०३ कर्म प्रकृतियाँ ही नौवे गुणस्थान के अन्त में सत्ता में रहती हैं।

दसवे गुणन सूक्ष्म लोभ के गुणस्थान पर आकर सूक्ष्म लोभ का भी क्षय कर लेता है। अतः १०३-१ = १०२ प्रकृतियाँ ही सत्ता में शेष रहती हैं।

वैसे देखा जाय तो १० वे गुणस्थान तक ही मोहनीय कर्म की प्रकृतियाँ क्षय करने का कार्य रहता है। अब तो मोहनीय कर्म की कोई प्रकृति खपाने की शेष रहती ही नहीं है। दूसरी तरफ न तो सत्ता में और न ही उदय में रहती है। किसको ? १२ वे गुणस्थानवाले क्षीण मोहवाले को। १० वे गुणस्थान से सीधे क्षपक श्रेणीवाला साधक १२ वे गुणस्थान पर ही जाता है। उसको ११ वे गुणस्थान पर तो जाना ही नहीं है। क्योंकि ११ वाँ गुणस्थान तो उपशान्त मोह का उपशम श्रेणीवाले का है। उसीका ही घर है। अतः क्षपक श्रेणीवाला साधक तो एक छलांग लगाकर सीधा १२ वे गुणस्थान पर जाता है। १२ वे गुणस्थान पर क्षीण मोह हो जाने के कारण अब मोहनीय की एक भी प्रकृति शेष बची ही नहीं है। अतः अब किसका क्षय करें ? १२ वे गुणस्थान पर आखिर करे तो भी क्या करें ?

नामकरण और कार्य—

१२ वे गुणस्थान का मुख्य नाम “क्षीणमोह” है। कोई क्षीण कषाय वीतराग भी कहते हैं। वीतराग छद्मस्थ भी कहते हैं। क्षीण मोह इन दो शब्दों से अर्थ स्पष्ट हो जाता है। क्षीण = नाश और मोह शब्द कर्म का सूचक नामविशेष है। मोहनीय कर्म का जड़मूल से सर्वथा संपूर्ण क्षय अर्थात् नाश हो चुका है जिसका ऐसा क्षीणमोही योगी। अनादि अनन्तकाल से जो मोहनीय कर्म कर्मों का राजा बना हुआ आत्मा को चारों गति में दुःखी—दुःखी कर रहा था। अनन्त संसार में अनन्त काल तक परेशान—परिभ्रमण कराया उस मोहनीय कर्म का आज जड़मूल से सफाया कर दिया। अतः आप ही सोचिए... कितना आनन्द हुआ होगा साधक को ? ८ कर्मों की जाल में बंधा हुआ जीव जिसने अनन्त काल तक कर्मों की गुलामी में, जंजीरों में, बंधे हुए के समान कितनी असह्य वेदना भोगी है ? आज ८ में से सिर्फ १ मोहनीय कर्म को जड़मूल से खपाने के पश्चात् अब १ कर्म के बंधन में से भी जो मुक्ति मिली है वह भी कितनी आनन्ददायी है ? देखिए, कर्म भले ही ८ हो लेकिन मोहनीय कर्म यह सबसे बड़ा मुख्य राजा है। अन्य शेष कर्म इसके आधीन हैं। पीछे हैं। यह मुख्य कर्म है। बस, इस एक को जीत लेने के बाद दूसरों को जीतना बिल्कुल आसान है। दूसरी तरफ साधक योगी भी क्षपक श्रेणी का साधक है। और उसके

पास भी ध्यानाग्नि का प्रबल साधन है। जिससे अल्प से अल्प समय में ज्यादा से ज्यादा कर्मों की निर्जरा होती है। क्षीण मोह में क्षीण शब्द क्षय—संपूर्ण निर्जरा के अर्थ में है। “क्षीणो मोहो यस्य” संपूर्ण क्षय हो चुका है मोहनीय कर्म जिसका ऐसा, साधक क्षपक श्रेणी का क्षपक साधक कहलाता है। उपशम श्रेणीवाला कर्म की प्रकृतियों को शमाता है, दबा देता है। इसलिए उदय में असरकारकता दिखाई नहीं देती है। परन्तु सत्ता में पड़ी रहती है। इसलिए सत्ता में छिपी हुई प्रकृतियों का सोए हुए साँप की तरह विश्वास नहीं किया जा सकता। कब साँप उठे और कब काटे? इसी तरह सत्ता में छिपी—दबी हुई कर्मप्रकृतियों का कब उदय हो और कब आत्मा को गिराए? कोई ठिकाना नहीं। अतः विश्वसनीयता नहीं रह सकती। इसीलिए उपशमवाला १२ वे क्षीण मोह गुणस्थान के सोपान पर पैर भी नहीं रख सकता। सवाल ही खड़ा नहीं होता है। तथा क्षपकवाला जड़मूल से मोहनीय की प्रत्येक कर्म प्रकृति को खपाता है इसलिए अब मोहनीय का अंश भी सत्ता में नहीं रहता है। इसलिए क्षय करनेवाले के लिए ११ वे उपशान्त मोह गुणस्थान पर पैर रखने का कोई सवाल ही खड़ा नहीं होता है। यह नामुमकिन है। अतः सर्वथा मोहनीय कर्म के प्रत्येक अंश को जड़मूल से क्षय करके अब १२ वे गुणस्थान पर मोहनीय कर्म से रहित वीतराग बना है।

वीतरागतादि गुणों का आनन्द—

याद रखिए, समस्त अनन्त गुणों का मूलभूत खजाना तो एक मात्र आत्मा ही है। कर्म के घर में एक भी गुण नहीं रहता है। या कर्म के उदय से आत्मा को एक भी गुण उदय में नहीं मिलता है। कर्म क्या देगा? कहाँ से देगा? सवाल ही नहीं खड़ा होता है। कर्म के पास कोई रत्तीभर भी गुण नहीं है, यह तो जड़ मात्र है। जड़ भौतिक पौद्गलिक परमाणुओं का बना हुआ पिण्ड मात्र है। यह तो गुणघातक है आत्मगुणों का आवरक आच्छादक है। आत्मा के समस्त गुणों को दबाकर रखनेवाला, ढककर रखनेवाला ही कर्म है। अतः कर्म कोई गुण देता है यह विचार भूल से भी मत करिए। तो फिर वर्तमान में जीवों के व्यवहार में क्षमा—समता—नम्रता—सरलता—संतोष—दया—करुणा आदि गुणों का प्रगटीकरण कहाँ से होता है? आत्मा तो (हमारी) आज भी कर्मग्रस्त है ही। फिर इतने गुण कहाँ से आए? इस प्रश्न के उत्तर में स्पष्टीकरण इतना ही है कि... गुण तो सभी मूलभूत आत्मा के ही हैं इसमें रत्तीभर भी सन्देह मत रखिए। और मोहनीय कर्म ने ८०% सभी गुणों को दबा दिये हैं। इस मोहनीय कर्म की २८ प्रकृतियाँ हैं। अतः सबसे

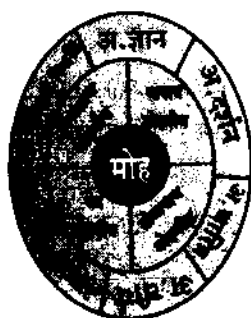
पहले २८ तो क्या अनेक गुणों को इसी मोहनीय कर्म की सभी प्रकृतियों ने बंधकर रखी हैं। बस, जिस जीव ने जितने अंश में मोहनीय कर्म खपाया—क्षय करके रखा है उतने अंश में क्षमा—समता—करुणादि सभी गुण उदय में आए—प्रकट हुए मिलेंगे। यदि आपका मोहनीय कर्म सिर्फ आधा या एव प्रतिशत ही क्षयोपशम हुआ होगा तो क्षमा—समतादि भी आपके आधा या एव प्रतिशत ही उदय में प्रगट हुए मिलेंगे। और यदि आपके क्षयोपशम में १०% से २०% की मात्रा होगी तो आपके गुणों के उदय का प्रमाण भी उतने ही प्रतिशत रहेगा। इस तरह कर्मक्षय या क्षयोपशम का प्रमाण जितना रहेगा उतना ही प्रमाण आत्मगुणों के प्रगटीकरण का होगा।



आपने सूर्य का ग्रहण देखा ही होगा। सूर्य जब राहु से आवृत्त हो जाता है तब कैसी स्थिति बनती है? और जैसे जैसे राहु का विमान हटता जाता है वैसे वैसे सूर्य दिखाई देने लगता

है, प्रकाश उतने ही अंश में फैलेगा। और जितना आवृत्त अंश होगा उतना दिखाई भी नहीं देगा। और जितने अंश में आवृत्त नहीं होगा उतना भाग स्पष्ट दिखाई देगा। ठीक इसी तरह आत्मा और कर्म का भी है। आत्मा सूर्य के समान तेजस्वी ज्ञानादि गुण से परिपूर्ण समृद्ध है। तथा कर्म राहु के जैसा है। कर्म से प्रसित आत्मा संसार में है। अतः जितने प्रमाण में कर्म का क्षय—क्षयोपशम होगा उतने ही प्रमाण में आत्मा के ज्ञानादि—क्षमादि गुण प्रगट होंगे।

मोहनीय कर्म से आवृत्त गुण—



१) अनन्त ज्ञान, २) अनन्त दर्शन, ३) अनन्त चारित्र (या यथाख्यात स्वरूप), ४) अनन्त वीर्य (शक्ति) ५) अनामी, अरूपी आदि, ६) अगुरुलघु, ७) अनन्त सुख, ८) अक्षय स्थिति। ये प्रमुख ८ गुण आत्मा के हैं। वैसे अनन्त गुणों का भण्डार, खजाना ही आत्मा नामक द्रव्य है। ये मुख्य ८ गुण कर्मों से आवृत्त हो जाते हैं

इसलिए इनके नाम के आधार पर ही कर्मों का भी नामकरण है। स्वाभाविक ही है कि कर्म तो जड़ पौद्गलिक है। पुद्गल परमाणुओं के पिण्डमात्र है। अतः परमाणुओं का क्या नाम होता है? कुछ भी नहीं। लेकिन इन परमाणुओं का पिण्ड बनकर एक स्तर बना देते हैं और आत्मा पर यह स्तर दीवाल पर रंग की तरह चढ़ जाता है। जैसे दीवाल की ईंटें या चूना—सिमेंट कुछ भी दिखाई नहीं देता एक मात्र रंग ही दिखाई देता है ठीक उसी तरह आत्मा दिखाई नहीं देती, उसके गुण भी दिखाई नहीं देते एक मात्र आवरणरूप कर्म की स्तर ही दिखाई देती है। वह कर्म जब उदय में आता है तब उसका विपाक—फल जो सुख—दुःखात्मक है उसका अनुभव होता है।

आत्मा के ज्ञान गुण का आवरक ज्ञानावरणीय कर्म है, दर्शन गुण का आवरक दर्शनावरणीय कर्म है। ऐसा एक—एक कर्म... आत्मा के एक एक मुख्य गुण के आवरक—आच्छादक—आवरण बन जाते हैं। वे ज्ञानादि गुण ढक जाते हैं। इस तरह ज्ञानावरणीय कर्म एक ज्ञान गुण को ढकता है। लेकिन मोहनीय एक ऐसा कर्म है जो आत्मा के अनेक गुणों को ढक देता है। मोहनीय कर्म बहुत बड़ा है लम्बा—चौड़ा है। सबसे खतरनाक है। इसकी प्रवृत्ति से भी... अनेक कर्मों का बंध होता है। मोहनीय कर्म की आश्रवात्मक प्रवृत्ति... दूसरे अन्य कर्मों के लिए भी आश्रव का कारण, बंध के हेतु बन जाते हैं। इसलिए एक मोहनीय कर्मजन्य प्रकृति के आधार पर अन्य शेष सभी कर्मों के बंध की प्रवृत्ति होती है। दूसरे भी कर्म बंधते हैं। (इस संबंधी विचारणा पहले की है कृपया वहाँ से पुनः पढ़ने का कष्ट करें।)

मोहनीय कर्म के कषायों में से क्रोध—मान—माया और लोभ ने मुख्य गुणों का घात करके हटा दिया। परिणाम स्वरूप क्षमा—समता—नम्रता—सरलता—सन्तोष—शान्ति आदि सैकड़ों गुण दब जाते हैं। अनन्तानुबंधी आदि जन्य क्रूरता के कारण, अशुभतर लेश्याओं कृष्ण—नीलादि के कारण हिसादि की प्रवृत्ति ज्यादा बढ़ती है। इससे अहिंसा की भावना, जीवदया, प्राणीरक्षा, जयणा, सत्यवादिता, अस्तेयवृत्ति, दानादि की उदारता, शीघ्र—ब्रह्मचर्य के भाव, अपरिग्रह की अकिंचनता, त्याग भावना आदि सैकड़ों गुण सब दब जाते हैं। ये सब आत्मा के विशिष्ट कक्षा के गुण हैं। इनकी बहुत बड़ी आवश्यकता जीवन जीने के व्यवहार में होती है। यदि ये और ऐसे गुण नहीं होते हैं तब दोषों की वृद्धि होती है। दोष गुण से ठीक विपरीत भाव के होते हैं। इसी तरह नोकषाय मोहनीय के हास्यादि की कर्म प्रकृतियाँ... गंभीरता—निर्भयता आदि के सभी गुणों को ढककर उल्टे वहाँ दोषों को प्रकट कर देता है।

मोहनीय कर्म की २८ प्रकृतियों का सबका काम यही है कि... एक मात्र आत्मा के गुणों को दबाकर—ढककर उसकी जगह पर, गुणों के बदले दोषों को प्रकट करना—बढ़ाना जिसके कारण मनुष्य दोषवान बनकर दूषित जीवन जीता है। इसलिए मोहनीय कर्म गुणघातक, स्वरूपनाशक कर्म है। आत्मा के यथार्थ मूलभूत स्वरूप को ही नष्ट या विकृत कर देता है। नोकषाय मोह का दूसरा भाग—प्रभेद वेद मोहनीय का है। आत्मा को ब्रह्म में लीन रहना चाहिए, स्व-स्वरूप में मस्त रहना चाहिए। इसके बजाय वह वेद मोहनीय के उदय के कारण काम वासना की संज्ञा में फसकर अन्य विजातीय स्त्री-पुरुषों के शरीर का उपभोग करके आनन्द मानने में पागल हो जाता है। अरे रे ! अपने स्वगुणों की स्व-स्वभाव की रमणता के आनन्द को भूलकर पर में आसक्त बनता है। बस, क्षणिक भोग-जन्य सुखों में आनन्द मानता है। ऐसी दयनीय स्थिति बन जाती है। यथाख्यात स्वरूप — जैसा कि — आत्मा का गुणात्मक स्वरूप कहा गया है वैसा ही स्वरूप होना चाहिए। परन्तु मोहनीय कर्म वैसा रहने ही नहीं देता है। दोषप्रस्त—दोषाधीन करके दूषित जीवन बनाकर दोषी कैदी अपराधी की तरह जीवन जिलाता है।

इस तरह इन सब दोषों—दुर्गुणों का समूहात्मक नाम राग + द्वेष रखा गया है। ये शब्द सब दोषों—दुर्गुणों के सूचक सम्मिलित नाम मात्र हैं। यद्यपि आप जानते ही हैं कि राग नाम की, या द्वेष नाम की स्वतंत्र मोहनीय कर्म की कोई प्रकृति नहीं है। २८ कर्मप्रकृतियों में राग—या द्वेष नाम की स्वतंत्र कोई कर्मप्रकृति नहीं है। जी हाँ... कषाय मोहनीय की जो ४ प्रकृतियाँ क्रोध, मान, माया और लोभ हैं, इन ४ में दो दो के समूह बनते हैं। क्रोध और मान एक द्वेष के घर में गिने जाते हैं। इसी तरह माया और लोभ ये दोनों भी राग के एक घर में गिने जाते हैं। चूँकि माया और लोभ में राग की प्राधान्यता है, तीव्रता है, प्रमुखता है, इसलिए। ठीक इसी तरह क्रोध और मान में द्वेष की प्राधान्यता है, तीव्रता है, प्रमुखता है। आप संसार के व्यवहार में जब भी कभी क्रोध और मान को देखिए इनकी प्रवृत्ति देखिए, निश्चित रूप से आपको द्वेष पानी पर तैल बिन्दु की तरह स्पष्ट तैरता हुआ दिखाई देगा।

नोकषाय और वेद मोहनीय में भी आप अच्छी तरह देखेंगे तो किसी में राग तो किसी में द्वेष की गंध स्पष्ट रूप से आएगी। वेद मोहनीय में राग तो स्पष्ट तैरता हुआ दिखाई देता ही है। इस तरह यदि समस्त मोहनीय कर्म की २८ प्रकृतियों का सबका संक्षिप्तीकरण करके देखें तो राग—द्वेष के इस नाम में पूरा मोहनीय कर्म समा जाता है।

इसलिए राग—द्वेष को ही अपर पर्याय के रूप में पर्यायवाची नामकरण भी किया जाय तो उचित ही है ।

इसीलिए १२ वे गुणस्थान का जैसे “क्षीण मोह” नाम रखा है वह उचित है । ठीक उसी तरह राग और द्वेष के अपगम (नाश = क्षय) से वीतराग छद्मस्थ नाम रखना भी सार्थक ही है । रागश्च द्वेषश्च = रागद्वेषौ । विगतः रागः यस्मादिति वीतरागः = अर्थात् जिसमें से राग सर्वथा संपूर्ण निकल गया है वह है वीतराग । इसी तरह विगतः द्वेषः यस्मादिति वीतद्वेषः । राग और द्वेष इन दोनों शब्दों को एक साथ रखकर नाम इस तरह बनता है । विगतः रागद्वेषौ इति “वीतरागद्वेष” अर्थात् सर्वथा राग—द्वेष—रहित । वीतरागद्वेष शब्द लम्बा—चौड़ा है । अतः इसका संक्षिप्तीकरण करते हुए “वीतराग” शब्द रखा है । लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि वीतराग अर्थात् सिर्फ रागरहित । इतना ही अर्थ नहीं होता है । अपितु अर्थ भाव में तो राग और द्वेष दोनों से सर्वथा रहित यह अर्थ अभिप्रेत है । मात्र उच्चारण में लम्बा होने के कारण बोलने में संक्षिप्त रूप वीतराग शब्द बोला जाता है । तथा जैसा बोला जाता है वैसा ही लिखा भी जाता है । इस तरह वीतराग शब्द शब्दरचना का एक शब्द होते हुए भी अर्थ में राग और द्वेष दोनों भाव से रहित ऐसे अभिप्रेत अर्थ, ग्रहीत अर्थ में प्रचलित है ।

सादि—अनन्त गुणस्थिति—

१२ वे क्षीण मोह गुणस्थान पर जीव ने जो वीतरागता प्राप्त की है वह सादि—अनन्त की कक्षा की है । सादि अर्थात् शुरुआत—प्रारंभ और अनन्त अर्थात् अन्तरहित । बस, एक बार प्राप्त होने के पश्चात् जिसका कभी भी अन्त नहीं होता है वैसी सादि अनन्त की वीतरागदशा है । आप पहले पढ़ ही चुके हैं कि . . . कर्म जो भव्यात्मा पर थे वे अनादि—सान्त की कक्षा के थे । अर्थात् जिसकी आदि का कोई ठिकाना नहीं था । अर्थात् आदिरहित थे लेकिन अन्तसहित थे, इसलिए उनका सर्वथा अन्त—नाश हो गया । दूसरी तरफ आत्मा के प्रत्येक गुण जो अनादि—अनन्त ही होते हैं । सत्ता की दृष्टि से सदा ही आत्मा में साथ रहते हैं । ऐसे द्रव्यगत गुण सत्ता की दृष्टि से आत्मा में अनादि—अनन्त होते हुए भी . . . कर्मावृत्त होने के कारण और कर्म भी अनादि—सान्त की कक्षा के (भव्यात्मा के) होने के कारण आत्मा के गुण—अनादि सान्त दबे हुए—आच्छन्न ढके हुए ही रहते हैं । आच्छादित ही रहते हैं । इसलिए अनादि—सान्त कर्म का अन्त = नाश होते ही आत्मगुणों

की उत्पत्ति होती है। इसे शुरुआत प्रारम्भ कहते हैं। इसलिए आत्म गुण को सादि—अनन्त की कक्षा के कहे गए हैं। सादि अर्थात् यहाँ आदि—उत्पत्ति सहित। शुरुआत प्रारंभ सहित। आदि सहित = सादि। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं होता है कि... आत्मा के गुण उत्पन्न हुए। निश्चय नय की दृष्टि से आत्मगुण आत्मा में अनादि काल से है ही और भावि में भी अनन्त काल तक निश्चित रूप से रहने ही वाले हैं। यदि ऐसा न मानें तो एक दिन आत्मा को गुणरहित निर्गुण मानने की आपत्ति आएगी। जबकि गुणरहित संसार में एक भी जड़ या चेतन ऐसा कोई द्रव्य ही नहीं है जो गुणरहित है। जड़ द्रव्य में जड़ के गुण हैं। और चेतन द्रव्य में चेतन के ज्ञानादि गुण भरे पड़े हैं। जड़ में वर्ण—गंध—रस—स्पर्शादि के गुण भी अनेक होते हैं। जब सर्वथा गुणरहित निर्गुण संसार का छोटा—बड़ा एक भी द्रव्य नहीं है तो आत्मा कहीं से गुणरहित होगी ?

जी नहीं, कदापि नहीं। इसलिए... अनादि—अनन्तकाल आत्मा सदा ही सगुण—गुणवान रहती है। सिर्फ अन्तर इतना ही है कि कर्म के आवरण से आवृत्त रहती है। जैसे बादलों से ढका हुआ सूर्य भी अपने प्रकाश (तेज) को कहीं छोड़ देता है ? ठीक उसी तरह अनन्त गुण आत्मा की सत्ता में होते हुए भी कर्म के आवरण से दबी हुई आत्मा भी गुणों के अस्तित्ववाली ही है। गुण न तो बाहर से आते हैं और न ही नए उत्पन्न होते हैं। ये तो जो होते हैं वे प्रगट होते हैं। अतः सादि—शब्द से आदि शुरुआत होने का तात्पर्य आज ही प्रगट हुए हैं। इसकी ३ प्रक्रिया हैं। १) क्षय + उपशम = क्षयोपशम = जितने अंश में कर्म का क्षय हुआ हो और शेषांश का उपशमन हुआ हो वह एक प्रक्रिया। तथा २) सिर्फ उपशमन हो कर्मों का शमन—दब जाना हो वह दूसरी प्रक्रिया। इसमें कर्म का क्षय नहीं होता है लेकिन दब जाते हैं। अतः उस कर्म की प्रकृति सत्ता में जरूर पड़ी हुई रहती है लेकिन... दबी हुई शान्त रहने से गुणों का उतने काल तक प्रगटीकरण दिखाई देगा। लेकिन जैसे ही उस उपशान्त कर्म का प्रादुर्भाव हुआ कि... पुनः गुण दब जाएगा और कर्म का उदय गिरा देगा। उपशम श्रेणी का ही नियम यहाँ भी लगता है।

तीसरी प्रक्रिया संपूर्ण क्षय की है। क्षायिक भाव की इस प्रक्रिया में जिन कर्मों का सर्वथा जड़मूल से क्षय हो जाएगा उन उन कर्मों से दबे हुए आत्मा के गुण प्रगट हो जाएंगे। यह प्रादुर्भाव शाश्वत नित्य रहता है। ये गुण पुनः कभी भी कर्म से आवृत्त नहीं होंगे। क्योंकि कर्म नाममात्र या अंशमात्र भी सत्ता में नहीं है। तथा उदय में भी नहीं है। और नया बांधने का भी सवाल ही नहीं है।

वीतरागता की प्राप्ति का आनन्द—

इस तरह निश्चय नय से अनादि—अनन्त आत्मा की गुणस्थिति होते हुए भी व्यवहारनय से कर्मों के क्षय से सादि अनन्त गुणस्थिति का व्यवहार किया जाता है। इस सिद्धान्तानुसार भूतकालीन अनादि—सान्त मोहनीय कर्म का आज १० वे गुणस्थान पर संपूर्ण क्षय होने से = अन्त आने से आत्मा सीधे ही वीतराग दशा को प्राप्त होती है। १२ वे गुणस्थान पर वीतरागी कही जाती है। यह वीतरागता का गुण सादि—अनन्त की कक्षा का है। अनादि—अनन्तकालीन निश्चयनय की दृष्टि से होते हुए भी व्यवहारनय से इस वीतरागता के गुण की आज शुभ शुरुआत होने से व्यवहारनय से सादि कहा जाएगा। और भविष्यकाल में अनन्तकाल तक रहेगा अतः अनन्त ही कहा जाएगा। इसका पुनः कभी अन्त नहीं होगा।

इस तरह अनादि—अनन्तकालीन संसार में राग—द्वेष के घेरे में फसी हुई रहकर कर्म की थोपेड़ें खाकर यह आत्मा बीते हुए अनन्तकाल में पहली बार जब अपने स्व की वीतरागता के गुण को और वह भी अनन्त स्वरूप में प्रगट करती है, प्राप्त करती है, और वह भी अमिट—शाश्वत—नित्य स्वरूप के सुख को पाती है तब किसे आनन्द नहीं होगा? सच देखा जाय तो यह आनन्द इतना ज्यादा और अनन्त की कक्षा का होगा कि... अवर्णनीय बन जाएगा। अवक्तव्य इसलिए बन जाएगा कि अभिव्यक्ति के लिए शब्द ही नहीं मिलेंगे। आखिर शब्द शक्ति सीमित है। परिमित है। मर्यादित है। आनन्द के उतने अपरिमित सुख को स्पष्ट करने में ये शब्द बौने सिद्ध होते हैं। आखिर शब्दज्ञान यह श्रुतज्ञान का निमित्त है। नहीं कि केवलज्ञान का। श्रुतज्ञान दूसरे क्रम पर है जबकि केवलज्ञान पाँचवे अन्तिम कक्षा पर है। यह अनन्त ज्ञान है। यह १३ वे गुणस्थान पर प्रारम्भ में उत्पन्न होता है। यह शब्दात्मक श्रुतज्ञान केवलज्ञान के सामने बहुत छोटा है। अनन्तगुणे केवलज्ञान के सामने मात्र अनन्तवे भाग का ही शब्दज्ञान—श्रुतज्ञान है। इसलिए श्रुतज्ञान के शब्दों में इतनी क्षमता कहाँ है कि अपने शब्दों से अनन्तगुणे आनन्द को व्यक्त कर सके?

वीतरागता बहुत बड़ा गुण है। यह समुद्र जितना विशाल—व्यापक गुण है। इसकी गहराई में अनेक गुण छिपे हुए हैं। क्षमा, समता, नम्रता, सरलता, संतोष, दया, करुणा, सर्व जीव मैत्रीभाव, सर्वव्यापी माध्यस्थ भाव, अनन्तगुनी अहिंसा की परिणति, सर्व जीवोंपर व्यापक प्रेम, सत्यवादिता, मृषात्यागिता, अस्तेयवृत्ति, अनन्त ब्रह्मचारिता, निष्परिग्रहता,

अराग—अद्वेष, सर्वजीव परमार्थभाव, परोपकारपरायणता, सर्व जीव उपकारिता विश्ववात्सल्य, सर्व जीव कल्याणरसिकता, वसुधैव कुटुम्बकता, अनिघपना, सम्यग् दर्शिता, सम्यगाचारशीलता, अनन्त चारित्रता, अनन्त वीतरागता, यथार्थ स्वरूपरमणता, आत्मगुणरमणता, स्वस्वरूपपरायणता, यथार्थ वादिता, अखेद आदि अनन्त गुणों के खजाने का सूचक एक शब्द वीतरागता है।

केवलज्ञान—केवलदर्शनादि गुणों का कार्यक्षेत्र मात्र एक ही है। केवलाज्ञान का कार्य है तमस्त ब्रह्माण्ड के पदार्थों को जानना, केवलदर्शन का कार्य है देखना। सिर्फ एक एक ही कार्यक्षेत्र लेकर चलते हैं ये गुण, मर्यादित कार्य हैं, जबकि वीतरागता व्यापक है, गुण का कार्यक्षेत्र व्यापक है। बोलने में भी राग—द्वेषरहितता से बोलना है। रहने में समतादि भावों में स्थिर रहना है। अंश मात्र भी कषायादि भाव आना ही नहीं चाहिए। उपरोक्त सभी गुण अपने स्वरूप में सदाकाल उपस्थित ही रहते हैं। रहने ही चाहिए। सर्वथा दोषरहित निर्दोष जीवन जीना है। इसलिए “दोषरहितोऽयं निर्दुष्टजीवः” निर्दोष जीवन जीनेवाला वीतराग भाव को प्राप्त वीतरागी जीव १२ वे गुणस्थानवर्ती जीव होता है। आप सोचिए, अनादिकालीन मोहनीय कर्म के कारण जीव ने जो दुःख अनन्तकाल तक भुगता है अब उसको जाने के पश्चात् सुख या आनन्द भी कितना अनुभव करना है। वह भी अनन्त।

तीसरा गुण आत्मा का अनन्त चारित्र का है। यथाख्यात स्वरूप का है। अनन्तानन्द का अनुभव करना है। इसी गुण का आवरक जो मोहनीय कर्म था इसीने अनन्त चारित्रहीन, चारित्ररहित बनाने का काम किया। इसके कारण अनन्तकाल तक आत्मा चारित्रहीन, दुश्चारित्रवान, खराब स्वभाववाली बनकर रही। अनन्तकाल तक अपनी आत्मा के स्वस्वरूप को कभी पहचान भी नहीं सका जीव। अनन्त ऐसे पौद्गलिक भौतिक पदार्थों में, बाहर के जीवों में आसक्ति रखने का काम इसी कर्म की देन है। और इन सब पर संपूर्ण विरक्ति यह मोहनीय कर्म के आवरण के हटने के बाद गुण से ही संभव है। इस तरह इस गुण की उपलब्धि बहुत बड़ी प्राप्ति है।

वीतरागता की प्राप्ति कहाँ ?

१० वाँ गुणस्थान, ११ वाँ गुणस्थान, और १२ वाँ गुणस्थान ये ३ गुणस्थान हैं। प्रश्न यह उठ सकता है कि... १० वे सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान पर मोहनीय कर्म की २८ कर्मप्रकृतियाँ पूरी समाप्त हो जाती है। अब मोहनीय कर्म का अंश मात्र भी नहीं बचा है तो फिर १० वे गुणस्थान पर ही वीतरागी क्यों नहीं कहते हैं ?

बात ठीक लगती है, लेकिन गुणस्थानों के सोपान रूप आध्यात्मिक विकास के गुणों पर क्रमशः चढ़ते हुए और मोहनीय कर्म की २८ प्रकृतियों का क्रमशः क्षय करता हुआ आगे बढ़ते-बढ़ते १० वे गुणस्थान पर आता है। २७ प्रकृतियाँ नौवे गुणस्थान तक क्षय हो जाती हैं। लेकिन... २८ वीं एक प्रकृति लोभ की शेष बच जाती है। यद्यपि १० वे सूक्ष्म संपराय गुणस्थान का समय अन्तर्मुहूर्त मात्र ही है। ज्यादा तो है ही नहीं। अब इतने समय में सूक्ष्म लोभ की प्रकृति का क्षय करना ही करना है। लेकिन उसमें कितना समय लगेगा? कोई ख्याल नहीं। हो सकता है कि जघन्य अन्तर्मुहूर्त भी लग सकता है, या फिर मध्यम अन्तर्मुहूर्त भी लग सकता है। या फिर उत्कृष्ट कक्षा का अन्तर्मुहूर्त काल लग सकता है। कुछ भी नहीं कह सकते हैं। यह तो सर्वज्ञ ही कह सकते हैं। अनन्त जीव हैं। अनन्त जीव क्षपक श्रेणी पर चढ़े हैं। अनन्त जीव भूतकाल में उपशम श्रेणी पर भी चढ़े ही हैं। यह तो जीव पर निर्भर करता है कि... वह कितना समय लेगा। लोभ का क्षय करने का कार्य तो चल ही रहा है। इसलिए मोहनीय कर्म का क्षय करने का कार्य चल रहा है, वहाँ तक तो वीतराग कैसे कहा जा सकता है? इसलिए १० वे गुणस्थान पर वीतराग नहीं कहा।

दूसरे विकल्प में १० वाँ गुणस्थान उपशम और क्षपक दोनों श्रेणीवाले के लिए है। यहाँ हम कैसे निर्णय कर सकते हैं कि... यह जीव उपशम श्रेणी का है या क्षपक श्रेणी का है? क्षपक श्रेणीवाला तो अभी अन्तिम प्रकृति लोभ की खपा रहा है। अभी कार्य चल रहा है। इसलिए वीतराग नहीं कह सकते हैं। दूसरी तरफ उपशम श्रेणी के जीव के लिए तो क्षय करने का सवाल ही नहीं है। वह तो उपशमन करने की वृत्तिवाला है। मोहनीयादि कर्मों की प्रकृतियों का शमन करती है, दबाती है। बस, उदय में नहीं दिखता है लेकिन सत्ता में तो पड़ी ही है। ८ वे, ९ वे से इसी उपशमन की रीत को अपनाकर उसी के आधार पर आगे चल रहा है और लोभकर्म की प्रकृति १० वे गुणस्थान पर है। अतः उपशामक जीव यहाँ आकर भी शमन करने का, दबाने का ही काम करता है। अतः १० वे गुणस्थान पर शमक साधक लोभ का भी अन्य कर्मप्रकृतियों की तरह शमन ही करेगा। मात्र दबाएगा। इस तरह दबाने का भी काम करता है। अभी काम चालू है। इसलिए यहाँ १० वे गुणस्थान पर वीतरागी कहना उचित नहीं है।

अब रही ११ वे गुणस्थान की बात। क्या ११ वे गुणस्थान पर उपशान्त मोह को वीतरागी कहा जा सकता है? बड़ी विचित्र—विस्मयकारी बात है एक तरफ मोहनीय कर्म की सभी प्रकृतियाँ शान्त हो चुकी हैं। दबाई जा चुकी हैं। आप उपशमन की प्रक्रिया को

अच्छी तरह समझ ही चुके होंगे। अब तो मोहनीय कर्म की २८ प्रकृतियों में से एक भी कर्म की प्रकृति उदय में नहीं है। इसलिए वीतराग कहना उचित है। लेकिन एक बात यह भी ध्यान में रखनी चाहिए कि... उदय में भले ही न हो लेकिन सभी सत्ता में जीवंत पड़ी है। एक साँप या राक्षस मरा न हो लेकिन आँख मूंद कर, यदि मरने जैसा बहाना बनाकर मात्र सोया हुआ है, उसपर क्या विश्वास रखा जा सकता है? अरे! जिन्दे जीते जी साँप की तो बात ही कहाँ रही, अन्धेरे में टेढ़ी मेढ़ी पड़ी हुई रस्सी के आकार मात्र से साँप समझकर भ्रान्तिवश भी विश्वास नहीं रखते हैं लोग, तो फिर जिन्दे जीते जी साँप या राक्षस पर मात्र आँख मूंदकर पड़े रहने मात्र से विश्वास कैसे आ सकता है?

इसलिए ११ वे उपशान्त मोहनीय गुणस्थान पर वीतराग कैसे कहना? निश्चय नय से तो नहीं कह सकते हैं क्योंकि निश्चय नय से तो मोहनीय कर्म के सर्वथा क्षय हो जाने के पश्चात् ही वीतराग कहना उचित है। न्यायसंगत है। लेकिन व्यवहारनय से जितनी देर तक सत्ता में पड़ी हुई मोहनीय कर्म की प्रकृतियाँ उदय में से शान्त हो चुकी हैं, उतनी देर तक वीतराग कह सकते हैं। भले ही अंतर्मुहूर्त परिमित काल तक भी यह आस्वाद चखने मिले जीव को फिर भी व्यवहार नय से कह सकते हैं। इसलिए उपशान्त वीतराग छद्मस्थ नाम कहा है।

अब रही १२ वे क्षीण मोहनीय गुणस्थान की बात। यहाँ वीतराग कहना बिल्कुल न्याय सुसंगत है। मोहनीय कर्म की समस्त २८ प्रकृतियों का संपूर्ण जड़मूल से क्षय तो हो चुका है। अतः वीतराग कहना न्यायसंगत उचित ही है। यह क्षपक जीव है। अंश मात्र भी कर्म को सत्ता में रखने के लिए तैयार ही नहीं है। उपशम श्रेणीवाले जीव का काम ऊपर ऊपर से उदय मात्र में देखकर होता है जबकि क्षपक श्रेणीवाला सत्ता का जड़ में से ही कर्म को मूल से क्षय करके निकाल फेंकता है। १० वे गुणस्थान तक मोहनीय कर्म की २८ प्रकृतियाँ जितनी थी उतनी सब का जड़मूल से क्षय कर दिया है। यद्यपि अन्तिम सूक्ष्म लोभ की प्रकृति का क्षय भी १० वे गुणस्थान पर कर दिया तो फिर वहीं वीतराग क्यों नहीं बना साधक? पहले जो उत्तर दिया है वही यहाँ भी समझना उचित है। १० वे सू. सं. गुणस्थान का काल अन्तर्मुहूर्त मात्र ही है। उसमें भी अन्तिम लोभ की प्रकृति का क्षय उसे करना ही है। इसलिए जब तक सू. लोभ की प्रकृति का क्षय नहीं करेगा तब तक तो वीतराग बन ही नहीं सकता है। दूसरी तरफ लोभ की प्रकृति का क्षय करने में कितना समय लगेगा? क्या जघन्य, मध्यम या उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त का समय लगेगा? किसको कितना लगेगा यह कहा नहीं जा सकता। इसलिए १० वे गुणस्थान पर वीतराग कहना कहाँ तक उचित रहेगा?

दूसरी तरफ क्षयक साधक का १० वे गुणस्थान पर जितने समय में लोभ की प्रकृति का क्षय करने का कार्य जैसे ही पूरा हो जाता है कि... तुरंत ही ११ वे गुणस्थान पर न जाते हुए सीधी छलांग लगाकर १२ वे क्षीण मोहनीय गुणस्थान पर आरूढ़ होता है। और जैसे ही १२ वे गुणस्थान पर पहुँचता है कि तुरंत मोहनीय के अभाव में वीतरागता प्राप्त करके वीतरागी बनता है साधक। १२ वे गुणस्थान पर वीतरागी जरूर बना है लेकिन अभी तक सर्वज्ञ नहीं बना है इसलिए छद्मस्थ कहलाता है। सर्वज्ञता की उपलब्धि १३ वे गुणस्थान पर होती है। १३ वे गुणस्थान की उपलब्धि का अभाव १२ वे गुणस्थान पर जरूर रहेगा इसलिए १३ वे गुणस्थानवाले को १२ वे गुणस्थान की उपलब्धिवाला तो कहना ही चाहिए। उचित यही है।

गुणस्थानों के नामकरण की व्यवस्था—

जिस गुणस्थान पर जिस गुणस्थान की प्राप्ति होती है वही उसका सूचक नामकरण बन जाता है। वही उसकी पहचान कहलाती है। यही नियम सभी गुणस्थानों के लिए लगता है। इस नियम के आधार पर ४ थे गुणस्थान पर सम्यग् दर्शन गुण की प्राप्ति होती है। ५ वे गुणस्थान पर विरति—व्रतादि की प्राप्ति होती है। छठे गुणस्थान पर साधुता की प्राप्ति होती है। ७ वे गुणस्थान पर अप्रमत्त भाव की उपलब्धि होती है। ८ वे पर साधक को अपूर्व आत्मवीर्यरूप करण की प्राप्ति होती है। जिसके बल पर श्रेणी करके आगे ऊपर चढ़ता है। १३ वे गुणस्थान पर जा कर सर्वज्ञता को प्राप्त करता है।

बीच के कुछ गुणस्थान के नाम वहाँ न होनेवाले कार्यों के आधार पर नामकरण रखा है। नौवे गुणस्थान पर १० वे गुणस्थान पर जो कार्य करना है उसका नाम है। २ रे गुणस्थान की स्थिति सास्वादन की है। इसलिए सम्यक्त्व का वमन करने पर आस्वाद कैसा होता है? तथा ३ रे मिश्र गुणस्थान पर सम्यक्त्व और मिथ्यात्व दोनों की मिश्रावस्था मिली हुई अवस्था होने के कारण जैसा स्वरूप होता है वैसा नामनिर्देश २, ३, ९, १० गुणस्थान का किया गया है।

११ वे तथा १२ वे गुणस्थान का नामकरण वहाँ की स्थिति के आधार पर रखा है। ११ वे गुणस्थान पर कुछ भी नहीं करना है लेकिन जिन मोहनीय कर्मों का पिछले गुणस्थान पर उपशमन—(दबाता हुआ) करता हुआ जीव आगे बढ़ता—बढ़ता ११ वे गुणस्थान पर आया हो, उसकी स्थिति कैसी हो गई है? वैसा सूचक नाम रखा है। उपशान्त मोहनीय यही सूचक सही नाम रखा है। वैसी ही बात १२ वे गुणस्थान पर भी है। पिछले गुणस्थान

पर मोहनीय की कर्मप्रकृतियों का क्षय करता हुआ क्रमशः आगे बढ़ता है और १२ वे गुणस्थान पर आता है। क्या करता हुआ ? करते करते उसने क्या किया ? किस कार्य की उपलब्धि हुई ? उसका सूचक शब्द है क्षीण मोह। क्षीण हो चुका है मोहनीय कर्म जिसका ऐसा क्षीण मोह। ११ वे और १२ वे में करने के सूचक ये शब्द नहीं हैं लेकिन जो कर चुके हैं तथा परिणाम स्वरूप जिस स्थिति को प्राप्त हो चुके हैं उसके सूचक नाम हैं।

१ ले मिथ्यात्व के गुणस्थान पर न तो मिथ्यात्व को प्राप्त करता है और न ही कुछ नयी उपलब्धि होती है। मिथ्यात्व यहाँ नया नहीं पाया है लेकिन जो अनादिकालीन है, वही है। उसी स्थिति का सूचक है। मिथ्यात्व होने के बाद भी जिसका कभी ख्याल तक नहीं था। उस मिथ्यात्व का उसे ख्याल आता है। अब मिथ्यात्व को मन्द करने का तथा मिथ्यात्व में रहकर भी यथाप्रवृत्तिकरण आदि जो कुछ करता है तथा अन्त में जाकर मिथ्यात्व को छोड़कर सम्यक्त्व प्राप्त करता है, उस प्रक्रिया का सूचक नाम है।

इसी तरह १३ वे, १४ वे गुणस्थान में किसकी प्राधान्यता है ? १३ वे पर योग की प्राधान्यता है। इसलिए सयोगी शब्द सूचक नाम रखा है। योग सहित को सयोग, और ऐसा जो है वह सयोगी कहलाता है। साथ में केवली शब्द जोड़कर १३ वे गुणस्थान की उपलब्धि का भी दर्शन करा दिया है। जिसको केवलज्ञान की प्राप्ति हो चुकी है जिसके कारण जो केवली—सर्वज्ञ बन चुका है वह सयोगी केवली कहलाता है। इसलिए नामकरण उभयता का सूचक शब्द बनाया है। १४ वे गुणस्थान का नाम अयोगी केवली है। योगों का सर्वथा अभाव होना। मन—वचन—काया के योगों की समाप्ति होने से साधक अयोगी बन जाता है, अयोगी होते हुए भी केवली—सर्वज्ञ तो है ही। इसलिए अयोगी केवली नाम बिल्कुल सही सूचक नाम है। इस तरह सभी गुणस्थानों के नामकरण की व्यवस्था उपलब्धि—प्रवृत्ति—स्थिति के आधार पर सुन्दर तरीके से ज्ञानी भगवन्तों ने की है।

क्षीण मोहनीय १२ वे गुणस्थान का कार्य—

यह क्षपक श्रेणी का गुणस्थान है। उपशम श्रेणीवाला तो ११ वे गुणस्थान पर आकर रुक जाता है। बस, यहीं उसका अन्त आ जाता है। इसलिए ११ वाँ गुणस्थान उपशम श्रेणीवाले के लिए अन्तिम (चरम) गुणस्थान कहा जाता है। लेकिन क्षपक श्रेणीवाले के लिए एक भी गुणस्थान अन्तता का सूचक नहीं है, अन्तिम नहीं है। क्योंकि जहाँ तक

कर्मों का क्षय करने का काम अवशिष्ट रहता है तब तक उसका कार्य अधूरा ही रहता है । १२ वे क्षीण मोहनीय गुणस्थान पर भी कर्म की प्रकृतियों को क्षय करने का काम है ही । इसी तरह १३ वे गुणस्थान पर भी अघाती कर्म की प्रकृतियों को क्षय करने का काम रहता ही है । इसी तरह १४ वे गुणस्थान पर भी अल्प समय में भी कर्मक्षय करने का काम तो है ही । इस तरह अन्तिम गुणस्थान तक भी क्षपक साधक का कार्य तो रहता ही है । इसलिए क्षपक श्रेणी का कहीं कोई अन्तिम गुणस्थान पूछा ही नहीं जा सकता है । होता ही नहीं है । बस, अन्त में समस्त कर्मों का संपूर्ण क्षय हो जाता है और आत्मा मुक्त बन जाती है ।

आप सोचेंगे १० वे गुणस्थान पर मोहनीय कर्म पूर्णरूप से समाप्त हो गया । फिर अब क्या करना है ? लेकिन ऐसा नहीं है । ८ कर्मों में से मोहनीय तो एक कर्म है । इसलिए शेष सभी कर्म तो उपस्थित हैं । अन्य ७ कर्म अभी और हैं । अभी ज्ञानावरणीय—दर्शनावरणीय जैसे भारी कर्म सत्ता में पड़े हैं, वहाँ तक तो केवलज्ञान—केवलदर्शन प्राप्त भी कैसे होंगे ? सवाल ही नहीं है । इनका क्षय १२ वे गुणस्थानवाले ने नहीं किया है, इसलिए वह साधक सर्वज्ञ नहीं, लेकिन छद्मस्थ ही कहलाता है । इसीलिए वीतराग छद्मस्थ नामकरण बड़ा ही सूचक नाम है । यही स्पष्ट करता है कि वीतरागता का गुण जरूर प्राप्त किया है, लेकिन अभी तक केवलज्ञान प्राप्त नहीं किया है, जहाँ तक ज्ञान-कर्म का क्षय नहीं हुआ है, वहाँ तक छद्मस्थता दूर नहीं होगी, रहेगी ही । जी हाँ, ... वीतरागता अपने आप में पूर्ण है । यह गुण पूर्ण संपूर्ण है, इसलिए इसमें किसी भी प्रकार के संदेह को अवकाश ही नहीं है । लेकिन जिसकी उपलब्धि ही नहीं हुई है उसका अभाव तो स्पष्ट कहा ही जाएगा । तो ... हाँ ? अब उस साधक को करना क्या है ? अपने नामकरण को देखें । और नाम में जो कलंक सूचक या (कमी) अपूर्णता का सूचक जो छद्मस्थ शब्द है, बस, यही शब्द क्या करना है इसका दिशानिर्देश स्पष्ट करता है । इसलिए वीतरागता जो प्राप्त हो चुकी है उसका संतोष जरूर है, लेकिन ... जिसकी प्राप्ति अभी तक नहीं हुई है उसको प्राप्त करने के लिए ही प्रबल पुरुषार्थ करना है । १२ वे गुणस्थान पर वीतरागता प्राप्त होने से संतोष मानकर बैठे थोड़े ही रहना है ? ऐसे बैठे रहने से कार्य कैसे चलेगा । वैसे भी साधक क्षपक वृत्तिवाला है । इसलिए प्रबल पुरुषार्थ करते हुए, अपूर्व आत्मवीर्य प्रगट करके कर्मरूपी वन का दहन करता हुआ आगे बढ़ रहा है । इसलिए विश्रान्ति आदि की तो आवश्यकता ही कहाँ रहती है ? और मान भी लो कि ... विश्रान्ति करे तो भी मात्र गिनति के समयों की ही हो सकती है । आखिर कुल मिलाकर १२ वे गुणस्थान का कार्य ही अंतर्मुहूर्त मात्र है । फिर ज्यादा का तो प्रश्न ही

कहाँ है ? और इसमें कोई शारीरिक थकान तो होती ही नहीं है, फिर सवाल ही कहाँ है ? यहाँ तो मात्र ध्यान ही करना है । और कौन सा ध्यान ? शुक्लध्यान । अब ध्यान का स्तर नीचा थोड़े ही गिर सकता है ? शुक्ल ध्यान ही सब ध्यानों में सर्वोच्च कक्षा का श्रेष्ठ ध्यान है । इसमें प्रथम भेद से द्वितीय भेद, और द्वितीय से तृतीय इस तरह क्रमशः उत्तरोत्तर चढ़ते हुए ऊँचे श्रेष्ठतर—सर्वश्रेष्ठ कक्षा के ध्यान भेद हैं । इन ४ भेदों में भी प्रथम के २ भेद के शुक्ल ध्यान की साधना... छद्मस्थ अवस्था में होती है । और शेष २ ध्यान सर्वज्ञता प्राप्त करने के बाद १३ वे गुणस्थान पर होते हैं । इसलिए ध्यानी के इस ध्यान में जितनी तीव्रता—प्रबलता रहेगी उतना ही आगे चढ़ना बहुत जल्दी होता है । इसलिए शुक्लध्यान साधना में क्या करना, कैसे करना, यह ग्रन्थकार महर्षी स्वयं फरमाते हैं ।

१२ वे गुणस्थान पर शुक्लध्यान—

भूत्वाऽथ क्षीणमोहात्मा, वीतरागो महायतिः ।

पूर्ववद्भावसंयुक्तो, द्वितीयं शुक्लमाश्रयेत् ॥ ७४ ॥

अपृथक्त्वमवीचारं, सवितर्कगुणान्वितम् ।

स ध्यायत्येकयोगेन, शुक्लध्यानं द्वितीयकम् ॥ ७५ ॥

क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ महात्मा १२ वे गुणस्थान पर आकर क्षीणमोही बनकर... वीतरागी बनकर... महान् यति (साधु) महात्मा जैसे कि पहले कर्मों का जड़मूल से क्षय करने की जो प्रवृत्ति क्षपक श्रेणी के गुणस्थान पर कर रहा था वही भाव, वैसे ही ऊँचे सर्वोत्तम भाव बनाए रखे, क्योंकि... अभी भी आगे और कई कर्मों का सफाया करना ही है । अतः भाव टूट जाय या कम भी हो जाय तो कैसे चलेगा ? इसी पर तो सारा आधार है । प्रबल श्रेष्ठतर चढ़ते हुए भाव ही साधक को अग्रसर करने में ऊँचा सहायक होता है । कर्मक्षय करने का आत्मा के लिए विशुद्धतर अध्यवसाय का होना अत्यन्त आवश्यक है । अब इसको साथ—सहारा मिल जाय शुक्लध्यान का ।

शुक्ल ध्यान के ४ प्रकारों में से पहले चरण का ध्यान तो वीतरागता की प्राप्ति के पहले ही हो गया । अब दूसरे प्रकार का शुक्ल ध्यान वीतरागता की प्राप्ति के पश्चात् ही होगा । इससे यह स्पष्ट हो गया कि शुक्ल ध्यान के दूसरे चरण का अधिकारी ध्याता वीतरागी ही हो सकता है । और तीसरे—चौथे भेद का शुक्ल ध्यान सर्वज्ञ बनकर १३ वे गुणस्थानवाला ही कर सकता है । इस तरह शुक्लध्यान के ४ चरण की ध्यान साधना ३ विभागों में होती है ।

		शुक्ल ध्यान के	
		शुक्ल ध्यान के	तृतीय पाये का ध्यान
शुक्ल ध्यान के		द्वितीय पाये का ध्यान	१३ वा गुणस्थान
प्रथम पाये का ध्यान		१२ वे गुणस्थान	
१२ वे से पहले			

इस तरह शुक्लध्यान के ४ भेद के ३ अवस्था में भिन्न-भिन्न गुणस्थानों पर कहों किस-किस प्रकार का ध्यान होता है उसका विभाजन उपरोक्त तरीके से दर्शाया है। कहने के लिए तो नाम एक ही है शुक्लध्यान का। सभी शुक्ल ध्यान ही कर रहे हैं। वैसे भी जब ८ वे गुणस्थान अपूर्वकरण या ७ वे गुणस्थान से भी शुक्ल ध्यान प्रारम्भ हो जाता है तब शुक्लध्यान का कौन सा अंश या कौन सा प्रकार ध्यान का होता है? सीधे ही २ रे या ३ रे, ४ थे प्रकार का शुक्लध्यान आना या होना तो वैसे भी सम्भव नहीं है। धर्मध्यान की प्रमुखता ६ ठे—७ वे गुणस्थान तक अच्छी थी। बस, धर्मध्यान की शुरुआत ४ थे गुणस्थान से है। जो आगे... बढ़ते—बढ़ते ५ वे, ६ ठे, और ७ वे गुणस्थान तक अपनी चरप कक्षा पर पहुँच जाता है। चारों प्रकार के धर्मध्यान के भेद प्रभेदादि की साधना अधिकांश रूप से ७ वे गुणस्थान तक चलती है। और ८ वे गुणस्थान से शुक्लध्यान के प्रथम प्रकार की ध्यान साधना प्रारम्भ हो जाती है। वैसे तो शुक्ल ध्यान के प्रथम चरण की साधना छठे गुणस्थान से भी हो जाती है। निश्चयनय से तो ४ थे गुणस्थान से भी शुक्लध्यान प्रारम्भ किया जा सकता है। ऐसा ही कोई श्रेष्ठ साधक हो और ४ थे गुणस्थान से ही यदि कोई साधक क्षपक श्रेणी का व्यवहार से प्रारम्भ करे और फिर ८ वे गुणस्थान से संपूर्ण शुद्ध श्रेष्ठ कक्षा की क्षपक श्रेणी प्रारम्भ करता जाय तो सीधा ही आगे पहुँच सकता है। इसलिए छठे, ७ वाँ गुणस्थान धर्मध्यान और शुक्लध्यान का सन्धिस्थान है। धर्मध्यान भी चलता है और शुक्लध्यान के प्रथम चरण की स्थिति भी आ जाती है। इस तरह व्यवहारनय से छठे गुणस्थान से और निश्चयनय से ८ वे गुणस्थान से शुक्ल ध्यान के प्रथम भेद की ध्यान साधना प्रारम्भ हो जाती है, जो ११ वे गुणस्थान पर्यन्त चलती है। इस तरह प्रधान रूप से श्रेणी के गुणस्थान में शुक्लध्यान के प्रथम भेद की ध्यान साधना चौथे, पाँचवे गुणस्थान पर्यन्त चलती है। १२ वे क्षीण मोहनीय गुणस्थान पर वीतराग

बनकर शुक्लध्यान के दूसरे चरण का ध्यान करना चाहिए और १३ वे गुणस्थान पर शुक्लध्यान का ३ रा तथा ४ था भेद उनके ध्यान का विषय बनता है । इस तरह श्रेणी के गुणस्थानों की आधारशिला शुक्लध्यान है ।

शुक्लध्यान के २ रे प्रकार का ध्यान—

भाव से ध्यान की और ध्यान से भावों की अन्योन्य विशुद्धि बढ़ते बढ़ते कर्मों की ढेर सारी निर्जरा करते करते आगे बढ़ता है । शुक्लध्यान को प्रथम प्रकार पृथक्त्व—वितर्क—सविचार का ध्यान करके अब १२ वे गुणस्थान पर दूसरे प्रकार में आकर आगे बढ़ता है ।

अपृथक्त्वमवीचारं सवितर्कगुणान्वितम् ।

स ध्यायत्येकयोगेन, शुक्लध्यानं द्वितीयकम् ॥ ७५ ॥

अपृथक्त्व—अविचार—सवितर्क प्रकार के इस दूसरे भेद में शुक्लध्यानी ध्यानसाधना बड़ी प्रबल कक्षा की करता है । इसमें आत्मादि का ध्यान कैसे करता है ?

निजात्मद्रव्यमेकं वा, पर्यायमथवा गुणम् ।

निष्ठलं चिन्त्यते यत्र, तदेकत्वं विदुर्बुधाः ॥ ७६ ॥

यद्व्यंजनार्थयोगेषु परावर्तविवर्जितम् ।

चिन्तनं तदविचारं, स्मृतं सदध्यानकोविदैः ॥ ७७ ॥

निजशुद्धात्मनिष्ठं हि, भावश्रुतावलंबनात् ।

चिन्तनं क्रियते यत्र, सवितर्कं तदुच्यते ॥ ७८ ॥

इत्येकत्वमविचारं सवितर्कमुदाहृतम् ।

तस्मिन् समरसीभावं धत्ते स्वात्मानुभूतितः ॥ ७९ ॥

ग्रन्थकार महर्षि यहाँ शुक्लध्यान के विषय की बात में दूसरे प्रकार की विचारणा में लिखते हैं ।— प्रथम भेद में जो सपृथक्त्व था अब दूसरे प्रकार में अपृथक्त्व रहता है । तथा अर्थ—व्यंजन योग की संक्रान्ति से रहित यह दूसरा ध्यानप्रकार है । यहाँ पूर्व के भाव इतने विशेष होते हैं कि... पहले की तरह यहाँ प्रतिसमय विशुद्धि सहित तथा पूर्वगत श्रुत के अनुसार ध्यान होता है, तथा पूर्वोक्त आसनजयादि के अभ्यासवाला साधक होता है । पृथक्त्वरहित, विचाररहित और वितर्क गुण से युक्त ऐसा यह दूसरे प्रकार का शुक्लध्यान १२ वे गुणस्थान पर होता है ।

तत्त्व के जानकार महापुरुष ऐसे ध्यान को अपृथक्त्व अर्थात् एकत्व कहते हैं। पृथक्—भेद को कहते हैं। अलग—अलग को पृथक्—पृथक् कहते हैं। उसका निषेध करने के लिए निषेधवाची “अ” आगे लगाकर शब्द बनाया है “अपृथक्त्व”। इसलिए इसका अर्थ होता है भेदरहित अर्थात् ‘एकत्व’ कहते हैं। ध्यान करनेवाला ध्याता एकमात्र अपने विशुद्ध आत्मद्रव्य जो विशुद्ध परमात्म द्रव्य जैसा है उसी का ध्यान करे। अथवा ध्याता अपने विशुद्ध आत्मद्रव्य की सिर्फ एक ही पर्याय का ध्यान करे। अथवा आत्म द्रव्य के सिर्फ एक गुण का ही ध्यान करे। इस तरह एक द्रव्य का अथवा एक गुण का अथवा एक पर्याय का जो निश्चल अर्थात् चपलतारहित स्थिरतापूर्वक ध्यान करे, उसे एकत्व अर्थात् अपृथक्त्व ध्यान कहा जाता है।

जैसे यह अपृथक्त्व की बात ही है वैसे ही अविचार शब्द का दूसरे श्लोक में वर्णन किया है। . . . वर्तमान काल में जो ध्यान में निपुणता प्राप्त होती है वह शास्त्र की आम्नाय विशेष से होती है। परन्तु अनुभव मात्र से नहीं होती है। अतः श्रेष्ठ ध्यान की निपुणता ज्ञान के अनुभव रूप में हो सकती है, परन्तु क्रियानुभव के रूप में नहीं। हेमचन्द्राचार्यजी फरमाते हैं कि—

अनवच्छित्याऽऽम्नायः, समागतोऽस्येति कीर्त्यतेऽस्माभिः।

दुष्करमप्याधुनिकैः शुक्लध्यानं यथाशास्त्रम् ॥

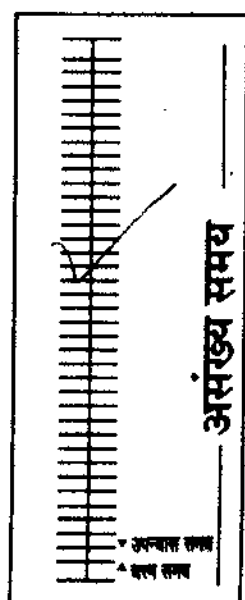
इस शुक्लध्यान के स्वरूप का शास्त्र में जो प्रचलित आम्नाय (पद्धति) है उसका विच्छेद न हो इसके लिए शुक्लध्यान का स्वरूप कहते हैं। “अविचार” की प्रक्रिया कैसी होती है इसके विषय में कहते हैं कि... पहले जिसके बारे में कह चुके हैं ऐसे व्यंजन, अर्थ और योग अर्थात् शब्द, अभिधेय और योग इन तीनों के विषय में अर्थान्तर, शब्दान्तर आदि न हो उसे विचाररहित कक्षा कहते हैं। अर्थात् एक शब्द से दूसरे शब्द में न जाना, एक अर्थ से दूसरे अर्थ में भी न जाना, और एक योग में से भी उतरकर दूसरे योग में न जाना इस तरह परस्पर संक्रांति रहित स्थिति को विचार रहित (शून्य) ‘अविचार’ अवस्था ध्यान की कही है। यह श्रुतज्ञान के अनुसार है।

अब सवितर्क के बारे में कहते हैं कि.. जिस ध्यान में “निजशुद्धात्मनिष्ठ” अर्थात् “अपने ही अत्यन्त विशुद्ध आत्मा में ही लीन हो जाना” ऐसा सूक्ष्म विचाररूप जो चिन्तन (ध्यान) किया जाता है उसे सवितर्क विशेषणवाला ऐसे गुणवाला जो शुक्लध्यान का दूसरा भेद कहा जाता है। इसे सवितर्क कहने का तात्पर्य यह है कि... यह भावश्रुत के आलंबन से होता है। अर्थात् सूक्ष्म अन्तर्जल्पाकाररूप जो भाव आगमरूप श्रुतज्ञान उसके

आलंबन मात्र चिंतन करने से होता है। अतः यह श्रुतज्ञान के आलंबन से ही होगा। आलंबनरहित संभव ही नहीं है।

अब समरसीभाव का स्वरूप कहते हैं— इस तरह शुक्लध्यान का दूसरा प्रकार जो “एकत्व अविचार सवितर्क” नाम का है। इस प्रकार ध्यान करते रहने से ध्याता को अपनी आत्मा का अनुभव होने से उस स्वानुभव से समरसीभाव उत्पन्न होता है। इस ध्यान की प्रक्रिया से आत्मा को जो एकाकार करना उसे समरसी भाव कहते हैं। इससे आत्मा परम विशुद्ध ऐसे परमात्मस्वरूप में अभिन्न रूप से अर्थात् स्वआत्मा और परमात्मा में अभेदभाव से लय—लीन हो जाती है। स्वात्म की अनुभूति के भाव को समरसीभाव कहा है। इस तरह शुक्लध्यान के दूसरे चरण में ध्यानमग्न रहकर समरसीभाव की अनुभूति करते हुए क्षपक श्रेणी का साधक १२ वे क्षीणमोह गुणस्थान से काल निर्गमन करता है। इस ध्यान जन्य विशुद्धि से आत्मा कर्मक्षय करते करते केवलज्ञान की प्राप्ति के समीप पहुँचता है। अतः इस दूसरे प्रकार के शुक्लध्यान की साधना से केवलज्ञान की उपलब्धि सुगम बनती है।

१२ वे क्षीणमोह गुणस्थान का काल—



इस १२ वे गुणस्थान का काल जघन्य और उत्कृष्ट उभय रूप से “अन्तर्मुहूर्त” का ही है। एक अन्तर्मुहूर्त काल में असंख्य समय होते हैं। इसमें जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट इन तीनों प्रकार का अंतर्मुहूर्त होता है। १ से ९ समय तक जघन्य अंतर्मुहूर्त और बीच का मध्यम तथा ४८ वीं मिनिट का अंतिम काल उत्कृष्ट अंतर्मुहूर्त कहलाता है। अब १२ वे गुणस्थान पर आरूढ़ हुआ साधक १ ले समय से अंतर्मुहूर्त काल का प्रारम्भ करके अपनी कार्यप्रवृत्ति का प्रारंभ करता है। इस पास वाले चित्र में (असंख्य) समयों की स्थापना की है। १ ले समय से शुरु हुआ। और असंख्य समय तक दर्शाया है। इतने लम्बे काल तक शुक्लध्यान के दूसरे चरण का ध्यान करके आगे बढ़ता है।

आखिर ध्यान साध्य नहीं है। यह साधना है। इसका साध्य तो कर्मक्षय है। इसलिए फल पर, परिणाम पर क्रिया

की श्रेष्ठता का आधार है। कोई भी कार्य कितना भी अच्छा हो, करनेवाला कर्ता की क्रिया—प्रवृत्ति साधना कितनी भी अच्छी हो लेकिन परिणाम ही न आए, साध्य सिद्ध ही न हो तो कार्य को श्रेष्ठ कौन कहे? कैसे कहें? यहाँ भी ध्यान की साधना कितनी भी ऊँची हो लेकिन इसका भी फल—परिणाम तो आना ही चाहिए। और वह परिणाम एकमात्र कर्मक्षय का है। निर्जरा का है। अतः कर्मक्षय का परिणाम आए तो समझिए कि ध्याता की ध्यानसाधना जरूर श्रेष्ठ कक्षा की लगती है। याद रखिए, ध्यान तो क्रियारूप है। कोई ध्याता ध्यान करता हो उसको ध्यान करते हुए बाह्य स्वरूप को देखने मात्र से कोई परिणाम के बारे में नहीं कह सकता है कि... यह ध्याता कर्म का क्षय करता है या कर्म का बंध कर रहा है? यह निर्णय नहीं किया जा सकता। जी हाँ... सर्वज्ञ ज्ञानी परमात्मा जरूर जान सकते हैं। लेकिन हमारे जैसे अल्पज्ञ कैसे निर्णय करें कि यह ध्यान करनेवाला ध्याता साधक कर्म क्षय कर रहा है या कर्म का बंध कर रहा है?

ध्यान दोनों प्रकार के हैं। कर्मबंधकारक अशुभ ध्यान भी ध्यान ही है। तथा कर्मक्षयकारक ध्यान शुभ ध्यान है। इस तरह दोनों प्रकार के ध्यान हैं। प्रसन्नचंद्र राजर्षि ध्यान में स्थित हैं, खड़े हैं। बाह्य स्वरूप इतना ऊँचा और श्रेष्ठ कक्षा का है कि... एक पैर पर खड़े हैं, दो हाथ ऊपर उठाए हैं, सूर्य के सामने दृष्टि लगाई है। स्थिरता बड़ी सुन्दर है। अद्भुत—अनोखी है। लेकिन ध्यान शरीर से नहीं होता है। हाँ, शरीर सहायक—माध्यम जरूर है। लेकिन शरीर ही सबकुछ नहीं है। शरीर स्थिर होने के पश्चात् मन का कार्य आगे बढ़ता है। आत्मा—ज्ञानादि सब संलग्न होते हैं और ध्यान की तीव्रता बढ़ती जाय तब शुभ—शुद्ध की कक्षा के ऊँचे ध्यान में ही निर्जरा बढ़ती है।

यहाँ श्रेणिक महाराजा प्रसन्नचंद्र राजर्षी का बाह्य स्वरूप देखकर गद्गद बन गए... अहोभाव से नतमस्तक हो गए। आखिर जाकर समवसरण में भगवान को पूछा... हे प्रभु! प्रसन्नचंद्र राजर्षी जैसे श्रेष्ठ महात्मा ध्यान कर रहे हैं... ओह! कितनी निर्जरा करते होंगे? आखिर सर्वज्ञ भगवान ने घटस्फोट करते हुए कहा कि... हे सम्राट्! यदि यह ध्यान साधक ध्याता अभी मृत्यु पाए तो ७ वीं नरक में जाय। यह सुनकर श्रेणिक महाराजा स्तब्ध रह गए। उनको आश्चर्य हो गया। अरे! मैं सोचता था कि... इतने ऊँचे बड़े ध्यानी महात्मा कितना ऊँचा ध्यान करते होंगे... कि शायद केवलज्ञान पाकर अभी मोक्ष में चले जाएं। लेकिन यह तो सब उल्टा ही हुआ। आखिर ऐसा क्या हुआ? क्या बात थी? तब प्रभु ने कहा—हे श्रेणिक! ध्यान का बाह्य स्वरूप काफी अच्छा था लेकिन धारा ऊँची नहीं बन पाई। रेल की पटरी तो बिछी हुई है लेकिन... किस तरफ जाना? यह पता न हो

तो क्या करेंगे ? बस, यहाँ भी यही हुआ । प्रसन्नचन्द्र राजर्षी भी उल्टी दिशा में पुत्र चिन्ता में फिसल गए । अरे रे ! यह चिन्ता की प्रक्रिया नहीं थी यह तो चिन्तन की साधना थी । चिन्तन की धारा के बीच में यदि चिन्ता की बात बीच में आ जाय तो जरूर पतन हो जाएगा । गाड़ी उल्टी चली जाएगी । लेकिन आप चिन्ताग्रस्त स्थिति में हो और यदि चिन्तन की धारा लग जाय तो तो कल्याण हो जाय । अतः शास्त्रकार महर्षि स्पष्ट कहते हैं कि— 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः' शुभ या अशुभ ध्यान में लगा हुआ यह मन ही कर्म के बंध और मोक्ष दोनों का कारण बनता है ।

इसलिए जो कर्म की निर्जरा उत्तम कराए, क्षय कराते—कराते आत्म विशुद्धि बढ़ाए वही ध्यान उत्तम है । इससे विपरीत कर्म का बंध करानेवाला अशुभ ध्यान है ।

यहाँ १२ वे क्षीण मोहनीय गुणस्थान पर ध्याता शुक्ल ध्यान के दूसरे चरण में आगे बढ़ रहा है । यह क्षपक साधक है । श्रेणी पर चढ़ा हुआ साधक है । उत्तम ध्याता है । यह गुणस्थान अप्रतिपाती है । पतन संभव ही नहीं है । न तो वीतरागता का पतन होता है और न ही खपाए हुए कर्मों का पुनः बंध होता है । तथा न ही... इस गुणस्थान से पुनः पतन हो सकता है । इसलिए साधक ध्याता निर्जरा करता करता आगे बढ़ता ही जाता है । ध्यान की तीव्रता निर्जरा कराती ही जाती है अब आते आते असंख्य समय में से ९९% समय पसार करके... अब उपान्त्य समय पर पहुँचता है । इसमें फरमाते हैं कि...

इत्येतद्ध्यानयोगेन, प्लुष्वत्कर्मैन्धनोत्करः ।

निद्रा प्रचल्योर्नाश-मुपान्त्ये कुस्त क्षणे ॥ ८० ॥

अब मोहनीय कर्म की कषाय—नोकषायादि की प्रकृतियाँ सभी क्षय हो जाने के कारण मोहनीय कर्म तो अंशमात्र भी शेष नहीं रहता है । न तो बंध में, न ही उदय में, न ही सत्ता में किसी में भी अवशिष्ट नहीं है । अतः अब क्षय करने का जो भी कार्य करेगा वह घाती कर्म के घर के अन्य कर्मों का क्षय करने का ही कार्य होगा । उसमें मुख्य है ज्ञानावरणीय तथा दर्शनावरणीय कर्मों को क्षय करने का । क्योंकि घाति कर्म के विभाग में १) ज्ञानावरणीय, २) दर्शनावरणीय, ३) मोहनीय और ४) अन्तराय इन ४ कर्मों की ही गणना है इन ४ में से एक मोहनीय कर्म जो सभी कर्मों का बड़ा राजा था उसका क्षय तो १२ वे गुणस्थान के पहले ही हो गया है । अब शेष ३ कर्मों का क्षय इस १२ वे गुणस्थान पर करना है । क्योंकि १३ वे गुणस्थान पर इन ३ में से किसी को भी साथ लेकर तो आगे जाना ही नहीं है । संपूर्ण चारों घाती कर्मों का क्षय करके ही १३ वे पर जाना है । इन में से

१ मोहनीय को क्षय करने में १२ वे गुणस्थान तक का काफी लम्बा समय बिता दिया । और १२ वे गुणस्थान के भी असंख्य समयों में से १ कम असंख्यात समय शुक्लध्यान के दूसरे प्रकार का ध्यान करने में बिताये हैं । अब शेष सिर्फ २ समय बचे हैं और कर्म ३ है । तथा इन ३ कर्मों की अवान्तर प्रक्रिया कितनी है ?

सिर्फ २ समय में प्रकृतियों का क्षय—

- १) ज्ञानावरणीय की ५ प्रकृतियाँ,
 - २) दर्शनावरणीय कर्म की ९ प्रकृतियाँ,
 - ३) अंतराय कर्म की ५ प्रकृतियाँ
- इन ३ घाती कर्मों की कुल १९ प्रकृतियाँ

१२ वे गुणस्थान क्षीण मोह तक मोहनीय कर्म की २८ प्रकृतियाँ बंध—उदय—उदीरणा एवं सत्ता सब में से जड़मूल से चली गई है ।

ज्ञानावरणीय कर्म की— ५ पाँचों अवान्तर प्रकृतियों का बंध १० वे गुणस्थान तक और उदय—उदीरणा तथा सत्ता १२ वे गुणस्थान तक बरोबर सत्ता में पड़ी है । यद्यपि क्षपक श्रेणीवाला साधक है फिर भी १२ वे गुणस्थान तक तो एक मात्र कर्मों के राजा मोहनीय कर्म का ही जड़मूल से क्षय किया है । इसी काम में मशगुल—लीन—व्यस्त था । इसलिए ज्ञानावरणीय कर्म को तो बिल्कुल हाथ भी नहीं लगाया ।

इसी तरह अन्तराय कर्म की भी ५ प्रकृतियाँ हैं इसकी भी स्थिति ज्ञानावरणीय के जैसी ही है । अर्थात् १० वे गुणस्थान तक बरोबर बंध भी होता रहा तथा उदय—उदीरणा और सत्ता बरोबर १२ वे गुणस्थान तक रहती है । मोहनीय कर्म को ही खपाने के पीछे पड़ा हुआ था इसलिए अंतराय कर्म को भी हाथ नहीं लगाया ।

अब रही बात दर्शनावरणीय कर्म की । ४ घाती कर्मों में यह भी दूसरा घाती कर्म है । इसकी अवान्तर ९ नौ प्रकृतियाँ हैं । इसके चक्षु, अचक्षु, अवधि और केवल ये ४ दर्शन तथा पाँचवी निद्रा की । इन ५ प्रकृतियों का बंध १० वे गुणस्थान तक रहा । निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला और थीणद्धि इन तीनों का बंध मात्र दूसरे गुणस्थान तक ही रहा । और प्रचला का बंध ८ वे गुणस्थान तक रहा । दर्शनावरणीय कर्म के ४ दर्शन + १ निद्रा और प्रचला इन ६ प्रकृतियों का उदय, उदीरणा तथा सत्ता बरोबर १२ वे क्षीण मोहनीय गुणस्थान के अन्तर्मुहूर्त के अन्त से द्विचरिम समय पहले तक रहता है । लेकिन थीणद्धि त्रिक

अर्थात् १ निद्रा—निद्रा, १) प्रचला—प्रचला, एवं ३) शीणद्धि ये तीनों प्रकृतियाँ बंध में मात्र दूसरे गुणस्थान पर्यन्त ही रहती है। लेकिन उदय और उदीरणा में छठे प्रमत्त साधु के गुणस्थान तक रहती है। विशेषावश्यक भाष्य में छठे गुणस्थानवाले प्रमत्त साधुओं को जिनको शीणद्धि निद्रा का उदय होने से कितनी घोर हिंसा आदि की उसके दृष्टान्त दर्शाए हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि... छठे प्रमत्त गुणस्थान के साधु महाराज तक शीणद्धि निद्रा का उदय रहता है और छ जीवनिकाय की हिंसा—विराधना के त्यागी सर्व जीव रक्षक—पंचमहाव्रतधारियों को भी हिंसादि की प्रवृत्ति यह कर्म करा देता है। निद्रा—निद्रा की सत्ता ८ वे अपूर्व गुणस्थान के नौवे भाग तक रहती है। तथा प्रचला—प्रचला और शीणद्धि इन दोनों प्रकृतियों की सत्ता तो नौवे गुणस्थान के प्रथम भाग तक रहती है। फिर उनका भी क्षय हो जाता है। इस तरह १२ वे गुणस्थान तक दर्शनावरणीय कर्म की कुल नौ प्रकृतियों में से ४ दर्शन तथा १ निद्रा और २ प्रचला ये ६ प्रकृतियाँ बराबर सत्ता में रहती हैं।

साधक भी क्षपक वृत्ति का है और १२ वें गुणस्थान भी क्षपक श्रेणी का है। कर्मक्षय करने की क्षपक साधक की शुक्लध्यान के दूसरे प्रकार की ध्यान साधना भी काफी प्रबल है तीसरी तरफ वीतरागता का भाव भी काफी ऊँचा प्राप्त है। इसलिए वह भी चिन्ता नहीं है। प्रबलतम ध्यान की साधना में कर्मों का क्षय—निर्जरा भी अद्भुत कक्षा की करता हुआ आगे बढ़ता है।

इस तरह १२ वे गुणस्थान क्षीण मोह के अंतर्मुहूर्त काल के असंख्य समयों में से अन्तिम असंख्यातवे समय के एक समय पहले तक अर्थात् अन्त से दूसरे समय तक ज्ञानावरणीय की ५—प्रकृतियाँ, दर्शनावरणीय की ६ (४ दर्शन + २ निद्रा—प्रचला की) प्रकृतियाँ, अन्तरायकर्म की ५ प्रकृतियाँ = ३ घाती कर्मों की कुल १६ प्रकृतियाँ जो सत्ता में पड़ी हैं, उनका क्षय करना है। और सामने काल सिर्फ २ समय का ही शेष बचा है। अब आप सोचिए, कि क्षपक साधक की कर्मरूपी इन्धन को भस्मीभूत करने की ध्यानाग्निरूप शक्ति कितनी सशक्त और बलवान होगी ?

अनादि कालीन कर्मबंध की आदत—

आज दिन तक जीव इस संसार चक्र में अनादि काल से जब अज्ञान—मोह—मिथ्यात्वादि वश होकर कर्म बांधता था तब कितना भारी भयंकर कर्म

बांधता था ? कितनी लम्बी दीर्घ स्थिति के कर्म बांधता था ? ओहो... हो, एक एक आँख की पलक मात्र के असंख्य समय के — प्रत्येक समय में ७—७ कर्मों का बंध करता था । कितनी भारी कर्म बंध की प्रवृत्ति चलती थी ? ऐसे तो एक बार आँख बंद करके खोलने में असंख्य समय बीत जाते थे । जब एक समय में ७ कर्मों का बंध होता है तो असंख्य समयों में कितने कर्मों का बंध हुआ ? अरे ! असंख्य $\times ७ =$ असंख्य कर्मों का बंध होता ही था... और होता ही रहेगा । ऐसी एक पलक मात्र में यदि असंख्य समय और असंख्य $\times ७$ कर्मों का बंध होता है तो फिर एक अन्तर्मुहूर्त काल में समय कितने बीतते हैं ? एक अन्तर्मुहूर्त काल मतलब सिर्फ ४८ मिनिट का ही काल, उसमें कितने समय होते हैं ? असंख्य $\times ४८ =$ पुनः असंख्य की संख्या ही आएगी । तो फिर १ दिन में ऐसे अन्तर्मुहूर्त कितने होते हैं ? एक सप्ताह में कितने ? एक पक्ष में ? एक महीने में कितने अन्तर्मुहूर्त होते हैं ? और एक वर्ष में कितने तथा ६०—७० या ८० वर्ष के एक आयुष्य (जीवन) काल में कितने अन्तर्मुहूर्त होते होंगे ? फिर उनके साथ गुणाकार कर्मों के बंध का करने पर कितनी संख्या आएगी ? और ये तो सामान्य प्रवृत्तिरूप कर्मों का बंध है । ८ कर्मों में एक मात्र आयुष्य कर्म ही पूरे जीवनकाल में एक ही बार बंधता है । जबकि शेष ७ कर्मों का बंध तो जीवन में प्रति समय होता ही जाता है । यह तो सर्वसामान्यरूप से बांधता ही जाय वैसा कार्य है । लेकिन सहेतुक प्रयोजन पूर्वक लेश्या और आर्त रौद्र की वृत्ति एवं कषायादि भाव पूर्वक यदि कर्म बांधे तो तो कितने ज्यादा और कितने भयंकर कक्षा के तथा कितनी लम्बी दीर्घस्थिति के कर्म बांधेगा ? इस तरह अनादि काल के अनन्त पुद्गल परावर्त काल से कर्मों को बांधने की ही आदतवाली आदी बनी हुई आत्मा मोह के नशे में बांधती ही गई । लेकिन खपाणा-क्षय करना तो सीखा ही नहीं । जब से धर्म प्राप्त किया... सम्यग् श्रद्धा पाई और आत्मा सम्यक्त्व के सोपान पर आगे बढ़ी तब से ही कर्म क्षय करने का काम सीखा है । प्रारम्भ किया है । अब धीरे—धीरे गुणस्थानों के एक—एक सोपान आगे चढ़ते चढ़ते जैसे जैसे आत्मध्यान की साधना शुरू होती है, वैसे—वैसे साधक कर्म बांधना कम करता है, बंध करता है और कर्मक्षय करना खपाना शुरू करता है । बस, यही आत्मा का सच्चा—श्रेष्ठ धर्म है । इसे ही निर्जरा का सर्वोत्तम धर्म कहते हैं । यही कर्तव्य है, उपादेय आदेय है । अब निर्जरा में यदि साधक क्षय का प्रमाण बढ़ाता ही जाय तो कितना ? कहाँ तक बढ़ा सकता है ? यह तो उसकी ज्ञान और ध्यान की तीव्रता पर आधार रखता है । ये दोनों साधनाएँ जितनी ज्यादा प्रबल—तीव्र कक्षा की रहेगी उस हिसाब से उतनी ही ज्यादा कर्मों की निर्जरा होगी ।

कर्म के बंध और क्षय की तुलना—

ज्ञानी श्वासोच्छ्वास में, करे कर्म नो क्षय ।

पूर्व कोडी वरसां लगे, अज्ञानी करे एह ॥

संसार में ज्ञानी और अज्ञानी दोनों कक्षा के जीव हैं। ज्ञानी भी कैसे ? मात्र दुनिया भर के बाहरी सेंकड़ों विषयों का ज्ञान भरा हो और भीतर में अपनी ही आत्मा के विषय का अज्ञानी हो वैसा नहीं। या संसार के सेंकड़ों विषयों का ज्ञान भरा हो लेकिन आत्मा—परमात्मा मोक्षादि तत्त्वों के विषय में सर्वथा अज्ञानी हो या विपरीत विकृत ज्ञानी—मिथ्यात्वी हो तो उसे तो अव्वल दर्जे का अज्ञानी कहा है। अज्ञानी मिथ्यामती जीव भारी कर्म उपार्जन करता है—बांधता है। और आत्मज्ञानी अनेक कर्मों की निर्जरा करता है—खपाता है।

श्री वीर प्रभु ने कहा है कि— “अत्राणं खु महाभयं” अज्ञान ही सर्वकर्म बांधने की जड़ है। मूलभूत कारण है। इस तरह संसार में जीव कर्म तो बांधता ही रहा—लेकिन क्षय नहीं किये। खपाने का लक्ष्य ही कहाँ रहा है ? यदि कर्मों का क्षय करने बैठे तो ज्ञानी और अज्ञानी को कितना समय लगे ? यदि दोनों स्पर्धा खेलने लगे तो शायद ज्ञानी की छलांग खरगोश जैसी या हिरन जैसी तेज दौड़ हो और अज्ञानी की शायद कछुए जैसी चाल है। कहते हैं कि ज्ञानी १ श्वासोच्छ्वास मात्र काल में जितने कर्मों का क्षय कर सकता है उतने कर्मों का क्षय करने में अज्ञानी जीव को करोड़ पूर्व वर्षों का काल लग जाय (पूर्व यह काल की संज्ञाविशेष है) और ज्ञान अकेला नहीं यदि उसके साथ ध्यान और तपादि भी जुड़ जाय तो तो फिर पूछना ही क्या ? कहते हैं कि—

कर्म खपावे चीकणां भाव मंगल तप जाण ।

पच्चास लब्धि उमजे, जय-जय तप गुणखाण ॥

जन्मों—जन्म के कई, भवों—वर्षों के चिकने कर्म भी यदि जीव ने इकट्ठे कर रखे हो, बांधे हुए हो, तो वे भी तप—प्रबल तपश्चर्या से खपाए जा सकते हैं, तथा पच्चास लब्धियाँ प्राप्त होती हैं। ऐसा तप यह भाव मंगल है।

बंधन बेडी भंजवा, जिन गुण ध्यान कुठार । . . .

कर्म समिध दाहन भणी, धूप घटा जिन गेह ।,

कनक हुताशन योगथी, जात्यमयी निज देह ॥ . . .

पूज्य श्री वीर विजयजी म. ६४ प्रकारी पूजा में आठों कर्मों की ८ पूजाओं में इतने सुंदर भाव भरते हैं कि कर्म के बंधन की जंजीर को तोड़ने के लिए जिनेश्वर भगवान के गुणों का ध्यान एक कुठारे वज्राघात जैसा कार्य करता है जिसके फलस्वरूप बंधन रूप जंजीर टूट जाती है। और आत्मा कर्मबंधन से मुक्त हो जाती है। कर्मरूपी इंधन का दहन करने—जलाने के लिए जिनेश्वर परमात्मा के मंदिर में धूप पूजा जब हम करते हैं तो उसमें अगरबत्ती जो जलती है तब जली हुई राख—भस्म नीचे गिरती है और हल्की होकर धूप आकाश में ऊपर उड़ती है। क्योंकि वह बिल्कुल वजन विहीन हल्की हो चुकी है। इस तरह धूप पूजा के आलम्बन के आधार पर जिन भक्ति—पूजा—भावना, ध्यान साधना से आत्मा पर लगे हुए कर्मरूपी इंधन (समिध) जलकर भस्मीभूत बनकर राख की तरह नीचे गिर जाते हैं और आत्मा निर्मल कर्मरहित वजनविहीन बनकर संसार से ऊपर उठ जाती है। मोक्ष की तरफ प्रयाण करती है।

कर्मबंध का प्रमाण

उत्कृष्ट से जीव १ समय में ७ कर्मों को बंध करता है।

कर्मक्षय का प्रमाण

यहाँ १२ वे गुणस्थान के अंतिम १ समय में क्षपक १४ कर्मप्रकृतियों का क्षय करता है।

याद रखिए, जीव आज दिन तक कर्मों को बांधता ही आया है, इस तरह मात्र बंध ही किया है। इसलिए निर्जरा का लक्ष्य ही नहीं था। इसलिए भारी कर्मों को बांधता ही गया। जब निर्जरा करने की दिशा में आगे बढ़ सके तो बंध की अपेक्षा निर्जरा अनेक गुनी ज्यादा कर सकता है। अज्ञानी को पूर्वक्रोड वर्षों का इतना लम्बा काल कर्म खपाने में लगता हो... तो उतने ही कर्मों का क्षय करने के लिए क्षपक साधक को मात्र श्वासोच्छ्वास अर्थात् श्वास लेने—छोड़ने जितना ही काल लगता है। श्वासोच्छ्वास को जघन्य अन्तर्मुहूर्त कहा जाता है। कहाँ पूर्वक्रोड वर्षों का काल और कहाँ मात्र अन्तर्मुहूर्त का काल? कहाँ चिटी और कहाँ हाथी की तुलना? कहाँ सुसंगतता होती है? लेकिन फिर भी आत्मा बलवान बन जाती है। किससे? ज्ञान—ध्यान—तपादि की साधना पूर्वक गुणस्थानों के सोपानों पर आरूढ़ हुआ साधक बलवान बनकर कर्मक्षय करने लगता है और हो सकता है कि अंतर्मुहूर्त जितने काल में साधक संसार समुद्र से पार उतर सकता है और अंतर्मुहूर्त परिमित काल मात्र में तो ४ या ८ वे गुणस्थान से क्षपकश्रेणी साधता हुआ केवलज्ञान पाकर और अन्त में आयुष्य पूर्ण होने पर मोक्ष में भी जा सकता है। बस, सिर्फ अन्तर्मुहूर्त के छोटे से काल में तो सारी बाजी समाप्त कर ली जाती है।

कौन बलवान है ? आत्मा कि कर्म ?

“कथवि बलिओ अणा . . . कथवि बलिओ कम्मो” ।

जड पुट्टल परमाणु स्वरूप कर्मण वर्गणा का बना हुआ पिण्ड जो आत्मप्रदेशों पर आवरण की तरह चिपका हुआ है यह कितना आत्मगुणघातक है ? नुकसानकारक है ? एक तरफ निष्क्रिय—जड कर्म और दूसरी तरफ अनन्त शक्तिशाली चेतन आत्मा जो सक्रिय है । इन दोनों में कौन बलवान है ? बलाबल की विचारणा करने पर आश्चर्य लगता है कि इतनी अनन्त शक्तिवाला होते हुए भी चेतन - आत्मा जड—अजीब पुट्टल परमाणुओं के पिण्डरूप कर्म के आधीन होकर, उसकी जंजीर के बंधन में बंधा हुआ एवं गुलाम बना हुआ अनन्त काल चक्रसंसार में बितानेवाला यह जीव ज्ञानियों के लिए कितनी दया का पात्र है ? आखिर कर्म जड है । ये न तो बांधकर रखते हैं, न ही जकड़कर रखते हैं । ये तो चेतन जीवात्माभ्रस्वयं ही बांधकर अपने आप ही उसके आधीन होकर बैठा है । जैसे कोई बच्चा अपने ही हाथों अपने पैरों में कच्चे सूत का धागा भी बारबार लपेटकर स्वयं ही उस बंधन में बंध जाता है । या कोई युवक एक प्रेयसी—प्रेमिका के मोह में, राग में फस जाता है और फिर उसे पाने के लिए छटपटाता है, बेचैनी का अनुभव करता है । चिन्ताग्रस्त स्थिति में कामज्वर के कारण अनिद्रा का भोगी बनता है । बताइये, इसमें किसने बांधा है उस युवक को ? प्रियतमा तो काफी दूर है, वह तो आई भी नहीं है । फिर भी प्रियतम उसमें आसक्त बनकर राग—बुद्धि से खींचा जाता है और स्वयं ही बंधन में बंधता है । और फिर दुनिया को यह कहे कि अरे . . . मुझे किसी ने बांध नहीं रखा है । फिर भी मैं अपने आप को बंधा हुआ ही महसूस करता हूँ ।

यह बात तो ऐसी हुई जैसे मानों एक युवक ने रास्ते पर बिजली के खम्भे को पकड़ रखा हो और फिर चिल्ला रहा हो कि . . . बचाओ . . . बचाओ . . . । रास्ते पर चलते हुए मुसाफिर दया भाव से छुड़ाने भी जाय तो बिजली का धक्का लगने का डर लगता है । कोई निडर व्यक्ति जैसे जैसे छुड़ाने का प्रयत्न करते हैं वैसे वैसे वह युवक और मजबूती से दोनों हाथों को परस्पर भिदाता है और पुनः चिल्लाने लगता है बचाओ . . . बचाओ . . . । यह कैसा अजीब न्याय है । अब आप ही सोचिए ! क्या खम्भे ने युवक को पकड़ा है ? या युवक ने खम्भे को पकड़ा है ? आखिर बात क्या है ? और सचमुच यदि बिजली का शॉक लगा होता तो युवक जिन्दा रहता क्या ? अरे ! कब का मर चुका होता और दूर फेंक दिया गया होता । फिर क्या चिल्लाता ? किसने किसको पकड़ा है ? खम्भा तो जड है । एक जड खम्भा कैसे पकड़ेगा ? चेतन जीव तो युवक स्वयं है । सोचिए ।

एक समझदार सज्जन ने.. इस प्रकार उहापोह द्वारा तर्क—वितर्क से विचार करके सोचा कि अरे ! यह निरर्थक परिश्रम है छुड़ाने का । यह बल का काम नहीं है यह तो अक्कल का काम है । उस समझदार सज्जन ने ... सोचकर जोर से एक चाटा कसकर मुँह पर लगाया... कि... एक सेकंड में चमत्कार हो गया । उस युवक के हाथ खम्भे से छूटकर अपने मुँह पर लग गए । सभी समझ गए कि आखिर किसने किसको पकड़ा है ? आखिर युवक का सारा भेद खुल गया ।

ठीक इसी तरह आत्मा और कर्म के बीच का नाटक है । खम्भे की तरह कर्म भी जड़ है । और युवक की तरह आत्मा चेतन है । जैसे युवक ने खम्भे को पकड़ रखा है, ठीक उसी तरह चेतन आत्मा ने कर्म बांध रखे हैं । अब इस बंधन को अच्छी तरह समझना चाहिए कि... यह बंधन मेरी तरफ से है न कि कर्म की तरफ से । इसलिए मुझे ही छोड़ना चाहिए । कर्म मुझे अनन्त काल में भी नहीं छोड़ेगा । मैं चेतनात्मा हूँ । अनन्त शक्ति का मालिक मैं हूँ । और ये कर्म तो पुद्गल—परमाणु मात्र हैं । बस, जिस दिन इस कर्म को कमजोर समझ ले और अपनी चेतना को अनन्त शक्तिशाली समझ ले उस दिन बेड़ा पार हो जाएगा । लेकिन आज दिन तक विपरीत ही मान बैठा है । मिथ्यात्व के गाढ़ संस्कारवश अपने आपको अर्थात् अपनी आत्मा को सही अर्थ में पहचान ही नहीं पाया । और इसी मिथ्यात्व की गाढ़ता के कारण कर्म को अपने संसार का—दुःख का सही कारण होते हुए भी समझ नहीं पाता है... अपने दुःख के कारण रूप में ईश्वर को मानना यह कितनी बड़ी अज्ञानता है ? कितना खतरनाक घातक विकृतज्ञान—मिथ्याज्ञान है ? अब सबसे पहले इस मिथ्यात्व को दूर करना ही चाहिए ।

१२ वे गुणस्थान के अन्तिम समय में ३ कर्मों का क्षय—

“उपान्त्य” अर्थात् अन्तिम के पहले (आगे) का जिसे *Second Last* कहते हैं । इसे ही दूसरा शब्द “द्विचरिम” का भी दिया है । चरम = अर्थात् अन्तिम । द्वि + चरिम अर्थात् अन्त के २ । पहले चित्र में जो असंख्य समय दर्शाए हैं उसमें अन्त के २ समय लेने हैं । उपान्त्य समय में तथा अन्त्य समय इन दोनों समयों में मोहनीय कर्म के सिवाय के तीनों घाती कर्मों का क्षय करना है । ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय तथा अन्तराय कर्म । इनकी अवान्तर प्रकृतियाँ १८ होती हैं । इनमें से स्त्यानर्द्धित्रिक ३ तो पहले ही चली गई हैं । अब बची हुई १६ में से निद्रा तथा प्रचला का क्षय उपान्त्य समय में हो जाता है । अब १४ ही शेष रही । ज्ञानावरणीय की ५, + दर्शनावरणीय की ४ + तथा अन्तराय कर्म की ५ इस तरह = कुल १४ प्रकृतियों का क्षय करना है । वह भी सिर्फ अन्तिम (चरम) १ समय मात्र काल में ही करना है । इसके लिए ग्रन्थकार महर्षी फरमाते हैं कि—

अन्त्ये दृष्टिचतुष्कं च दशकं ज्ञानविघ्नयोः ।

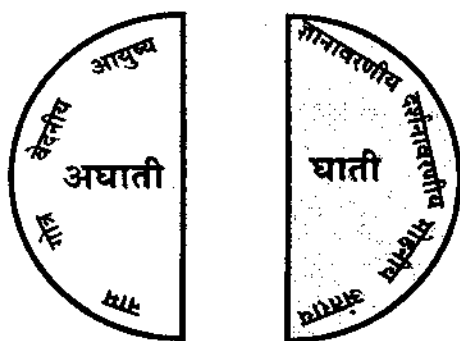
क्षयित्वा मुनिः क्षीणमोहः स्यात्केवलात्मकः ॥ ८१ ॥

“अन्त्ये” अर्थात् अन्तिम समय में . . क्षीणमोहनीय १२ वे गुणस्थान के अन्तिम समय में दर्शनावरणीय कर्म की ४, फिर ज्ञानावरणीय कर्म की ५, तथा अन्तराय कर्म की ५, इस क्रम से तथा इस तरह १४ कर्मप्रकृतियों का क्षय जड़मूल से करता है । ४ दर्शनावरणीय + ५ ज्ञानावरणीय + ५ अन्तराय तथा + १ उच्चगोत्र, १ यशः नामकर्म = इन १६ कर्मप्रकृतियों का बन्ध विच्छेद १० वे सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान पर ही हो चुका था । अतः अब यहाँ पुनः उनका बन्ध नहीं होता है । इसलिए अब सिर्फ १ शातावेदनीय कर्म का ही बंध करता है ।

उदय की दृष्टि से विचार करने पर . . . संज्वलन लोभ०, ऋषभनाराच और नाराचसंघयण इन ३ कर्मप्रकृतियों का उदय बिच्छेद हो जाने से ५७ प्रकृतियों के उदयवाला होता है । तथा संज्वलन लोभ की सत्ता का भी १० वे गुणस्थान के अन्त में क्षय हो जाने से १२ वे क्षीण मोहनीय गुणस्थान पर साधक १०१ कर्मप्रकृतियों की सत्तावाला होता है ।

ऐसा साधक महात्मा चारों प्रकार के घाती कर्म की समस्त प्रकृतियों का क्षय कर लेता है । इसलिए सीधा ही केवली बनता है । १२ वे गुणस्थान के अन्तिम समय में १४ कर्मप्रकृतियों का क्षय करता है इसलिए १२ वे गुणस्थान पर केवली नहीं कहा जाएगा । क्षय करना यह क्रिया है और परिणामस्वरूप १३ वे गुण की प्राप्ति वहाँ केवलज्ञान की प्राप्ति यह फल है । इसलिए यहाँ का काल तथा कार्य दोनों पूरे करके साधक १३ वे गुणस्थान पर आरूढ़ होकर वहाँ केवली बनता है ।

८ कर्मों में २ विभाजन—



ज्ञानावरणीय कर्म की ५, + दर्शनावरणीय की ८ + मोहनीय कर्म की २८ तथा अन्तराय कर्म की ५ = ४७ कर्मप्रकृतियाँ हैं। इनमें से सम्यक्त्व मोहनीय एवं मिश्र मोहनीय के सिवाय की ४७-२ = ४५ कर्मप्रकृतियाँ घाती कर्म की हैं। इस तरह ४ घाती कर्म की ४५ अवान्तर प्रकृतियाँ हैं।

दूसरा विभाग अघाती कर्म का है। इसमें नाम कर्म की १०३, + गोत्र कर्म की २, + वेदनीय कर्म की २, तथा आयुष्य कर्म की ४ इस तरह १११ प्रकृतियाँ अघाती कर्म की हैं। आत्मा के मूलभूत गुणों का घात करनेवाली कर्मप्रकृतियों को घातीकर्म कहते हैं। इसलिए पहले घाती कर्म का क्षय करना चाहिए। जिससे दबे हुए गुणों का पुनः उदय हो सके। प्रगटीकरण हो जाय। अघाती कर्म की ज्यादा चिन्ता नहीं है। घाती कर्मों का क्षय हो जाने के पश्चात् अघाती कर्म तो ज्यादा रहनेवाला ही नहीं है। घाती कर्म आत्मगुणघातक है अतः यह प्रधान रूप से आत्मलक्षी है। जबकि दूसरा अघाती कर्म देहकार्यवान् ज्यादा है। नाम कर्म का मुख्य कार्य शरीर रचना करने का है। गोत्र कर्म ऊँचे नीचे घराने में जन्म देनेवाला है। तथा वेदनीय कर्म शाता-अशाता का कारक है। रोगी निरोगी शरीर की अवस्था का कारक है। तथा आयुष्यकर्म नामकर्म की गति के आधार पर देव-मनुष्य-नरक-तिर्यच की चारों गति में जन्म धारण करते समय वहाँ कितने वर्षों के काल तक रहना? इसलिए आयुष्य कर्म मात्र निर्धारित काल की अवधि प्रदान करनेवाला है।

इस तरह अघाती कर्म का सीधा एवं प्रधान कार्य शरीर केन्द्रित है। जबकि घाती कर्म का अंशमात्र भी कार्य शरीरसंबन्धी नहीं है। उदा० ज्ञानावरणीय कर्म ज्ञान गुण को ढकता है। आच्छादित करता है। ज्ञान कोई शरीर का भाग नहीं है। शरीर के किसी भी भाग में अंगोपांगादि में कहीं भी ज्ञान नहीं रहता है। ज्ञान एकमात्र आत्मा में ही रहता है। आत्मा का ही गुण है। इसी तरह दर्शन भी है। तथा दया-करुणा, समता-क्षमा, नम्रता, सरलता, संतोष, आदि गुण शरीर में कहीं नहीं रहते हैं। ये सब गुण आत्मा में ही रहते हैं। अगर शरीर के किसी भी अंग में क्षमा-समता-करुणादि गुण रहते होते तो, या ज्ञानादि भी खोपड़ी या किसी भी अंग में रहते होते तो... किडनी आदि की... तरह दूसरे का अंग किसी के शरीर में अंग का प्रत्यारोपण कर देते। और किसी की दया-करुणा किसी जीव में आ जाती। इस तरह किसी का ज्ञान किसी में आ जाता। वर्तमान विकस्ते हुए विज्ञान के युग में बहुत कुछ बदला जा चुका होता। लेकिन शरीर के किसी भी अंग में

ज्ञानादि गुण नहीं रहते हैं। वे तो एक मात्र आत्मा में ही संनिविष्ट हैं। इसी तरह दान—लाभ—भोगादि के गुण जो अन्तराय कर्म से आवृत्त हो वे भी किसी शरीर के अंग में नहीं रहते हैं। उदारता, कृपणता के गुण—दोष शरीर के नहीं हैं कि शल्य चिकित्सा करके किसी की कृपणता निकाल दी जाय और उदारता का प्रत्यारोपण हो सके। जी नहीं ... इसलिए यह भी आत्माश्रित गुण है। जो इन चारों प्रकार के घाती कर्मों के आवरण से दब जाते हैं। ढक जाते हैं। इसलिए घाती कर्म आत्मगुणघातक है। अतः घाती कर्मों का ही प्रथम क्षय करने का लक्ष साधक का रहता है। (यद्यपि पहले घाती—अघाती कर्मों का वर्णन कर चुके हैं, तथापि पुनः स्मृति को सुदृढ करने के हेतु से यहाँ पुनर्लेखन किया है।) इन ४ घाती कर्मों में भी सबसे ज्यादा खतरनाक मोहनीय कर्म है जो मुख्य राजा बन बैठा है। सब कर्मों की लगाम अपने हाथ में रखता है। अतः पहले राजा को जीत लेने से बाद में शेष अन्य कर्मों को जीतना बहुत आसान हो जाता है।

घाती कर्मों के क्षय का क्रम—

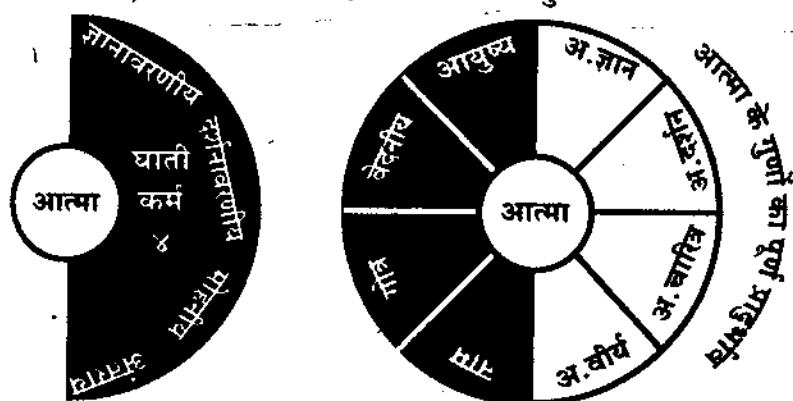
“मोहक्षयाद् ज्ञान-दर्शना-वरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्”

तत्त्वार्थाधिगम सूत्र में ... केवलज्ञान की प्राप्ति की प्रक्रिया बताते हुए इस सूत्र में निर्देश करते हैं कि..... मोहनीय कर्म के क्षय होने के बाद तथा ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय और अन्तराय कर्म इन तीनों के क्षय के पश्चात् केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। इस सूत्र में दो बार पाँचवी अपादान की विभक्ति का प्रयोग सूत्रकार महर्षि ने किया है। अपादान विभक्ति वियोगसूचक है। जिसका इस सूत्र में २ बार प्रयोग किया है। दूसरी तरफ यदि ३ नामों का एक साथ समास हो सकता है तो १ नाम और मिलाकर सूत्रीकरण की प्रक्रिया में अच्छी तरह समास हो सकता था। एक ही सूत्र बनाते हुए दो बार विभक्ति का प्रयोग करके पदच्छेद किया है। पू. उमास्वातिजी महान पूर्वधर महापुरुष थे। और ऐसे पूर्वज्ञ महात्मा सूत्रकार बनकर जब सूत्र रचना करते हैं तब इस गुणस्थान की प्रक्रिया को अच्छी तरह ध्यान में रखते हुए..... प्रथम ‘मोहक्षयात्’ यहाँ अपादान विभक्ति दी है। पहले मोहनीय कर्म का संपूर्ण क्षय हो जाने की प्रक्रिया को सूचित की है। यह कर्म वैसे भी अकेला ही जाता है। पहले इसका क्षय हो जाता है फिर ज्ञानावरणीयादि तीनों कर्मों का क्षय अच्छी तरह होता है। पहले मोहनीय का क्षय हो जाने से वीतरागता प्राप्त हो जाती है। और बाद में ज्ञानावरणीय आदि तीनों का एक साथ क्षय होने पर केवलज्ञानादि गुणों की प्राप्ति होती है।

१३ वे सयोगी केवली गुणस्थान पर आरोहण—

१२ वे क्षीण मोह पर वीतरागी बना हुआ क्षपक श्रेणी का क्षपक साधक १२ वे गुणस्थान के चरम समय में ज्ञानावरणीय आदि तीनों घाती कर्मों का क्षय करने पर १२ वाँ गुणस्थान पूरा समाप्त हो जाता है। जब तक ये तीनों घाती कर्म सत्ता में पड़े थे तब तक १३ वाँ गुणस्थान नहीं आ पाता है और १२ वाँ पूर्ण नहीं हो पाता है। लेकिन जैसे ही ये तीनों घाती (एक मोहनीय तो पहले हो ही चुका है अतः $१ + ३ = ४$) कर्मों का क्षय होने पर वीतरागी महात्मा सीधे १३ वे सयोगी केवली गुणस्थान पर आरूढ़ हो जाते हैं। और जैसे ही १३ वे गुणस्थान पर पैर रखते हैं... प्रवेश करते हैं कि... तुरन्त केवलज्ञान—केवलदर्शन की प्राप्ति हो जाती है। इन गुणों की प्राप्ति के आधार पर वीतरागी महात्मा उन गुणों के धारक केवली = केवलज्ञानी—सर्वज्ञ बनते हैं, केवलदर्शी सर्वदर्शी बनते हैं। साथ ही अनन्त वीर्यवान् अनन्त शक्तिशाली बन जाते हैं। गुणों के धारक गुणवान् गुणी बनते हैं। कर्मक्षय के कारण गुणों का अभ्युदय होता है। प्रगटीकरण होता है।

- १) मोहनीय कर्म के क्षय से— वीतरागता गुण की प्राप्ति।
- २) ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से— केवलज्ञान गुण की प्राप्ति।
- ३) दर्शनावरणीय कर्म के क्षय से— केवलदर्शन गुण की प्राप्ति।
- ४) अन्तराय कर्म के क्षय से— अनन्तवीर्य गुण की प्राप्ति।



आत्मा आठों कर्मों से ग्रस्तावस्था में संसार में अनादि काल से है। इस बीते हुए अनन्त काल में अनन्त वर्ष—अनन्त भवों का काल बिताती हुई इस आत्मा ने एक भी कर्म संपूर्ण कभी खपाया ही नहीं था। वह जीव आज अनन्तकाल के बाद सर्वप्रथम बार चारों घाती कर्मों का क्षय करके ४ गुणों को प्रगट कर पाया है। ऐसी स्थिति में आत्मा अर्ध

ग्रहण जैसी स्थिति में दिखाई देती है। आत्मा के आधे भाग में एक तरफ अघाती कर्म ४ आत्मा पर लगे हुए हैं जिससे आत्मा काली मैली गन्दी लगती है। और आधे भाग में से ४ घाती कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाने से अत्यन्त शुद्ध प्रकाशवान् बन जाती है। अब आप ही सोचिए आधे भाग में दोपहर के चमकते तेजस्वी सूर्य के सम्मान प्रकाशमान और आधे भाग में अमावस्या की मध्यरात्रि के समान श्याम अन्धेरा ऐसी स्थिति में आत्मा इस १३ वे गुणस्थान पर होती है। जैसे मील से ब्लीच किया हुआ नया कपडा और आधे भाग में

काला रंग (या मैल) लगा हुआ है तथा आधे भाग

में बिल्कुल जगमगाती चमक वाली सफेदी हो

ऐसी स्थिति ४ कर्मों के क्षय और ४ कर्मों के उदयवाली स्थिति कैसी बनती है? यह स्थिति कैसी लगती है? (यह मात्र समझने के लिए आधा—आधा भाग करके समझाया गया है। वास्तव में आत्मा में आधा—आधा भाग जैसा कुछ होता ही नहीं है।)

चारों गुणों की परिपूर्णता—

ये जो चारों गुण प्रगट हुए हैं वे पूर्ण—संपूर्ण रूप में प्रगट हुए हैं। ये ही आत्मा के मुख्य गुण हैं। ज्ञान—दर्शन—चारित्रादि ये भेदक गुण हैं। अजीव से आत्मा को सर्वथा भिन्न—अलग करनेवाले ये भेदक गुण हैं। इन गुणों के कारण आत्मा पहले से ही अजीव की समानता—तुलना में नहीं आई। सदा काल ही अपना अस्तित्व आत्मा ने स्वतंत्र अलग ही रखा है। और आज तो ये गुण अपनी पूर्णता के शिखर पर पहुँच कर प्रगट हुए हैं। इसलिए अंशमात्र भी कर्म की कालिमा नहीं है। अतः ज्ञान—दर्शनादि जो भी गुण प्रगट हुए हैं वे सब पूर्ण—संपूर्ण—परिपूर्ण कक्षा के हैं। इसमें अंशमात्र भी अपूर्णता—अधूरापन नहीं है। इन गुणों ने आत्मा को पूर्ण गुणवान्—गुणी बनाया है।

ज्ञान—दर्शन—चारित्रादि मुख्य एवं मूलभूत गुण हैं। इनके पूर्ण स्वरूप में प्रगट हो जाने के बाद अघाती कर्मों से दबे हुए गुणों के प्रगट न हो सकने पर कोई तकलीफ नहीं पड़ती। अनामी—अरूपी, अगुरु—लघु, अनन्त सुख तथा अक्षय स्थिति गुण के प्रगट न भी हो सकने के कारण कोई चिन्ता नहीं है। तकलीफ नहीं है। क्योंकि अघाती कर्म आत्मा के ज्ञानादि गुणों का घात करनेवाले नहीं हैं। अघाती कर्म का आवरण ज्ञान—दर्शन—चारित्रादि आत्मगुणों पर नहीं है। इसलिए अघाती कर्मों से ज्ञानादि गुण नहीं दबते हैं। वे तो पूर्ण रूप में प्रगट ही हैं। सिर्फ आत्मा के अनामी, अरूपी, अगुरु—लघु, अनन्त सुख और अक्षय स्थिति ये चारों गुण आच्छादित होते हैं। जैसा कि मैंने पहले भी

कहा है, तदनुसार इन चारों अघाती कर्मों का कार्य देहलक्षी - बाहरी है। ये शरीर, गति, जाती, अंगोपांग, कुल—जाती, गोत्र, सुख--शाता, तथा चारों गतियों में एक शरीर में कितने वर्षों तक जीना आदि का आयुष्य प्रदान करते हैं। इस तरह इन चारों से जो भी शुभ—अशुभ गति—जाति गोत्रादि प्राप्त होगा तदनुसार चेतनात्मा संसार में वैसी बनकर जीएगी। लेकिन इससे आत्मा के ज्ञानादि को कोई फरक नहीं पड़ता है। शरीर भले ही काला कलूटा हो या बावना कुब्ज हो, या घर—कुल गोत्र चाहे उच्च हो चाहे नीच हो, रोगी हो या निरोगी हो, या फिर आयुष्य चाहे जितना कम ज्यादा हो लेकिन इससे आत्मा के ज्ञानादि में कोई फरक नहीं पड़ता है। शास्त्रों में दृष्टान्त है कि... हरिकेशी और मेतारज मुनि जैसे जो कि... हरिजन के नीच कुल में पैदा हुए थे फिर भी दीक्षा लेकर केवलज्ञानादि पा गए। मरुदेवा माता या चन्दनबाला मृगावती आदि स्त्री देहधारी होते हुए भी केवलज्ञान पाकर मोक्ष में गए। कपिल ब्राह्मण पुत्र होते हुए भी बाल्यवय में केवलज्ञान पाकर मुक्त हुए। अश्मूता मुनि बालसाधु बाल्यकाल में ही केवलज्ञान पाकर मुक्त हुए। इस तरह कई दृष्टान्त हैं।

अतः इससे यह सिद्ध होता है कि आत्मा के ज्ञानादि गुणों के पूर्ण या अपूर्ण रूप से प्रगट होने में अघाती कर्मजन्य शरीर, गति, जाति आदि कोई भी बाधक या अवरोधक नहीं बन सकते हैं।

अघाती में शुभाशुभ विचार—

अघाती कर्मों के ४ विभागवाले चारों कर्मों में शुभ अशुभ दोनों का विभाग है। शुभ का पुण्य प्रकृति कहा है और अशुभ को पापप्रकृति कहा है। उदाहरणार्थ नीच गोत्र की कर्मप्रकृति अशुभ पापकारी है, जबकि उच्च गोत्र की शुभ पुण्यात्मक है। वैसे गतियों में, जातियों में, शरीरों में भी विभाजन है। इन्द्रियों की न्यूनधिक प्राप्ति में भी है। रोगी और निरोगी अवस्थारूप शाता—अशाता में भी एक शाता की प्रकृति शुभ पुण्यात्मक है। जबकि अशाता की अशुभ पापात्मक है। इसी तरह आयुष्य में भी दोनों विभाग हैं। नरकायुष्य अशुभ पापात्मक है, जबकि स्वर्गायुष्य शुभ पुण्यात्मक है। इस तरह अघाती कर्मों के चारों भेदों में शुभ पुण्यात्मक प्रकृतियाँ एवं अशुभ पापात्मक प्रकृतियाँ दोनों का विभाजन है। परन्तु घाती कर्म के चारों भेदों में कोई शुभ—पुण्यात्मक प्रकृति नहीं है। क्योंकि इसमें सभी पापकारी अशुभ ही अशुभ प्रकृति है। आत्मा का ज्ञान ढक जाय, दब जाय और कोई जीव अज्ञानी बने, इसे क्या शुभ—पुण्य कहेंगे? जी नहीं? और दूसरी तरफ यदि किसी को केवलज्ञान प्राप्त हो जाय तो क्या उसे शुभ पुण्य का उदय कहेंगे? जी नहीं!

क्या केवलज्ञानादि पुण्योदयजन्य है ?

पुण्य से क्या प्राप्त होता है, हो सकता है ? और पाप कर्म के उदय से क्या—क्या प्राप्त होता है ? इसके विभाजन के समय इनका विचार कर चुके हैं । याद रखिए, पुण्य क्या है ? यह शुभ कक्षा की कर्मप्रकृति है । और पाप अशुभ कक्षा की । पाप दुःखरूप—दुःखात्मक फलदायी है । अतः पाप के उदय के कारण कालान्तर में भवान्तर (जन्मान्तर) में दुःख, कष्ट, नीच गोत्र, रोगादि की प्राप्ति होती है । घाती कर्म के चारों विभागों में सभी कर्मप्रकृतियाँ अशुभ पाप की ही हैं । और अघाती कर्म में भी पाप की प्रकृतियाँ ज्यादा है, इस कुल मिलाकर ८२ प्रकृतियाँ अशुभ पाप की हैं । जबकि घाती कर्म के विभाग में चारों में कोई पुण्य की शुभ प्रकृति ही नहीं है । जो भी है वे सभी एक मात्र पाप कर्म की ही हैं । तथा अघाती कर्म के चारों विभागों में सभी प्रकृतियाँ पुण्य की ही हैं ऐसा नहीं है, परन्तु पाप की अशुभ प्रकृतियों का भी विभाग है । इसलिए अघाती कर्म में शुभ और अशुभ के दोनों विभाग हैं, लेकिन घाती में शुभ—अशुभ के दो विभाग नहीं हैं ।

इसलिए घाती कर्म की सभी प्रकृतियों में पुण्य का जब कोई विभाग ही नहीं है, तो फिर पुण्य का उदय होना, और पुण्य के उदय से केवलज्ञान प्राप्त होने का कोई सवाल ही खड़ा नहीं होता है । क्योंकि केवलज्ञानादि आत्मा पर लगे हुए ज्ञानावरणीय कर्म के संपूर्ण क्षय से प्राप्त होता है । और ज्ञानावरणीय कर्म का संपूर्ण क्षय होना यह कोई पुण्य का उदय ही नहीं है । पुण्य के उदय से कर्म का क्षय हो यह सिद्धान्त ही गलत है । वैसे होता ही नहीं है । अतः ज्ञान—दर्शन भले ही अधूरे कम भी प्राप्त होंगे या अधिक भी प्राप्त होंगे तो ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से ही प्राप्त होंगे, परन्तु पुण्योदय से नहीं । पुण्य का कोई सवाल ही बीच में नहीं आता है । संपूर्ण ज्ञान—केवलज्ञान क्षायिक भाव से ही प्राप्त होता है । अर्थात् ज्ञानावरणीयादि के संपूर्ण—सर्वथा क्षय से ही प्राप्त होगा, न कि पुण्य से । तत्त्वार्थ सूत्र में ५ भाव बताए हैं—

५ भाव—

औपशमिकक्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदायिक पारिणामिकौ
च ॥ २-१ ॥

द्विनवाऽष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम् ॥ २-२ ॥

सम्यक्त्वचारित्रे ॥ २-३ ॥

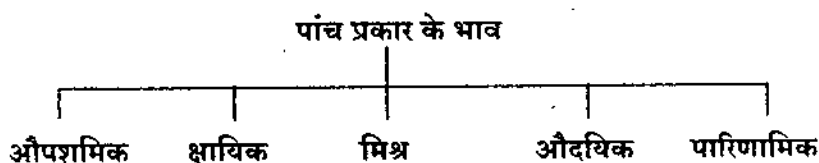
ज्ञानदर्शनदानलाभभोगोपभोगवीर्याणि च ॥ २-४ ॥

ज्ञानाज्ञानदर्शनदानादिलब्धयश्चतुस्त्रिपंचभेदाः सम्यक्त्वचारित्रसंयमासंयमश्च ॥
२-५ ॥

गतिकषायलिङ्गमिथ्यादर्शनाऽज्ञानाऽसंयताऽसिद्धत्वलेश्यश्चतुस्त्रयेकैकैकष
इभेदाः ॥ २-६ ॥

जीवभव्याभव्यत्वादीनि च ॥ २-७ ॥

तत्त्वार्थाधिगम सूत्र के दूसरे अध्याय में पू. वाचकमुख्यजी ने पाँचों भावों का अद्भुत
सुंदर वर्णन किया है। उसमें ५ भाव इस प्रकार दर्शाए हैं—



१) औपशमिक भाव—

उपशम शब्द से तद्धित से औपशमिक शब्द बनता है। आत्मा पर लगे हुए कर्मों का सतत—निरंतर अखण्ड रूप से उदय होता ही या रहता ही है ऐसा नियम नहीं है। कर्म सत्ता में पड़े हुए होने के बावजूद भी कुछ काल तक उदय नहीं भी होता है। कभी कभी जीव के शुभ अध्यवसायों से भी मोहनीय कर्म का उदय थोड़े काल तक स्थगित रह जाता है, जैसे कि पानी में कचरा नीचे बैठ जाता है, ठीक वैसा ही कर्म सत्ता में होते हुए भी शान्त हो जाय और उदय न हो तब उसे उपशमन की प्रक्रिया कहते हैं। ऐसे कर्मों के उपशमन (दब जाने) से आत्मा में जो भाव प्रगट होते हैं उसे औपशमिक भाव कहते हैं। इसके २ भेद हैं— सम्यक्त्व और चारित्र। १) उपशम सम्यक्त्व और २) उपशम चारित्र ये २ भेद हैं।

८ कर्मों में से उपशमन सिर्फ मोहनीय कर्म का ही होता है। मोहनीय कर्म के १) दर्शन मोहनीय और २) चारित्र मोहनीय ये २ भेद हैं। अनन्तानुबंधी ४ कषाय तथा दर्शनमोहनीय की ३ इन ७ प्रकृतियों के उपशमन से प्रथम जो सम्यक्त्व प्राप्त होता है। उसे उपशम सम्यक्त्व कहते हैं। चारित्र मोहनीय दूसरे विभाग की २१ कर्मप्रकृतियों का उपशमन होने से औपशमिक चारित्र प्रगट होता है। बस, अन्तर्मुहूर्त काल तक इन दोनों

में से किसी कर्म का उदय न हो इतनी देर तक उपशमन होने से दोनों औपशमिक कक्षा के गुण प्रगट होते हैं। इससे जीव के भाव—अध्यवसाय प्रगट होते हैं।

२) क्षायिक भाव—

क्षय का अर्थ है सर्वथा जड़मूल से नाश हो जाना। आत्मा पर लगे कर्म संपूर्ण रूप से सर्वथा जड़मूल से क्षीण हो जाय, नाश-निर्जरा हो जाय, उसे क्षायिक भाव कहते हैं। आत्मा पर लगे कर्मों में से जिस किसी भी कर्म का संपूर्ण रूप से जड़मूल से क्षय—नाश हो जाने पर जिन गुणों का सर्वथा प्रगटीकरण होगा वह क्षायिक भाव से होगा। इस क्षायिक भाव के नौ प्रकार हैं। अर्थात् आत्मा के नौ गुण उन—उन आवरक कर्मों के संपूर्ण क्षय से प्रगट होते हैं। १) ज्ञानावरणीय कर्म के संपूर्ण क्षय से केवल ज्ञान, २) दर्शनावरणीय कर्म के संपूर्ण क्षय से केवल—दर्शन गुण, अन्तराय कर्म के संपूर्ण क्षय से अनन्त की कक्षा के ३) दान, ४) लाभ, ५) भोग, ६) उपभोग, ७) वीर्य, तथा मोहनीय कर्म के संपूर्ण क्षय से ८) क्षायिक सम्यक्त्व, तथा ९) क्षायिक चारित्र के नौ गुण क्षायिक भाव से प्रगट होते हैं।

देखिए, यहाँ चारों घाती कर्म आ चुके हैं। इनके संपूर्ण क्षय से क्रमशः जो जो भाव गुण प्रगट होते हैं वे क्षायिक भाव की कक्षा के होते हैं। लेकिन इनमें अघाती चारों कर्मों का नाम भी नहीं आया है। क्षायिक चारित्र को ही यथाख्यात चारित्र कहते हैं। याद रखिए, सर्वथा संपूर्ण कर्मों का जड़मूल से क्षय हो जाने से क्षायिक भाव से जिन गुणों का प्रगटीकरण या प्रादुर्भाव होता है, वे सदा काल अनन्त काल नित्य रूप से रहते हैं। क्षायिक भाव से प्रगट हुए गुण वापिस कभी चले नहीं जाते हैं। पुनः उन गुणों पर कर्मों का आवरण कभी भी नहीं आता है। जैसे क्षायिक भाव का सम्यक्त्व जो प्रगट हो जाता है तो वह कभी भी वापिस नष्ट नहीं हो जाता है। इसी तरह केवलज्ञान—दर्शन आदि के विषय में भी समझना चाहिए। आत्मा निर्वाण पाए वहाँ तक और निर्वाण पाकर मोक्ष में चली जाय वहाँ भी क्षायिक भाव के नौ ही गुण अनन्तकाल तक बरोबर प्रगट रहते ही हैं। इसी तरह अनन्त दान—लाभादि के विषय में भी समझना चाहिए।

३) मिश्र-क्षायोपशमिक भाव—

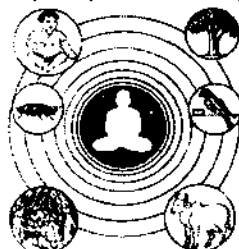
कुछ कर्मों का क्षय हो और कुछ कर्मों का उपशमन हो ऐसी स्थिति को मिश्रभाव कहते हैं। अर्थात् दोनों आधे आधे (या मिले हुए) मिश्रित भाव हैं। उन्हें मिश्रभाव नाम दिया है। या फिर क्षायोपशमिक एक मिश्रित नाम दिया जाता है। दोनों नामों में बात एक

ही है। उन-उन कर्मों के सर्वधाती स्पर्धकों के उदय के अभाव से और देशधाती कर्म के स्पर्धकों के उदय से क्षायोपशमिक भाव प्रगट होता है। १) मति, २) श्रुत, ३) अवधि, और ४) मनःपर्यवज्ञान ये ४ ज्ञान और मति, श्रुत, अवधि ये ३ अज्ञान (विकृत ज्ञान-विपरीत ज्ञान), चक्षु, अचक्षु, अवधि ये ३ दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य ये ५ लब्धियाँ सम्यक्त्व, सर्वविरति चारित्र, देशविरति चारित्र, इस तरह ये कुल १८ भेद क्षायोपशमिक भाव के हैं। मिश्रित भाव के हैं।

४) औदयिक भाव—

उदय से औदयिक भाव कहलाता है। आठों कर्मों में से किस कर्म का कब कितना उदय रहता है? उस उदय के आधार पर जो जो भावादि प्रगट हुए हैं, होते हैं, उसे औदयिक भाव कहते हैं। इनमें ४ गति, ४ कषाय, ३ वेद, मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति, असिद्धत्व तथा ६ लेश्याएँ ये कुल मिलाकर २१ भेद औदयिक भाव के होते हैं।

५) पारिणामिक भाव—



पाँच प्रकार के भावों में ५ वाँ भाव पारिणामिक भाव है। जिसका कभी परिवर्तन और अन्य रूप में परिणमन हो ही नहीं सकता है उसे पारिणामिक भाव कहते हैं। ये ३ प्रकार का होता है। १) जीवत्व अर्थात् चेतनत्व, आत्मत्व यह पारिणामिक भाव है। इसी कारण से अनन्त काल में भी जीव कभी अजीव होता नहीं है और अजीव कभी जीव के रूप में भी परिणमन होता ही नहीं है। इसलिए अजीव—जड़—पुटल—परमाणु या किसी के भी मिश्रण—संमिश्रण से यह जीव बन गया या उत्पन्न हो गया है, हो जाता है, ऐसा कहना मूर्खता सिद्ध होती है। चाहे यह बात विज्ञानवादी कहे या अन्य कोई भी कहे तो यह अज्ञानवश कथन है। यह अनुत्पन्न अविनाशी है अनन्तकालीन है। इसी कारण जीव अनन्त काल में कभी भी अजीव बनता ही नहीं है, और अनन्त काल में भी कभी अजीव जीव के रूप में परिणमन हो ही नहीं सकता है। जीव अनन्त काल तक भी जीव के रूप में चेतन ही रहता है। और अजीव अजीव ही रहता है। बना बिगड़ना या बदलने का कोई प्रश्न नहीं रहता है। यह प्रथम पारिणामिक भाव है।

२) इसी तरह दूसरा भव्यत्वपने का है। और ३) तीसरा अभव्यत्वपने का है। ये दोनों भी उत्पत्तिशील, नाशस्वभावी या परिवर्तनशील नहीं हैं। अर्थात् भव्यपना भी जीव में पहले से ही रहता है। नया उत्पन्न नहीं होता है। और नष्ट भी नहीं होता है। इनके लिए कोई कर्म कारणभूत भी नहीं होता है। इसलिए भव्य—अभव्य कोई नए बनते भी नहीं हैं और पुराने कोई मिटते भी नहीं हैं। ये परिवर्तनशील भी नहीं हैं। अर्थात् अभवी कभी भवी नहीं बनता है और भवी कभी अभवी भी नहीं बन सकता है। अनन्तकाल में भी यह कभी संभव नहीं है। बस, यह अकारणरूप अर्थात् जिसके पीछे कोई कारण ही नहीं है ऐसा पारिणामिक भाव है। न कोई समर्थ देवी देवता—ईश्वर या तीर्थंकर भगवान भी किसी भव्य जीव को अभव्य बना सकते हैं और न ही कभी किसी अभव्य को भव्य के रूप में बदल सकते हैं। भूतकाल के अनन्त वर्षों में भी कभी एक भी दृष्टान्त न तो हुआ है और भविष्य में न ही कभी होगा। एक भी अभव्य जीव कभी मोक्ष में गया ही नहीं है और न ही कभी जाएगा। अभवी अनादि—अनन्त काल से इसी संसार में रहा है और रहेगा। जिसका भूतकाल भी अनन्त बीता है और भविष्य काल भी अनन्त ही बीतना निश्चित है। अतः अभव्य जातिभव्य (दुर्भव्यों की दृष्टि से यह संसार अनादि, अनन्तकालीन, शाश्वत है। भूतकाल भी आदिरहित अनादि एवं अनन्त है। तथा भविष्यकाल भी अन्तरहित अनन्त है। इस तरह यह एक ऐसा पारिणामिक भाव है कि जिसके पीछे कोई कारण ही नहीं रहता है तथा कोई परिवर्तन ही संभव नहीं है।

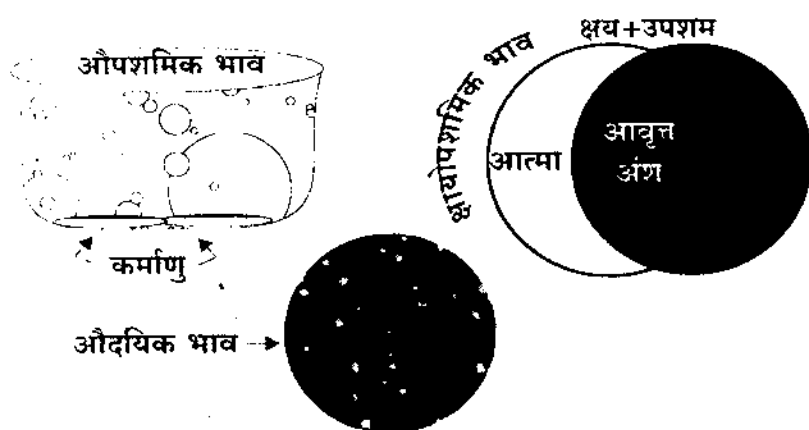
यह द्रव्यगत पारिणामिक भाव है, वैसे ही द्रव्याश्रित गुण की दृष्टि से जीव का त्रिकाल नित्य—शाश्वत होना एक अखण्ड—असंख्य प्रदेशी द्रव्यरूप होना, अस्तित्वपना, अन्यत्वपना, कर्तृत्वपना आदि भाव भी है। जीवगत जीवत्व का अस्तिभावरूप चैतन्यपना, भव्यत्व अर्थात् मोक्षगमन—योग्यत्वभाव, तथा अभव्य अर्थात् मोक्षगमन योग्यता का अभाव—अर्थात् अयोग्यता यह पारिणामिक भाव रूप से निष्कारण रूप से स्वाभाविक ही है।

१३ वे गुणस्थान पर उपलब्धि—

क्षायिक भाव से जिन नौ भावों की प्राप्ति होती है वे सभी १३ वे गुणस्थान व १२ वे गुणस्थान पर प्राप्त होते हैं। इनमें मोहनीय १ घाती कर्म का क्षय १२ वे गुणस्थान पर संपूर्णरूप से हो जाता है। अतः क्षीण मोह गुणस्थान पर क्षायिक भाव की कक्षा का सम्यक्त्व जिसे क्षायिक सम्यक्त्व (क्षायिक सम्यग् दर्शन) कहते हैं, वह प्राप्त होता है।

तथा दूसरा गुण क्षायिक चारित्र की भी उपलब्धि होती है। क्षयक श्रेणीवाले साधक की प्रबल तीव्रतर साधना की यह सिद्धि है। जो एक बार प्राप्त हो जाने पर पुनः कदापि नष्ट नहीं होते हैं। वापिस चले नहीं जाते हैं, वह क्षायिक की कक्षा की उपलब्धि है।

अब १२ वे क्षीण मोह गुणस्थान के अंतर्मुहूर्त काल के अन्तिम समय में जब मोहनीय कर्म सिवाय शेष ३ कर्म १) ज्ञानावरणीय, २) दर्शनावरणीय तथा ३) अन्तराय कर्मों का क्रमशः क्षय होता है। तब उनके जड़मूल से संपूर्ण क्षय होने के कारण जिन अनन्त ज्ञानादि की उपलब्धि होती है वह भी संपूर्ण क्षायिक भाव की है। इसलिए केवलज्ञान की जो उपलब्धि है वह क्षायिक ज्ञान की उपलब्धि है। इसी तरह केवल दर्शन भी क्षायिक दर्शन है। क्षय शब्द नाश अर्थ में है। क्षय से बना क्षायिक अर्थात् जिस कर्मावरण से आत्मा का जो गुण ढका था उस कर्म के संपूर्ण क्षय हो जाने से उन आत्म गुणों का पूर्ण प्रगटीकरण ही क्षायिक भाव का प्रगटीकरण है। क्षायिक भाव में कर्मों का सर्वांशिक संपूर्ण क्षय है। अब अंशमात्र भी कर्म शेष नहीं बचते हैं। अतः अंशमात्र भी आत्मगुण आवृत्त नहीं रहता है। अतः उसका पूर्ण—संपूर्ण सर्वांशिक प्रगटीकरण होता है। जैसे बादलों से आवृत्त सूर्य बादलों के संपूर्ण हट जाने से पूर्ण रूप से प्रकाशमान होता है। ठीक उसी तरह आत्मा के भी सभी गुण चरमकक्षा की पूर्णता को प्राप्त होते हैं। शेष अन्य भावों से जो संपूर्णरूप की सर्वांशिक गुणों की उपलब्धि नहीं हुई थी वह क्षायिक भाव से सर्वांशिक संपूर्ण गुणस्थिति प्रगट होती है। इसलिए औदयिक औपशमिक एवं क्षायोपशमिक भाव से जिन आत्मगुणों का प्रगटीकरण होता है वह अपूर्ण होता है। जबकि यहाँ क्षायिक भाव से वे ही गुण चरमकक्षा की पूर्णता में प्रगट होते हैं।





अनादि अनन्त
कालीन नित्यत्व
अस्तित्व, भव्यत्व,
अभव्यत्व, जीवत्व



क्षायिक भाव
निर्जरित
कर्माणु



चित्र परिचय—

१) पहले के चित्र में— पानी में कचरा जैसे नीचे जम गया है, लेकिन अभी भी पानी से अलग नहीं हुआ है उसी में है, सिर्फ नीचे जम गया है। और ऊपर ऊपर का पानी स्थिर होने से शान्त होने से थोड़ी देर के लिए निर्मल पवित्र हो गया है। ठीक उसी तरह आत्मा के कर्म अस्तित्व में (सत्ता में) होने पर भी... उदय में न आने पर कुछ देर उपशमन हो जाता है। उस कर्म के उपशमन काल में आत्मा के जो विशुद्ध भाव आदि प्रगट होते हैं वे औपशमिक भाव हैं।

२) दूसरे चित्र में— आत्मा रूपी सूर्य कर्म रूपी राहु से ग्रसित अवस्था में है। जितना अंश कर्म ने आवृत्त किया है, उतने आत्मा के दबे हुए गुण प्रगट नहीं हुए, साधक उनका उपशमन करता है तथा शेष भाग के कुछ कर्मों का सर्वथा क्षय किया है ऐसा साधक क्षयोपशमभाव (मिश्रित भाव) है।

३) तीसरे चित्र में— आत्मा पर लगे हुए कर्मों का स्तर बना हुआ है। उसमें से जितने अंशों में से आत्मगुणों का ज्ञानादि का प्रकाश बाहर आता है यह औदयिक भाव है। आत्मा के उतने ज्ञानादि उदय में आते हैं।

४) चौथे चित्र में— आत्मप्रदेशों पर से चारों घाती कर्मों के आवरण का स्तर सर्वथा क्षय होकर निकल गया है। नष्ट हो चुका है। अतः वे कर्माणु आत्मप्रदेशों से निर्जरित होकर बाहर निकल कर बिखर चुके हैं। जबकि अघाती के चारों कर्म अभी भी आत्मा पर चिपके हुए—लगे हुए हैं। जिन घाती कर्मों के क्षय हो जाने से आत्मा के जो ज्ञानदर्शनादि गुण प्रगट हो चुके हैं वे क्षायिकभाव के पूर्ण—संपूर्ण स्वरूप में प्रगट हुए हैं ऐसे वे नौ गुण हैं।

५) पाँचवें चित्र में— आत्मा एक अखण्ड—असंख्य—प्रदेशी स्वतंत्र द्रव्य है। उसके प्रदेशों को दर्शाता हुआ चित्र है। भव्यत्वादि के तीनों पारिणामिक भाव अपने स्वरूप में हैं।

इस तरह पाँचों भावों से जो जो प्रगट होता है उसका स्वरूप संक्षेप में यहाँ दर्शाया है ।

१४ गुणस्थानों में ५ भाव—

सम्माडु चउसु तिय चउ-उवसममुवसंतयाण चउ पंच ।

चउ खीण अपुव्वाणं तिन्नि उ भावावसेसाणं ॥ ६४ ॥

श्री पंचसंग्रह सूत्रकार महर्षि ने ६४ वे श्लोक में १४ गुणस्थानों पर कहीं कौनसा जीव किस किस भाव का धारक होता है ? उसका स्पष्ट चित्रण किया है । ४, ५, ६ और ७ इन चार गुणस्थानवर्ती जीवों में ३ अथवा ४ दोनों प्रकार के भाव होते हैं । ३ भाव में १ औदयिक, २ क्षायोपशमिक और ३ पारिणामिक ये ३ भाव होते हैं । साधक जीव विशेष यदि क्षायिक सम्यक्त्वादि प्राप्त कर ले तो क्षायिक अथवा औपशमिक भाव चौथा साथ में मिलने पर ४ भाव भी होते हैं । मनुष्य गति, कषाय, वेद, आहारकत्व, अविरतित्व, लेश्यादि औदयिक भाव के होते हैं । भव्यत्व—जीवत्व पारिणामिक भाव का, मतिज्ञान चक्षुदर्शनादि क्षायोपशमिक भाव के होते हैं । क्षायिक सम्यक्त्व हो तो वह क्षायिक भाव का होता है । औपशमिक सम्यक्त्व औपशमिक भाव का होता है । जब ३ भाव होते हैं तब ३ की विवक्षा में सम्यक्त्व क्षायोपशमिक भाव का होता है । परन्तु जब क्षायिक अथवा औपशमिक सहित ४ भावों की विवक्षा की जाय, तब सम्यक्त्व क्षायिक अथवा औपशमिक भाव का रहता है ।

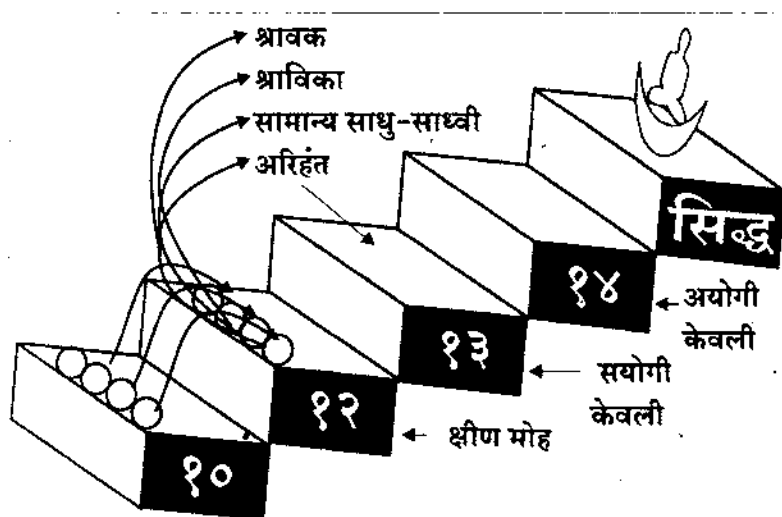
उपशम श्रेणी में ८, ९, १० तथा ११ वाँ इन चार गुणस्थान में ४ अथवा ५ भाव होते हैं । १) औदयिक, २) औपशमिक, ३) क्षायोपशमिक, तथा ४) पारिणामिक ये ४ भाव होते हैं । जब क्षायिक सम्यक्दृष्टि जीव उपशमश्रेणी पर आरूढ हो तब क्षायिक सम्यक्त्व क्षायिकभाव से रहता है । उपशम भाव से उपशम भाव का चारित्र होता है ।

इसी तरह क्षपक श्रेणी के अंतर्गत ८, ९, १० और १२ इन चारों गुणस्थानों पर ४ भाव होते हैं । क्षपक श्रेणी होने से इसमें औपशमिक भाव का सर्वथा अभाव होता है । १, २, ३, ४, तथा १३ वे और १४ वे इन ६ गुणस्थान पर ३ भाव ही होते हैं । १, २, ३ गुणस्थान पर औदयिक, पारिणामिक और क्षायोपशमिक ये ३ भाव होते हैं ।

१३ वे और १४ वे गुणस्थान पर सयोगी और अयोगी केवली के औदयिक क्षायिक तथा पारिणामिक ये ३ भाव होते हैं । केवलज्ञानादि ८ गुणस्थान इनके क्षायिक भाव के प्राप्त होते हैं इसलिए । १४ वे गुणस्थान के पश्चात् जीव जब सिद्ध मुक्त बन जाता है तब

सिद्धावस्था में सिद्धों को क्षाधिक तथा पारिणामिक ये दो ही भाव रहते हैं। पारिणामिक भाव के आधार पर जीवत्व—चेतनत्व—भव्यत्व—नित्यत्व, अस्तित्व आदि सदा काल रहते ही हैं। तथा ... केवलज्ञानादि नौ गुण यहाँ चारों घाती कर्मों का क्षय करके साथ ले जा रहा है वे वहाँ सदा रहते हैं। इस तरह १४ गुणस्थानों में कहाँ किस गुणस्थान पर जीव किन—किन कितने भाववाले कैसा होता है यह दर्शाया है।

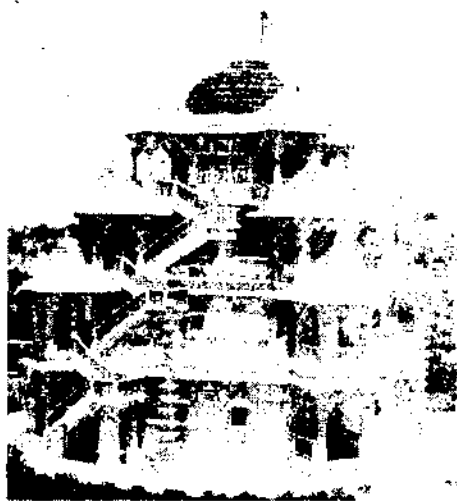
१३ वे गुणस्थान के अधिकारी—



उपशम श्रेणीवाला साधक तो ज्यादा से ज्यादा ११ वे गुणस्थान तक ही आता है। बस, उससे आगे बढ़ता ही नहीं है। वह ११ वे से ही नीचे गिर कर वापिस चला जाता है। क्षपक श्रेणीवाला जीव ही १० वे गुणस्थान से सीधा १२ वे गुणस्थान पर आता है। १२ वे गुणस्थान की स्थिति के अनुसार सभी समान गुण धारक वीतरागी होते हैं। अध्यवसाय धारा समान श्रेष्ठ होती है। इसके पश्चात् १ मोह क्षय के बाद २ ज्ञानावरणीय, २ दर्शनावरणीय, तथा ४ अन्तराय इन चारों घाती कर्मों का क्षय करके जीव १३ वे गुणस्थान सयोगी केवली पर पहुँच कर केवलज्ञानी बनता है। यहाँ आनेवालों में मुख्य अधिकारी १) अरिहंत बननेवाला तीर्थंकर का जीव, २) गणधर का जीव, ३) आचार्य ४) उपाध्याय, ५) मुनि-साधु का जीव, ६) साध्वीजी, ७) कोई श्रावक विशेष और ८) कोई स्त्रीविशेष श्राविका ये सभी १३ वे गुणस्थान पर आरूढ़ होने के अधिकारी हैं।

अरिहन्त बननेवाला तीर्थकर का जीव जो कि पूर्व में छठे गुणस्थान से साधु—मुनि—त्यागी बन चुका है वह क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होकर कर्मों का क्षय करके यहाँ १३ वे गुणस्थान पर आता है। वैसे तो जो भी जीव यहाँ आते हैं वे सभी क्षपक श्रेणी की एक ही समान प्रक्रिया में से गुजरते हैं। विशेषता सिर्फ इतनी ही रहती है कि... उन्होंने पूर्व तीसरे भव से ही तीर्थकर नामकर्म की सर्वोत्कृष्ट पुण्य प्रकृति उपार्जित कर रखी है, इसलिए वे जब १३ वे अयोगी केवली गुणस्थान पर पहुँच जाते हैं तब उस तीर्थकर नामकर्म की सर्वोत्तम पुण्यप्रकृति का रसोदय होता है। इसके उदय में आने से... वे तीर्थकर अरिहन्त भगवान बनते हैं। जगत्पूज्य—विश्ववन्दनीय परमात्मा बनते हैं। सर्वज्ञ भगवान उसमें बैठकर देशना देते हैं। वैसे सर्वज्ञता—सर्वदर्शिता तो इस १३ वे गुणस्थान की सामान्य उपलब्धि है। सर्वसाधारण प्राप्ति है। परन्तु तीर्थकर नाम की विशेषता अलग रहती है। सभी जीवों में यह विशेषता समानरूप से रहनी ही चाहिए ऐसा कोई नियम नहीं है। बहुत विरले ही जीव तीर्थकर बननेवाले होते हैं।

तीर्थकर के लिए समवसरण—



वैसे १३ वे गुणस्थान पर ७ प्रकार के जीव आते हैं तथा वे सभी समान रूप से केवलज्ञान—केवलदर्शन आदि गुणों के धारक होते हैं ज्ञान सामान्य केवली का तथा विशिष्ट तीर्थकर सबका एक सरीखा—समान रूपसे होता है। ज्ञान में रतीभर भी कम—ज्यादापना नहीं होता है। फिर भी तीर्थकर बननेवाले की विशिष्ट कक्षा की तीर्थकर नामकर्म की जो श्रेष्ठ पुण्यप्रकृति होती है उसके

उदय में आने से देवता उनके लिए ३ गढ़वाला समवसरण बनाते हैं। यह गोलाकार, समचौरस, तथा अष्टकोणाकार तीनों प्रकार का बनाते हैं। इसमें ३ प्राकार (गढ़) होते हैं। प्रथम गढ़ को रजत गढ़ कहते हैं जो चांदी—रजत का बना हुआ होता है। इसके चारों तरफ पूर्व—पश्चिम—उत्तर—दक्षिण चारों दिशा में प्रवेशद्वार होते हैं तथा चढ़ने की सीढ़ी

के सोपान भी होते हैं। प्रथम गढ़ पर देवता लोग अपने विमानों को संकुचित करके रखते हैं।

दूसरा गढ़ स्वर्ण का बनाते हैं। यह सुवर्ण का रत्नजडित श्रेष्ठ प्रकार का बनाते हैं। इसमें भी पूर्ववत् चारों दिशाओं में ४ प्रवेशद्वार तथा चढ़ने के सोपान होते हैं प्रथम के ऊपर दूसरा तथा उसके ऊपर तीसरा गढ़ रत्नों का सुंदर बनाते हैं। दूसरे गढ़ पर... सभी तिर्यच पशु—पक्षी प्रभु देशना को श्रवण करने बैठते हैं। तीसरे रत्नजडित गढ़ पर केन्द्र में विशाल अशोक वृक्ष होता है। उसकी शीतल छाया सब पर समान रूप से रहती है। यहाँ बैठने से सबका शोक—खेद—विषाद—दुःख दूर हो जाता है अतः इसे अशोक वृक्ष कहते हैं। तीसरे रत्नजडित गढ़ के भी चारों दिशाओं में चारों तरफ प्रवेशद्वार एवं चढ़ने के सोपान होते हैं। इस पर तीर्थंकर भगवान् मुख्य पूर्व दिशा में स्फटिक के सुंदर सिंहासन पर बिराजमान होते हैं। तथा शेष ३ दिशाओं में देवता प्रतिबिम्ब दिखाई दे वैसी व्यवस्था करते हैं। अर्थात् पूर्व दिशा में बिराजमान प्रभु का प्रतिबिम्ब अन्य ३ उत्तर—दक्षिण—पश्चिम दिशा में भी समान रूप से दिखाई दे ऐसी व्यवस्था देवता करते हैं, जिससे समवसरण में बिराजमान होनेवाली सभी बारह पर्षदा के जीवों का सबको प्रभु के दर्शन हो सके। सबको लगेकि... मैं भी भगवान् के सामने ही बैठा हूँ और भगवान् भी मेरे सामने ही हैं और मुझे उद्दिष्ट करके ही कह रहे हैं। बारह पर्षदा में भवनपति, व्यंतर, ज्योतिष, तथा वैमानिक इन चारों निकाय के इन्द्रादि देवता, तथा उनकी देवियाँ इस तरह ४ और + ४ = ८ तथा यहाँ इसभरती के साधु—साध्वी एवं श्रावक—श्राविकारूप चतुर्विध संघ के चारों वर्ग मिलाकर ४ + ४ + ४ = १२ इस तरह बारह पर्षदा में सभी परमात्मा की देशना श्रवण करने चारों मुख्य दिशाओं पूर्वादि से प्रवेश करके चारों विदिशाओं के कोने में योग मुद्रा में अंजलीबद्ध एवं पंक्तिबद्ध बैठते हैं। देवियाँ खड़ी रहती हैं। इस तरह बारह पर्षदा के रूप में सुव्यवस्थित रूप से देशना श्रवण करते हैं।

ऐसा अनोखा अद्भुत समवसरण होता है। अष्ट महाप्रातिहार्य तथा ३४ अतिशयों से युक्त परमात्मा सुशोभित होते हैं। तिजय पहुँच स्तोत्र में स्पष्ट लिखा है—

चउत्तिस अइसयजुआ, अट्टमहापाडिहेरकयसोहा।

तित्थयरा गयमोहा, झाएअव्वा पयत्तेणं ॥

जो ३४ अतिशयों से युक्त हो, तथा अष्ट महाप्रातिहार्य से सुशोभित हो एवं राग—द्वेष—मोह जिनका सर्वथा नष्ट हो चुका हो ऐसे वीतरागी तीर्थंकर भगवन्तों का प्रयत्नपूर्वक ध्यान करना चाहिए।

यह तीर्थकर नामकर्म की उत्कृष्ट पुण्यप्रकृति का उदय है। जो पूर्व में उपाजित किया हुआ था। यह सर्वोत्कृष्ट पुण्यप्रकृति है। तीर्थकर भगवान का जीव ही उपाजित करता है। और जो यह पुण्यप्रकृति पहले उपाजित करता है वही जीव उसके उदय काल में तीर्थकरत्व का वैभव प्राप्त कर सकता है। सर्वसामान्य सभी जीव तीर्थकर नामकर्म नहीं बांधते हैं। इसकी भी एक अनोखी—अद्भुत प्रक्रिया है।

तीर्थकर नामकर्म बांधने की प्रक्रिया—

तीर्थकर शब्द भगवान, परमात्मा अर्थ में यहाँ प्रयुक्त है। जगत् के सभी धर्मों में भगवान ईश्वर को माना गया है। उनका स्वरूप कैसा किस प्रकार का मानना यह सबका अपना—अपना तरीका है। लेकिन एक मात्र जैन धर्म के सिवाय अन्य किसी भी धर्म ने भगवान बनने की कोई प्रक्रिया—पद्धति नहीं बताई, कि ऐसा ऐसा करने से भगवान बना जाता है, यह बात ही नहीं बताई। क्यों कि उन सब धर्मों की मान्यता ऐसी है कि... भगवान बना ही नहीं जाता है। यह तो एक का ही अधिकार है। बस, वही विभु परम ब्रह्म ही पुनः दूसरे—दूसरे रूप धारण कर जन्म लेते हैं। अवतारवाद की प्रक्रिया माननेवाले वे सभी धर्म ऐसा मानते हैं कि सर्वशक्तिमान् जगत्कर्ता ईश्वर... धर्म की ग्लानि और अधर्म का अभ्युत्थान देखकर उसका नाश एवं अपनी प्रजा का रक्षण करने के लिए बार बार आकर अवतार लेते हैं, जन्म धारण करते हैं। वे भी बार—बार आकर कभी राम, कभी कृष्ण, कभी शंकर आदि बनते हैं। इस तरह २४ अवतार माने हैं।

ख्रिस्ती तथा इस्लाम धर्म भी अवतारवाद Incarnation Theory को ही स्वीकार करते हैं। एकमात्र जैन धर्म अवतारवाद की पद्धति को बिल्कुल ही नहीं मानता है। जैन धर्म का स्पष्ट मत है कि— “अप्पा सो परमप्पा” आत्मा ही परमात्मा है। संसार में अनन्त भव्यात्माएँ हैं। इनमें से कोई आत्मा... आगे बढ़कर तीर्थकर नाम कर्म उपाजित करके... गुणस्थानों के सोपानों पर चढ़ती हुई १३ वे गुणस्थान पर आकर तीर्थकर भगवान बन सकती है। प्रत्येक आत्मा भिन्न भिन्न स्वतंत्र ही होती है। ऐसा नहीं होता है कि... एक ही आत्मा मोक्ष में जाकर सिद्ध बनकर पुनः संसार में आए और पुनः तीर्थकर बने। जी नहीं। जैन धर्म ऐसा नहीं स्वीकारता है। स्पष्ट कहना है कि एक आत्मा जो आदिनाथ बनकर मोक्ष में गई उसके बाद दूसरी ही कोई आत्मा अजितनाथ नामक भगवान बनी। वे दूसरे भगवान हुए। उसके बाद तीसरी स्वतंत्र कोई आत्मा संभवनाथ भगवान बनी।

इस तरह २३ वीं कोई स्वतंत्र ही आत्मा ने अपना विकास साधा और वे पार्श्वनाथ नाम से तीर्थंकर भगवान बने। तथा नयसार नामका कोई स्वतंत्र ही अन्य जीव २७ जन्मों की साधना करके तीर्थंकर नामकर्म उपार्जन करके २७ वें जन्म में तीर्थंकर बनकर भगवान महावीर के नाम से विश्वविख्यात बना। इससे स्वतंत्र रूप से प्रत्येक तीर्थंकर भगवन्तों का अस्तित्व सिद्ध होता है।

यह वर्तमान चौबीशी के तीर्थंकर भगवानों की बात है। ऐसे ही आगे के आगामी काल में भी २४ तीर्थंकर बननेवाले ही हैं। वर्तमान चौबीशी के २४ भगवान सभी अन्त में निर्वाण पाकर मोक्ष में जाकर मुक्त सिद्ध बन चुके हैं। इसलिए वे कोई वापिस संसार में लौटते ही नहीं हैं। इसके कारण में कहते हैं कि—

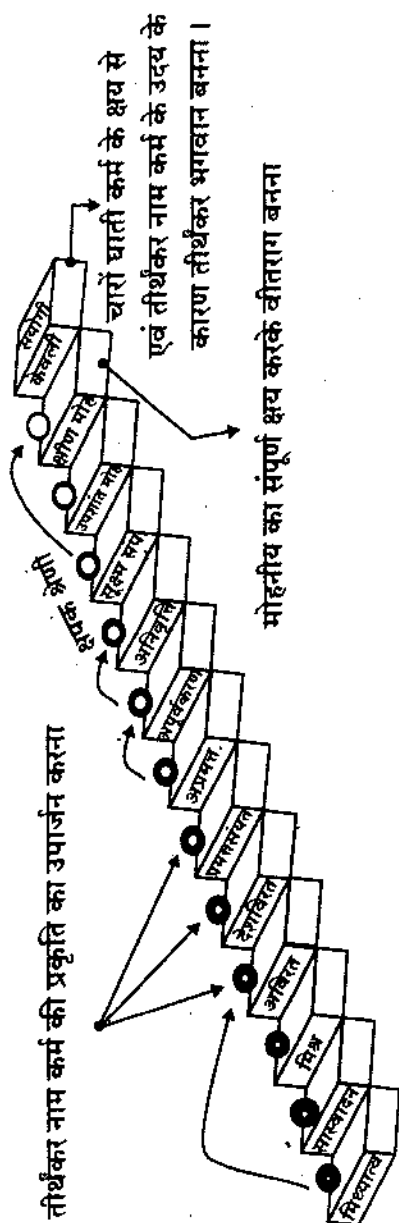
दग्धे बीजे यथात्यन्तं प्रादुर्भवति नांकुरः ।

कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवांकुरः ॥

जैसे किसी बीज के जल जाने से उसमें से अंकुरोत्पत्ति नहीं होती है। उसे बोने से या जलसिंचनादि करते रहने पर भी उसमें से अंकुर नहीं फूटते हैं। न ही उसमें से तना, शाखा, फल—पत्र—पुष्पादि बनते हैं। इसी तरह कर्मरूपी बीज के जल जाने से, (निर्जरित = सर्वथा क्षय हो जाने से) भव = संसाररूप अंकुरोत्पत्ति भी नहीं होती है। अर्थात् कर्मबीज सर्वथा संपूर्ण जल जाने से पुनः संसार में जन्मादि नहीं होता है। यह तात्पर्यार्थ है। मुख्य जीव ही कारणरूप होता है। यहाँ संसार में जन्म—मरण के लिए भी मूलभूत बीजभूत कारण कर्म है। कर्म के कारण ही संसार बनता है, बढ़ता है, बिगड़ता भी है और चलता भी रहता है। बस, कारणभूत इस कर्म के न रहने से कार्यरूप यह संसार भी नहीं रहता है। फिर बनने—बिगड़ने आदि का कोई सवाल ही नहीं रहता है।

भगवान बनने की प्रक्रिया—

समस्त विश्व भर में एकमात्र जैन धर्म ने ही भगवान बनने की प्रक्रिया स्पष्ट रूप से दर्शायी है। पूरी तरह से साफ बताई है। १४ गुणस्थानों के सोपान क्रमशः चढ़ते—चढ़ते ऊपर ही ऊपर आगे बढ़ते जाना सबके लिए अनिवार्य है। आखिर मोक्ष का मार्ग सबके लिए यही एक मात्र समान रूप से है।



मोक्ष मार्ग का आचरण एवं इस पर आरोहण सबके लिए अनिवार्य है। यही एक मात्र उपादेय है। सभी जीवों के लिए आगे बढ़ने के लिए इसी मार्ग पर आरूढ़ होना है। कोई तीर्थंकर नामकर्म बांधे या न भी बांधे। यदि यह बांधेगा तो ही तीर्थंकर भगवान बनेगा और यदि नहीं बांधेगा तो तीर्थंकर भगवान नहीं बन पाएगा। शेष सब प्रकार की उपलब्धि तीर्थंकर जैसी ही समान रूप से पाएगा। जिसमें चारों घाती कर्मों का क्षय तीर्थंकर का तथा अन्य सभी जीवों का १३ वे गुणस्थान पर समान रूप से होता है। और इसमें क्षय से उपलब्धि भी समान रूप से सबको होती ही है। जिसमें वीतरागता, सर्वज्ञता (केवलज्ञान), सर्वदर्शिता (केवलदर्शन) तथा अनन्तवीर्यता ये ४ हैं। जो सबको समान रूप से प्राप्त होते हैं।

याद रखिए, वीतरागता—सर्वज्ञतादि गुणों की प्राप्ति घाती कर्मों के क्षय से होती है। जबकि तीर्थंकरत्व की प्राप्ति किसी कर्म के क्षय से नहीं होती है। क्योंकि तीर्थंकर नामकर्म की इस प्रकृति की गणना चारों घाती कर्मों में से किसी में भी नहीं होती है। यदि यह घाती कर्म की प्रकृति होती तो यह भी उसी के साथ ही कब की क्षय हो चुकी होती। लेकिन वैसा नहीं हुआ। शेष ४ अघाती कर्मों में जो १) नाम, २) गोत्र, ३) वेदनीय और ४)

आयुष्य कर्म हैं, इनमें से एक मात्र नामकर्म की १०३ प्रकृतियों में इसका समावेश होता है। नामकर्म में शुभ पुण्य प्रकृतियाँ..... हैं तथा..... अशुभ पाप की प्रकृतियाँ हैं। इनमें से शुभ पुण्य प्रकृतियों में तीर्थकर नामकर्म की सर्वश्रेष्ठ पुण्य प्रकृति का समावेश होता है। अतः इसके क्षय या क्षयोपशम से कोई तीर्थकर नहीं बन सकता है लेकिन तीर्थकर नामकर्म की इस पुण्य प्रकृति के उदय में आने पर, उदय होने पर ही कोई तीर्थकर बन सकता है। यह सर्वोच्च कक्षा की पुण्य प्रकृति है। अतः पुण्य का कार्य वैभव सुख—सामग्री—सम्पत्ति देने का है। प्रत्येक जीवों को पुण्य उनके उपाजित कर्मानुसार कम ज्यादा प्रमाण में सुख—सम्पत्ति—वैभव—साधन—सामग्री—यश—प्रतिष्ठादि प्रदान करता है। तीर्थकर नामकर्म की यह सर्वोच्च कक्षा की पुण्य प्रकृति है। अतः इसके उदय से सर्वोच्च कक्षा का वैभवादि सब कुछ प्राप्त होता है। इसी पुण्योदय के कारण देवताओं का सेवा में आगमन, समवसरणादि बनाना, कुछ अतिशयों की प्राप्ति आदि प्रकृष्ट पुण्योदय प्राप्त होता है। इससे यह निश्चित होता है कि... तीर्थकर बनने के लिए तीर्थकर नामकर्म की पुण्यप्रकृति का उदय होना अत्यन्त आवश्यक है।

तीर्थकर नामकर्म का उदय ४, ५ और ६ ढे गुणस्थान पर होता है। ४, ५ वे इन दो गुणस्थान पर आराधक श्रावक की कक्षा में गृहस्थ होता है। ४ थे गुणस्थान पर मात्र श्रद्धावान् श्रावक होता है, जबकि... ५ वे गुणस्थान पर व्रत-विरति, पचक्खाण धारक—आचरण करनेवाला श्रावक होता है। ये भी वीशस्थानक के २० पदों की आराधना करके तीर्थकर नामकर्म उपाजित कर सकते हैं तथा आगे बढ़कर छठे गुणस्थान पर साधु बनते हैं। ऐसे श्रावक या साधु—साध्वी उभयवर्ग वीशस्थानक की साधना करके तीर्थकर नामकर्म उपाजित कर सकते हैं। तदतिरिक्त १ ले, २ रे, या ३ रे गुणस्थान पर तीर्थकर नामकर्म बांधा नहीं जाता है। इसी तरह ८ वे गुणस्थान से तो जीव, श्रेणी के श्रीगणेश करता है इसलिए चढती श्रेणी पर आरूढ आत्मा तीर्थकर नामकर्म नया उपाजित नहीं करती है, लेकिन पूर्व में उपाजित नाम कर्म का १३ वे गुणस्थान पर उदय हो सकता है। अतः तीर्थकर नामकर्म बांधनेवाले—नया उपाजित करने के अधिकारी एक मात्र ४, ५, ६ ढे गुणस्थान के अधिकारी श्रावक—श्राविका तथा साधु—साध्वीजी महाराज आदि ही हैं। अन्य कोई नहीं। प्रथम श्री भगवान से २४ वे तीर्थकर भगवान तक के २४ ही भगवानों ने अपने पूर्व के भवों में कब कहाँ किस अवस्था में तीर्थकर नाम कर्म उपाजित किया है यह उनके नामादि द्वारा दृष्टान्त देखने से स्पष्ट हो जाएगा।

वर्तमान चौबीशी के भगवानों का तीर्थकर नाम कर्मोपार्जन

तीर्थकर नाम	किस भव में
१ श्री ऋषभदेव भगवान	११ वे भव में
२ श्री अजितनाथ भगवान	१ ले भव में
३ श्री संभवनाथ भगवान	१ ले भव में
४ श्री अभिनंदन भगवान	१ ले भव में
५ श्री सुमतिनाथ भगवान	१ ले भव में
६ श्री पद्मप्रभ भगवान	१ ले भव में
७ श्री सुपार्श्वनाथ भगवान	१ ले भव में
८ श्री चन्द्रप्रभस्वामी भगवान	५ वे भव में
९ श्री सुविधिनाथ भगवान	१ ले भव में
१० श्री शीतलनाथ भगवान	१ ले भव में
११ श्री श्रेयांसनाथ भगवान	१ ले भव में
१२ श्री वासुपूज्यस्वामी भगवान	१ ले भव में
१३ श्री विमनाथ भगवान	१ ले भव में
१४ श्री अनन्तनाथ भगवान	१ ले भव में
१५ श्री धर्मनाथ भगवान	१ ले भव में
१६ श्री शान्तिनाथ भगवान	१० वे भव में
१७ श्री कुंथुनाथ भगवान	१ ले भव में
१८ श्री अरुनाथ भगवान	१ ले भव में
१९ श्री मल्लिनाथ भगवान	१ ले भव में
२० श्री मुनिसुव्रतस्वामी भगवान	७ वे भव में
२१ श्री नमिनाथ भगवान	१ ले भव में
२२ अरिष्टनेमि भगवान	७ वे भव में
२३ श्री पार्श्वनाथ भगवान	८ वे भव में
२४ श्री महावीर स्वामी भगवान	२५ वे भव में

आगामी चौबीशी में भगवान बननेवाले

पहले के नाम	तीर्थकर के नाम
१) श्रेणिक महाराजा का जीव	१ प्रथम तीर्थकर पद्मनाभस्वामी बनेंगे
२) सुपार्श्व (भ. महावीर के पितराई चाचा) का जीव	२ रे सूरदेवस्वामी बनेंगे ।
३) उदायिराजा (कोणिकपुत्र) का जीव	३ रे सुपार्श्वनाथ स्वामी बनेंगे ।
४) पोद्दिल श्रावक का जीव	४ थे स्वयंप्रभ स्वामी बनेंगे ।
५) द्रढायुष्य का जीव	५ वे सर्वानुभूति स्वामी बनेंगे ।
६) कार्तिक का जीव	६ ठे देवश्रुत स्वामी बनेंगे ।
७) शंख श्रावक का जीव	७ वे उदयप्रभ स्वामी बनेंगे ।
८) आनन्द मुनि का जीव	८ वे पेढाल स्वामी बनेंगे ।
९) सुनन्द श्रावक का जीव	९ वे पोद्दिल स्वामी बनेंगे ।
१०) शतक श्रावक का जीव	१० वे शतकीर्ति स्वामी बनेंगे ।
११) देवकी (कृष्ण की माता) का जीव	११ वे सुव्रतनाथ स्वामी बनेंगे ।
१२) श्री कृष्ण वासुदेव का जीव	१२ वे अममस्वामी बनेंगे ।
१३) सत्यकी विद्याधर का जीव	१३ वे निष्कषाय स्वामी बनेंगे ।
१४) बलदेव का जीव	१४ वे निष्पुलाक स्वामी बनेंगे ।
१५) सुलसा श्राविका का जीव	१५ वे निर्मम स्वामी बनेंगे ।
१६) रोहिणी श्राविका का जीव	१६ वे चित्रगुप्त स्वामी बनेंगे ।
१७) रेवती श्राविका का जीव	१७ वे समाधिनाथ स्वामी बनेंगे ।
१८) शताली का जीव	१८ वे संवरजिन स्वामी बनेंगे ।
१९) द्वैपायन का जीव	१९ वे यशोधर स्वामी बनेंगे ।
२०) करण का जीव	२० वे विजयनाथ स्वामी बनेंगे ।
२१) नारद विद्याधर का जीव	२१ वे श्री मल्लनाथ स्वामी बनेंगे ।
२२) अंबड श्रावक का जीव	२२ वे देवनाथ स्वामी बनेंगे ।
२३) अमर का जीव	२३ वे अनन्तवीर्य स्वामी बनेंगे ।
२४) स्वातिबुद्ध का जीव	२४ वे भद्रंकर स्वामी बनेंगे ।

इस तरह उपरोक्त २४ ही अलग-अलग जीव जिन्होंने वीशस्थानक की प्रबल साधना करके तीर्थंकर नामकर्म उपाजित किया है और परिणाम स्वरूप तीर्थंकर भगवान बनेंगे तब उनका उस भव में क्या नामादि होगा ? यह भी ज्ञानी भगवन्तों ने जैसा बताया है वैसे ऊपर लिखा है । इस तरह आगामी काल में चौबीशी = २४ तीर्थंकर भगवान बनेंगे । शाश्वत नियम यही है कि... पूर्व के तीसरे भव में अर्थात् तीर्थंकर भगवान बनने के पहले के (पूर्व के) तीसरे भव में वे तीर्थंकर नामकर्म उपाजन करते हैं । और फिर भगवान बनने के पहले का बीच का एक भव (जन्म) देवगति में देवता बनकर, या फिर पूर्वोपाजित पापकर्म के उदय के कारण नरक गति में जाकर नारकी बनकर, बिताने के बाद में वहाँ से निकलकर मनुष्यगति में आकर अन्तिम भव में तीर्थंकर भगवान बनते हैं ।

आप पुनः गौर से देखिए कि तीर्थंकर नामकर्म उपाजित करनेवाले इन २४ जीवों में नरक गति का नारकी कोई नहीं है । इसी तरह देवगति का देव जीव भी कोई नहीं है । तिर्यच गति का पशु-पक्षी का भी कोई जीव नहीं है । बस, सिर्फ एकमात्र मनुष्य गति के ही जीव हैं । उनमें भी मिथ्यात्वी आदि कोई नहीं है । सभी ४ थे ५ वे गुणस्थानवर्ती श्रावक श्राविका तथा ६ वें गुणस्थानवर्ती साधु साध्वीजी महाराज आदि ही हैं । आनन्दादि मुनि महात्मा हैं । शंख-शतक-पोट्टिल, श्रेणिक, अंबड आदि श्रावक हैं । इसी तरह सुलसा, रोहिणी, रेवती, देवकी, सत्यकी आदि श्राविका हैं । ये स्त्रियाँ हैं । फिर भी इन्होंने वीशस्थानक की साधना सुंदर की है और तीर्थंकर नामकर्म उपाजन किया है । आगामी चौबीशी में सभी पुरुषदेहरूप में ही भगवान बनेंगे । उस समय कोई स्त्री नहीं बनेगी । पुरुषप्रधानता है । पुरुष बनना श्रेष्ठ पुण्य की शुभ प्रकृति है । जबकि स्त्री बनना यह अशुभ पाप की प्रकृति है । लेकिन तीर्थंकर नामकर्म उपाजन करने में कहीं कोई भेद नहीं है । यहाँ तो वीशस्थानक के २० पदों की साधना-आराधना तपादि द्वारा करके तीर्थंकर नामकर्म उपाजन करना है । वीशस्थानक की आराधना स्त्री-पुरुष, साधु-साध्वी महाराज, श्रावक-श्राविका वर्ग सभी समान रूप से कर सकते हैं । यहाँ किसी में कोई भेद नहीं है । साथ ही सर्व जीवों के कल्याण की भावना भाने का भी शुभ योग है । यह भी कर सकते हैं । मात्र... शेष ३ गति के देवतादि जीव तीर्थंकर नामकर्म का उपाजन नहीं कर सकते हैं । क्योंकि वे अविरति के उदयवाले होते हैं । व्रत-पचक्खाण नहीं कर पाते हैं और उसमें तो वीश स्थानकपदों की तपादि द्वारा उपासना करनी पड़ती है । जी हाँ, ... तिर्यच गति के पशु-पक्षी तो ५ वे गुणस्थान तक भी आ जाते हैं, फिर भी वीशस्थानक की साधना और जगत् के सर्व जीवों के कल्याण की भावना इनके भी वश की बात नहीं रहती है ।

विशस्थानक के २० पदों का स्वरूप—

1242



१) अरिहंत पद,	२) सिद्ध पद,	३) प्रवचन पद,	४) आचार्य पद,
५) स्थविर पद,	६) उपाध्याय पद,	७) साधु पद,	८) ज्ञान पद,
९) दर्शन पद,	१०) विनय पद,	११) चारित्र पद,	१२) ब्रह्मचर्य पद,
१३) क्रिया पद,	१४) तप पद,	१५) दान (गोयम)	१६) जिन पद (वैयावच्च पद)
१७) संयम पद,	१८) अभिनव ज्ञान पद,	१९) श्रुत पद,	२०) तीर्थ पद.

ये २० पद हैं। इन २० पदों की आराधना भक्ति प्रबल भावोल्लास पूर्वक की जाती है। साथ ही तपश्चर्यापूर्वक इन बीसों पदों की ओली की जाती है। वर्तमान काल में १०

वर्ष में २० ओली के रूप में तपश्चर्या की जाती है। एक ओली में २० उपवास ६ महीने के १८० दिन के काल में करने के रहते हैं। फिर दूसरे ६ महीने में दूसरे पद के २० उपवास की ओली आएगी। इस तरह १ वर्ष में २ और १० वर्षों में २० ओली होगी। १ ओली के २० उपवास ऐसी २० ओली के $२० \times २० = ४००$ उपवास होंगे। तब यह विशस्थानक तप पूर्ण होता है। लेकिन उत्कृष्ट भाववाले साधक कोई ६ महीने से भी कम दो महीने का भी समय ले सकते हैं। और कोई १ महीने का भी समय ले सकता है। इस तरह कम काल में भी तप पूर्ण कर सकता है। तथा साथ ही... तप का प्रमाण भी बढ़ा सकते हैं। कोई अट्टम के ३ उपवास, छट्टे के २ उपवास, या १ उपवास, या फिर इससे भी कम आर्यबिल—एकासणे के तप से भी विशस्थानक तप की आराधना कर सकते हैं। ऐसा वर्तमान प्रवाह है।

नंदनराजर्षि की तपश्चर्या—

नयसार के पहले जन्म से सम्यक्त्व का बीज बोकर मोक्षमार्ग पर आरूढ़ होकर तीर्थकर बनने की दिशा में आगे प्रयाण करनेवाले परम तारक श्री महावीर परमात्मा का जीव आगे बढ़ते—बढ़ते २५ वे जन्म में नंदन नामक राजा बनते हैं। २५ लाख वर्ष का उनका कुल आयुष्य है। उसमें से २४ लाख वर्ष का काल संसार में राजपाट की व्यवस्थादि में बिताकर शेष १ लाख वर्ष अवशिष्ट रहने पर महाभिनिष्क्रमण करते हुए.... संसार का त्याग करते हुए चारित्र ग्रहण करके आदर्श साधु बने। दीक्षा लेकर विशस्थानक के बीसों पदों की साधना करने में मन लगा दिया। घोर तपश्चर्या करने में जुड़ गए। बस, किसी भी स्थिति में तीर्थकर भगवान बनने का लक्ष्य अत्यन्त उत्कट कर दिया और सिर्फ १ लाख वर्ष के सीमित आयुष्य काल में ११८०६४५ (११ लाख ८० हजार ६४५) की बड़ी विशाल संख्या में मासक्षमण किये। आप सोचिए! सिर्फ १ लाख वर्ष का ही सीमित काल है। १ वर्ष के १२ महीने होते हैं। १ महीने के उपवास को मासक्षमण कहते हैं। ऐसे १ वर्ष के १२ मासक्षमण हो जाय तो १ लाख वर्ष के $१००००० \times १२ = १२०००००$ बारह लाख मासक्षमण हो सकने संभव हैं। लेकिन बीच में पारणे के लिए भी अवकाश तो चाहिए। अतः इन १२००००० महीनों के काल में नंदन राजर्षि ने $१२००००० - ११८०६४५ = १९३५५$ महीने शेष बचे।... ये महीने बीच में किये पारणे के महीने हैं। इस तरह नंदन राजर्षि ने कभी २ मासक्षमण, कभी ३, कभी ४, कभी ५, और कभी ६ मासक्षमण भी साथ किये और इस तरह १२ लाख महीनों के काल में

१९३५५ महीने बीच में पारणे करते—करते नंदनराजर्षी ने इतने १ लाख वर्षों के आयुष्य काल में ११८०६४५ मासक्षमण की सुदीर्घ घोर तपश्चर्या करके विशस्थानक तप करते हुए साथ ही साथ सर्व जीवों के कल्याण की उत्तम भावना का चिन्तन करते हुए तीर्थकर नामकर्म उपार्जन किया । और इसके परिणाम स्वरूप अन्तिम २७ वे भव में तीर्थकर महावीर के नाम से भगवान बने । इसीलिए सभी जीव तीर्थकर नहीं बन पाते हैं । जो विशस्थानकों की आराधना करें और साथ ही साथ सर्वजीवकल्याण की भावना का सतत चिन्तन करते हुए घूटे तब जाकर कोई विरल जीव तीर्थकर नामकर्म उपार्जित करता है । तब जाकर भगवान बनता है ।

“सवि जीव करूँ शासन रसी” की भावना—

विशस्थानक विधिएं तप करी, ऐसी भावदया दिलमां धरी ।

जो होवे मुज शक्ति इसी, सवि जीव करूँ शासन रसी ॥

शुचिरस ढलते तिहाँ बाँधता, तीर्थकर नाम निकाचता ॥

पूज्यश्री वीरविजयजी महाराज स्नात्र पूजा की ढाल में लिखते हैं कि... विधिपूर्वक विशस्थानक की तपश्चर्या—आराधना करते करते दिल में ऐसी भावदया का चिन्तन करते हैं कि— यदि मुझे ऐसी प्रबल शक्ति मिले तो मैं जगत के सभी जीवों का कल्याण करूँ । यह जो जिन शासन है, आत्मानुशासन रूप धर्म मार्ग है, इसके अनुरागी सबको बना दूँ ताकि सबका कल्याण हो जाय । “मा कार्षीत् कोऽपि पापानि, मा च भूत् कोऽपि दुःखिनः ।” इस संसार में कोई भी जीव पाप न करे, पाप करके अशुभ कर्म उपार्जन न करे, और परिणाम स्वरूप कोई दुःखी न हो जाय । इस तरह की उत्कृष्ट भावना अखण्ड रूप से मन में घूँटते रहते हैं । देखिए, प्रार्थना कितनी प्रबल शक्तिशाली होती है ? कल्पना नहीं कर सकेंगे । यह भावना या प्रार्थना भी कोरी नहीं है, यह भी सार्थक, सहेतुक है । इस प्रार्थना के अनुरूप विशस्थानक की उग्र तपश्चर्या भी करते हैं । परिणाम स्वरूप बाह्य—आभ्यंतर दोनों साधना के एक रूप होने पर ... शुचिरस ... पवित्र रस आत्मप्रदेशों में झरता है । ऐसे शुचिरस से वह साधक तीर्थकर नामकर्म की पुण्य प्रकृति बाँधता है । इसी से तीर्थकर बनना निश्चित होता है । परिणाम स्वरूप १ जन्म बीच में देव या नारकी का स्वकृत कर्मानुसार करके तीसरे अन्तिम जन्म में तीर्थकर भगवान बनते हैं । एक पहला जन्म तीर्थकर नामकर्म उपार्जन करने का, दूसरा जन्म बीच के देव जन्म का तथा अन्तिम जन्म तीर्थकर बनने का इस तरह ३ जन्म होते हैं । तीसरे जन्म में तीर्थकर भगवान बनकर पूर्व की अपनी

भावानुसार प्रबल पुरुषार्थ करके ... जगत के जीवों को देशनादि देकर तारते हैं और उनका कल्याण करते हैं ।

जैन धर्म में भगवान बनने की प्रक्रिया—पद्धति इस प्रकार की बताई है । परन्तु जगत् के शेष किसी भी धर्म में ऐसी भगवान बनने की कोई प्रक्रिया बताई ही नहीं है । ऐसी कोई पद्धति है ही नहीं । क्योंकि उस धर्मों में ऐसा सिद्धान्त है कि जगत् का कोई जीव भगवान बन ही नहीं सकता है । किसी को भी अधिकार ही नहीं है । इसलिए सवाल ही नहीं उठता है । जैन धर्म में कोई भी भव्यात्मा इस प्रक्रिया से भगवान बन सकती है । क्योंकि आत्माएँ आत्मस्वरूप से सभी एक जैसी ही हैं । एक समान ही हैं । आत्मगुणों की समानता सादृश्यता के कारण किसी भी एक भव्य जीव से दूसरे में कोई भेद नहीं है । यदि महावीर इस प्रक्रिया पर चलते चलते तीर्थंकर भगवान बन सकते हैं तो हम क्यों नहीं बन सकते ? जरूर बन सकते हैं ।

संसार की सभी आत्माएँ आत्मत्व जाति की अपेक्षा एक समान—एक जैसी हैं । आत्मगुणों से भी एक समान—एक जैसी ही हैं तथा आत्मा पर लगे आठों कर्म भी सबके एक जैसे—एक समान ही हैं तथा कर्मक्षयकारक धर्म करने में धर्म की भी एकवाक्यता—एकसमानता है । तथा कर्मक्षय के पश्चात् उत्पन्न आत्मगुणों में भी एक जैसी समानता रहती है । इसी कारण संसार में जितने भी अरिहंत हुए हैं, तीर्थंकर भगवान हुए हैं, वे सभी अपने अपने आत्मगुणों के प्रादुर्भाव के कारण एक जैसे समान ही होते हैं । इसलिए आदिनाथ से शान्तिनाथ पार्श्वनाथ या महावीर तक के सभी तीर्थंकर एक जैसे समान ही होते हैं । किसी से किसी में अंशमात्र भी भेद या अन्तर होता ही नहीं है । सभी एक सरीखे समान ही होते हैं ।

एक समान सदृश शाश्वतता—

चाहे भूतकाल में कितने भी तीर्थंकर हुए हो, या चाहे वर्तमान काल में विचरते हुए हो, या चाहे भविष्यकाल में होनेवाले भी हो लेकिन सभी तीर्थंकरों का स्वरूप एक समान एक जैसा ही होता है । एक से दूसरे तीर्थंकर में आत्मगुणों की उपलब्धि में रत्तीभर भी अन्तर नहीं होता है । जी हाँ, बाह्य—अन्तर जो शरीर नामादि जन्य है उसमें यदि अन्तर रहता भी है तो इसमें वह बाधक नहीं बनता है । जैसे कि शरीर की ऊँचाई में कम—ज्यादा प्रमाण हो, आयुष्य भी कम—ज्यादा हो, तथा नामादि भिन्न हो, शरीर का रूप—रंग भिन्न होता है । इस प्रकार की भिन्नता हो, ऐसा अन्तर हो, इसमें कोई आश्चर्य ही नहीं है । लेकिन

तीर्थकरत्व सदा ही सबमें समान रहता है। जैसे कि— केवलज्ञान, केवलदर्शन सबमें समान ही रहता है। वीतरागता अर्थात् राग—द्वेष—रहितता भी सबकी एक जैसी ही समान रहती है। अनन्त वीर्यता, अनन्त दानादि शक्ति भी एक जैसी समान ही रहती है। तीर्थकर नामकर्म के पुण्योदय की समानता भी सब में एक जैसी ही रहती है। समवसरण की रचना भी सबके लिए एक जैसी ही होती है। अष्टप्रातिहार्य ३४ अतिशयादि भी सबके एक जैसे समान ही होते हैं। तथा सभी तीर्थकरों के उपदिष्ट तत्त्व में जीवादि नौ तत्त्वों, उत्पादादि त्रिपदी, अनेकान्तादि सिद्धान्त पद्धति, आत्मा, परमात्मा, मोक्षादि तत्त्वों का स्वरूप भी सभी एक समान ही होता है। इसलिए ऐसी सादृश्यता के कारण शाश्वतता आती है। इसीलिए कहते हैं कि...

आगे चौबीशी हुई अनन्ती, खलीरे होशे चार अनन्ती।

(अरिहंत) नवकार तणी कोइ आदिन जाणे, एम भाखे अरिहंत रे ॥

भूतकाल में २४—२४ तीर्थकर भगवन्तों की एक—एक चौबीशी ऐसी अनन्त चौबीशियाँ हुई हैं। बीत चुकी हैं। इसी तरह आगे के भविष्यकाल में भी ऐसी अनन्त चौबीशियाँ होगी (होनेवाली हैं)। भूतकाल में भी अनन्त तथा भविष्यकाल में भी अनन्त होंगी। अतः उतनी अनन्तानंत चौबीशियों तक नवकार, अरिहंतादि शाश्वत रूप से सदा ही नित्य रहता है। ऐसी अनन्तता, समानता तथा शाश्वतता एक जैसी ही रहती है।

इसके आधार पर गुणस्थानों के सोपानों पर आरोहण होने की प्रक्रिया भी शाश्वत है। समान रूप से सभी गुणस्थान पर आरोहण करने की प्रक्रिया भी समान ही है, अर्थात् गुणस्थानों पर चढ़ने की आरूढ होने की प्रक्रिया—मिथ्यात्व से सम्यक्त्व, फिर देशविरतिधर श्रावक, फिर प्रमत्त साधु छट्टे गुणस्थान पर बनना, फिर आगे अप्रमत्त साधु बनकर ध्यानादि करना, फिर ८ वे गुणस्थान से क्षपक श्रेणी का शुभारंभ करना, फिर.... कर्मक्षय करते—करते ८ से नौवे, फिर १० वे फिर १२ वे गुणस्थान पर आकर वीतराग बनना, फिर १३ वे गुणस्थान पर आकर तीर्थकर, या सामान्य सर्वज्ञादि बनना, फिर अन्त में १४ वे गुणस्थान पर होकर निर्वाण पाकर, मोक्ष में जाकर सिद्ध बनना, अनन्त जीवों के लिए अनन्त कालीन एक जैसी समान ही प्रक्रिया है। उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता है। भेद नहीं रहता है। इस तरह गुणस्थानों का यह मार्ग शाश्वत एवं समान—सदृश है। किसी भी काल में कभी भी रतीभर भी अन्तर पड़नेवाला ही नहीं है। ऐसी अनन्तकालीन शाश्वतता एवं समानता को अच्छी तरह समझकर हमें भी आज यही विचार करना चाहिए कि... जो हमें भविष्य में कभी न कभी करना ही है। आखिर भविष्य में अनन्त जन्मों के पश्चात्

जब मोक्ष में जाने की इच्छा होगी तब भी यही करना पड़ेगा । तो फिर आज इसी भव में क्यों नहीं करना ? जब आज सारी अनुकूलता सुविधा उपलब्ध है तो फिर प्रमादवश—आलस्य के कारण आज न करना या छोड़ देना मूर्खता सिद्ध होगी । अतः इस नित्य शाश्वत सर्वथा समान स्वरूप को समझकर आज करना इसी में बुद्धिमत्ता सिद्ध होगी । इसीलिए गुणस्थान क्रमारोह का ज्ञान—विज्ञान समझकर सबको आगे—आगे के गुणस्थान के सोपान चढ़ने के लिए उद्यमशील होना ही चाहिए ।

एक-एक पद की आराधना से तीर्थकरण—

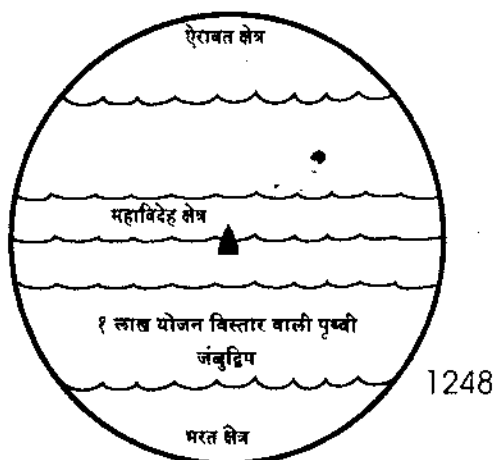
यद्यपि २० पदों का स्वरूप बताया है । संयुक्त रूप से २० पदों की आराधना करके उत्कृष्ट से तीर्थकर नामकर्म बांधा जाता है, फिर भी ऐसा नियम नहीं है कि बीसों पदों की संयुक्त आराधना करके ही तीर्थकर नाम कर्म बांध सकते हैं । जी नहीं । ... एक पद की आराधना करके भी तीर्थकर नामकर्म बांधा जा सकता है । भगवान् महावीर प्रभु की आत्मा ने २५ वे नन्दनराजर्षि के भव में बीसों पदों की संयुक्त आराधना उत्कृष्ट रूप से करके तीर्थकर नामकर्म बांधा है । भगवान् आदिनाथ की आत्मा ने ११ वे भव में बीसों में से एक ही पद की आराधना करके तीर्थकर नामकर्म उपार्जित किया था । इस से यह सिद्ध होता है कि ... किसी भी एक पद की आराधना करके भी तीर्थकर नामकर्म बांधा जा सकता है । महाविदेह में जाकर तीर्थकर बननेवाले अनेक महात्माओं, जिन्होंने ... एक एक पद की आराधना करके तीर्थकर नामकर्म उपार्जन किया है उनके नामादि निम्न प्रकार हैं—

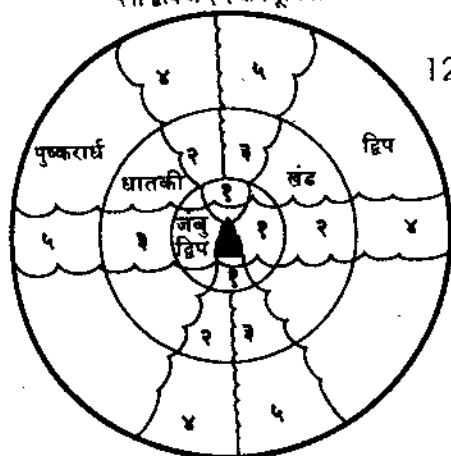
- १) अरिहन्त पद की आराधना करके— देवपाल ने तीर्थकर नामकर्म बांधा है ।
- २) सिद्ध पद की आराधना करके— हस्तिपाल राजा ने तीर्थकर नामकर्म बांधा है ।
- ३) प्रवचन पद की आराधना करके— जिनदत्त शेट ने तीर्थकर नामकर्म बांधा है ।
- ४) आचार्य पद की आराधना करके— पुरुषोत्तम महाराज ने तीर्थकर नामकर्म बांधा है ।
- ५) स्थविर पद की आराधना करके— पद्मोत्तर महाराज ने तीर्थकर नामकर्म बांधा है ।
- ६) उपाध्याय पद की आराधना करके— महेन्द्रपाल महाराज ने ती. नामकर्म बांधा है ।
- ७) साधु पद की आराधना करके— वीरभद्र ने तीर्थकर नामकर्म बांधा है ।
- ८) ज्ञान पद की आराधना करके— जयन्तराज ने तीर्थकर नामकर्म बांधा है ।
- ९) स. दर्शन पद की आराधना करके— हरिविक्रम ने तीर्थकर नामकर्म बांधा है ।
- १०) विनय पद की आराधना करके— धन्नशेठ ने तीर्थकर नामकर्म बांधा है ।
- ११) चरित्र पद की आराधना करके— वरुणदेव ने तीर्थकर नामकर्म बांधा है ।
- १२) ब्रह्मचर्य पद की आराधना करके— चन्द्रवर्मा ने तीर्थकर नामकर्म बांधा है ।

- १३) क्रिया पद की आराधना करके— हरिवाहन राजा ने तीर्थंकर नामकर्म बांधा है ।
 १४) तप पद की आराधना करके— कनककेतु ने नामकर्म बांधा है ।
 १५) दान (गौतम) पद की आराधना करके— हरिवाहन ने तीर्थंकर नामकर्म बांधा है ।
 १६) जिन पद की आराधना करके— जीमूतकेतु ने तीर्थंकर नामकर्म बांधा है ।
 १७) संयम पद की आराधना करके— पुरंदर राजा ने तीर्थंकर नामकर्म बांधा है ।
 १८) अभिनव ज्ञान पद की आराधना करके— सागरचंद्र राजा ने तीर्थंकर नामकर्म बांधा है ।
 १९) श्रुत पद की आराधना करके— रत्नचूड महाराज ने तीर्थंकर नामकर्म बांधा है ।
 २०) तीर्थ पद की आराधना करके— मेरुप्रभसूरि महाराज ने तीर्थंकर नामकर्म बांधा है ।

इस तरह आप ध्यान से देखेंगे तो बरोबर ख्याल आएगा कि २० अलग-अलग स्वतंत्र जीव हैं जिन्होंने अलग-अलग एक-एक पद की आराधना करके तीर्थंकर पद की आराधना करके तीर्थंकर नामकर्म उपार्जन किया है जो वर्तमान में देवगति में देवता के रूप में हैं । वहाँ से सीधे महाविदेह क्षेत्र में जाकर तीर्थंकर बनकर मोक्ष में जाएंगे । अतः एक पद की आराधना करके भी कई तीर्थंकर बने हैं और भविष्यकाल में भी बनेंगे ही । पद भी शाश्वत है, और पदों की आराधना तथा सर्व जीव कल्याण की भावना से तीर्थंकर नामकर्म उपार्जन करने की प्रक्रिया भी शाश्वत है । अतः कोई भी बांध सकता है । तथा तीर्थंकर बनना भी शाश्वत मार्ग है । सदा काल तीर्थंकर बनते ही रहेंगे । अनन्त भूतकाल में अनन्त तीर्थंकर भगवान इसी तरह इसी प्रक्रिया से हुए हैं और भविष्य में भी होते ही रहेंगे । अनन्त काल भूतकाल में बीत चुका है, ऐसे अनन्तकाल में १ दिन भी ऐसा

खाली नहीं गया जिस दिन इस धरती पर तीर्थंकर न रहे हो । धरती काफी लम्बी चौड़ी है । हमारी अल्प बुद्धि के कारण हम वर्तमान विश्व की पृथ्वी को सीमित मर्यादित ही मानते हैं । लेकिन वास्तव में ऐसा नहीं है । यह पृथ्वी १ लाख योजन व्यास की गोलाकार थाली आकार की है । इसका विस्तार १ लाख योजन का है । इसमें कर्मभूमि, अकर्मभूमि, अन्तर्द्वीप आदि हैं । १५ कर्मभूमि में ही तीर्थंकर होते हैं । धर्म





होता है, यहाँ से ही मोक्ष होता है। इस प्रथम धरती के नीचे के दक्षिण किनारे के भरत क्षेत्र में हम रहते हैं। बीच के केन्द्र भाग में पूर्व-पश्चिम प्रसरा हुआ महाविदेह क्षेत्र है। वहाँ सदा काल चौथा आरा होता है। वहाँ सदाकाल तीर्थकर होते ही रहते हैं। यह तीर्थकरों के होने की शाश्वत भूमि है। यहाँ होते ही रहते हैं। इसके ऊपर ऐरावत क्षेत्र उत्तरी छोर पर है। भरत और ऐरावत क्षेत्र में परिवर्तनशील काल के ३ रे ४

थे आरे का समय आता है, तब उसमें ही तीर्थकर होते हैं। अन्यथा शेष आरों में नहीं होते हैं।

१) जंबुद्वीप, २) घातकी खंड, और ३) पुष्करार्ध द्वीप। ऐसे ३ द्वीप हैं। इनमें पहले दो पूरे तथा तीसरा पुष्करार्ध द्वीप आधा ही है। इसलिए ढाई (२ ॥) द्वीप ही गिने जाते हैं। बीच में लवणसमुद्र तथा कालोदधि समुद्र भी है। वैसे कर्मभूमि के तथा अकर्मभूमि के कई क्षेत्र हैं। लेकिन इनमें जंबुद्वीप में १ भरत, १ ऐरावत, तथा १ महाविदेह ये ३ क्षेत्र हैं। दूसरे द्वीप घातकी खंड में ये ही तीनों दुगुने—दुगुने हैं। अर्थात् २—२—२ हैं। ठीक इसी तरह तीसरे पुष्करार्ध द्वीप में भी भरतादि क्षेत्र २—२—२ है। इस तरह कुल मिलाकर ५ भरत क्षेत्र + ५ ऐरावत क्षेत्र, तथा ५ महाविदेह क्षेत्र मिलाकर कुल १५ कर्मभूमियाँ हैं। जहाँ धर्म—कर्मादि सब होता है, उसे कर्मभूमि नाम दिया है। इन १५ कर्मभूमियों में ही तीर्थकर भगवान होते हैं। इनमें भी जो ५ महाविदेह क्षेत्र हैं उनमें तीर्थकर भगवान सदाकाल ही होते रहते हैं। वहाँ १ दिन भी ऐसा खाली नहीं जाएगा जिस दिन तीर्थकर न हो। ऐसे एक—एक महाविदेह में कम से कम ४ तीर्थकर भगवान तो होते ही हैं। ऐसे ५ महाविदेह क्षेत्र हैं। इसलिए $५ \times ४ = २०$ तीर्थकर भगवान कहलाते हैं। वैसे एक महाविदेह क्षेत्र में ३२ विदेह (अवान्तर क्षेत्र या देशादि होते हैं। अतः $३२ \times ५ = १६०$ विदेह कुल ५ महाविदेह क्षेत्र में हुए। अतः महाविदेहों में उत्कृष्ट से तीर्थकर होते हैं। हुए—हुए भी हैं। इसी तरह पाँचों भरत क्षेत्र में ५ तथा ऐरावत क्षेत्र में भी ५ इस तरह १६०

+ ५ + ५ = १७० तीर्थकर भगवान् उत्कृष्ट रूप से हो सकते हैं। यहाँ दूसरे तीर्थकर अजितनाथ भगवान् जब हुए थे तब समस्त २ ॥ द्वीप रूप क्षेत्र में कुल मिलाकर १६० + ५ + ५ = १७० तीर्थकर उत्कृष्ट से हुए थे। इसीलिए कहा है—

वर कणय-संख-विद्रुम-मरगय घण संनिहं विगय मोहं ।

सत्तरिसयं जिणाणं सव्वामर पुईयं वंदे ॥

कनक अर्थात् सोने के जैसे श्रेष्ठ सुवर्ण वर्ण वाले, शंख जैसे गौर वर्णवाले, विद्रुम, तथा मरकतमणी जैसे एवं घने श्याम बादलों जैसे रंगवाले ऐसे वर्णवाले १७० तीर्थकर भगवान् जो रागद्वेषरहित वीतराग हुए हैं जिनको सभी देवताओं ने पूजा है, उनको मैं भी वंदन करता हूँ। इस तरह तीर्थकर भगवान् महाविदेह क्षेत्र में सतत-निरंतर होते ही रहते हैं।

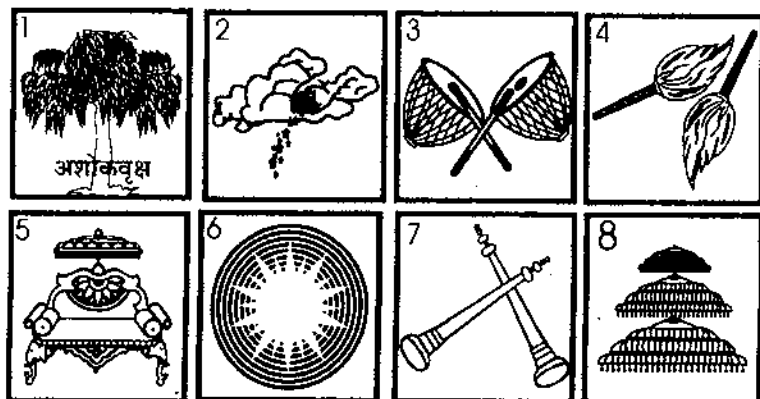
अष्ट महाप्रातिहार्य से सुशोभित तीर्थकर—

अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टिः दिव्यध्वनिश्चामरमासनं च ।

भामंडलं दुंदुभिरातपत्रं, सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम् ॥

तीर्थकर नामकर्म की उत्कृष्ट पुण्यप्रकृति के उदय काल में तीर्थकर बननेवाले तीर्थकर भगवानों के आठ प्रकार के सुंदर अतिशयों की प्राप्ति होती है। इससे वे तीर्थकर भगवान् सुशोभित होते हैं। इन्हें प्रातिहार्य कहते हैं। वैसे प्रातिहार्य शब्द का अर्थ होता है “अंगरक्षक”। जैसे अंगरक्षक सदा ही राजादि के साथ ही रहते हैं वैसे ही ये आठों प्रातिहार्य अंगरक्षक की तरह सदाकाल साथ में ही रहते हैं। इनके प्रतीक चिन्ह इस प्रकार हैं—

1250



१) **अशोक वृक्ष**— परमात्मा जब समवसरण में बिराजमान होकर धर्म देशना देते हैं उस समय देवता समवसरण के मध्य केन्द्र में एक विशाल अशोक वृक्ष की रचना करते हैं जो पूरे समवसरण पर फैला हुआ रहता है। जिसकी शीतल छाया में सभी बैठते हैं। अशोक शब्द में 'अ' अक्षर निषेधवाची है। शोक का न रहना... निषेध होने के कारण अशोक नाम सार्थक सिद्ध होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि इस वृक्ष के नीचे आकर बैठनेवाले सभी शोकरहित होकर देशना श्रवण करते हैं। सर्वथा ताप—संताप, दुःख—खेदरहित होते हैं। यह अशोक वृक्ष प्रभु की अवगाहना (ऊँचाई) से १२ गुना ज्यादा ऊँचा होता है। १ योजन भूमि पर फैला हुआ रहता है। इतना इसका विस्तार है।

२) **सुरपुष्पवृष्टि**— देवतागण चारों तरफ पुष्पवृष्टि करते हैं। समवसरण के आसपास के १ योजन परिसर में चारों तरफ सुवासित पुष्पों की वृष्टि करके वातावरण को सुगंध से भर देते हैं। जानु (घुटने) पर्यन्त यह वृष्टि होती है। यह दूसरा प्रातिहार्य है।

३) **दिव्यध्वनि**— समवसरणस्थ प्रभु जब देशना देते हैं तब उनकी देशना में एक प्रकार की दिव्यता आती है। चारों तरफ सभी प्रभु देशना को अच्छी तरह सुन सके इसके लिए देवता प्रभु देशना को दीर्घ करते हैं। प्रभु मालकोश राग में देशना देते हैं। सभी सुननेवाले श्रोताओं को अमृत के आस्वाद समान सुख उपजता है। सभी जीवों को समान रूप से सुनाई देती है। द्राक्ष रस के समान मधुर लगता है। देवतागण भी बांसुरी बजाकर उसमें सूर मिलाते हैं। देवतादि बारह पर्षदा के सभी श्रोता श्रवण करने में तल्लीन बन जाते हैं।

४) **चामरद्वय**— परमात्मा समवसरण में बिराजमान होते हैं, देशना देते हैं, तब देवतागण प्रभु के दोनों बाजु चामर वींझते हैं। वैसे प्रभु के शरीर पर कोई प्रस्वेद होता ही नहीं है फिर भी भक्तिभावना वश देवता चामर वींझते हैं।

५) **सिंहासन**— समवसरण में देशना देने के लिए बैठने हेतु देवता सिंहासन की रचना करते हैं। यह व्याघ्रचर्म न समझें... यह स्फटिक का बना हुआ होता है। ऐसे सिंहासन पर बैठकर प्रभु देशना देते हैं।

६) **भामण्डल**— भामण्डल को आभामण्डल भी कहते हैं। घाती कर्मों के क्षय से अमन्तज्ञानादि प्रगट होने के कारण शरीर से तेजःपुंज निकलता है। इससे प्रभु की तेजस्विता अनेकगुनी बढ़ जाती है। जिससे श्रोताओं को प्रभु का मुख दिखाई भी न दे, ऐसी स्थिति में देवतागण प्रभु के मस्तिष्क के पीछे भामण्डल की रचना करते हैं। जिससे अतिरिक्त

आभा भामण्डल में समा जाती है। और प्रभु की मुखाकृति सौम्य बन जाती है। जिससे सभी श्रोता गण के लिए यह सौम्य मुखाकृति दर्शनीय बनती है।

७) देव दुंदुभि— देवता गण गांवों—नगरों में चारों तरफ ग्रामवासियों को प्रभु देशना श्रवण करने पधारने के लिए बुलाने के लिए... दुंदुभि बजाकर उद्घोषणा करते हैं। यह इस प्रातिहार्य का अर्थ है। जैसे कि आज भी ढोल बजाकर घोषणा करने की पद्धति है। भेरी—भंभा आदि जैसा वाद्ययंत्र विशेष जिसे बजाकर देवता सबको संबोधित करते हैं। यह देवदुंदुभि नामक प्रातिहार्य है।

८) आतपत्र (छत्रत्रय) प्रातिहार्य— परमात्मा समवसरण में बिराजमान होते हैं तब देवता प्रभु के मस्तक पर ३ छत्र बनाते हैं। परमात्मा तीनों भुवन के अधिपति हैं यह त्रिभुवनपतिपना सिद्ध करने के लिए छत्रत्रय का प्रातिहार्य सूचक है। १) ऊर्ध्वलोक, २) अधोलोक, ३) तिर्छालोक इन तीनों लोक के जीव परमात्मा को मानते हैं। स्वीकारते हैं। जिससे तीर्थकर भगवान तीनों भुवन में (३ लोक में) पूजनीय, माननीय, आदरणीय, स्वीकार्य होते हैं। इसी कारण आज भी सर्वत्र मंदिरों में तीर्थकरों की मूर्ति के ऊपर छत्रत्रय सर्वत्र रखे जाते हैं।

ऐसे उपरोक्त अष्ट महाप्रातिहार्यों से तीर्थकर प्रभु शोभायमान होते हैं। ये देवताओं द्वारा निर्मित हैं। जिसमें कारणभूत परमात्मा के तीर्थकर नामकर्म का उदय है। तथा प्रभु के चारों घाती कर्मों का क्षय है। प्रभु को इन पर या किसी पर भी न तो राग है और न ही द्वेष है। सर्वथा राग—द्वेष रहित वीतराग है। किसी प्रकार का मोह न होते हुए भी देवता मात्र भक्तिवश होकर स्वेच्छा से करते हैं। ऐसे प्रातिहार्यों की रचना देवता भगवान के सिवाय अन्य किसी के लिए भी नहीं करते हैं। इसीलिए तीर्थकरों के सिवाय कभी भी किसी के लिए भी इनकी रचना नहीं हुई है। इसलिए ये प्रातिहार्य तीर्थकरों के गुणों की गणना में गिने जाते हैं। अन्य किसी के गुण आदि रूप में नहीं गिने जाते हैं।

एक बात और आपको जानकर आश्चर्य होगा कि—ये प्रातिहार्य संसार के किसी अन्य भगवानों के लिए हो ऐसा देखा भी नहीं जाता है। क्योंकि किसी भी धर्म ने अभी तक अपने भगवानों के लिए ऐसा वर्णन नहीं किया है। हिन्दु—मुस्लिम—या ख्रिस्ती धर्म में, धर्मशास्त्रों में वैसा वर्णन ही नहीं मिलता है। अतः किसी भी भगवान के लिए ऐसे अष्ट प्रातिहार्य नहीं होते हैं। ये एक मात्र जैन तीर्थकर भगवान के लिए ही होते हैं। अतः इनके ही गुण रूप में इनकी गणना होती है। इसी कारण उपाध्यायजी म० कहते हैं कि—

“एह ठकुराइ तुझ के बीजे नवि घटे रे लोल ।”

हे प्रभु ! यह तो आपकी विशेषता है । यह आपका ही वैभव है, अन्यत्र सर्वत्र कहीं देखने भी नहीं मिलता है । कहीं घटता भी नहीं है । एक मात्र तीर्थकर में ही घटते हैं । तीर्थकर नामकर्म की पुण्य प्रकृति से ही होते हैं ।

३४ अतिशय—

१) ४ अतिशय जन्म से, २) ११ अतिशय कर्मक्षय से, ३) १९ अतिशय देवकृत = ३४

चार अतिशय मूलश्री ओगणीश देवना कीध ।

कर्म खण्वाथी अगीयार, चोत्रीश एम अतिशय समवायांगे प्रसिद्ध ॥

पू. श्री पद्मविजयजी म. ने भगवान आदिनाथ के स्तवन में इस तरह लिखा है— ४ अतिशय जन्म से + ११ अतिशय कर्मक्षय जन्म तथा १९ अतिशय देवकृत होते हैं । ये कुल मिलाकर ३४ अतिशय कहलाते हैं । अति + शय = अतिशय शब्द अति—विशिष्ट अर्थ में है । जो सामान्य रूप में भी किसी में देखने को नहीं मिलते हैं । वे तीर्थकर भगवान में अतिशय विशिष्ट कक्षा के होते हैं । अतः उन्हें अतिशय कहते हैं । ऐसे कुल ३४ प्रकार के अतिशय होते हैं । जो तीर्थकर भगवान में होते हैं ।

इन अतिशयों के ३ वर्गीकरण किये गए हैं । जन्मजात जो होते हैं । उन्हें मूल अतिशय, या सहजातिशय कहते हैं । सहज स्वाभाविक रूप से होते ही हैं ।

तेषां च देहोऽद्भुतरूपगन्धो, निरामय स्वेऽमलोऽज्झितश्च ।

श्वासोऽजगन्धे रुधिरामिषं तु, गोक्षीरधाराघवलं ह्यविस्मम् ।

आहारनीहारविधिस्त्ववदृश्यश्चत्वार एतेऽतिशया सहोत्थाः ॥

पूज्यश्री हेमचन्द्राचार्य जैसे कलिकालसर्वज्ञ महापुरुष ने अभिधान चिन्तामणी कोष ग्रन्थ में उपरोक्त श्लोकों में निर्देश किया है—

१) परमात्मा का देह जन्म से ही अद्भुत रूप—सौंदर्य युक्त होता है । सर्वथा रोग-रहित निरोगी काया, प्रस्वेद अर्थात् पसीने से रहित शरीर, किसी प्रकार का मैल भी नहीं होता है । इस तरह दोषरहित शरीर तीर्थकर महाराजा का जन्म से ही होता है ।

२) जन्मतः प्रभु के श्वासोच्छ्वास भी कमल पुष्प की सुगंध जैसे सुवासित होते हैं । दुर्गंध का नामोनिशान मात्र भी नहीं होता है ।

३) तीर्थकर के शरीर में जो खून—मांस होता है वह भी बिल्कुल लाल न होकर सफेद रंग का होता है। वैसे सर्वसामान्य जीवों के शरीर में रक्त—मांस लाल होता है। लेकिन यह एक मात्र तीर्थकरों का ही अतिशय होता है कि उनके शरीर में खून मांसादि दूध के जैसे सफेद रंग के होते हैं। याद रखिए कि दूध नहीं होता है। यहाँ सफेदी की उपमा दूध के साथ दी गई है। यह तुलना मात्र है। वह भी मात्र वर्ण (रंग) की है। न की ... द्रव्य की। इसलिए इतना भी न समझनेवाले कुछ बुद्धिहीन लोग दूध कहते हैं। यह उनकी बुद्धिहीनता का परिचय है। ठीक है, रक्त—मांस होता ही है, सिर्फ उनका रंग सफेद होता है। एक माता के स्तनों में पुत्रस्नेह पुत्रप्रेम अतिशय वात्सल्य के कारण दूध बनता है, आता है। रक्त में से इतना ही अंश बनता है। लेकिन तीर्थकर नामकर्म उपार्जन करते समय समस्त जीवराशी पर अपार वात्सल्य भाव प्रगट करके विश्वमातृत्व जैसा भाव लाकर चरम भव में आनेवाले भगवान के शरीर में रक्त—मांस सर्वथा श्वेतवर्ण का हो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। यह अतिशय है।

४) चौथा अतिशय ऐसा है कि... प्रभु के आहार तथा निहार (मल—मूत्र विसर्जन) की क्रिया सर्वसामान्य लोगों को दृष्टिगोचर नहीं होती है। हम लोग सभी चर्मचक्षुवाले होते हैं। अतः दिखाई नहीं देती है।

उपरोक्त चारों अतिशय जन्म से ही साथ होते हैं। अतः इन्हें सहजातिशय कहते हैं। मूलातिशय कहते हैं। इन को देवकृत विभाग में नहीं गिने हैं।

दूसरे ४ अतिशय—

१) ज्ञानातिशय २) वचनातिशय ३) अपायापगमातिशय ४) पूजातिशय

दूसरे विभाग में ये ४ अतिशय बताए हैं। ये जन्मतः सभी नहीं होते हैं। परन्तु केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद पूर्णरूप से प्रगट होते हैं। सर्वसामान्य जीवों की अपेक्षा विशिष्ट—अतिशय स्वरूप में जो प्राप्त हो उसे अतिशय कहते हैं।

१) ज्ञानातिशय— अतिशय स्वरूप में जो ज्ञान होता है उसे ज्ञानातिशय कहते हैं। भगवान में मति, श्रुत और अवधिज्ञान ये ३ ज्ञान जन्मजात साथ ही होते हैं। दीक्षा ग्रहण करते ही चौथा मनःपर्यवज्ञान प्रगट होता है। तथा सर्वथा संपूर्ण ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से केवलज्ञान प्रगट होता है। केवलज्ञान यह अतिशय ज्ञान है। इसमें कमी—न्यूनाधिकता अंशमात्र भी नहीं रहती है। ऐसा यह अतिशय ज्ञान १३ वे गुणस्थान पर आरूढ सर्वज्ञ में ही संभव होता है।

२) वचनातिशय—वचन—वाणी—भाषा को कहते हैं। देशना देते समय प्रभु की वाणी अत्यन्त मधुर मीठी लगती है। इक्षुरससी मधुर लगती है। कर्णप्रिय होती है। प्रभु प्राकृत भाषा में देशना देते हैं। जिससे सबको समान रूप से समझ में आ सके। प्रभु की वाणी पशु—पक्षियों को, देवताओं आदि को भी परिणमती है। सर्व गुण सम्पन्न वाणी आह्लाद करनेवाली, परिमित—सीमित शब्दोंवाली अगाध—अर्थगंभीरवाली वाणी सर्व कल्याणकारी होती है। दूर—सुदूर तक श्रवणग्राह्य रहती है। इसे दूसरा वचनातिशय कहते हैं।

३) अपायापगमातिशय—अपाय अर्थात् = दुःख होता है। इसके अपगम = नाश को अपायापगम अतिशय कहते हैं। मोहनीय कर्म के संपूर्ण क्षय हो जाने से अब राग—द्वेषादि जन्म कोई भी दोष—दुःखरूप राग—द्वेष ही नहीं होता है। इसलिए कोई दुःख होता ही नहीं है। दुःखों के सर्वथा अपगम—नाश को अपायापगम अतिशय कहा है।

४) पूजातिशय—“देविन्दपूइयाण” जैसे विशेषण पू. चिरन्तनाचार्यजी ने पंचसूत्र ग्रन्थ में दिये हैं। इससे देव—स्वर्ग—देवलोक के देवी—देवता तथा उसके भी इन्द्र—स्वामी मालिक है उनको देवेन्द्र कहते हैं। तीर्थंकर परमात्मा की पूजा—भक्ति देवेन्द्र भी करते हैं। सामान्य मनुष्य आदि तो प्रभु की पूजा भक्ति करते ही हैं। लेकिन देवेन्द्रादि जो विबुध कहलाते हैं, विशिष्ट बुद्धिशाली ऐसे विबुद्ध देवता भी जिनकी पूजा—भक्ति करते हैं, वे परमात्मा सर्व जीवों के लिए भी पूजनीय बनते हैं। तीर्थंकर प्रभु का जब जन्म होता है। तब देवेन्द्र सौधमेंन्द्र प्रथम देवलोक से आते हैं। ५ रूप बनाकर प्रभु को ग्रहण करके सुमेरु पर्वत पर ले जाते हैं। वहाँ ६४ इन्द्र तथा अन्य सभी देवतादि आते हैं। वे सभी परमात्मा का अभिषेक करते हैं। इस तरह १) भवनपति, २) व्यंतर, ३) ज्योतिषी, ४) तथा वैमानिक चारों निकाय के देवता जिनकी पूजा भक्ति करते हैं, जो परमात्मा उनके लिए पूजनीय बनते हैं वे सभी जीवों के लिए पूजनीय बनते हैं। इसलिए देवेन्द्र पूज्यपना यह पूजातिशय कहलाता है। वैसे यह अतिशय जन्म से भी होता है। परन्तु विशेष रूप से सर्वज्ञता प्राप्त होने पर... देवता आकर समवसरण आदि की रचना करते हैं। अतिशय तथा प्रातिहार्यादि की रचना देवता ही करते हैं। तथा जघन्यरूप से भी करोड़ों की संख्या में देवता तीर्थंकर परमात्मा की सेवा भक्ति में उपस्थित रहते हैं। नौ स्वर्णकमलों की रचना कर प्रभु के पैर भी जमीन पर नीचे नहीं गिरने देते हैं। इस तरह यह पूजातिशय एक मात्र तीर्थंकर परमात्मा के ही होता है। ऐसे अतिशयों से सुशोभित परमात्मा की स्तुति—स्तवना—पूजना सभी विद्वानों ने की है।

कर्मक्षयजन्य ११ अतिशय—

१) देव-मनुष्य-तिर्यच १ योजन में समाते हैं— देशनाश्रवणार्थ १ योजन परिमित भूमि में देवता जो समवसरण बनाते हैं उसमें करोड़ों मनुष्य—देवतादि जीवों का समावेश हो सकता है। पशु—पक्षी आदि सबका समावेश हो जाता है।

२) योजनगामिनी वाणी— समवसरण में देशना देने के समय प्रभु की वाणी १ योजन के परिसर में स्पष्ट रूप से सबको सुनाई देती है। एवं समझ में आती है। सभी श्रोताओं के निज—निज भाषा में परिणमती है।

३) भामण्डल— घाती कर्मों के आवरण का सर्वक्षा क्षय हो जाने के कारण अनन्तज्ञानादि गुण अनन्त स्वरूप में प्रगट हुए रहते हैं। तथा मुखारविंद अनेक सूर्य इकट्ठे हो जाय इतने तेजःपुंज से चमकता है। अतः देशना श्रवण करते समय कोई भी देख नहीं पाएगा, और न देख सकने के कारण श्रवण में एकाग्रता नहीं आएगी, इसलिए देवता परमात्मा के देह से निकलते तेजःपुंज को शोषित करने के लिए सिर के पीछे भामण्डल की रचना करते हैं। इसमें प्रभु का अतिशय तेज संहरित हो जाता है। तथा मुखाकृति सौम्य बन जाती है, जो सर्वदर्शन योग्य बन जाती है। अतः आभामण्डल के संहरण के लिए भामण्डल बनाते हैं।

४) निरोगिता— परमात्मा जिस क्षेत्र—भूमि में रहते या विचरते हैं उसके चारों तरफ के सव्वासो योजन विस्तार में ज्वर, ताप आदि रोगों का शमन हो जाता है। और प्रजा में सर्वत्र निरोगिता फैलती है। रोगों का भारी—भयंकर उपद्रव नहीं बढ़ता है।

५) निर्वैरभाव— प्रभु जहाँ विचरते हो वहाँ चारों तरफ के सव्वासो योजन के क्षेत्र में जीवों के परस्पर वैर—वैमनस्य का शमन हो जाता है। किसी भी जीव का किसी के प्रति वैरभाव ही नहीं रहता है।

६) सप्त इतियों का अभाव— प्रभु के विचरण की सव्वासो योजन की भूमि के विस्तृत क्षेत्र में कहीं भी सात इतियाँ नहीं होती हैं। १) धन—धान्य के लिए उपद्रवकारी चूहे, २) तीड, ३) कृमि, अनेक जीवों की उत्पत्ति आदि।

७) मारी—मरकी उपद्रव का अभाव— मारी महामारी अर्थात् अकाल ही औत्पातिकी मृत्यु बड़ी संख्या में होनी या फिर... महारोग प्लेग आदि महामारी का फैलना और हजारों की तादाद में लोगों का मरना ऐसी मारी या महामारी का उपद्रव प्रभु की विचरण भूमि में नहीं होता है।

८) अतिवृष्टि नहीं होती है— वृष्टि अर्थात् वर्षा । सतत निरंतर बरसती हुई बारीश में विपुल मात्रा में सीमा से ज्यादा अति होना यह अतिवृष्टि प्रभु के विचरण क्षेत्र में नहीं होती है ।

९) अनावृष्टि न होना— अति वृष्टि से ठीक विपरीत वृष्टि होती ही नहीं इसे अनावृष्टि कहते हैं । यह भी तीर्थकर के विचरण क्षेत्र में सर्वथा नहीं होती । बारिश का अभाव कभी नहीं होता ।

१०) दुर्भिक्ष का अभाव— तीर्थकर भगवन्तों के पुण्य प्रभाव से उनके विचरण क्षेत्र में दुष्काल—अकालरूप दुर्भिक्ष कभी भी नहीं होता है । सदा ही सुकाल रहता है । सर्वत्र विपुल मात्रा में धन—धान्य की वृद्धि होती रहती है ।

११) स्व-पर चक्र का भयनाश— भगवान जहाँ विचरण करते हैं उस परिसर—क्षेत्र में स्व या पर राष्ट्रों—देशों के युद्धों का भय बिल्कुल नहीं रहता है । युद्ध की कोई संभावना ही नहीं रहती है । परचक्र अर्थात् शत्रु सेना अचानक कभी धावा नहीं बोलती । कभी विद्रोह नहीं होता है । आंतर विग्रहादि भी नहीं होते हैं ।

ये उपरोक्त ११ प्रकार के अतिशय तीर्थकर परमात्मा के घाती कर्मों के क्षय के प्रभाव से होते हैं । इनके महान पुण्य प्रभाव से चारों तरफ के क्षेत्र में इतने अतिशय होते हैं । पुण्य-प्रभाव साम्राज्य से सभी लाभान्वित होते हैं ।

देवकृत १९ अतिशय—

अभिधान चिन्तामणी में हेमचन्द्राचार्यजी म. ने देवकृत अतिशयों का वर्णन करते हुए निम्न प्रकार से बताया है—

१) धर्मचक्र— अरिहंत परमात्मा जब विहार करते हुए चलते हैं, तब देवता आकाश में सूर्यमण्डल सदृश तेजस्वी धर्मचक्र आगे चलाते हैं ।

२) चामर— समवसरण में बिराजमान प्रभु के दोनों तरफ देवता खड़े रहकर चामर से वींझन करते रहते हैं । चौमुखजी भगवान के दोनों तरफ ऐसे चारों दिशा में चार जोड़ी अर्थात् ८ देवता चामर वींझते हैं ।

३) मृगेन्द्रासन— मृगेन्द्र अर्थात् सिंह । सिंह की मुखाकृति जिसमें दिखाई देती हो ऐसे सिंहासन पर प्रभु बिराजमान होते हैं । यह स्फटिकमय होता है । याद रखिए,

अहिंसा के पुरस्कर्ता मृगचर्म पर नहीं बैठते हैं। इसकी रचना देवता करते हैं। अतः निर्जीव—जड़ होता है।

४) छत्रत्रय—परमात्मा जब समवसरण में बिराजमान होते हैं तब देवता उनपर ३ छत्रों की रचना करते हैं। इससे परमात्मा ३ लोक में पूज्य है। तीनों लोकों के सर्व जीवों के लिए सर्वमान्य—संपूर्ण पूज्य है। इसके प्रतीक रूप में छत्रत्रय बनाते हैं।

५) रत्नमय ध्वज (महेन्द्र ध्वज) — परमात्मा जब विचरते हैं तब उनके आगे देवता रत्नमय बड़े विशाल महेन्द्रध्वज की रचना करते हैं। यह आगे चलता है।

६) सुवर्ण कमल— तीर्थकरों की अतिशय पुण्यप्रकृति के कारण देवता नौ सुवर्णकमलों की रचना करते हैं। और प्रभु के चलते समय वे सुवर्ण कमल क्रमशः बारी—बारी से आगे रखते हैं। जिससे प्रभु के चरण उन कमलों पर ही पड़ते हैं। भूमि पर नहीं।

७) समवसरण की रचना—सर्वज्ञ अनन्तज्ञानी भगवान की देशना के लिए देवता ३ गढ़ (प्राकार) के विशाल समवसरण की रचना करते हैं। रजत, स्वर्ण तथा रत्नमय ऐसे ३ प्राकार की रचना करते हैं। जिसमें ३ गति के देवता, मनुष्य और तिर्यच गति के पशु—पक्षी आदि सभी देशना सुनते हैं। बारह पर्वदा बैठती है। ऊपर अशोक वृक्षादि होता है।

८) चतुर्मुख प्रतिबिम्ब रूप—सर्वज्ञ प्रभु देशना देने पूर्व दिशा सन्मुख बैठते हैं तब शेष पश्चिम—उत्तर—दक्षिण की तीनों दिशा में तत्सदृश प्रतिबिम्ब की रचना करते हैं। जिसमें सभी बैठे हुए लोगों को प्रभु मेरे सन्मुख ही बैठे हैं ऐसा आभास होता है। चारों मुख से बोलते हैं ऐसा एहसास होता है।

९) अशोकवृक्ष—समवसरण के केन्द्र में चैत्यवृक्ष—अशोकवृक्ष की रचना करते हैं। जिसके नीचे प्रभुजी तथा बारह पर्वदा के सभी लोग बैठते हैं। सबका शोक दूर हो जाता है।

१०) कंटक उल्टे होते हैं—प्रभु के विचरने के मार्ग में कांटे भी उल्टे अधोमुखी हो जाते हैं। जिससे पैरों में न लगे।

११) वृक्षों का नमन— प्रभु विचरते हुए मार्ग में चलते हैं, उस समय वृक्ष की शाखाएँ भी झुकती हैं मानों नमस्कार करती हो, ऐसा एहसास कराती है। तथा पुष्पों को बरसाते हुए मानों पुष्पवृष्टि करके बधाई करते हैं, ऐसा सुहावना दृश्य लगता है।

१२) देवदुंदुभि का नाद— प्रभु की देशना श्रवणार्थ मानों सब को आमंत्रण देते हो इस तरह देवता दुंदुभि बजाकर आकाश में ऊँचा नाद करते हैं। ध्वनि करते हैं।

१३) सुखकारी वायु— प्रभु के प्रभाव को फैलाते हुए देवता प्रभु के विचरण क्षेत्र में—चारों तरफ सुगन्धित—सुखकारी वायु प्रसारित करते हैं। जो आह्लादकारी—मनोहर लगता है। मन्द—मन्द शीतल पवन सुखकर लगता है।

१४) शकुन— चारों तरफ पक्षीगण भी मधुर ध्वनि से ताल—लयबद्ध गाते हों, प्रदक्षिणा देते हुए उड़ते हों, ऐसा सुंदर दृश्य देवता खड़ा करते हैं।

१५) सुगंधी वृष्टि— देवता गण चारों तरफ सुगन्धित जल का छंटकाव करते हैं। सारा वातावरण सुगंध महक से आह्लादकारी बनता है।

१६) पुष्पवृष्टि— व्यंतर जाति के देवता चारों तरफ पचरंगी विविधवर्णी पुष्पों की जानु प्रमाण वृष्टि करते हैं।

१७) बालादि की वृद्धि न होना— संसार छोड़कर दीक्षा लेते समय जो पंचमुष्टि लोच करके केश का विसर्जन कर देते हैं उसके पश्चात् पुनः दाढ़ी मूछ के बालों की वृद्धि कभी नहीं होती है। इसी तरह नाखून भी कभी भी नहीं बढ़ते। केश—रोम—नख—श्मश्रु कभी भी नहीं बढ़ते हैं।

१८) क्रोडों देवताओं का आगमन— “जघन्यतः कोटि संख्यास्त्वां सेवन्ते सुराऽसुरा।” केवलज्ञान के बाद विचरते हुए परमात्मा की सेवा में कम से कम करोड़ों देवता उपस्थित रहते हैं। चारों निकाय के देवताओं की उसमें गणना होती है।

१९) सर्वऋतुओं का अनुकूल होना— प्रभुजी के विचरण काल के समय सभी अर्थात् छः ऋतुएँ एकसाथ समान रूप से फलित होती हैं। अनुकूल रूप से फलित होती हैं। सभी ऋतुओं के फल—फूल एक साथ फलते हैं।

उपरोक्त १८ अतिशय देवकृत अतिशय हैं। तीर्थंकर नामकर्म की सर्वोत्कृष्ट कक्षा की पुण्य प्रकृति के उदय के कारण देवता स्वयं आकृष्ट होते हैं। आते हैं और बिना कहे स्वयं उद्यत होते हैं और ऐसे अतिशयों का आयोजन करते हैं। भक्तिभाववश करते हैं। और करके स्वयं कृतकृत्य हुए ऐसा भाव रखते हैं।

वाणी के ३५ गुण—

जैसा कि... पहले ४ अतिशयों का वर्णन कर चुके हैं। उसमें वचनातिशय की गणना की है। प्रभु के वचन भी अतिशय युक्त होते हैं। एक तरफ तो प्रभुजी १३ वे गुणस्थान पर आरूढ़ हैं, दूसरी तरफ वीतरागता पूर्ण है, तीसरी तरफ केवलज्ञान + दर्शन भी पूर्ण स्वरूप में है, चौथी तरफ अनन्त वीर्यादि की शक्ति है, पाँचवी तरफ तीर्थंकर नामकर्म की पुण्यप्रकृति प्रबल उदय में है, छठी तरफ देवता गण भी सहायक बनकर साथ दे रहे हैं। इस तरह चारों तरफ से सर्वोपरिता—गुणवत्ता मिलने पर परमात्मा के अनेक वचन गुण विकसित होते हैं। वीतरागता के कारण राग—द्वेष जन्य भाषा का कोई प्रश्न ही खड़ा नहीं होता है। इसलिए समवसरण में देशना देने के समय प्रभु की वाणी ३५ विशिष्ट गुणों से सुशोभित होती है—

- १) संस्कारकत्वम्—सुसंस्कृतादि लक्षणयुक्त। २) औदात्यम्—उच्च स्वर युक्त बोली जाती है। ३) उपचारवरीलता—भाषा में ग्रामीणता का अभाव। ४) मेघगम्भीरधोषत्वम्—बादलों की तरह गंभीर गर्जनावाली शब्द ध्वनि रहती है। ५) प्रतिनादनिघापति—प्रतिध्वनि हो वैसी। ६) दाक्षिणत्व—सरल भाववाली। ७) उपनीतरागत्वम्—मालकोशादि रागों के स्वरयुक्त होती है। ८) महार्थता—महान् अर्थवाली। ९) अव्याहतत्वम्—पूर्वापर वाक्य एवं अर्थ के विरोधरहित होती है। १०) शिष्टत्वम्—इष्ट सिद्धान्त के कथन तथा वाक्य की शिष्टता—सभ्यता सूचक होती है। ११) संशयरहित—संदेहरहित। १२) निराकृतान्योत्तरत्व—दूसरों के दत्तदोष से रहित, अर्थात् अन्य के दोषों का निराकरण—समाधान हो जाता है वैसी। १३) हृदयंगमम्—श्रोता के हृदय को आनन्द देनेवाली मनोहर। १४) मिथः साकांक्षता—परस्पर वाक्य तथा पदों की सापेक्षता रखनेवाली। १५) प्रस्तावौचित्य—देश—काल का अनुसरण करनेवाली। १६) तत्त्वनिष्ठता—वस्तु स्वरूप को दर्शानेवाली। १७) अप्रकीर्ण प्रसृतत्व—संबंध और विस्तार रहित—निरर्थक विस्तार रहित। १८) प्रस्वश्लाघाऽन्यनिन्दता—स्व प्रशंसा तथा अन्य की निंदा से रहित। १९) आभिजात्य—वक्ता की महान् कुलीनता की सूचक, तथा प्रतिपाद्य विषय की भूमिका का अनुसरण करनेवाली, २०) अतिस्निग्ध मधुरत्व—घी की तरह स्निग्ध और गुड जैसी मधुर—मीठी होती है। २१) प्रशस्यता—प्रशंसायोग्य। २२) अमर्मवेधिता—किसी के मर्म—रहस्य को प्रगट न करनेवाली। २३) औदार्य—तुच्छतारहित उदार कथनीय अर्थ की उदारतावाली। २४) धर्मार्थ प्रतिबद्धता—धर्म तथा अर्थ से युक्त संबंधवाली। २५) चारकाथविवर्भास—कारक,

काल, वचन, लिंगादि के विरोध रहित । २६) विभ्रमादि रहिता- विभ्रम-भ्रान्ति विक्षेपादि मानसिक दोष रहित । २७) चित्रकृतिकारक- निरंतर आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली । २८) अद्भुतत्व-अद्भुत अनोखी वाणी, २९) अनतिविलम्बिता-अत्यन्त विलम्ब-देरी रहित । ३०) अनेकजाति वैचित्र्य- वस्तुओं का अनेक तरीकों से वर्णन करनेवाली । ३१) आरोपित विशेषता- दूसरे वचनों की अपेक्षा सविशेषता दिखानेवाली । ३२) सत्त्वप्रधानता- सत्त्व-तत्त्ववाली । ३३) वर्ण-पद-वाक्य-विविक्तता-वर्ण-पद-वाक्य के स्पष्ट विवेकवाली । ३४) अत्युच्छिति-कहे जानेवाले अर्थ की सिद्धि तक रहनेवाली । ३५) अखंडितत्व- बिना किसी थकान के अनायास रूप से उत्पन्न होनेवाली तीर्थकर की वाणी होती है ।

ऐसे, ३५ विशेषण जो दिये गए हैं इन ३५ गुणों से सुशोभित वाणी तीर्थकर भगवन्तों की होती है । इतनी सुंदर वाणी ... को श्रवण करनेवाले बारह पर्षदा के श्रोता गण ... सभी मन्त्रमुग्ध हो जाते हैं । तल्लीनता से श्रवण करते हैं । प्रसन्न संतुष्ट हो जाते हैं । तृप्त होकर कृतकृत्यता- धन्यता का अनुभव करते हैं । चक्रवर्ती का पक्वान्न-मिष्टान्न का भोजन करके जितना संतोष नहीं होता होगा, शायद उससे भी लाख गुना ज्यादा संतोष और अत्यन्त आल्हादकारी आनन्द ऐसी तीर्थकरों की वाणी का श्रवण करने से होता है । संशयों का छेदन हो जाता है । तत्त्वों का बोध होता है । चित्त को आनन्द-संतोष होता है । तृप्तता की अनुभूति होती है । यह परमात्मा के वचनातिशय के कारण प्रगट होती है । ऐसी ३५ गुणों से सुशोभित वाणी अन्य किसी की मिलनी संभव नहीं लगती । परम सौभाग्य से ऐसे तीर्थकर परमात्मा की वाणी तथा समवसरण में बैठने का परम सौभाग्य प्राप्त होता है । अन्यथा सम्भव ही नहीं है ।

१२ गुण-

इस तरह सहजातिशय, मूलातिशय, देवकृत अतिशय, कर्मक्षयकृत अतिशयादि से सुशोभित तीर्थकर परमात्मा १३ वे गुणस्थान पर अरिहंत के रूप में सुशोभित होते हैं । वे १२ गुण सम्पन्न होते हैं ।

मूलातिशय या सहजातिशय तथा प्रातिहार्य ८ मिलाकर कुल १२ गुण होते हैं। ये १२ तीर्थकरों के गुण हैं। यद्यपि ये १२ गुण आत्मगुण नहीं हैं। प्रातिहार्यादि बाहरी हैं। ये सब तो तीर्थकर नामकर्म की पुण्यप्रकृति के विशिष्ट उदय के कारण हैं। परन्तु आभ्यन्तर आत्म वैभव तो ज्ञानादि ४ है। १३ वे गुणस्थान पर क्षपकश्रेणी के मार्ग से पहुँचे हुए तीर्थकर भगवन्तों का यह स्वरूप है। यह वैभवी स्वरूप है। याद रखिए कि ये गुण ही तीर्थकर को छोड़कर इनके सिवाय अन्य किसी में भी नहीं होते हैं। अन्य किसी व्यक्तिविशेष, या भगवानों में, या किसी में भी ये गुण न तो होते हैं, या न ही दृष्टिगोचर होते हैं। इतना ही नहीं, १३ वे गुणस्थान पर पहुँचे हुए, लेकिन तीर्थकर नामकर्म के पुण्योदय से रहित जो सामान्य साधक होते हैं, या अन्य कोई गणधरादि, आचार्य, उपाध्यायादि साधु हो या साध्वीजी महाराज भी को, या कोई चौथे गुणस्थान से सीधे ही श्रावक—श्राविका भी क्षपक श्रेणी का प्रारम्भ करके सीधे ही १३ वे गुणस्थान पर जो पहुँच जाय वह भी आत्म-गुणों का वैभव समान रूप से जरूर प्राप्त करेगा। लेकिन तीर्थकर नामकर्म की पुण्यप्रकृति न होने के कारण ये १२ गुण, ३४ अतिशय, वाणी के ३५ गुण, समवसरण, आदि किसी भी प्रकार का वैभव प्राप्त नहीं करेगा। इसलिए १३ वे गुणस्थान पर अलग—अलग प्रकार के साधक होते हैं।

अनन्त चतुष्टयी—

तीर्थकर बननेवाली हो या तीर्थकर न बननेवाली ऐसी किसी भी प्रकार की आत्मा जब क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होती है तब ४ घाती कर्मों का क्षय करने का मुख्य लक्ष्य लेकर आगे बढ़ती है। पहले भी लिख आया हूँ कि... एक बार क्षपक श्रेणी का प्रारम्भ करनेवाला साधक वापिस कभी गिरता ही नहीं है। ८ वे गुणस्थान से कर्मक्षय करते हुए वह ९ वे, १० वे, १२ वे से आगे बढ़ता हुआ सीधा १३ वे गुणस्थान पर आकर ही विश्रान्ति लेता है। सर्व प्रथम ८ कर्मों के मुख्य राजा मोहनीय कर्म का क्षय करके १२ वे गुणस्थान पर वीतरागता प्राप्त कर लेता है। फिर १२ वे गुणस्थान के चरम समय में... शेष ३ घाती कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान, केवलदर्शन तथा अनन्तवीर्य के गुणों को प्रगट करके १३ वे गुण पर सयोगी केवली बनता है।

हम हमारी भाषा में ऐसा कह सकते हैं कि अरिहंत की आत्मा या अन्य केवलज्ञानादि पानेवाली आत्माएँ आधी मुक्त बन गई हैं। घाती कर्म सर्वथा संपूर्ण सर्वांश से जड़मूल से क्षय हो चुके हैं। अब ये कर्म पुनः बंधनेवाले नहीं हैं। क्योंकि क्षायिक भाव से वीतरागता आदि गुण प्रगट हुए हैं। याद रखिए, क्षायिक भाव से जो भी एक बार प्राप्त हो जाय वह सदाकाल स्थायीभाव से रहता है। टिकता है। वह कभी नष्ट नहीं होता। वापिस चला नहीं जाता। वीतरागता भी अनन्त स्वरूप में प्राप्त हुई है। यह गुण अनन्तगुना आत्मा की मूल सत्ता में व्याप्त है। इसलिए इसका प्रादुर्भाव या प्रगटीकरण भी अनन्त स्वरूप में प्रगट हुआ है। ज्ञानावरणीय कर्म के सर्वथा क्षय होने से क्षायिक भाव के कारण प्रगट हुआ ज्ञान भी अनन्त स्वरूप में प्रगट हुआ है। ज्ञान कितना अनन्त है यह तो केवलज्ञान का स्वरूप समझने पर ही समझ में आएगा। इतना अनन्त ज्ञान... जो अनन्त काल तक छिपा रहा, दबा रहा, यह एक मात्र ज्ञानावरणीय कर्म के कारण। इसलिए कह सकते हैं कि ज्ञानावरणीय कर्म कितना था? अनन्तगुना ज्ञानावरणीय कर्म था। तभी तो अनन्त ज्ञान को ढक सका। सोचिए! एक तरफ तो अनन्त गुना ज्ञानावरणीय कर्म और दूसरी तरफ अनन्त काल तक आत्मप्रदेशों पर अपनी पक्कड़ जमाकर बैठा रहा। आत्म गुण ज्ञान का गला घोटकर दबाकर उसे बाहर न आने देते हुए, प्रगट न होने देते हुए ढक कर रखा। फिर भी यह तो आत्मा की अनादि—अनन्त स्थिति की सत्ता के कारण ये गुण आत्मा की सत्ता में सदाकाल रहे। दूसरी तरफ आत्मा एक ऐसा अनादि—अविनाशी—अनन्तकालीन अस्तित्ववाला द्रव्य था इसलिए यह अनन्तकाल तक टिका रहा तो ये गुण भी उसके साथ ही टिके रहे। यदि पुद्गल की तरह विनाशी या नाशवंत द्रव्य होता तो कब का नष्ट हो जाता, आत्मा का अस्तित्व ही मिट जाता। तो फिर ज्ञानादि गुण किसके आधार पर टिकते? बिना आधार के आधेय कैसे रहे? गुण तो द्रव्य के आधार पर ही रहते हैं। बिना द्रव्य के आधार के ये गुण कभी स्वतंत्र अलग से रह ही नहीं सकते हैं। इसलिए त्रैकालिक अस्तित्व धारक आत्मा द्रव्य के आधार पर ज्ञानादि गुण भी आत्मा से अभिन्न एकरस होने के कारण वे भी सत्ता में अनन्त काल से टिके रहे हैं। सोचिए! आत्मा से सर्वथा विपरीत—विरुद्ध गुणधर्मवाला कर्म भी अनन्त काल तक आत्मा पर रहा। वह भी आत्मा के प्रदेश तो सिर्फ असंख्य ही हैं और कर्मण वर्गणा ने अपने अनन्त परमाणुओं का आवरण—कवच बनाकर सभी प्रदेशों को दबा दिया। एक भी आत्म प्रदेश को खुल्ला नहीं रखा। इन ज्ञानादि गुणों का सर्वथा घात कर दिया। फिर भी इस आत्म द्रव्य की ही कुछ ऐसी विशेषता रही कि जिसके कारण ज्ञानादि गुण अनन्तकाल तक अपने विरोधी—अरे अपने शत्रुरूप ऐसे कर्मों

से दबे हुए होने के बावजूद भी अनन्त काल तक इनका अस्तित्व रहा। अतः जिस आत्मा ने भी क्षपक श्रेणी प्रारंभ की, अनन्तगुनी शक्ती प्रगट करके अनन्तगुने इन कर्मों का जड़मूल से सर्वथा क्षय किया और परिणाम स्वरूप ये ही ज्ञानादि गुण पूर्ण रूप से प्रगट हो जाते हैं। आज प्रगट हो जाने के बाद वापिस कभी भी कर्म से नहीं लिपटेंगे। नहीं दबेंगे।

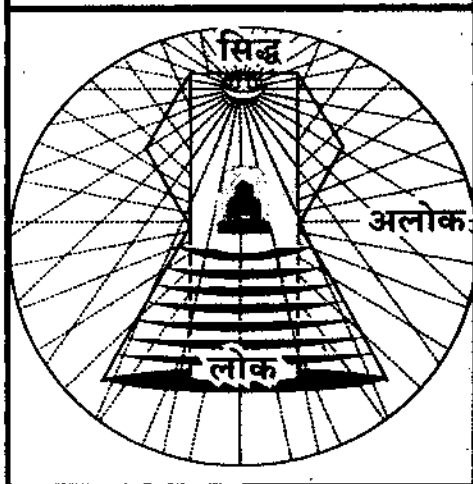
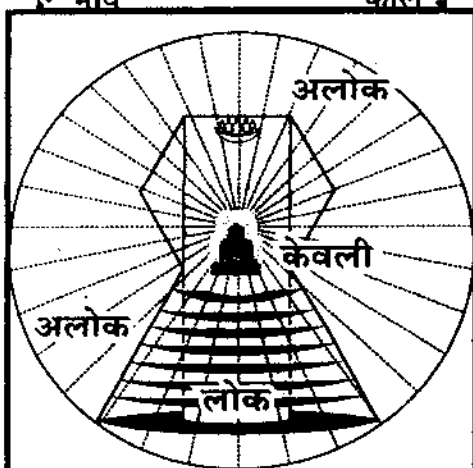
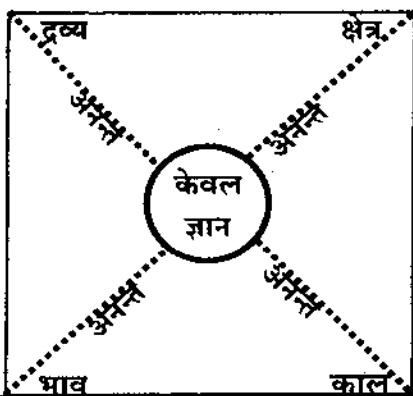
आत्मा गुणस्थानों की इस श्रेणी को पार करके मोक्ष में भी चली जाय तो भी ये गुण यहाँ और वहाँ समान रूप में रहेंगे। पूर्ण रूप में रहेंगे।

- १) अनन्तगुने ज्ञानावरणीय कर्म के सर्वथा क्षय से अनन्तगुना ज्ञान प्रगट हुआ है।
- २) अनन्तगुने दर्शनावरणीय कर्म के सर्वथा संपूर्ण क्षयसे अनन्तगुना दर्शन प्रगट हुआ है।
- ३) अनन्त गुने मोहनीय कर्म के संपूर्ण सर्वथा क्षय से अनन्त गुनी वीतरागता प्रगट हुई।
- ४) अनन्तगुने अन्तराय कर्म के संपूर्ण क्षय से अनन्त दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्यादि शक्तियाँ—लब्धियाँ प्रगट होती हैं।

इस तरह ज्ञान, दर्शन, चास्त्र और तप ये ४ गुण या ज्ञान, दर्शन, वीतरागता और वीर्यादि ये चारों अनन्त स्वरूप में प्रगट होते हैं। इसलिए इन्हें समूहात्मक एक नाम अनन्त चतुष्टयी का दिया है। चतुष्टय शब्द ४ का वाचक है। और अनन्तशब्द गुणों की अनन्तता का सूचक है। अनन्त शब्द काल से अन्त न होनेवाले काल—अनन्त का सूचक है। क्षेत्र से असीम—अमाप—अपरिमित क्षेत्र का सूचक है। द्रव्य से अनन्त का अर्थ अनन्त द्रव्य, गुण तथा पर्यायों का सूचक है। समस्त ब्रह्माण्ड के अनन्त पदार्थों का विचार इस अनन्त शब्द से किया है। भाव से अनन्तता समस्त संसार के सूक्ष्म से स्थूल अनन्त जीवों के भावों परिणामों अध्यवसायों का सूचक है। इस तरह अनन्तज्ञानी सर्वज्ञ सर्वदर्शी परमात्मा—अनन्त जीवों के आत्मागत—मनोगत भावों को एक साथ जानते हैं। इस तरह द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से तथा भाव से अनन्तता एक साथ प्रगट रहती है। ज्ञानादि गुण सभी अनन्त स्वरूप में प्रगट होते हैं, रहते हैं। यह १३ वे सयोगी केवली गुणस्थान का स्वरूप है। गुण वैभव है। इनमें से एक—एक का स्वतंत्र रूप से स्वरूप समझने पर और विशद गरिमा का ख्याल आएगा।

अनन्त ज्ञान—केवलज्ञान—

केवल + ज्ञान = केवलज्ञान। केवल = सिर्फ - अकेला ज्ञान ही ज्ञान है। तद् विरोधि अज्ञान का तो अंशमात्र भी नहीं है। नाम मात्र भी ज्ञान नहीं है। सिर्फ ज्ञान ही ज्ञान



है। केवल ज्ञान ही ज्ञान है। इसलिए केवल ज्ञान शब्द का प्रयोग किया है। इसे ही अनन्त बताया है। अनन्त शब्द विशेषण के रूप में प्रयुक्त है। यह विशेषण अपने विशेष्य ऐसे ज्ञान की द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से सीमा बताता है। द्रव्य के विषय में ज्ञान अनन्त की सीमा पार करता है। अतः असीम-अमाप है। केवली के अनन्त ज्ञान में एक भी द्रव्य-पर्यायादि छिपी नहीं रह सकती। नहीं छूटती। क्षेत्र से लोक और अलोक सर्वत्र सर्व क्षेत्र को जानते व देखते हैं। काल से अनन्त काल तक रहनेवाला होने के कारण अकाल या कालातीत ज्ञान को केवलज्ञान कहते हैं। भाव से अनन्त जीवों के भावों को जानते-समझते हैं।

ऐसे केवलज्ञानी सर्वज्ञ भगवान् होते हैं। मनुष्य क्षेत्र में। सदेह रूप में, देहधारी अवस्था में तो मात्र २॥ द्वीप में सिर्फ १५ कर्मभूमियों में ही होते हैं। यहीं केवलज्ञान पाते हैं। अन्यत्र समस्त लोक में कहीं नहीं। वे इन २॥ द्वीप के १५ कर्मभूमियों में जहाँ हों वहाँ से अपने केवलज्ञान के कारण समस्त लोक और अलोक में भी देख-सकते हैं-जान सकते हैं। उनके अनन्त ज्ञान से न तो लोक का

एक परमाणु छिप सकता है और न ही अलोक का कोई कोना छिप सकता है । अर्थात् सभी प्रत्यक्ष दिखाई देता है ।

ये ही सर्वज्ञ भगवन्त अघाती कर्मों का क्षय करके मोक्ष प्राप्त कर ले तो वहाँ सिद्धावस्था में भी केवलज्ञान वही है । कोई फरक नहीं पड़ता है । १४ राज लोक के ऊपरी अग्र भाग पर स्थित देहरहित विदेही सिद्ध अशरीरी आत्मा मात्र स्वरूप में रहकर भी अपने अनन्त ज्ञान से समस्त लोक एवं अनन्त अलोक को समान रूप से देखते हैं । बस, ऐसे अनन्तज्ञानियों के रहने का क्षेत्र समग्र लोकरूप संसार में सिर्फ दो ही हैं, एक २ ॥ द्वीप के अन्दर १५ कर्मभूमियों का तथा दूसरा सिद्धशिला का । बस, इसके अतिरिक्त अन्य कोई क्षेत्र—स्थान है ही नहीं कि जहाँ वे रहे । ऐसे अपने सीमित परिमित क्षेत्र में रहकर भी सर्वज्ञ प्रभु समस्त लोक—अलोक को जानते—देखते हैं । ऐसा केवलज्ञान त्रिकालाबाधित है । अर्थात् तीनों काल में कोई भी इस ज्ञान को बांध नहीं सकता है । अतः केवलज्ञान—त्रैकालिक है । भूत, वर्तमान और भविष्य इन तीनों काल का समूहात्मक ज्ञान केवलज्ञान है । अनन्त भूतकाल का भी केवली आज जानते हैं तथा अनन्तकाल तक के भविष्य काल की सभी बातों को केवली जानते हैं । तथा अनन्त वर्तमान काल भी भगवान जानते हैं । वर्तमान काल को अनन्त कहना उचित नहीं है लेकिन वर्तमान काल की एक क्षण में जितने अनन्त जीव हैं उन अनन्त जीवों के प्रत्येक क्षण के भावों परिणामों व प्रवृत्ति आदि को अच्छी तरह जानते हैं केवली प्रभु । इसलिए इसे त्रैकालिक कहते हैं ।

“हस्तामलकवत् कैवल्यम्” जैसे कि हम अपने हाथ में एक आंवला को लेकर खड़े रहे और उसे कैसे चारों तरफ से देखते हुए एक ही साथ में उसके—आकार, रूप, रंग, रस आदि के ज्ञान को एक साथ समझते—जानते हैं । ठीक उसी तरह केवली सर्वज्ञ प्रभु के लिए समस्त लोक और अलोक मानों उनके हाथ में है और वे चारों तरफ से चारों निक्षेपों आदि से बरोबर जानते हैं । सर्वांशिक संपूर्ण रूप से जानते हैं । इसलिए उनको पूर्ण संपूर्ण ज्ञान है ।

याद रखिए, केवलज्ञान ही अपने आप में पूर्ण—संपूर्ण है । जबकि शेष चारों ज्ञान केवलज्ञान की तुलना में अपूर्ण—अधूरे हैं । जैसे सूर्य और तारों में जिस प्रकार की विषमता है वैसा ही प्रमाण यहाँ ५ ज्ञानों में है । १) मति, २) श्रुत, ३) अवधि और ४) मनःपर्यवज्ञान ये ४ ज्ञान ताराओं के प्रकाश की तरह अधूरे—अपूर्ण हैं । आंशिक ज्ञानवाले हैं । इन ४ ज्ञानों का प्रकाश ताराओं की तरह टिमटिमाता हुआ अल्प मात्रा में रहता है । जबकि सूर्यसमान तेजस्वी केवलज्ञान है । केवलज्ञान सूर्यप्रकाश की तरह सर्वत्र प्रसारित होता

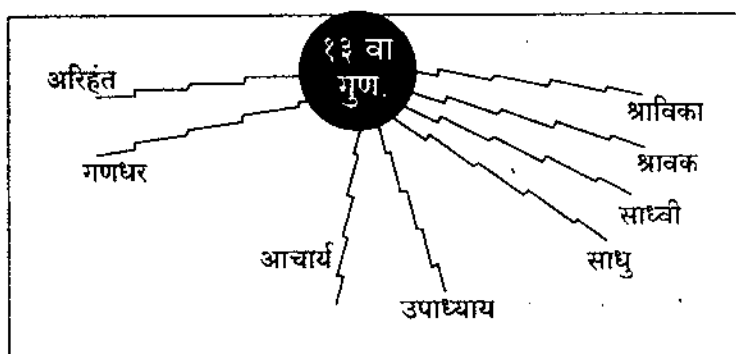
है। तथा केवलज्ञान रूप सूर्य के प्रगट होने से मति आदि चारों ज्ञान अदृश्य हो जाते हैं। जैसे सूर्य के प्रगट होने से सभी तारों का प्रकाश सूर्य के तेज में समा जाता है। तारे अदृश्य हो जाते हैं। दिन में सूर्य की उपस्थिति में दिखाई नहीं देते हैं। अदृश्य रहते हैं। ठीक उसी तरह केवलज्ञान रूपी सूर्य के उदय अर्थात् प्रगट होने पर शेष सभी चारों ज्ञानों का प्रकाश केवलज्ञान में समा जाता है। अतः केवलज्ञान के प्रगट होने के बाद मति श्रुत आदि ज्ञानों का स्वतंत्र कोई अस्तित्व रहता ही नहीं है।

केवलदर्शन—

याद रखिए... जैसा केवलज्ञान गुण है वैसा ही केवलदर्शन भी गुण है। अन्तर सिर्फ इतना ही है कि— ज्ञान से जानने का कार्य होता है। जबकि दर्शन से देखने का काम होता है। ये दोनों सहभू हैं। साथ ही उत्पन्न होनेवाले साथ ही रहनेवाले हैं। अतः इनमें भेद नहीं है। फिर भी ये दोनों स्वतंत्र अस्तित्व रखते हैं। केवलज्ञान से सब कुछ जाना जाता है जबकि केवलदर्शन से सब कुछ प्रत्यक्ष देखा जाता है। बस, मात्र इतने से अन्तर के सिवाय सबकुछ समान ही है। यह भी अनन्त है। द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भावादि भेदों से, इन निक्षेपों की दृष्टि से ये सभी अनन्त हैं। याद रखिए, जिस समय आत्मा केवलज्ञानी है उसी समय केवलदर्शनी भी है। केवलज्ञान जैसे ज्ञानावरणीय कर्म के सर्वथा संपूर्ण क्षय से प्राप्त होता है, वैसे ही दर्शनावरणीय कर्म के सर्वथा संपूर्ण क्षय से केवल दर्शन गुण प्रगट होता है। इसे अनन्त दर्शन भी कहते हैं। यह भी क्षायिक भाव से प्रगट होता है। उपशम—क्षयोपशम आदि अन्य किसी भी भाव से प्रगट नहीं होता है। याद रखिए... उपशम श्रेणीवाले साधक को केवलज्ञान या केवलदर्शनादि कोई भी गुण अंश मात्र भी प्राप्त नहीं होते हैं। वीतरागता जो प्राप्त होती है वह भी मात्र अल्पकालिक है, क्षणजीवी है। क्योंकि वहाँ ११ वे गुणस्थान पर कर्मों का क्षय ही नहीं होता है, मात्र उपशमन होता है। दब जाते हैं, शान्त हो जाते हैं। इसलिए उपशमन करनेवाले जीव के लिए केवलज्ञान—केवलदर्शनादि गुणों की तो कल्पना भी नहीं करनी चाहिए। १३ वे गुणस्थान का वैभव कुछ अद्भुत अनोखा ही है। अनन्त काल के बाद जो प्राप्त हुआ है वह अनन्त स्वरूप में प्राप्त हुआ है। अतः ज्ञान दर्शनादि अनन्त रूप में है।

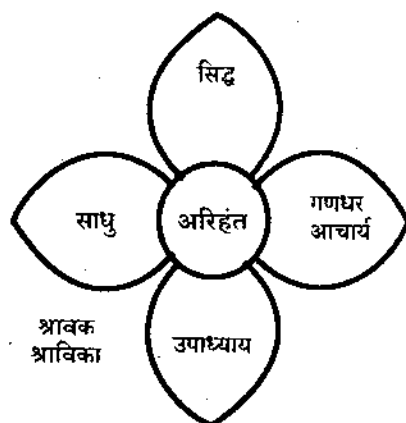
१३ वे गुणस्थान के अधिष्ठाता—

१३ वे गुणस्थान सयोगी केवलीपने को प्राप्त करनेवालों में एक तो तीर्थंकर नामकर्म उपार्जित करनेवाली आत्मा है। जो क्षपक श्रेणी प्रारंभ कर उसी प्रक्रिया से चारों घाती



कर्मों का सर्वथा क्षय करती हुई १३ वे गुणस्थान पर पहुँचती है। जो केवलज्ञानादि अनन्त चतुष्टयी गुणों को प्राप्त करती है। आखिर १३ वे गुणस्थान पहुँचने पर सबको केवलज्ञानादि सभी गुण सरीखे ही प्राप्त होंगे। लेकिन जिसमें पहले से पूर्व के तीसरे जन्म से तीर्थकर नामकर्म का रसोदय होता है और परिणाम स्वरूप इस विशिष्ट कक्षा की पुण्य प्रकृति के अतिरिक्त उदय के कारण वह आत्मा परमात्मा बनती है। तीर्थकर भगवान के रूप में पहचानी जाती है। लेकिन मानों की इस प्रकार की तीर्थकर नामकर्म की पुण्यप्रकृति न भी उपार्जित की हो, फिर भी अन्य आत्माएँ इस सोपान पर पहुँच सकती हैं। १३ वे गुणस्थान का तीर्थकर नामकर्म के साथ कोई ऐसा अविनाभाव या अनिवार्य संबंध नहीं है कि अनिवार्य रूप से १३ वे गुणस्थान पर आनेवाला तीर्थकर ही हो, अन्य नहीं। नहीं, ऐसी कोई बात ही नहीं है। कोई भी आ सकता है। कोई भी केवली बन सकता है। तीर्थकर बननेवाली आत्मा हो या न बननेवाली कोई भी सामान्य आत्मा हो, ... जो भी क्षपक श्रेणी का प्रारम्भ करे वह चढ़े ... न करे वे नहीं।

गणधर बननेवाले सभी अनिवार्य रूप से १३ वे गुणस्थान पर आकर केवलज्ञानी बनकर ही मोक्ष में जाएंगे। गणधर अनिवार्य रूप से मोक्षगामी ही होते हैं। इसलिए वे अवश्य ही उसी भव में मोक्ष में जाएंगे। इसलिए १३ वे गुणस्थान पर



वे अवश्य पधारेंगे। यहाँ से ही मोक्ष में जा सकेंगे। इसके सिवाय मोक्ष में जाना किसी के लिए भी संभव ही नहीं है। १३ वाँ गुणस्थान तो मोक्ष में जानेवाले सभी साधकों के लिए अनिवार्य है। लेकिन मोक्ष में जानेवाले सभी जीवों के लिए तीर्थंकर नामकर्म या तीर्थंकर भगवान बनकर ही मोक्ष में जाना अनिवार्य नहीं है। यह तो अपनी अपनी इच्छा पर निर्भर करता है। जैसी जिसकी इच्छा। तीर्थंकर बनकर मोक्ष में जाना हो तो भी आपकी इच्छा या फिर बिना तीर्थंकर बने ही यदि मोक्ष में जाना हो तो भी जीव की अपनी इच्छा। गणधर बनकर जाना चाहो तो भी बन सकते हो और आचार्य पद से सीधे सिद्ध बनना चाहो तो भी जा सकते हैं। इसी तरह यदि उपाध्याय पद से जाना हो तो भी संभव है। और साधु बन कर ही मोक्ष में गए हुए अनन्त हैं। साधु हो या साध्वीजी दोनों पंचम पद से मोक्ष में जाते हैं।

केवलज्ञान पानेवाले अनेक महात्मा—

अब रही बात कुछ श्रावक—श्राविका की... जिन्होंने ४ थे गुणस्थान से ही भाव की कक्षा में श्रेणी प्रारम्भ कर दी और अन्दर ही अन्दर भावों में परिवर्तन होता जाता है और एक से एक गुणस्थान बदलते ही जाते हैं। वे महान आत्माएँ ४ थे गुणस्थान से भी भावों की उत्कृष्टता में अध्यवसायों की शुद्धि और प्रबलतर तीव्रता के साथ गुणस्थान बदलते ही जाते हैं और आत्मा ऊपर ही ऊपर चढ़ती ही जाती है। जहाँ एक—एक गुणस्थान का उत्कृष्ट मुहूर्त या हजारों वर्षों का भी काल हो लेकिन कोई साधक अध्यवसायों की उत्कृष्टता के आधार पर ४ थे गुणस्थान से १३ वे गुणस्थान तक पहुँचने में सिर्फ १ अन्तर्मुहूर्त का ही समय लेकर केवली भी बन जाता है। ऐसे भी महात्मा अनेक हैं। भूतकाल में हुए ऐसे अनेक उदाहरण इतिहास में सुवर्णाक्षर से लिखे गए हैं। जिनमें मरुदेवी माता का नाम, भरत चक्रवर्ती का नाम, कपिल केवली का नाम, पृथ्वीचन्द्र और गुणसागर जैसे गृहस्थी महात्मा का दृष्टान्त तो सचमुच ही विश्व के इतिहास में एक अजोड है। साधु बने हुए जो छठे गुणस्थान से सीधे ही आगे बढ़ते हैं और १३ वे गुणस्थान पर पहुँचकर ही रुकते हैं उनमें... गजसुकुमाल मुनि, मेतारज मुनि, ढंढण ऋषि, खंधक आचार्य और उनके ५०० शिष्यों ने भी जिस तरह केवलज्ञान पाया यह भी विश्व के इतिहास में आश्चर्यकारी दृष्टान्तों में प्रथम कक्षा का है। इलाची कुमार जैसे नृत्यकार का दृष्टान्त भी अनोखा है। दृढप्रहारी जैसे हत्यारे ने भी कैसे केवलज्ञान पाया यह दृष्टान्त अवश्य ही पठनीय है। चंडरुद्राचार्य और उनके शिष्य दोनों गुरु—शिष्य ने किस तरह केवलज्ञान

पाया यह देखने से केवलज्ञान की प्राप्ति की सरलता का ख्याल आया। तथा चंदनबाला और मृगावती जैसी साध्वीजियों ने कैसे केवलज्ञान पाया यह दृश्य इतना सरल लगता है जिसकी कोई कल्पना ही नहीं कर सकते हैं। प्रसन्नचंद्र राजर्षि के अध्यवसायों का चढ़ाव—उतार भी देखने से मनःस्थिति का ख्याल आया और अन्त में कितनी आसानी से केवलज्ञान पा लेते हैं। यह समझना ही चाहिए। अइमुत्ता मुनि जैसे बाल साधु ने मात्र इरियावही प्रतिक्रमते—क्रमते कितना जल्दी केवलज्ञान पा लिया यह देखने से तो हमारा भी मन ललचा जाएगा। कुरगडु जैसे तपस्वी मुनि का जीवन तथा उनकी गोचरी का वर्णन सुनते ही उनको कैसे केवलज्ञान हुआ यह दृश्य अनोखा अद्भुत है। और परम गुरु गौतमस्वामी को केवलज्ञान प्राप्त हुआ यह दृश्य तो इतिहास में अमर बन गया। आज दिन तक इस तरह किसी ने केवलज्ञान प्राप्त किया हो, ऐसा लगता नहीं है। खंधक मुनि का दृष्टान्त भी अनुकरणीय लगता है। चरित्र ग्रन्थों में ऐसे अनेक महात्माओं के आदर्श चरित्र सुवर्णाक्षर से लिखे गए हैं। वे अमर हैं। इतिहास भविष्य में भी जब—जब लिखा जाएगा तब तब केवलज्ञान पानेवाले ऐसे सैंकड़ों महात्माओं का चरित्र सर्वप्रथम लिखा जाएगा। यहाँ पर ऐसे केवलज्ञान पानेवाले महापुरुषों के चरित्रों का आलेखन करने के लिए मन काफी ललचा रहा है लेकिन ग्रन्थविस्तार के भय से पुनः मन पर लगाम खींचनी पड़ती है। यद्यपि यह तो एक स्वतंत्र ग्रन्थ का विषय है। स्वतंत्र रूप से ग्रन्थ लिखा जाय तो ही सभी चरित्र नायकों को न्याय दिया जा सकता है। तथा श्रोताओं को भी कथानुयोग के विषय में विशेष रस आया। तथा सिद्धान्त के साथ दृष्टान्त से प्रक्रिया भी समझ में आएगी। यहाँ पूरी कथा न देकर भी मात्र कैवल्य प्राप्ति का कुछ अंश संक्षेप में जरूर देता हूँ। जिससे ख्याल आया। भावों की जागृति होगी और हम अन्दर ही अन्दर में नतमस्तक हो जाएंगे।

१) **मेतारज मुनि**—मेतार्य श्रेष्ठी ने परमात्मा महावीर के पास दीक्षा ग्रहण की, तपश्चर्या भी उग्र शुरू की। पारणे में एक सोनी के घर गोचरी गए। सोनी रसोईघर में आहार—पानी का दान कर रहे थे कि एक पक्षी आकर सोनी के टेबल पर से सोने के जौ खाकर चला गया। मुनि के जाने के पश्चात् सोनी ने सोने के जौ न देखकर मुनि पर शंका की। वह दौड़कर पीछे गया... और मुनि को चोर समझकर सजा करने के अधम इरादे से गीले चमड़े के पट्टे मुनि के सिर पर कसकर बाँधे। तेज धूप में सूखते चमड़े के पट्टों से मुनि के सिर की नसें टूटने लगी, चमड़ी फटने लगी। तीव्र अशांता में भी मुनि समता

भाव से तल्लीन रहकर ध्यान की धारा में चढ़ते हैं। क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होकर १३ वे गुणस्थान पर पधारते हुए केवलज्ञान पाकर केवली बनते हैं। धन्य वे महात्मा।

२) **अरणिक मुनि**— बाल्य वय में ही दीक्षा लेनेवाले अरणिक मुनि यौवन वय में किसी सुंदरी में मोहित होकर चारित्र का त्याग कर पुनः संसारी बनकर सुख—भोग भोगने लगे। आखिर माता साध्वीने पुनः उसे प्रतिबोध किया और अरणिक ने पुनः साधुत्व स्वीकारा, बस, अनशन करके तेज धूप में तवे की तरह तपी हुई शिला पर संथारा करते हैं। बस, प्राण त्यागने का ही लक्ष्य था। फिर भी ध्यान की तीव्र साधना में... घाती कर्मों का क्षय होते ही केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। और मोक्ष में पधारते हैं।

३) **अङ्मुत्ता मुनि**— राजगृही नगरी में गोचरी गए हुए गौतमस्वामी गणधर भगवान की अंगुली पकड़कर साथ आनेवाला रास्ते पर खेलता हुआ एक छोटा बालक उनके साथ—साथ जाता है और समवसरण में आकर श्री वीर प्रभु के पास दीक्षा ग्रहण कर साधु बनता है। जी हाँ, ... साधु तो बन गया लेकिन बाल स्वभाव के कारण बचपन की नादानीयता के कारण दूसरे बच्चों के साथ पानी में खेलने बैठ गए। दूसरे बच्चे कागद की नौका बना कर पानी में तैराकर नाचते थे। तो बालमुनि ने अपने काष्ठ पात्र तिरपनी को तैराने पानी में रख दी और खुशी में नाचने लगे। बाल स्वाभाव से भूल गए कि साधु जीवन में कच्चे पानी की विराधना नहीं करनी चाहिए। यह ख्याल आते ही वे शरमिंदे हो गए। समवसरण में आए, गुरु आदेश से इर्थापथिकी क्रिया कर रहे थे, कि सूत्र में वे शब्द “दग—मट्टी” आदि के आते ही ध्यान की धारा शुरु हो गई। अध्यवसायों की विशुद्धि की तीव्रता में क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ हो गए और चारों घाती कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान बचपन की बालवय में ही प्राप्त करलिया। वाह ! ऐसे छोटे बालक भी केवलज्ञान पा गए।

ब्राह्मणपुत्र कपिल केवली— कौशांबी नगरी में काश्यप ब्राह्मण पंडित का पुत्र था कपिल। पिता की मृत्यु के पश्चात् पुत्र कपिल को माता ने पढ़ने के लिए काशी भेजा। इन्द्रदत्त पंडित कपिल को पढ़ाने लगे। एक ब्राह्मणी के घर कपिल भोजन करने जाता था। यौवन की देहली पर पैर रखते ही भोजन करानेवाली दासी के प्रेम में पड़ा। अब विद्योपार्जन करना भूल कर दासी के प्रेम में पागल बना हुआ अपना संसार बसाने के स्वप्ने संजोने लगा। आखिर शादी कर ली। अब पैसे के लिए प्रभात में राजा को श्लोक बोलकर उठाने गया। वहाँ चोर के रूप में पकड़ा गया। प्रातः राजा के सामने उपस्थित किया गया। राजा ने कपिल की सरलता और सच्चाई पर प्रसन्न होकर धन मांगने के लिए कहा। कपिल ने

सोचने का समय माँगा। सामने बगीचे में वृक्ष के नीचे बैठकर सोचने लगा कि कितना माँगूँ ? २ तोला, ४ तोला, अरे १०० तोला, या हजार या लाख या करोड़ ? कितना सोना माँगूँ ? ... बस, मन ने पल्टी मारी और अपने भूतकाल को देखने लगा। मैं क्या था ? कौन था ? कैसा था ? और आज यह क्या ? चिन्ता से चिन्तन की गहराई में चढ़ गया। ... इतने में ध्यान की धारा लग गई ... बस, क्षपक श्रेणी शुरू हो गई। चारों धाती कर्मों के बंधन टूट गए और १३ वे गुणस्थान पर पहुँच कर केवलज्ञान पाकर केवली सर्वज्ञ बन गए।

सुकुमल गजसुकुमाल— द्वारकाधीश की महारानी देवकी के अत्यन्त सुकुमल बालक गजसुकुमाल कुमार थे। भगवान नेमिनाथ की देशना सुनकर विरक्त मनवाले संसार छोड़कर दीक्षा लेकर जैन साधु बनते हैं। प्रभु का आदेश लेकर श्मशान में कायोत्सर्ग साधना करने जाते हैं। वहाँ उसके श्वसुर सोमिल क्रोधित होकर आता है और क्रोधाभिभूत बनकर कायोत्सर्गध्यान में स्थित मुनि गजसुकुमाल के सिर पर मिट्टी की पाली बनाकर जलते अंगारे भरता है। आग से जलकर खोपड़ी फट रही थी। शरीर सुकुमल था लेकिन मन सुमेरु पर्वत जैसा मजबूत था, अतः उपसर्ग में भी ध्यान की धारा में चढ़ गए। धर्मध्यान से शुक्लध्यान में तेज रफ्तार से आगे बढ़ते गए और ८ वे गुणस्थान पर क्षपक श्रेणी शुरू करके ८, १० वे से १२ वे होकर वीतरागी बनकर १३ वे गुणस्थान पर आए, एक तरफ जलते अंगारों से खोपड़ी फट रही है और दूसरी तरफ केवलज्ञान पाकर मोक्ष में गए। कोई सोचे तो दिमाग काम न करे ऐसी बात है। संभव ही न लगे, फिर भी संभव बनता है।

भरत चक्रवर्ती—

प्रथम तीर्थपति भगवान ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र भरत चक्रवर्ती थे। जिनके नाम से इस देश का नाम भारत पड़ा। वे भरतजी ६ खंड के मालिक महान चक्रवर्ती थे। अपने भाई बाहुबली के साथ बड़ा भारी युद्ध किया। आखिर बाहुबलीजी ने तो युद्धमैदान में ही दीक्षा ग्रहण कर ली। अपने ९९ भाईयों ने दीक्षा ली थी, अतः चक्रवर्ती भरत अपनी आत्मा के लिए भी सोचते

72



ही थे। एक दिन स्नानादि करके दिव्य अलंकार धारण करके आरीसा भवन (शीश महल) में वे—बैठे दर्पण में अपना रूप देख रहे थे कि... अचानक अंगुली में से अंगूठी गिर गई। अंगुली पर नजर जाते ही शोभारहित लगी। आखिर पुद्गल के चिन्तन में लीन होने लगे। एक एक करके आभूषण सब उतारते गए। अन्त में पत्ते रहित दूँटे वृक्ष जैसा शरीर भासमान होने लगा। आखिर इसकी भी पौद्गलिकता का चिन्तन किया। बस, चढ़ गए ध्यान की धारा में। गृहस्थाश्रमी गृहस्थ की कक्षा के चौथे गुणस्थान से... आत्मा को ऊपर उठाया... पहुँच गए अपूर्वकरण के द्वार पर... और क्षपकश्रेणी के श्रीगणेश किये... शुक्लध्यान की धारा की अग्नि की तरह और तीव्र की। परिणाम स्वरूप... ध्यानगति में कर्मों के बंधन टूटते गए और १३ वे गुणस्थान पर पहुँचते ही केवलज्ञान—दर्शन लेकर मोक्ष में पहुँचे। इस तरह ६ खंड के मालिक चक्रवर्ती भी सर्वज्ञ बनकर मोक्ष में गए।

माता मरुदेवी—चक्रवर्ती भरत की दादीजी, भगवान ऋषभदेव की माता... मरुदेवी... जो अपने पुत्र ऋषभ के संसार त्यागने के कारण पुत्रमोह में व्याकुल बनकर आर्तध्यान करके दिन पसार करती थी। संसार बढ़ानेवाला और कर्म बंधानेवाला आर्तध्यान बहुत लम्बे काल तक चलता रहा। नित्य अपने लाडले ऋषभ की चिन्ता करती विलाप करती। माता ने पुत्र वियोग में मोहवश आंखों की ज्योति भी कम कर दी। तथा रोज भरत को उपात्म्य देती थी। आखिर एक दिन भगवान आदिनाथ को केवलज्ञान प्राप्त होने पर... भरतजी माताजी को गजराज के ऊपर सिंहासन में बिठाकर लेकर पिता प्रभु के दर्शनार्थ निकला। मार्ग में ही दूर से समवसरण तथा देवताओं एवं अतिशयों को देखकर भरतजी माताजी के सामने वर्णन करते थे। इस वर्णन को सुनकर तथा समीप पहुँचते ही कर्णप्रिय दैवी दुन्दुभि का नाद सुनकर माताजी मरुदेवी... अनित्यादि एकत्वादि भावनाओं का चिन्तन करती हुई भाव-विभोर बन गई। और क्षपकश्रेणी लग गई। बस, फिर तो पूछना ही क्या... सीधे ही १३ वे गुणस्थान पर पहुँच गई और केवलज्ञानादि की अनन्त चतुष्टयी प्राप्त हो गई। एक तरफ कैवल्यश्री पाई। इतने में ही आयुष्य भी समाप्त होने का काल आया। और जीवन दीपक बुझ गया। अन्तर्मुहूर्त काल मात्र का यह खेल कि... मोह में लिप्त माता ने भी बाजी बदल दी और केवलज्ञान पाकर मोक्ष भी पा लिया। यदि अन्तर्मुहूर्त काल का विलम्ब हुआ होता तो केवलज्ञान पाए बिना मृत्यु होती तो और किसी अन्य गति में जाकर जन्म धारण करना पड़ता। लेकिन सौभाग्यवती माताजी ने अंतर्मुहूर्त के अल्प काल में ही खेल पूरा कर लिया, केवलज्ञान पा लिया। अब तो दूसरी गति का सवाल ही नहीं उठता है। मोक्ष निश्चित ही होता है। इस अवसर्पिणी काल के १० कोडाकोडी

सागरोपम के लम्बे काल में सर्वप्रथम मोक्ष में जाने का परम सौभाग्य यदि किसी को मिला हो और वह भी किसी स्त्री को मिला हो तो वह मरुदेवी माता को मिला है। माताजी स्वयं तो धन्यधन्य... कृतकृत्य बन ही गई लेकिन... समस्त स्त्रीजाति का भी गौरव भी साथ ही पा गई। एक गृहस्थाश्रमी सन्नारी अबला स्त्री होकर भी हाथी के ऊपर सिंहासन में बैठी—बैठी मार्ग में जाती हुई केवलज्ञान पाकर मोक्ष में जाकर इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठ पर अपना नाम सुवर्णाक्षर से ऐसा लिखाया है कि आज दिन तक के करोड़ों—अरबों—खरबों वर्षों के इतिहास में ऐसा दूसरा दृष्टान्त नहीं बन पाया। याद रखिए, एक ऐसा अलग ही स्वतंत्र यह अजीब दृष्टान्त है कि द्रव्य से बाहरी साध्वी बने बिना ही गृहस्थाश्रमी अवस्था में मोक्ष में गई। लेकिन भाव से सभी गुणस्थान पार करती हुई आभ्यन्तर सर्वविरतिधर उत्कृष्ट साध्वी पद पर ही मुक्ति पाई। परन्तु आयुष्य शीघ्र ही समाप्त होने के कारण संयम का अवकाश ही नहीं रहा। अनन्त वन्दना हो ऐसी मुक्तात्मा को।

ढंढण ऋषी केवली— श्रीकृष्ण वासुदेव की ढंढणा स्त्री से उत्पन्न ढंढणकुमार ने भ० नेमिनाथ की देशना सुनकर दीक्षा ली। अपना पूर्वभव प्रभु के पास श्रवण करके उत्कृष्ट संवेगभाव से अभिप्रह लिया कि... स्वलब्धि से गोचरी मिलेगी तो ही वापरूँगा, अन्यथा नहीं। श्रीकृष्ण के पूछने पर नेमिनाथ भगवान ने बताया कि हे कृष्ण, यह तेरा पुत्र ढंढण मुनि उत्कृष्ट तपस्वी अणगार है। श्री कृष्ण ने हाथी पर से उतरकर उन्हें वंदना की। इस दृश्य को देखकर एक गृहस्थ ने ढंढण मुनि को लड्डू वहोराण। मुनि के प्रभु को पूछने पर पता चला कि यह भी स्वलब्धि का आहार नहीं है। अतः मोदक का आहार परठवने लगे। इतने में पश्चाताप की धारा से ध्यान में आरूढ़ हो गए। और क्षपकश्रेणी से सीधे १३ वे गुणस्थान पर आकर केवली बनकर मोक्ष में गए।

सुकोशल मुनि को केवलज्ञान— अयोध्या नगरी के कीर्तिधर राजा ने तथा सुकोशल पुत्र ने जैन धर्म की दीक्षा अंगीकार की। दोनों उग्र तपस्वी तपश्चर्या करते थे। तीव्र आर्तध्यान में मृत्यु पाकर महारानी सहदेवी का जीव बाधिनी बना। जंगल में घूमना और गिरिकन्दरा में रहना। दोनों पिता—पुत्र उग्र तपस्वी मुनि ऊँचे भाव से गिरिकन्दरा में चातुर्मास करने पधारे और चारों महीनों के उपवास करके रहे। अन्त में पारणार्थ गांव में भिक्षार्थ निकले। मुनिओं को मार्ग में बाधिनी ने देखा। बस, देखते ही आगे खड़े पुत्रमुनि सुकोशल पर बाधिनी ने गर्जना के साथ छलांग लगाई। तपस्वी के शरीर की चमड़ी अपने पंजों के बाघनख से उतारकर मांस खाने लगी। आत्मसाधना का सुनहरा अवसर देखकर

सुकोशल मुनि “अप्पाणं वोसिरामी” करके कायोत्सर्ग ध्यान में लीन हो गए। बस, जो अपनी अंदर की मस्ती में मस्त है, उसका दुनिया भी क्या बिगाड़ सकती है ? मुनि धडाम से गिर पड़े और बाधिनी मांस के टुकड़े निकाल निकाल कर खा रही है। मुनि तो बाधिनी को कर्मक्षय में महान उपकारी समझकर बिना किसी द्वेष भाव के देहभाव से ऊपर उठकर आत्मा में तल्लीन हो गए। धर्मध्यान से शुक्लध्यान में प्रवेश करके क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होकर घाती कर्मों का चकना चूर कर दिया। तथा केवलज्ञान पाकर परमधाम मोक्ष में सिधारे। पुत्र के निमित्त से पिता मुनि कीर्तिधर भी सर्वज्ञता—वीतरागता का आस्वाद चख—कर शाश्वत सुख को प्राप्त करने सिद्धि गति को प्राप्त हुए।

श्री खंधक महामुनि—जैन इतिहास में एक आदर्शभूत श्रेष्ठ दृष्टान्त खंधक महामुनि का है। जितशत्रु राजा और धारिणी देवी के पुत्र खंधक कुमार ने धर्मघोष मुनि के पास दीक्षा अंगीकार की। संसार एवं काया की माया के त्यागी महात्मा ने उग्र तपश्चर्या करके अपनी काया को अस्थिपंजर मात्र बना दिया। विचरते हुए एक दिन अपनी बहन के श्वसुर गांव में आए। झरोखों से देखकर बहन ने अपने भाई मुनि को पहचाना। मुनि के शरीर को अस्थिशेष देखकर स्त्री-स्वभाव से बहन रोने लगी। बस, इतने में नजर जाते ही राजा ने अनुमान कर लिया— शायद मेरी इस रानी का कोई पूर्व प्रेमी—यार होगा। और यह मेरे राज्य में आया है। क्रोधावेश में वैसे कभी कोई निर्णय नहीं लेना चाहिए। अन्यथा अनर्थ की संभावना रहती है। आखिर राजा ने यही गलती की और क्रोधाग्नि से भभकते राजा ने सेवकों को आदेश दिया कि जाओ, उस खंधक मुनि की चमड़ी उतार कर ले आओ।

सेवक आए। मुनिजी कायोत्सर्ग ध्यान में अपनी साधना कर ही रहे थे कि... राज—सेवकों ने चमड़ी उतारनी शुरू कर ली। साधक महात्मा ने आँख खोलकर बाहर देखा ही नहीं कि कौन है ? क्या बात है ? बस, अंतर्दृष्टा बनकर समस्त लोकल्लोका का ध्यान करते करते कर्मजन्य संसार के स्वभाव को पहचानते हुए मुनि शुक्लध्यान में सोपान चढ़ते गए। कितनी नरक जैसी असह्य एवं असीम वेदना ? और इससे भी हजार गुनी मुनिजी की समता ने कमाल कर दी। बस, आत्मानन्द ही परमानन्द हो, उसी दुःख कहाँ सताता है और देह राग कहाँ फसाता है ? सवाल नहीं था। क्षपक श्रेणी में शुभ अध्यवसायों में चढ़ते हुए मुनि ने सीधे १३ वे गुणस्थान पर पहुँचकर ही विश्राम लिया। आत्मा तो वीतराग—सर्वज्ञ बन गई परन्तु शरीर चमड़ीविहीन बन गया, रक्त की धाराओं ने देह ही छोड़ दिया। आखिर पुद्गल परमाणु बिखर ही गए। अब देह टिक ही नहीं सकता तो

मुनिमहात्मा उसमें रहे भी कैसे ? ... बस, देह को छोड़कर सीधे मोक्ष में पहुँच गए । नमो ... नमो ... खंडक महामुनि ... । समता के भंडार को शत शत नमन !

इधर खून से लथपथ मुनि के ओषा—मुहपत्ति को चील चाँच में ले उड़ी और जाकर राजमहल पर गिरा दिये । रानी ने मांस पिण्ड समझा लेकिन गौर से देखकर अपने भाई मुनि का रजोहरण पहचान कर सिर पीटकर रोने लगी ... तब राजा को सच्चाई का पता चला । अब क्या करें ? पश्चाताप के भाव में राजा—रानी ने संसार छोड़ा, दीक्षा ली । प्रायश्चित्त के रूप में तपश्चर्या करके मुनि हत्या को अपना पाप धोकर कर्मक्षय कर शिवसुख प्राप्त किया ।

४९९ का मोक्षगमन— २० वे तीर्थंकर श्री मुनिसुव्रत स्वामी भगवान के पास स्कंदक ने ५०० मनुष्यों के साथ आर्हत् दीक्षा ग्रहण की । ४९९ सब स्कंदक के शिष्य बने । एक दिन अपने पूर्वाश्रमी बहन—बहनोई को प्रतिबोधित करने के लिए ... प्रभु से आज्ञा माँगकर गए । प्रभु ने कहा, भारी उपसर्ग होगा । फिर भी स्कंदक मुनि ने पूछा, हम उस उपसर्ग में आराधक बनेंगे या विराधक ? प्रभु ने कहा तुम्हारे सिवाय सभी आराधक बनेंगे । स्कंधक आचार्य बने थे । उन्होंने सोचा, चलो मेरे एक के निमित्त भी ४९९ का भी कल्याण होता हो तो अच्छा है । गए । कुंभकार नगरी के बाहर उद्यान में स्थिरता की ।

वैमनस्य भाव से पालक मंत्री ने राजा के कान फूँके कि ये ५०० सुभट आपको मारने के लिए षड्यन्त्र रच रहे हैं । तीक्ष्ण हथियार रच रहे हैं और जमीन में छिपाए हैं । राजा ने पालक मंत्री को आदेश दिया कि ... तुझे इसके लिए जो उचित लगे वह सजा कर देना, इसके लिए मैं तुझे सत्ता देता हूँ । राजा के कहते ही पालक की तो पूरी इच्छा थी ही । वह तो वैमनस्य भाव से दुश्मन की तरह लपकना चाहता था ।

पापी पालक ने नगर के बाहर तेल निकालने की घाणी के यन्त्रों की तैयारी की । सभी साधुओं को साफ कह दिया कि आप अभी सभी तैयार हो जाओ । तिल के तैल की तरह इस तैल यन्त्र में आपका सबका तेल निकाला जाएगा । साधु कभी मृत्यु से डरते नहीं हैं । वे सदा ही मरणान्त उपसर्ग के लिए तैयार रहते हैं ।

प्रमुख आचार्य श्री स्कंदक ने सभी में प्राणवायु के संचार की तरह अपनी प्रभावी वाणी से सब में उत्साह का जोश भर दिया । मानों युद्ध के मैदान में रणभेरी—युद्ध का ब्युगल बजा हो इस तरह सभी मरने के लिए सज्ज हो गए । मौत की किसी को परवाह ही नहीं थी । ४९९ साधुओं को आचार्यश्री ने आत्मचिन्तन कराया । देहममत्व का त्याग

कराया । सभी जीवों पर मैत्री भाव जागृत कराया । शत्रू पर भी समभाव जगाया । उसे भी उपकारी मानने के लिए कहा । सोचिए ! मरने के लिए हँसते मुँह उत्सुक सभी ४९९ साधु या होम करके झुकाने के लिए एक साथ गिरने के लिए झपके कि... दुष्ट पालक ने कहा एक—एक गिरिए ! सभी साधु पंक्तिबद्ध कतार में खड़े रह गए । एक—एक करके साँचे में गिरने लगे । पापी कसाई जैसा राक्षस पालक अपने यन्त्र चलाता गया और तिल में से तेल की तरह साधुओं के शरीर से खून की नदियाँ बहने लगी । एक के पीछे एक करके ५०, फिर १००, फिर २००, फिर ३०० साधु पूरे हो गए । एक भयानक कत्लखाने जैसा डरावना दृश्य खड़ा हो गया । निर्दय क्रूर एवं निष्ठुर पालक का मनरूपी कूप अभी तक भरा नहीं । वह तो खुश होता हुआ मुनियों को पीलता ही गया । आचार्य श्री कतार में खड़े हुए एक—एक करके सभी साधुओं के अध्यवसायों को चढ़ाते गए, बढ़ाते गए । देखते—देखते ३५०, और ४०० साधु पीले गए, ४५० हो गए, ४७५ पूरे हो गए, ४९९ पूरे हो गए ।

आचार्यश्री का इतना महान उपकार—प्रबल प्रेरक प्रेरणा थी कि अपनी आँखों के सामने खून की बहती हुई नदियाँ देखने के बावजूद भी... कोई मुनि विचलित नहीं होते थे । और उत्कृष्ट ध्यान की धारा में गुणस्थानों के सोपानों पर चढ़ते ही गए । आखिर शुक्लध्यान की स्थिरता बढ़ती ही गई और क्षपक श्रेणी सबकी लगती ही गई । एक बार क्षपक श्रेणी शुरू हो जाय फिर तो सवाल ही कहाँ रहता है । धडाधड कर्म के बंधन टूटते ही जाते हैं । और गुणस्थान चढ़ते ही जाते हैं आप मानो या न मानों, ४९९ वे सभी साधु भी तिल की तरह पीले जाते हुए केवलज्ञान पाते गए और मृत्यु होतै ही मोक्ष में जाते गए ।

एक तरफ दैत्य के जैसा खून का प्यासा पालक खड़ा है । और दूसरे किनारे पर केवलज्ञान के दाता, मोक्ष दाता आचार्य स्कंदक खड़े हैं । एक मारक है दूसरे तारक है । मारक पालक से न डरते हुए और तारक गुरु की शरण स्वीकारते हुए सभी निर्वाण पाते हुए मोक्ष में पहुँच रहे थे । आखिर अन्त में ५०० वे बाल मुनि का नंबर आया । आचार्य ने पालक से कहा कि पहले मुझे पील दो । लेकिन पालक नहीं माना और कहा कि जिसमें आपको ज्यादा दुःख हो उसमें मुझे ज्यादा मजा आती है । इतना कहकर पालक ने बालमुनि को एक धक्का देकर यन्त्र में फेंक दिया, और यन्त्र चालु कर पीलने लग गया । आचार्य श्री ने बालमुनि को भी इतनी ऊँची साधना कराई... घाणी में पीले जाते हुए भी इतनी प्रबल प्रेरणा दी और सीधे शुक्लध्यान के सोपानों पर चढ़ा दिया । परिणाम स्वरूप बाल साधु भी केवलज्ञान पाकर मोक्ष में गए । अन्त में आचार्य श्री की बारी आई । पालक ने

उनको भी यन्त्र में डाला। आचार्य श्री अपने क्रोधावेश न रोक सके और निकाचित नियाणा करके स्वर्ग में देव बने। अपनी बाजी सुधार नहीं पाए लेकिन ५०० साधुओं को मोक्ष में पहुंचा सके।

सोचिए जैन शास्त्रों का यह कितना अमर दृष्टान्त है। ऐसी स्थिति में ५०० साधुओं को घाणी में पीलते हुए केवलज्ञान और मुक्ति की प्राप्ति होनी यह कोई आसान बात नहीं है। हम तो सोच भी नहीं सकते हैं। बुद्धि से कल्पना भी नहीं कर सकते हैं। फिर भी जैन शासन के इतिहास में बनी हुई यह हकीकत सत्य घटना है। पापी पालक का विचार करने पर बहुत बुरा लगेगा लेकिन... ५०० साधुओं का विचार करने पर मोक्ष का प्रशस्त मार्ग स्पष्ट दिखाई देगा। ऐसे मरणान्त उपसर्ग में आसानी से केवलज्ञान तथा मोक्ष पानेवाले महात्माओं ने यह दिखा दिया है कि... मोक्ष या केवलज्ञान पाना कितना आसान खेल है? इतनी प्रतिकूलता में इतनी ऊँची साधना और इतनी श्रेष्ठ कक्षा की साधना करना कितनी ऊँची बात है?

रस्सी पर नाचते हुए केवलज्ञान— किन किन तरीकों से किनको—किनको केवलज्ञान प्राप्त हुआ है? ऐसे निमित्त—प्रसंग भी इकट्ठे करने जाय तो आश्चर्यों का पार नहीं रहेगा। बात है ईलाचीकुमार की। इलावर्धन नगर के जितशत्रु राजा ने इलादेवी की आराधना से संतान प्राप्ति की। अतः पुत्र का नाम ईलाचीकुमार रखा। बाल्य वय से ही विरक्त पुत्र को रागी बनाने के लिए पिता ने उसे व्यसनियों की संगत में रखा, जिससे पुत्र भी दुराचारी बन गया। एक नृत्यकार अपनी पुत्री को नाच नचा रहा था। उस रूपवती युवती को देखकर यौवन की देहली पर पैर रखनेवाला ईलाचीकुमार मोहित हो गया। उसके साथ शादी करने के लिए, उस युवति के पिता की बात मानकर इलाचीकुमार भी नृत्यकला सीखने लगा। बीतते बीतते कई वर्षों का लम्बा काल बीतता गया। और एक दिन शर्त के अनुसार बड़े राजा को प्रसन्न करके नर्तन कला में पारितोषिक प्राप्त करने हेतु राज दरबार में राजा के समक्ष नाटक करने का आयोजन किया।

राज दरबार में नृत्य की महफिल चलने लगी। हजारों नगरवासी नर—नारी इकट्ठे हो गए। राजा भी अपनी अन्तःपुर की रानियों के साथ नृत्य देखने लगे। कलाओं को दिखानेवाले इलाची ने दो बांसों के बीच रस्सी बांधकर उस पर नाचने लगा। अपनी करतब दिखाते हुए जान की बाजी लगाकर नाचने लगा। लक्ष था कि राजा को प्रसन्न करके बड़े ईनाम जीतने।

इधर परस्त्री लंपट राजा भी नाचनेवाली नर्तकी के रूपादि पर मोहित हो चुका था । अतः ईनाम देने की बात ही कहाँ रहती है ? मन के विचार विकारग्रस्त हो गए । वह ऐसा सोचने लगा कि यह इलाचीकुमार गिर जाय, अपना संतुलन खो बैठे और गिरकर मर जाय तो इस सुंदरी के साथ मैं ही शादी कर लूँ । दानत खराब होने के इरादों से अब व्यक्ति का उल्टा चलना स्वाभाविक है । आखिरी बार अपनी जान की बाजी लगाकर इलाचीकुमार पुनः अपनी कला दिखाने चढ़ा । क्या एक पैर पर रस्सी पर नाच रहा है । सारी सभा के हजारों बैठे हुए दर्शकों ने दांतों तले अंगुली दबा दी । लेकिन राजा टस से मस नहीं हुआ ।

इधर बांस पर चढ़े नृत्य करते नृत्यकार की नजर किसी के घर में गई । खिड़की से देख रहा है कि... एक सुंदर स्वर्ग की अप्सरातुल्य स्त्री भिक्षा के लिए पथारे मुनि महात्मा को आहार दान करते हुए मोदक वहोरा रही है । फिर त्यागी तपस्वी मुनि लेने से इन्कार करते हैं और नजर ऊँची करके उस स्त्री के सामने भी नहीं देखते हैं । एकान्त है, अकेलापन है । स्वर्ग से सुन्दर अप्सरा जैसी यौवनवती रूपवती स्त्री है । मोदक जैसा गरिष्ठ आहार है । फिर भी त्यागी मुनि आँख ऊँची करने के लिए तैयार भी नहीं है । और इधर कामी राजा इतनी रानियाँ होने के बावजूद उस नर्तकी पर से नजर हटाने के लिए भी तैयार नहीं है । धिक्कार है इस काम को । त्याग मार्ग एवं साधु महात्मा ही श्रेयस्कर हैं । बस, विचारधारा पलटते ही नाचती काया को भूलकर इलाचीकुमार चिंता में से मन हटाकर चिंतन की धारा में लगाता है । वर्षों से बांस पर नृत्य करने में जितना आनन्द आज दिन तक जो नहीं आया था वह आज आया । चिन्तन के तत्त्व—आत्मा—परमात्मा मोक्षादि हैं । बस, इनमें ध्यान को स्थिर करता है । और धर्मध्यान से शुक्लध्यान में पहुँचे । क्षपक श्रेणी आरंभ की । नृत्य की भाव भंगिमा और अंगमरोड की तरह गुणस्थान के सोपान बदलते गए । और देखते—देखते इलाचीकुमार के चारों घाती कर्मों का क्षय हो गया और १३ वे गुणस्थान पर पहुँचते ही केवलज्ञान पा गया । मोक्ष की दिशा पकड़ ली । देवताओं ने आकर स्वर्णकमल की रचना की । अब केवलज्ञानी मुनि ने सबको देशना दी । केवली की देशना में क्या कमी रहती है । पूर्व भवों का वर्णन भी सुंदर किया । काफी प्रतिबुद्ध हुए ।

देखिए, कैसी स्थिति थी इलाचीकुमार की ? कहाँ ऊँचे श्रीमन्त राजघराने का राजकुमार, एक का एक इकलौता बेटा और कहाँ रास्तों पर नाचनेवाली नर्तकी ? मोहित होकर उसकी प्राप्ति के लिए नाचना... फिर भी ऐसी नर्तन की स्थिति में केवलज्ञान की प्राप्ति होनी कितनी असंभव सी बात को संभव कर केवलज्ञान पाकर मोक्ष में जाना कोई

सामान्य खेल नहीं है। हमारे पूर्वज महापुरुष कितने ऊँचे आदर्शरूप थे ? आज हजारों लाखों वर्षों के बाद भी उस दृश्य को याद भी करें तो सही अर्थ में सिर झुक जाता है।

खूनी-हत्यारा भी केवलज्ञान पाया— जीर्णदत्त ब्राह्मण का पुत्र यज्ञदत्त बचपन में ही माता—पिता की मृत्यु के पश्चात् व्यसन—शिकारादि में लपटें बनकर चोरों की टोली में मिल गया। चोर पल्लीपती ने उसे बलिष्ठ जानकर अपनी गादी पर बैठाया। अर्थात् चोरों का नायक पल्लीपती बनाया। उस बलिष्ठ का एक प्रहार इतना खतरनाक रहता था कि सामनेवाला मृत्यु पा जाता था। इसलिए दृढप्रहारी नाम ही प्रसिद्ध हो गया। एक बार सभी कुशस्थल नगरी लूटने गए। देवशर्मा ब्राह्मण के घर धावा बोला। देवशर्मा जंगल से उसी समय घर लौटा और लकड़ी से मारने दौड़ा। इतने में दृढप्रहारी ने प्रबल शक्ति से प्रहार किया और उसके घड से सिर अलग कर दिया। इस बीच एक गाय अपने सींग से मारने आई तो उसे भी दृढप्रहारी ने मार डाला। अन्त में गर्भवती ब्राह्मणी स्त्री दौड़कर बाहर आई तो दृढप्रहारी ने उसके पेट पर ही प्रहार किया अतः क्षणभर में वह स्त्री तथा गर्भवस्थ शिशु दोनों के प्राण पँखेरू उड़ गए।

इस तरह गाय, स्त्री, ब्राह्मण और भ्रूण जैसे चार—चार की हत्या कर चुका वह दृढप्रहारी ब्राह्मण के उस तडपते गर्भवस्थ शिशु को देखकर उसके दिल में कंपन हो उठा। क्रोध शान्त होने के पश्चात् पश्चाताप की आग बढ़ने लगी। परिणाम स्वरूप तारक तपस्वी साधु मुनि के शरणों में पहुँचा। पश्चाताप भाव की योग्यता दिखाकर उसने मुनि से चारित्र ग्रहण किया। चोर—खूनी हत्यारे में से साधु बनकर दृढप्रहारी ने पाप धोने के संकल्प से कठोर अग्निग्रह धारण किया कि जब तक मुझे मेरे पाप याद आएंगे तब तक... आहार—पानी ग्रहण नहीं करूँगा।

मुनि समझकर उसी मोहल्ले—गली में पुनः भिक्षा लेने जाते हैं। ग्रामवासी पहचान कर ढेला मारते हैं। फिर भी सहनकर अपने पाप कर्मों को खपाने में समभाव रखते हैं। शान्ति—क्षमा—समता—तपश्चर्या सब इकट्ठे हो गए। अब ध्यान भी जोड़ दिया और ध्यान की धारा भावनाओं के चिंतन के साथ आगे बढ़ी... धर्म से शुक्ल होते हुए ध्यान ने क्षपकश्रेणी शुरू कर दी। कर्म ध्यानाग्नि में जलकर भस्मीभूत होने लगे। परिणाम स्वरूप केवलज्ञान पाकर १३ वे गुणस्थान के सोपान पर आरूढ़ होकर सदा के लिए मोक्ष में पधारे। घोर हत्या—खून—हिंसा—झूठ—चोरी आदि के सभी पाप जो घोर नरक में ले जानेवाले थे उनकी बाजी बदल कर कर्म खपा कर उसी भव में मोक्ष पाना कोई आसान खेल नहीं था।

शिरच्छेद होते समय भी केवलज्ञान—

३२ राजकन्याओं के साथ शादी करके विषयसुख में स्वर्गसुख की तरह मशगुल मदन ब्रह्म राजकुमार एक दिन इन्द्रोत्सव में गया। वहाँ से उद्यान में ज्ञानी—ध्यानी मुनि की देशना सुनने परिवार सहित बैठा। धर्मोपदेश से राजकुमार की सुषुप्त आत्मा जागृत हो गई। बस, संसार से विरक्त होकर नववधुओं का त्याग करके चारित्र अंगीकार करके साधु बन गए। गुरुदेव के साथ विचरते हुए ज्ञानादि में विद्वान बने। एक बार खंभात की तरफ विहार करके आए। एक घर में गोचरी के लिए गए। उस घर में रहती श्रीमती स्त्री ने रूप सौंदर्य से युक्त बलिष्ठ मुनि के यौवन को देखकर पतिवियोग के कारण कामज्वर से पीड़ित होने के कारण मुनि को भोगसमर्थ—सक्षम जानकर घर के द्वार बंद करके अपने साथ सुख भोग भोगने के लिए मनाने लगी। अपने हाव—भाव से मुनि को पतित करनेवाली उस शेठानी को यह पता नहीं है कि उससे भी अच्छे रूप—सौंदर्यवाली ३२ राजकन्याओं को छोड़कर आए हैं। ये विरक्त—त्यागी क्या भोगों में लिप्त होंगे? इतने में उस शेठानी ने मुनि को कस कर पकड़ ही लिया। उसकी तीव्र वासना के सामने मुनि का उपदेश निरर्थक गया और अवसर के सजग मुनि ने भागने की कोशीश की तो कामकुशल उस शेठानी ने पैरों में आंटी डालकर महाराज को गिरा दिया और अपने पैर में पहनने का गहना झांझर महाराज के पैरों में पहना दिया। महाराज भागने लगे तो चिल्लाने लगी—देखो .. देखो? ये महाराज मेरा चारित्र भ्रष्ट करके भाग रहे हैं। इसका सबूत यह है कि मेरे पैर का आभूषण उनके पैरों में है। गली के लोगों ने महाराज को पकड़कर खूब मारा—पीटा।

राजा ने बीच में आकर सबको कहा कि ... ठहरो! मैंने इस स्त्री का नाटक देखा है। यही ऐसी चरित्रभ्रष्ट है। इसी ने यह स्त्री स्वभाव सुलभ मायावी नाटक रचा है। अतः राजा ने उस स्त्री को देशनिकाल की सजा देकर सीमा पार निकाल दी। मदनब्रह्म नाम होते हुए भी मुनि महात्मा की लोक प्रसिद्धि “झांझरिया मुनि” के नाम से हुई। पैरों में आए झांझर के कारण।

मुनि विहार करते हुए उज्जैनी नगरी पधारे। भिक्षार्थ निकले मुनि को देखकर राजमहल के झरोखे में बैठे रानी ने देख और अचानक भावोद्रेकवश रोना आया। राजा ने सोचा, कुछ दाल में कांता लगता है। अतः रानी का प्रेमी यार मान कर गुप्त रूप से सेवकों को आज्ञा करके जमीन में गहरा खड्डा करके उसमें डालने के लिए कहा। और तलवार से गर्दन काटकर सिर गिराने के लिए कहा।

चिट्ठी के चाकर नोकरों ने निकाली तलवार और उठाई। इतने में महात्मा सारी परिस्थिति समझ गए और आत्मध्यान करके आत्मा का अधःपतन रोकने के लिए सुवर्ण अवसर को साधने के लिए जल्दी ही ध्यान की धारा प्रारम्भ कर दी। अल्पसमय में ध्यान साधना ही तीव्रता के साथ जल्दी ही ऊपर उठाती है—आगे बढ़ाती है। गाढ़ समता में महात्मा ने घातक मारकों को भी उपकारी मान लिया। धर्मध्यान से शुक्लध्यान में तीव्रता लाकर क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ होकर... तलवार गिरने के पहले तो अध्यवसायों की तीव्रता के साथ चारों घनघाती कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान पा लिया... बंस, सर्वज्ञ वीतरागी बन गए। अब तो पुनः आत्मा के पतन का सवाल ही खड़ा नहीं होता है। इतने में तो तलवार गिरी और एक झटके के साथ... शिरच्छेद हो गया और निर्वाण पाकर महात्मा मोक्ष में पधारे। वाह ! क्या साधना थी ? कितने अल्प काल में महात्मा साध गए।

इधर शिरच्छेद के बाद उड़ी हुई खून की पिचकारियों के कारण खून से लथपथ ओधा मुहपत्ती को मांस पिण्ड समझकर एक चील अपनी चांच में ले उड़ी और योगानुयोग विशाल राजमहल की गल्ली पर उसकी चोंच से गिर पड़ा। रानी जो मुनि की सगी बहन थी उसने ओधा मुहपत्ती से भाई को पहचान लिया। रोने लगी। पति राजा भी आए और वास्तविकता समझकर पश्चाताप के भाव में राजा ने अपनी भूल स्वीकार की और दोनों ने अनशन स्वीकार कर पाप धोने का संकल्प करके पश्चाताप की धारा में अनित्यादि भावनाओं के सहारे धर्मध्यान से शुक्लध्यान के सोपान चढ़ते हैं। परिणाम स्वरूप क्षपक श्रेणी प्रारम्भ करके शुभाध्यवसायों की तीव्रता से कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान पाकर मोक्ष में गए।

वाह ! क्या आश्चर्य है। शिरच्छेद होते हुए भी केवलज्ञान और मरनेवाले को पश्चाताप में भी केवलज्ञान प्राप्त होता है। धन्य है... धन्य है।

पश्चाताप में केवलज्ञान—

शास्त्र प्रसिद्ध बात अषाढाचार्य की है। जिन्होंने दिवंगत होते अपने ४—४ शिष्यों को मृत्यु के समय अंतिम साधना कराई और शरत रखी कि यदि आप देवलोक—स्वर्ग में जाओ तो वापिस मुझे मिलने जरूर आना, मुझे कहना, बात करना, मैं पूछूँ वह सब कहना... लेकिन अफसोस चारों में से कोई नहीं आया। गुरु अषाढाचार्य विचारों से नास्तिकता का निर्णय करके साधुधर्म छोड़कर पुनः संसार में जाकर संसार के मौज सुख भोगना चाहते थे। इतने में १ देव आया और उसने दैवी माया बताई। ६ भहीने का लम्बा नाटक बताया।

इस नाटक में गुरु अषाढाचार्य ने भी हिंसादि की काफी प्रवृत्ति की । आखिर इस दैवी माया के नाटक का भेद खुला ... आचार्यश्री को सब स्पष्ट ख्याल आ गया और वे अपने आप मन ही मन पश्चाताप करने लगे । पश्चाताप की तीव्रता बढ़ती ही गई ... शास्त्र सभी सच्चे ही हैं, सभी तत्त्वों का अस्तित्व है, यह बात सही है । निरर्थक नास्तिकता के विचार किये इसके लिए क्षमाभाव की धारा में ध्यान की धारा में ऊपर चढ़ते गए ... परिणाम स्वरूप शुक्लध्यान के शुद्धतम अध्यवसायों में क्षपकश्रेणी में चारों घाती कर्मों का क्षय करके केवलज्ञानी बनकर मोक्ष में गए । वैचारिक भूल का पश्चाताप भी केवलज्ञान से मोक्ष तक पहुँचा देता है ।

चन्दनबाला और मृगावती साध्वी को केवलज्ञान—

परमात्मा महावीर प्रभु के पास दीक्षा ग्रहण करके साध्वी बनी हुई चन्दनबाला और मृगावती साध्वीजीयाँ जो गुरुणी और शिष्या बनी थी, एक बार चन्द्र—सूर्य अपने मूल विमान सहित सर्वज्ञ वीर प्रभु को वन्दनार्थ आए हुए थे । अतः रात्रि में भी प्रकाशमान दिन की भ्रमणा से मृगावती साध्वीजी वीर प्रभु को वन्दनादि करके वहीं बैठी रही । जबकि चन्दनाजी आ चुकी थी । जब सूर्य—चन्द्र पुनः चले गए तब पुनः रात्रि जानकर जब मृगावतीजी उपाश्रय स्थान में पधारी तब गुरुणीजी चन्दनाजी ने ... मृगावती को हल्का सा थोड़ा उपालम्भ दिया । पुनः चन्दनाजी निद्राधीन हो गई । लेकिन २ शब्द सुनकर मृगावतीजी चिन्ताग्रस्त होकर आत्मनिरीक्षण करने लगी । पश्चाताप की धारा में इन लघुकर्मों आत्मा ने तीव्रता से अपने कर्मों की निर्जरा करनी शुरू की । शरीर से वहीं स्थिर बैठी है लेकिन आत्मा ध्यान में कितनी आगे बढ़ गई । आखिर में क्षपकश्रेणी पर चढ़कर केवलज्ञान प्राप्त किया । अभी रात्रि शेष थी ।

एक बड़ा सांप वहाँ से पसार होता हुआ चन्दनाजी के पास से जा रहा था । रात्रि के अन्धेरे में भी सर्वज्ञ केवली तो बिना आँख खोले भी आसानी से सबकुछ देख सकते हैं । अतः केवली बनी हुई मृगावतीजी ने साँप के जाने के रास्ते में से गुरुणीजी का हाथ ऊपर उठा लिया । साँप आसानी से निकल गया । अब गुरुणी जी जाग गई । और आश्चर्य से मृगावती के पूछा, क्या बात है, मेरा हाथ क्यों उठाया ? जवाब में मृगावतीजी ने कहा .. साँप आ रहा था, इसलिए । चन्दनाजी ने विस्मय कारक ध्वनि से पूछा, अरे ! इतने अन्धेरे में और वह भी काला साँप दिखाई कैसे दिया ? मृगावतीजी ने जवाब दिया कि आपकी कृपा से प्राप्त ज्ञान से दिखाई दिया । इतने शब्दों से चन्दनाजी रहस्य समझ गई । अरे !

ये तो केवलज्ञानी है। मैंने सर्वज्ञ की आशातना की। अतः वे भी पश्चात्ताप की धारा में झुलसने लगी। और कर्मक्षय करने के लिए... ध्यान की धारा में आरूढ़ हो गई। ज्ञानी—ध्यानी के ध्यान करना भी आसान खेल होता है। बस, फिर पूछना ही क्या? क्षपकश्रेणी पर चढ़ते ही आगे के गुणस्थानों पर पहुँचते ही चन्दनाजी भी केवली बन गई। वाह! जैन शासन में कैसे—कैसे सुंदर दृष्टान्त बने हैं। साध्वीजी कक्षा में भी दोनों केवलज्ञानी बनकर मोक्ष में सदा के लिए पधारे।

गुरु शिष्य को भी खमाने में केवलज्ञान—

अत्यन्त ज्यादा क्रोधी स्वभाव के कारण आचार्य बने हुए चंडरुद्राचार्यजी के पास से सभी शिष्य चले गए। कोई साथ नहीं रहा, वे अकेले उद्यान में किसी वृक्ष के नीचे बैठे थे। वृद्धावस्था थी। दिखने में भी कम दिखता था। कुछ युवक शाम के समय आए। शादी जिसकी हो रही है, आज रात होनेवाली है, अतः बारात में सबके साथ आए हुए वरराजा युवक को लेकर कुछ मित्र चंडरुद्राचार्य जी के पास आकर हँसी विनोद में कहने लगे महाराज! इसको दीक्षा दे दो। साधु बना दो। अभी थोड़े घंटों में जिसका हस्तमिलाप होनेवाला है उस युवक को पकड़ कर मित्र वर्ग ले आए गुरु के पास और कहा महाराज! बनाओ इसको महाराज। गुरु भी स्वभाव के बड़े तेज थे। पास में पड़ी हुई कफ थूकने की राख ली और फटाफट उसके सिर पर से बाल खींचने लगे। आज की मजाक सबको भारी पड़ गई। गुरु ने बरोबर सिर मजबूत पकड़ कर रखा। और थोड़ी देर में तो पूरा केशलूचन करके सिर साफ कर दिया। अब वह शादी करने क्या भागे? गुरु ने वहीं दीक्षा दे दी।

इस तरफ सूर्यास्त होने आया रात का अन्धेरा छा जाएगा। अतः समझदार नूतन बने हुए मुनि ने कहा, गुरुजी! चलो अब भाग चलें यहाँ से। अन्यथा सभी बाराती लोग आ जाएंगे तो विवाद खड़ा होगा। हो सकता है, शायद मार पीट भी हो सके। गुरु भी सारा रहस्य समझ गए। अच्छा चलो, लेकिन मैं तो उग्रलायक वृद्ध हूँ। मुझे कम दिखाई देता है। कैसे भागेंगे? शिष्य ने कहा— गुरुजी, मेरे कंधे पर बैठ जाइए, और निकल जाएंगे। चलो, आखिर शिष्य ने गुरु को कंधे पर बैठाया और रात के अंधेरे में विहार कर गए। रात्रि के अन्धेरे में साफ दिखाई भी न दे। एक तरफ बिना अनुभववाले नए शिष्य थे। गुरु भी उसके ऊपर हैं। इधर रास्ता भी सही नहीं। पैर टेढ़ा—मेढ़ा भी गिरता है और गुरु गिरने जैसे हो जाते हैं। अतः गुरु क्रोध में चिल्लाते हैं— ऐ? सीधा चल। क्रोध का

स्वभाव बड़ा ही खतरनाक था। शासन की अपभ्राजना न हो इसके लिए बचकर भाग निकलने का मार्ग अपवाद के रूप में रात्रि में भी सेवन कर रहे थे। अचानक शिष्य का पैर खड़े में गिरा। शायद कांटा भी लगा हो। क्योंकि जंगलों के मार्ग कांटे कंकड़ से ही भरे होते हैं। तीव्र क्रोध की आग में भभुकते हुए गुरु ने एक डंडा जोर का शिष्य के सिर पर मारा। एक तरफ तो नया केशलुंचन हुआ हुआ था। सूजन भी काफी थी। डंडे की चोट से खून की धारा बहने लगी। फिर भी समता के सागर शिष्य ने बड़े मीठे स्वर में नम्रता से कहा— गुरुदेव ! अब सीधा चलूंगा। गुरु को संभालने की भावना, सेवा भक्ति और वैयावच्च की वृत्ति में नम्रता के उत्कृष्ट विनयभाव में शिष्य ने भावनाओं को भावों के बल पर बढ़ाया। अध्यवसाय की धारा शुद्ध—विशुद्ध बनती ही गई। काया से चलते हुए भी मन ध्यान में तल्लीन बन गया। ध्यान शुक्ल की कक्षा में आगे बढ़ा। चिन्तन शुभ करके अपनी आत्मा को समझा रहे थे— हे चेतन ! तुने पशु के भव में मालिक की कितनी चाबूकें खाई हैं ? कितनी मार खाई ? अरे ! नरक गति के जन्मों में परमाधामियों के हाथ के तीर—भाले कितने खाए ? तो आज इसमें क्या बड़ी बात है ? यह तो गुरु के हाथ की मार है। वाह ! इस मार में तो आशीर्वाद बहुत ऊँचे हैं। आर्तध्यान के अवसर को मुनि ने शुक्लध्यान में बदल दिया। क्षपक श्रेणी शुरु हो गई। और देखते ही देखते केवलज्ञान प्राप्त हो गया।

आह ! क्या आश्चर्य ? वर्षों के दीर्घ संयमी आचार्य क्रोध में ही रह गए और शादी के लिए आया युवक साधु बनकर एक ही रात में केवलज्ञानी बन गया ! इसमें तो हमारी बुद्धि सोच—सोचकर थक जाय तो भी कुछ भी समझ में नहीं आ सकता कि यह क्या हो रहा है ? कैसे हो रहा है ? ऐसे कथानक से लगता है कि ... कितनी आसान क्रिया होगी केवलज्ञान पाने की ?

इधर गुरु ने अभिमान से पूछा क्यों रे चेला ? अब तो बराबर चलता है न ? डंडा पड़े तो ही सीधा होता है, और सीधा चलता है। क्यों ? शिष्य ने कहा— गुरुजी आपका असीम उपकार है। आहा ! कितना विनीत जीव है ? गुरु ने कहा— अब तो सीधा चलेगा न ? शिष्य— गुरुजी ! आपकी असीम कृपा से अब तो सब साफ स्पष्ट दिखाई देता है। गुरु ने आश्चर्य से पूछा ... अरे ! इतने अन्धेरे में भी साफ कैसे दिखाई देता है ? अभी कहाँ दिन उदय हुआ है ? अरे ! कैसे दिखाई देता है ? शिष्य ने कहा— गुरुजी ! अब तो आँखें बंद कर के चलूँ तो भी दिखता है और खुल्ली रखूँ तो भी दिखता है। इस जवाब से गुरु विस्मय में पड़कर गहरा सोचने लगे। अरे ! आँख बन्द करने पर यदि दिखाई दे

तो वह तो ज्ञान मात्र से ही सम्भव हो सकता है। तो क्या तुझे ज्ञान हुआ है? शिष्य ने कहा— गुरुजी! आपकी कृपा की ही सब प्रसादी है। ये शब्द सुनकर शिष्य की विनम्रता का ख्याल आया। दूसरी तरफ... सिर के खून की धारा जब गुरु के पैर पर आई तो गुरु भी दंग रह गए। शिष्य को कहा— रुक! मुझे नीचे उतरने दे।... गुरु नीचे उतरे... और अपने ज्ञान से अनुमान लगाया कि कौन सा ज्ञान हुआ होगा? केवलज्ञान हुआ होगा?

अब गुरु शिष्य को खमाने लगे। अपने अपराध की क्षमापना करने लगे। और अफसोस भाव में सोचने लगे। अरे! कहां एक रात का शादी करने निकला यह मेरा शिष्य और कहाँ वर्षों का दीक्षित मैं आचार्य। बस, अनुप्रेक्षा की धारा में आगे बढ़ते—बढ़ते... महात्मा ने ध्यान की धारा शुरू की। शुक्लध्यान की धारा के विशुद्ध अध्यवसाय में क्षपक श्रेणी प्रारम्भ हो गई और आचार्यश्री सीधे १३ वे गुणस्थान पर जाकर रुके। वहाँ सीधा केवलज्ञान पाकर सर्वज्ञ बन गए। क्षपक श्रेणी तो सीधे केवलज्ञान तक लाकर ही रोकती है। वाह! क्या गुरु—शिष्य की जोड़ी थी? कैसे थे और कैसे बन गए? क्या थे और क्या बन गए? धन्य है ऐसे सर्वज्ञ महापुरुषों को। अनन्तानंत वंदन है।

लग्न मण्डप की चोरी में केवलज्ञान—

जैन शासन के इतिहास में एक ही ऐसा दृष्टान्त जिनका है वह है— पृथ्वीचन्द्र गुणसागर जैसे महात्माओं का शंख और कलावती के भाव से चल रही संसार की भव परंपरा में अन्तिम जन्म में आकर पृथ्वीचन्द्र गुणसागर बने हैं। संसार के महान त्यागी मनोभाव से भी विरक्त ऐसे महात्मा शादी करने के लिए लग्नमण्डप में बैठे। शादी करानेवाले ब्राह्मण पंडित ने हस्तमिलाप कराया। बीच में अग्नि के चारों तरफ प्रदक्षिणा दे रहे थे नए वस्त्र—वधू। इतने में चित्त की धारा ने जोर पकड़ा। अरे यह क्या? क्या अग्नि? क्या पत्नी? क्या ये बंधन? हे चेतन! तू बंधन में रहनेवाला है या मुक्ति में? और यह क्या हो रहा है? बस, जहाँ देह राग का भाव छूटा कि चेतन—आत्मा का चिन्तन शुरू हुआ। आत्मचिन्तन आत्मा की उन्नति की दिशा में आगे बढ़ा। धर्मध्यान से शुक्लध्यान में शुद्धतम कक्षा के शुभ भाव ने क्षपकश्रेणी पर पहुँचा दिया, और देखते ही देखते लग्न मण्डप में ही लघुकर्मों आत्मा के घाती कर्मों का बंधन टूट गया और महात्मा केवलज्ञान पाकर सर्वज्ञ बन गए।

फिर इस प्रसंग की घटना का अद्भुत वर्णन अन्य राजा के सामने करते हुए दूत ने मानों दूसरा दीप जलाया हो वैसे ही सुषुप्त चेतना को जगाई। और उनको भी इसी प्रक्रिया से केवलज्ञान प्राप्त हुआ।

क्या क्या दृष्टान्त बने हैं ? कैसे कैसे प्रसंग भूतकाल में बने हैं और कैसे केवलज्ञान प्राप्त हो गया ? यह आश्चर्यकारी घटनाएँ हैं । यद्यपि हमारे जैसे अल्पज्ञ के लिए ये बुद्धि के बाहर की बातें लगती हैं । शायद हम सोच भी न पाएँ । बात भी सही है । सर्वज्ञ की बात अल्पज्ञ क्या सोचे ? ऐसे सैंकड़ों दृष्टान्त जैन चरित्रवाङ्मयों में भरे पड़े हैं । हमें रोज उनका विस्तार से पठन करना चाहिए, ताकि भविष्य में कभी सर्वज्ञ बनने के स्वप्न तो आए ।

खाते-खाते भी केवलज्ञान—

पूर्व में सांप के जन्म में सुंदर समता की साधना करके जीव कुंभराजा की महारानी की कुक्षी में आया । पुत्ररूप में जन्मे उनका नाम नागदत्त पड़ा । यौवन की देहली पर पैर रखते ही युवक ने जैन मुनि के दर्शन करते ही वैराग्य वासित होकर चारित्र अंगीकार करके मुनि महात्मा बने । तिर्यच की गति से आने पर आहार की संज्ञा ने जोर पकड़ा और दूसरी तरफ क्षुधा वेदनीय ने भारी भूख जगाई । परिणाम स्वरूप महात्मा भूखे रह ही नहीं सकते थे । इसके कारण तप तपश्चर्या करनी संभव ही नहीं थी । होती ही नहीं थी । चाहे कितना भी बड़ा पर्व का दिन भी आ जाय । ऐसी स्थिति में गुरु ने आज्ञा दी कि— हे मुनि । तुम भाव तप में आगे बढ़ो और पूरी समता को आत्मसात कर लो । चाहे कैसी भी विपरीत परिस्थिति आ जाए बस, समता मत तोड़ना । भले ही करना पड़े उतना थोड़ा आहार ले लो ।

मुनि एक गडुआ (एक छोटा बर्तन जैसा पात्र) भर कर कूर (अन्नविशेष भात—चावल) भिक्षा में लाकर खाते थे । किसी भी कदर अपने उदर की पूर्ति करते थे । एक भी उपवास—आर्यबिल कर ही नहीं सकते थे । लेकिन साथ के अन्य ४ साधु महातपस्वी थे । वे ३०—३० उपवास से मासक्षमण की तपश्चर्या कर सकते थे । एक गडु पात्र (भात) कूर खाने के कारण मुनि का नाम कुरगडु के नाम से प्रसिद्ध हो गया था । मुनि रोज गोचरी लेने जाते और नियम से आचार के अनुरूप अपनी भिक्षा तपस्वी मुनिओं को दिखाकर फिर ही खाते थे ।

जिनके ३० उपवास के मासक्षमण की तपश्चर्या चल रही थी ऐसे तपस्वी तथा दूसरों की ६० उपवास की, तीसरे महात्मा । ८० उपवास की तथा चौथे मुनि की १२० उपवास की दीर्घ तपश्चर्या चल रही थी । कुरगडु मुनि ने बड़े पर्व के दिन भी गोचरी लाकर तपस्वियों को दिखाई । उन महात्माओं ने कहा अरे ! यह क्या ? आज बड़ा पर्व है । आज भी

खाएगा ? जा ... थू... थू... करके गले का कफ उस अन्न पर थूक दिया । फिर उसकी निंदा भी करने लगे । भली बूरी सुनाने लगे । फिर भी कुरगडु मुनि समता में रहकर सहन करते और आत्मग्लानिपूर्वक अपनी कर्म स्थिति पर अफसोस व्यक्त करते थे । आज तो मुनि बहुत ही प्रसन्न हो गए कि तपस्वी की लब्धि मुझे मिल गई । इससे भी मेरे कर्मों का क्षय हो सकेगा । मुनि पूर्वसमता में रहकर... अन्न पात्र ले गए एक तरफ, और बैठ गए खाने । सबसे पहले कफ—थूकवाला कवल पहले खाया, और समता की साधना में ध्यान लीन बन गए । आखिर ध्यान ही आत्मा की आगे प्रगति कराता है । मुनि चढ़ गए क्षपक श्रेणी में और एक एक करके सीधे १३ वे गुणस्थानक पर जा रुके । सयोगी केवली बने । अब वीतरागी और केवलज्ञानी—केवलदर्शनी बने हुए महात्मा को वंदनार्थ देवी देवता आए । स्वर्णकमल की रचना करके उन्हें उस पर बिराजमान किया । सर्वज्ञ महात्मा ने धर्म देशना दी ।

यह दृश्य देखकर १, २, ३ और ४ मासक्षमण के उग्र—घोर तपस्वी आश्चर्य में गरकाव हो गए । ओहो !.. अरे... ! यह तो रोज खानेवाला था । यह कहाँ तपस्वी था ? उग्र... घोर तप तो हम कर रहे हैं । और इस खानेवाले को कैसे केवलज्ञान हो गया ? देवी ने उत्तर देते हुए कहा— तपस्वीजी ! आप बाह्य तपस्वी रहे और साथ में कषाय—ईर्ष्या द्वेष की मात्रा घटा नहीं पाए । जबकि ये आभ्यन्तर तपस्वी बने । समता के साधक बने । राग—द्वेष को सर्वथा छोड़ कर आपके कफ थूक को लब्धि मानकर खाया और ध्यान की धारा में चढ़ गए... देखिए !... आपका उपकार मानते हैं कि... आपकी कृपा से—केवलज्ञान प्राप्त हुआ है ।

यह रहस्य जान कर १, २, ३ और ४ मासक्षमणवाले तपस्वियों ने अपने अन्तर में पश्चाताप की आग जलाई । बात बिल्कुल सही थी कि... हम बाह्य रूप से तो उग्र तप कर रहे हैं लेकिन राग—द्वेष—कषायों को संपूर्ण तिलांजली नहीं दे पाए । ओहो... ऐसे शुभ अध्यवसायों से उन्होंने केवली कुरगडु महात्मा को सच्चे भाव से खमाया.... क्षमायाचना की... और पश्चाताप की तीव्र अग्नि में भावना के सहारे ध्यान में चढ़ गए । बस, कमी किस बात की थी ? सहयोगी तैयारी तो थी ही तपादि की । शुक्लध्यान ने क्षपक श्रेणी को और तीव्र बना दिया । वाह !... चारों तपस्वी कर्मों का क्षय करके केवलज्ञानी सर्वज्ञ बन गए । धन्य.... धन्य थे वे तपस्वी रत्न.... बस, खमाते.... खमाते केवलज्ञान पा लिया । अरे वाह ! खाते—खाते भी केवलज्ञान ? कितना आसान लगता है केवलज्ञान पाना ? क्यों ?

युद्ध के मैदान में केवलज्ञान—

इतिहास प्रसिद्ध भरत—बाहुबली की बात को कौन नहीं जानता ? प्रथम तीर्थंकर भगवान् आदिनाथ के ज्येष्ठ पुत्र... भरतजी और बाहुबली परस्पर दोनों सगे भाई हैं। अपने ही ९८ भाईयों तथा पिता ने इस असार संसार का त्याग करके दीक्षा ले ली। और ये दोनों भाई एक जमीन के टुकड़े—राज्य के लिए झगड़ने लगे। अरे ! आश्चर्य तो इस बात का था कि भगवान् तीर्थंकर के पुत्र, उसमें भी परस्पर भाई और सबसे विशेषता तो इस विषय की थी कि— तन्द्रव मुक्तिगामी जीव हैं दोनों ही। फिर भी इतना भयंकर युद्ध खेलने लगे ? अरे ! यह युद्ध क्या था ? हजारों लाखों जवानों की जान के साथ मौत की खिलवाड़। बस, सिर कटे और खून की नदी बहे ! ऐसे में इन्द्र ने बीच में पड़कर समझौता कराके इन दो भरत और बाहुबली के बीच में ही ५ प्रकार के युद्ध करने का तय कराया। शेष समस्त सेना के प्राण बचा लिये। अब दोनों के बीच दृष्टि युद्ध, वाक्युद्ध आदि चले। परन्तु चारों में भरतजी हार गए। अन्त में मुष्टियुद्ध की बारी आई। चक्रवर्ती बननेवाले भरतजी ने मुष्टीप्रहार कर दिया। अब बाहुबली दूसरे भाई की बारी आई। एक बार तीव्र आवेश में उन्होंने भी मुट्ठी उठा तो ली... सामने धुसकर मारने ही जा रहे थे कि... बिजली के वेग की तरह विचार आ गया। अरे... ! एक राज्य के लिए क्या लड़ना ? आज अनर्थ हो जाएगा। भाई के हाथों भाई की मौत ? नहीं... नहीं...

आखिर वीर पुरुष थे ही... उठाई हुई मुट्ठी का वार खाली न जाय... अतः बाहुबली ने अपने ही सिर पर लाई और सिर के बाल पकड़कर खींच लिये। बस, ... दूसरे पर उतारने का क्रोध जब इन्सान अपने ही ऊपर उतार लेता है तब... अपना ही भला होता है। क्षणभर में वीर पुरुष ने... केशलूचन करके भाव से ही दीक्षा ग्रहण करके.... और “अप्पाणं वोसिरामि” करके कायोत्सर्ग ध्यान में खड़े हो गए। आप सोच सकेंगे ? कहाँ तक खड़े रहे ? ओहो... पूरे १२ मास। इतनी कठोर कायोत्सर्ग की ध्यान साधना ? आहार—पानी का तो नाम ही नहीं। इतना ऊँचा ध्यान होते हुए भी पैर में काँच के कण की तरह मन में भगवान् के पास जाने में अपने छोटे भाइयों को वंदन करना पड़ेगा, यह विचार खटक रहा था।

सर्वज्ञ प्रभु आदिनाथ ने साधना का रास्ता निष्कण्टक करने के लिए.... बीच में से रोड़े हटाने के लिए... बाह्मी.... सुंदरी साध्वियों को भेजा। बहन साध्वियाँ आईं। ज्यादा नहीं बस, समझदार को मात्र इशारा ही किया। वीरा ! मारा गज थकी उतरो

... गज चढे केवल न होय रे !... हे बंधु ! हाथी पर से नीचे उतरो... हाथी पर चढे हुए केवलज्ञान नहीं होता है । इन शब्दों में केवलज्ञान का संकेत था । ध्यानस्थ बाहुबली ये शब्द सुनकर चिन्तन की गहराई में उतर गए । और सारा तत्त्व समुद्र खोज डाला । अरे ! यह हाथी कौन सा ? मैं तो साधु—त्यागी हूँ... मैं कहाँ किस हाथी पर बैठा हूँ ? अरे ! यह क्या बात है ? और वह भी मेरी बहनों ने कही ? क्या साध्वी बनी हुई पंचमहाव्रत धारी मेरी बहनें असत्य कहेंगी ? अरे ! नहीं... कभी नहीं... बस, इस आंतरिक उहापोह.... में रहस्य मिल गया.... ओहो... हो... । मैं तो अहंकार रूपी गजराज पर बैठा हूँ... कि प्रभु के चरणों में जाऊँ । लेकिन छोटे भाइयों को वंदन न करूँ । अरे... रे ! ये भाई उम्र में छोटे होते हुए भी मेरे से पहले दीक्षित बने हुए तपस्वी मुनि हैं.... चलो, मैं अभी जाता हूँ और पहले वंदन करता हूँ । वाह ! कितने ज्ञानी.... अपना शल्य स्वयं ही खोज निकाला और तुरंत उपाय का अमल । बस, आ गए आत्मगुण की रमणता में... ध्यान की धारा शुरू हो गई... और पैर उठाया वन्दन करने जाने के लिए । और क्षणिक श्रेणी में सीधे ही केवलज्ञान प्राप्त हो गया । वाह... वाह... कितनी बड़ी गजब की बात... क्षणभर में पैर उठाते ही केवलज्ञान ।... ओ हो.... हो । बस, पहुँचे महात्मा १३ वे गुणस्थान पर । फिर तो १४ वे गुणस्थान के बाद सीधे मोक्ष में पधारे ।

वियोग के विलाप में भी केवलज्ञान—

वाह ! केवलज्ञान पाने का यह भी एक कितना गजब का निमित्त है ? ३० वर्ष तक निरन्तर भगवान महावीर के चरणों में रहनेवाले आद्य गणधर गौतमस्वामी जैसे गुरु महाराज को अपनी जीवनलीला समाप्त करने के अगले दिन शाम को विदाय कर दिया । भेज दिया देवशर्मा को प्रतिबोध करने के लिए । ३० वर्ष में श्री वीर प्रभु की छाया से भी अलग नहीं हुए गौतम आज वीर प्रभु को छोड़कर एकाएक चले गए । उन्हें सदा के लिए यह वियोग होगा ऐसी कल्पना भी नहीं थी । वे तो प्रभु की आज्ञा प्राप्त करने के लिये ही सदा लालायित रहते थे । प्रभु की आज्ञा प्राप्त होने को वे सदा अपना सौभाग्य मानते थे, महान पुण्योदय उसे ही मानते । आज्ञा का पालन करने में ही प्रभु पूजा मानते थे । बस, दूसरा कुछ भी विचार न करते हुए... प्रभु की आज्ञा मिली है जाने की । इसमें... परम आनन्द मानकर गौतम चले गए... और ऐसे लब्धिनिधान को किसी जीव को तारने में क्या समय लगता है । कार्तिक (आसो) कृष्ण की १४ की शाम को गए । और श्री वीर प्रभु ने दूसरे दिन कार्तिकी अमावास्या की रात्री के अंतिम प्रहर में अपना आयुष्य पूर्ण कर

लिया। ध्यानावस्था में प्रभु ने इस देह को सदा के लिए छोड़ दिया और सिद्धावस्था मुक्ति के धाम में सदा के लिए बिराजमान हो गए।

इधर ४८ घंटे २ दिन से सतत निरंतर अमृतमयी देशना चल रही थी। वह केवलज्ञान का दीपक बुझ जाने के कारण समाप्त हो गई। सभी प्रभु के वियोग में विलाप करते-करते ... झुंड में इकट्ठे होकर जाते जाते रोते जाते थे। कार्तिक शुदि १ की प्रभात को आने के लिए निकले गौतमस्वामी ने मार्ग में सबको रोते हुए देखकर कारण पूछा। लोगों ने कहा—अनन्त उपकारी वीर प्रभु सबको छोड़कर चले गए। बस, इस शोक संदेश को सुनते ही गौतम पर मानों पहाड़ टूट पड़ा हो वैसे हतप्रभ बन गए। वीर... वीर.... रटते—रटते... गौतम विलाप करने लगे। मानों जैसे माता की मृत्यु में किसी छोटे बच्चे की स्थिति होती है वैसी स्थिति वीर प्रभु के वियोग में गौतम की हो गई।

हे... वीर...! हे.... वीर....! करते.... करते गौतम प्रशस्त राग भाव में वीर को याद करते थे। इतने में अचानक... बिजली झपकने की तरह.... एक झटके में वीतराग शब्द याद आ गया...। वीर शब्द यह वीतराग शब्द का ही संक्षिप्त रूप है। वीर के 'वी' अक्षर से वीत तथा 'र' अक्षर से राग याद आ गया। इससे वीर शब्द वीतराग का ही संक्षिप्त स्वरूप है या वीतराग शब्द वीर शब्द का ही विस्तृत बड़ा शब्द है। पहले गौतम को वीर शब्द याद आया था इससे वीर से वीतराग शब्द याद आ गया। वीतराग शब्द के साथ उसका अर्थ भी सामने स्मृतिपटल में आया। जो साफ बताता है कि... जो रागरहित है, वही वीतराग है, और जो द्वेषरहित है वही वीतराग है।... ओहो... हो! मैं जिसको वीर... वीर कहता था वे तो वीतराग हैं सर्वथा रागभावरहित हैं। मैं तो रागभाववाला हूँ, इसलिए मुझे जरूर वीर पर राग है। लेकिन वीर तो वीतराग है अतः उनको तो मेरे ऊपर राग रखने का या रहने का रत्तीभर भी कारण ही नहीं है। ऐसे वीतराग का सही स्वरूप समझने में आते ही गौतम भी अपने आपके लिए इसी प्रक्रिया को ढूँढने लगे। बस, मुझे भी वीतराग ही बनना है। और यदि वीतराग बनना है तो वीर का राग भाव भी घटाना ही पड़ेगा। अब आत्मराग... शुद्धआत्मभाव बढ़ाना ही एक मात्र विकल्प है। बस, ज्ञानी को क्या कमी? जहाँ ज्ञान का खजाना अंदर पास में ही हो उसे प्रगट करने में क्या देर लगती है? बस, अब वीतराग बनने के लिए कमर कस ली और ध्यान की धारा शुरु हो गई। जो गाड़ी आगे निकल चुकी है उसे वापिस पीछे मोड़ने में क्या देर लगती है? यही तो प्रतिक्रमण है। अतिक्रमण से प्रतिक्रमण भाव में आना है। लग गई शुक्ल ध्यान की धारा। विद्युत संचार चालु ही हो तो फिर बटन दबाते ही लाइट होने में

क्या देर लगती है ? वैसे ही ... ज्ञान परिपूर्ण हो, उसको ध्यान करने में क्या देर लगती है ? और ध्यान की शुद्धतम धारा अखंडरूप से चलती हो उसको कर्मों का क्षय करने में क्या देर लगती है ? बटन दबाते ही लाइट होने में शायद देर लग सकती है परन्तु शुभ एवं शुद्ध तथा शुक्ल ध्यान होते ही कर्मों की निर्जरा (करनै) क्षय होने में शायद उससे भी न्यूनतम समय लगता है । उसमें भी यदि क्षपक श्रेणी शुरु हो गई हो तो ... तो फिर पूछना ही क्या ? और समय देखना ही क्या ? गौतम ८० वर्ष की वृद्धावस्था में थे । कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा के दिन प्रभात काल में ही वीतराग बने, केवलज्ञानी—केवली बन गए । केवलदर्शनी बने, अनन्त शक्ति के स्वामी बने । इस तरह अनन्त चतुष्टयी गुणसम्पन्न बन गए । महावीर के जैसे ही बन गए । बस, अन्तर सिर्फ ... तीर्थकरपने का था । वे तीर्थकर एकर्म की पुण्य प्रकृति के आधार पर तीर्थकर बन सके थे । इनका यह पुण्यकर्म उपाजित या हुआ नहीं था । अतः गौतम तीर्थकर नहीं बन सके । बस, शेष सभी बातों में समानता पूरी थी । १२ वर्षों तक गौतमस्वामी केवली के रूप में स्वर्णकमल पर धर्मदेशना फरमाते रहे । अन्त में निर्वाण पाकर सदा के लिए मुक्त बन गए ।

कैवल्यप्राप्ति का राजमार्ग—

१३ वे गुणस्थान पर पहुँचना और केवलज्ञान की प्राप्ति के कुछ दृष्टान्त जो इतिहास प्रसिद्ध थे उनका उल्लेख यहाँ किया है । यद्यपि ग्रन्थ विस्तार जरूर होता है फिर भी ... उपयोगिता उतनी ही ज्यादा है । इन दृष्टान्तों में बाह्य आभ्यन्तर की प्रक्रिया को यदि अच्छी तरह समझी जाय ... तो अच्छी तरह ख्याल आ सकता है कि बाह्य निमित्त सर्वथा गौण है । आभ्यन्तर प्रक्रिया ही महत्व की है । वे महापुरुष कोई इन और ऐसे निमित्तों को ढूँढ़ने नहीं गए । और वे निमित्त कैवल्य की प्राप्ति के लिए आवश्यक भी नहीं होते हैं, उपयोगी भी नहीं होते हैं, लेकिन उनके कैवल्य की प्राप्ति के लिए बाह्य निमित्त या प्रसंगवश घटना उस समय वैसी थी । इसलिए घटना इतिहास बन गई । वे इतिहास के प्रसंग हमारे सामने आज इस तरह आ गए अतः यह एक दृष्टान्त बन गए हैं । बाकी केवलज्ञान की प्राप्ति से उस घटनाओं का कोई संबंध नहीं है । लेकिन इतना जरूर है कि ... वे प्रसंग उनको कैवल्य की प्राप्ति में सहायक निमित्त जरूर बने हैं ।

कैसे कैसे विचित्र निमित्त ? शायद विचित्र शब्द का प्रयोग करने के बजाय तो विपरीत शब्द का प्रयोग करना ही ज्यादा उपयोगी होगा । सच देखा जाय तो बनी हुई घटना के ये सभी निमित्त केवलज्ञान पाने में सर्वथा विरुद्ध विपरीत लगते हैं एक भी

सहायक नहीं है। क्या कोई भी कह सकते हैं कि... लग्न मंडप की चोरी में हस्तमिलाप की क्रिया में प्रदक्षिणा घूमते हुए केवलज्ञान हो सकता है? क्या खाते खाते कभी केवलज्ञान संभव भी है? क्या गन्ने का रस निकालने की तरह यन्त्र में पीले जाते हुए मौत को भेटते समय कभी केवलज्ञान पाना संभव भी है? ऐसे जितने भी प्रसंग—निमित्त जो जो बने हैं उनमें एक में भी केवलज्ञान पाने की संभावना ही नहीं है। ऐसे निमित्त सर्वथा असंभव ही लगते हैं। इन निमित्तों का केवलज्ञान से कोई संबंध ही नहीं है। अरे ! उल्टे ये तो प्रतिकूल विपरीत निमित्त हैं।

यह केवलज्ञान प्राप्त करने का राजमार्ग ही नहीं है। यह तो अपवाद मार्ग है। ऐसे अपवादिक मार्गों की कोई स्वप्न में भी इच्छा नहीं कर सकता है। शायद पृथ्वीचन्द्र—गुणसागर के शादी के निमित्त को सुनकर आज कोई सोचे कि... अरे ! मुझे पहले मालूम ही नहीं था वरना मैं भी मेरी शादी के प्रसंग में केवलज्ञान प्राप्त कर लेता। चलो भाई, कोई हरकत नहीं। “बीति ताहि बिसारी दे... आगे की लीजै शुद्ध” इस नियमानुसार... बीत गया सो भूल जाओ और पुनः लग्न का निमित्त दूसरा बना लो। शादी कहाँ वापिस दुबारा नहीं होती है? क्या दूसरी बार की शादी में भी हस्तमिलाप करके फेरे फिरते समय ध्यान की धारा लग तो जाएगी? केवलज्ञान प्राप्त हो सकेगा? अरे... ! लगता ऐसा है कि केवलज्ञान तो क्या संसार का निम्नतम ज्ञान शायद केवलज्ञान भी होना संभव नहीं लगता है। अरे ! भाई साहब ! शादी की लग्न मण्डप की चोरी में हस्तमिलाप के समय के अध्यवसाय भाव कैसे होते हैं? किन खयालों में खोया हुआ होता है दुल्हा? कैसे स्वप्न संजोता रहता है दुल्हा? बस, पुछिए ही मत। ये ऐसे विचार तो शायद किसी के कहने जैसे भी नहीं होते। फिर कहाँ केवलज्ञान की बात करनी? केवलज्ञान शब्द भी जीभ पर आना संभव नहीं है और विचार भी मन में आना संभव नहीं है। अतः मात्र बातों के बड़े बनाने में क्या जाता है?

करोड़ों—लाखों वर्षों के इतिहास में यह एक ऐसी घटना हो गई। अनायास हो गई। इसका कोई कारण नहीं मिल सकता कि क्यों हुई? कैसे हुई? वैसे ही अनेक निमित्तों की बात है। अतः ये निमित्त आज वापिस लेने की विचारणा भी करना हास्यास्पद गणना होगी।

हाँ... यदि किसी को भी केवलज्ञान पाना हो तो आंतर प्रक्रिया की तरफ लक्ष्य जरूर बनाना चाहिए, क्योंकि आंतर प्रक्रिया ध्यानादि की शाश्वत मार्ग है। उसमें अंशमात्र भी अंतर या भेद नहीं हो सकता। यह क्षपक श्रेणी की प्रक्रिया सबसे ज्यादा सरल है।

शाश्वत है। निश्चित कालीन है। अतः इसे पाना ही चाहिए। आचरना ही चाहिए। इसके बिना केवलज्ञान होगा ही नहीं। लेकिन बाहरी जितने भी निमित्त हैं उन सब के बिना केवलज्ञान हो सकेगा। लेकिन शुक्लध्यान—क्षपक श्रेणी आदि के बिना तो कभी केवलज्ञान होना संभव ही नहीं है। इसलिए इन अनेक दृष्टान्तों में दिखाई देते हुए बाहरी निमित्तों को पाने की भूल से भी इच्छा मत करो।

आखिर केवलज्ञान पाने का राजमार्ग देखना हो तो जिस तरह, जिस तरीके से तीर्थंकर परमात्मा ने केवलज्ञान पाया है उनकी साधना पद्धति देखिए... उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया उस तरीके से हमें भी करना चाहिए। वही सही राजमार्ग है।

तीर्थंकरों को केवलज्ञान की प्राप्ति—एक शाश्वत मार्ग—

वर्तमान चौबीसी में भगवान आदिनाथ से महावीर स्वामी तक के २४ तीर्थंकर हुए हैं। ऐसी इसके पहले की चौबीसी हुई है। और उसके भी पहले और हुई है। इस तरह भूतकाल के अनन्त काल में अनन्त चौबीसीयाँ हुई हैं। आगे के भविष्य काल में भी अनन्त चौबीसीयाँ और होने ही वाली हैं। इसमें कोई संदेह ही नहीं है। तीर्थंकरों का होना यह शाश्वत मार्ग है। त्रैकालिक शाश्वत नियम है। इसी तरह तीर्थंकरों को केवलज्ञान की प्राप्ति होना यह भी शाश्वत नियम है। बिना केवलज्ञान हुए कोई तीर्थंकर बने ही नहीं है। और भविष्य में भी बनेंगे ही नहीं। केवलज्ञान प्राप्त करना तीर्थंकर भगवन्तों के लिए अनिवार्य होता ही है। यह शाश्वत नियम है। केवलज्ञान पाकर सर्वज्ञ—सर्वदर्शी वीतरागी बनकर ही तीर्थंकर भगवान समवसरण में बैठकर देशना देंगे। तभी वे तीर्थंकर कहलाएंगे। अतः शाश्वत नियम एवं शाश्वत व्यवस्था क्या क्या है? कितनी है? वह यहाँ क्रम दर्शाता हूँ उससे आपको ख्याल आ जाएगा।

- १) पूर्व के तीसरे भव में तीर्थंकर नामकर्म उपार्जित करना।
- २) तीर्थंकर बनने के पहले के भव में देव या नारकी भव में जन्म।
- ३) मति, श्रुत, अवधि इन ३ ज्ञान से युक्त होकर जन्म लेना।
- ४) जन्मकल्याणक में इन्द्रादि देवताओं द्वारा मेरु पर्वत पर अभिषेक।
- ५) ५६ दिक्कुमारिकाओं द्वारा सूतिका कर्मादि।
- ६) अवश्य—अनिवार्य रूप से संसार त्याग कर दीक्षा ग्रहण करना।
- ७) दीक्षा के समय स्वयं ही दीक्षा लेना, किसी का भी गुरु न होना।
- ८) दीक्षा के दिन ही.... चौथा मनःपर्यव ज्ञान होना।

९) उपसर्गों को सहन करना ।

१०) ध्यान—तप—कायोत्सर्गादि करना ।

११) धर्मध्यान से शुक्लध्यान में आरूढ होना ।

१२) क्षपक श्रेणी का शुभारंभ करना... ८ वे गुणस्थान से ।

१३) ९ वे, १० वे, १२ वे गुणस्थान पर आकर वीतरागी—वीतराग बनना ।

१४) १३ वे गुणस्थान पर आकर केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तवीर्यादि गुण प्रगट करना ।

१४) समवसरण की रचना होनी, उसमें बैठकर देशना देनी ।

१६) अष्ट प्रातिहार्य, ३४ अतिशय, वाणी गुण ३५, १२ गुणादि का होना ।

१७) अंतःकृद् केवली न बनना । केवलज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् शीघ्र ही आयुष्य का पूर्ण न हो जाना ।

१८) त्रिपदी की देशना देना । गणधरों की स्थापना करना ।

१९) तीर्थ की स्थापना करना । चतुर्विध संघ की स्थापना करना । धर्म की स्थापना करना ।

२०) अन्त में आठों कर्मों का क्षय करके निर्वाण पाकर मोक्ष में जाना । अनन्त काल तक सिद्धात्मा बनकर रहना ।

इस तरह स्थूल ऐसे कई नियम हैं जो शाश्वत नियम—शाश्वत व्यवस्था है । अनन्त काल चाहे कितना भी बीत जाय... । अनन्त तीर्थकर भगवान चाहे कितने भी हो जाय लेकिन यह शाश्वत व्यवस्था और शाश्वत नियम है । ये सभी मुद्दे तीर्थकर में होंगे ही । इसके सिवाय अन्य कोई विकल्प ही नहीं है । उपरोक्त बताए नियमों में से एक भी कम होना ही नहीं चाहिए । इसीलिए शाश्वत नियम कहे हैं । जो तीनों काल में होनेवाले तीर्थकर भगवन्तों में त्रैकालिक शाश्वत रूप से रहेंगे ही रहेंगे । तभी वे तीर्थकर बनेंगे ।

अब तीर्थकरों के लिए केवलज्ञान की प्राप्ति का राजमार्ग यही है कि तीर्थकर अंतिम (चरम) भव में सर्वथा गृहस्थाश्रम का त्याग करे । संसार से महाभिनिष्क्रमण करके दीक्षा ले । साधु जीवन में प्रवेश करके अणगारी बने । उसी दिन उनको मनःपर्यव चौथा ज्ञान प्राप्त हो । फिर जो भी उपसर्ग आए उसे सहन करके कर्म खपाए । अनन्त में से किसी एक भी तीर्थकर ने आनेवाले उपसर्गों का प्रतिकार नहीं किया । सहन करके कर्मों को खपाते हुए शुक्लध्यान में क्षपक श्रेणी प्रारम्भ करे और चारों घाती कर्म खपाए और वीतरागता—केवलज्ञान—केवलदर्शन अनन्तवीर्य पाए । यही उनके लिए राजमार्ग है ।

किसी भी तीर्थंकर ने मरुदेवीमाता की तरह गृहस्थाश्रम में ही हाथी पर बैठे—बैठे केवलज्ञान नहीं पाया। न ही किसी ने भरत चक्रवर्ती की तरह गृहस्थाश्रम में ही रहकर केवलज्ञान पाया है। और न ही किसी ने पृथ्वीचंद्र गुणसागर की तरह लग्नमण्डप की चोरी में हस्तमिलाप में फेरे फिरते हुए केवलज्ञान पाया है। और न ही कभी किसी तीर्थंकर ने कुरगडु मुनि की तरह खाते खाते केवलज्ञान पाया है। जी नहीं... तीर्थंकरों ने बरोबर व्यवस्थित रूप से तपश्चर्या करके ध्यान में केवलज्ञान पाया है।

इसलिए केवलज्ञान पाने का राजमार्ग तो तीर्थंकरों का ही योग्य है। १०० में से ९९% लोग तीर्थंकर की तरह ही केवलज्ञान पाते हैं। उपरोक्त जितने दृष्टान्त यहाँ कथा चरित्र के रूप में प्रस्तुत किये हैं वे सब अपवादिक दृष्टान्त हैं। ये राजमार्ग के दृष्टान्त नहीं हैं। बहुत विरल दृष्टान्त हैं। इसीलिए ऐसे अनेक नहीं हुए हैं। मरुदेवी माता के जैसा दूसरा दृष्टान्त नहीं हुआ और न ही लाखों वर्षों में पृथ्वीचंद्र गुणसागर के जैसा दूसरा दृष्टान्त आज दिन तक हजारों लाखों वर्षों के इतिहास में, शास्त्रों में कहीं देखने में नहीं आया। इसलिए ये सभी दृष्टान्त आपवादिक हैं। अतः तीर्थंकरों को जिस तरह केवलज्ञान प्राप्त होता है वही सर्वोत्तम राजमार्ग है। ९९% अधिकतम जीवों को इसी रास्ते—इसी तरीके से केवलज्ञान भविष्य में भी होगा। तीर्थंकरों को जिस तरह केवलज्ञान हुआ है इस तरह के दृष्टान्त तो अनेक मिल जाते हैं। अतः यह तरीका अपवादरूप नहीं है, राजमार्ग है।

क्या “स्त्री” को केवलज्ञान हो सकता है या नहीं?

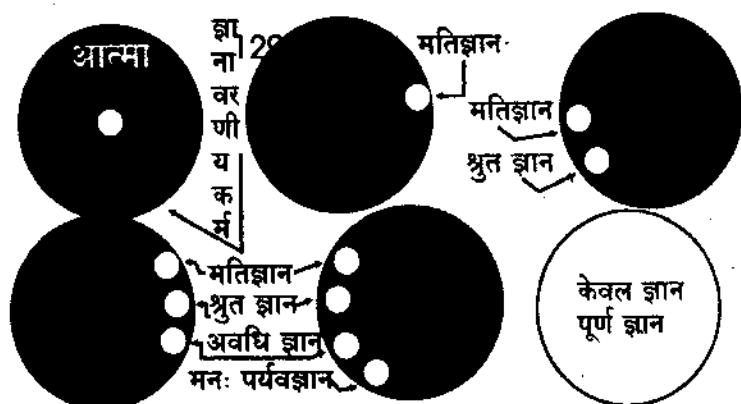
सबसे पहले तो आप एक बात समझ जाइये कि केवलज्ञान शरीर को नहीं अपितु आत्मा को ही होता है। चूंकि यह आत्मागुण है आत्मधर्म है। देह गुण भी नहीं और देह धर्म भी नहीं है। इसलिए शरीर को केवलज्ञान तो क्या मतिज्ञान का अंश मात्र भी नहीं होता है तो केवलज्ञान की तो बात ही कहाँ रही? जो केवलज्ञान की बात करते हैं वह तो उनके वश की बात भी नहीं है, लेकिन मतिज्ञान—बुद्धि का जो ज्ञान है वह तो सभी जीवों के हाथ की—वश की बात है। कम से कम शरीर को मतिज्ञान भी कर के दिखा दे। ओरे! मतिज्ञान का अंशमात्र ही सही इतना भी प्राप्त करा के दिखाए। कभी भी संभव नहीं है। अतः ज्ञान आत्मा की गुणधर्म है। अतः जब भी थोड़ा या ज्यादा, संपूर्ण या अपूर्ण किसी भी प्रकार का ज्ञान होगा तो भी आखिर वह आत्मा को ही होगा। ज्ञान चेतन का गुण है शरीर का नहीं। क्योंकि शरीर मात्र जड़—पुद्गल पदार्थ है। और जड़—पुद्गल का गुण कभी

ज्ञान होता ही नहीं है। जड़ पुद्गल पदार्थ के गुण धर्मों में वर्ण—गंध—रस—स्पर्श ही हैं। इनमें ज्ञान न तो कभी हुआ है और न ही कभी होगा।

अब स्त्री शरीर हो या पुरुष शरीर हो या चिटी—मकोड़े या गाय—भैंस—घोड़े—गधे किसी का भी शरीर हो लेकिन सब में आत्मा तो होती ही है। बिना चेतन जीवात्मा के संसार में एक भी शरीर नहीं होता है। शरीर के बिना आत्मा का अस्तित्व रह सकता है—मोक्ष में बिनाशरीर के ही आत्मा रहती हैं। इसीलिए उसे अशरीरी कहते हैं। लेकिन स्त्री हो या पुरुष उन सब में आत्मा तो समान ही है। याद रखिए, आत्मा न तो पुरुष है और न ही स्त्री है। आत्मा स्त्री रूप या पुरुष रूप या नपुंसक रूप होती ही नहीं है। अतः आत्मा कौं लिंग होता ही नहीं है। आत्मा अलिंगी—अवेदी ही है। परन्तु तथाप्रकार के वेदमोहनीय कर्म बांधते हैं जीव और वे जब उदय में आते हैं तब उस वेदमोहनीय कर्म के कारण जीव वैसे लिंगधारी वेदवाले होते हैं। वेद ३ प्रकार के होते हैं। १) स्त्रीवेद, २) पुरुषवेद, और ३) नपुंसक वेद। इन ३ प्रकार के वेद के कारण १) स्त्रीलिंगधारी, २) पुरुषलिंग धारी, तथा ३) नपुंसक लिंगधारी ऐसे शरीर को धारण करके जीव जन्म लेते हैं। ऐसे शरीरों को धारण करने के कारण शरीर रचना में लिंग के कारण भेद पड़ता है। यदि शरीर को छोड़कर आत्मा को देखा जाय, ज्ञानादि की समानता की दृष्टि से देखा जाय तो ... स्त्री और पुरुष दोनों में अनेक प्रकार की समानता भी दिखाई देती हैं। क्योंकि ज्ञान आत्मा को होता है, और आत्मा सबकी समान है। ज्ञान तो ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के आधार पर होता है। ज्ञान को शरीर से कोई संबंध नहीं रहता है। जी हाँ, ... शरीर की इन्द्रियाँ जरूर सहायक साधन हैं। माध्यम मात्र हैं। इन्द्रियाँ बाहरी दृश्य—विषयों को ग्रहण करके अन्दर लकर मनके जरिए आत्मा को पहुँचाती हैं। अतः आत्मा को ज्ञान पहुँचाने में माध्यम रूप इन्द्रियों को ज्ञानेन्द्रिय कहकर संबोधित किया है। ज्ञानेन्द्रिय यह नामकरण है। परन्तु इससे ऐसी भ्रान्ति में मत रह जाइए की बिना आत्मा के भी ये इन्द्रियाँ अपने आप स्वयं ज्ञान प्राप्त कर लेगी। जी नहीं ...। कदापि नहीं। यदि ऐसा होता ... होता तो ... मृतक (मृतशरीर) मुडदे की पाँचों इन्द्रियाँ संपूर्ण हैं। अतः उन इन्द्रियों से क्या आत्मा को ज्ञान होता रहेगा? जी नहीं। कदापि नहीं। अनन्तकाल में भी किसी भी मृतक को ज्ञान हुआ ही नहीं है। और भविष्य में कभी भी होने की कोई शक्यता ही नहीं है। हो ही नहीं सकता है। क्योंकि ज्ञान का अधिष्ठाता जीव चेतन—आत्मा है। वही शरीर छोड़कर सदा के लिए विदा ले चुका है अतः ज्ञान होने का कोई सवाल ही खड़ा नहीं होता है।

अतः शाश्वत सिद्धान्त यही है कि ज्ञान आत्मा को ही होता है। आत्मा के सिवाय आत्मेतर किसी भी पदार्थ को ज्ञान होना कदापि कभी भी संभव नहीं है। इसलिए शरीर को ज्ञान होने की कल्पना करना भी सर्वथा मूर्खता है। अतः शरीर चाहे स्त्री का हो या पुरुष का किसी भी शरीर को ज्ञान प्राप्त होता ही नहीं है। अतः आत्मा को ही ज्ञान होता है यही सिद्धान्त स्वीकारना श्रेयस्कर है। स्त्री शरीर तथाप्रकार के कर्मोदय के कारण होता है और पुरुष शरीर तथाप्रकार के कर्मोदय के कारण बनता है। और नपुंसक को उस प्रकार के कर्मों के कारण वैसा शरीर मिलता है। वेदमोहनीय के तीनों वेदों के कारण वैसा होता है।

ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम और क्षय से ज्ञान—



ज्ञान आत्मगुण है। चेतन आत्मा की चेतना शक्ति का मुख्य घटक ज्ञान गुण है। वह ज्ञानावरणीय कर्म के उदय के कारण आवृत (आच्छादित) ढका हुआ रहता है। क्षायोपशमिक = क्षय + उपशम (मिश्र) भाव की प्रक्रिया से मति श्रुत अवधि और मनःपर्यव ज्ञान प्रगट होते हैं। इन ज्ञानों का आवरक जो जो कर्म है वह भी तथाप्रकार के गुण के नाम से ही पहचाना जाता है। अतः मतिज्ञानावरणीय कर्म, २) श्रुतज्ञानावरणीय कर्म, ३) अवधिज्ञानावरणीय कर्म, ४) मनःपर्यवज्ञानावरणीय कर्म और ५) केवलज्ञानावरणीय कर्म इन ५ नामों से पहचाने जाते हैं। जैसे जैसे जिस जिस ज्ञान का आवरक रूप कर्म का जितना क्षयोपशम होता जाएगा वैसे वैसे उतने अंश में ज्ञान गुण प्रगट होता जाएगा। आप चित्र में देखेंगे— १ में आत्मा ज्ञानावरणीय कर्म से आवृत है। २ रे चित्र में मतिज्ञान थोड़ा सा प्रगट है। ३ रे में मति के साथ श्रुतज्ञान भी थोड़ा खुल्ला

है। ४ वे चित्र में— अवधिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से अवधि—ज्ञान प्रगट हुआ दिखाई देता है। और ५ वे चित्र में मनःपर्यव ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम होने से मनःपर्यव ज्ञान प्रकट होता है। ये चारों ज्ञान उनके ज्ञानावरणीय कर्मों का क्षयोपशम होने से प्रगट होते हैं। परन्तु पाँचवाँ केवलज्ञानावरणीय कर्म संपूर्ण क्षायिक भाव से कर्म क्षय हो जाने पर... संपूर्ण ज्ञान प्रगट होता है। इसे केवलज्ञान कहते हैं। केवलज्ञान जैसे पूर्ण ज्ञान हो जाने के पश्चात् शेष चारों ज्ञानों की आवश्यकता ही नहीं रहती है। अतः वे इसी बड़े ज्ञान में सूर्य तेज में दीपक के प्रकाश की तरह समा जाते हैं।

- १) मतिज्ञान— मन + इन्द्रियों से होनेवाला—बुद्धि का ज्ञान।
- २) श्रुतज्ञान— मन + इन्द्रियों से मतिज्ञानपूर्वक होनेवाला शास्त्रज्ञान।
- ३) अवधिज्ञान— मन + इन्द्रियों से रहित प्रत्यक्ष रूप से होनेवाला दूर—सुदूर का ज्ञान
- ४) मनःपर्यवज्ञान— मन + इन्द्रियों से रहित प्रत्यक्ष रूप से संज्ञि जीवों के मनोगत विचारों को जानने का ज्ञान।

५) केवलज्ञान— सर्वथा मन और इन्द्रियों की मदद के बिना आत्मा को प्रत्यक्षरूप से होनेवाला समस्त लोक—अलोक के अनन्त द्रव्य—गुण—पर्यायों का त्रैकालिक शाश्वत ज्ञान—केवलज्ञान है। केवलज्ञान क्षायोपशमिक भाव से नहीं होता है। यह क्षायिक भाव से ही होता है। सर्वथा संपूर्ण रूप से ज्ञानावरणीय कर्म के सर्वांशिक क्षय से ही होता है। कुछ अंश कर्म का क्षय और कुछ अंश उपशम ऐसे होने को क्षयोपशम कहते हैं। जबकि क्षायिक भाव में उसके आवरक कर्म का सर्वथा संपूर्ण सर्वांशिक क्षय होने पर ही केवलज्ञान प्राप्त होता है। बस, इससे समस्त लोक और अलोक के अनन्त द्रव्य, उनके अनन्त गुण, अनन्त पर्यायें तीनों काल में एक साथ जानी जा सकती हैं। ऐसा क्षायिक भाव का ज्ञान एक बार प्रगट हो जाने के पश्चात् पुनः कभी नहीं आवृत्त होता। कभी भी नष्ट नहीं होता। अतः अनन्तकाल के लिए समान रूप से एक जैसा—एक सरीखा—नित्य नया जैसा ही रहता है। आत्मा का स्थानान्तर अढाई द्वीप की १५ कर्मभूमियों में से लोकाग्र भाग में सिद्धशिला पर हो जाय, वहाँ पहुँचकर आत्मा सिद्ध बन जाने के पश्चात् अनन्तकाल तक सिद्धत्व भाव के साथ साथ केवलज्ञान समान रूप से वैसा ही अस्तित्व में रहता है। उस सत्ता का अभाव कभी भी नहीं होता।

ज्ञान प्राप्ति की प्रक्रिया- प्रत्यक्ष और परोक्ष—

अक्षं प्रति इति प्रत्यक्षम् । अक्ष इन्द्रियों को कहते हैं अतः इन्द्रियों और मन के जरिए बाह्य विषयों का जो भी ज्ञान आत्मा को प्राप्त होता है वह परोक्ष ज्ञान कहलाता है । पर शब्द से अन्य और अक्ष से इन्द्रियाँ—मन । अतः आत्मा से पर (अन्य) ऐसी इन्द्रियाँ और मन से जो ज्ञान आत्मा को प्राप्त होता है उसे परोक्ष ज्ञान INDIRECT कहते हैं । आत्मा से सीधे प्रत्यक्ष न होने के कारण परोक्ष कहते हैं । ऐसे मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दोनों परोक्ष कक्षा के ज्ञान हैं । क्योंकि (१ ले चित्रानुसार) ये दोनों ज्ञान ५ इन्द्रियाँ तथा मनपूर्वक होत हैं । इनकी मदद के बिना इन दोनों ज्ञानों का होना संभव ही नहीं है ।

यद्यपि इस रहस्य का किसी को ख्याल ही नहीं रहता है अतः लोक व्यवहार में दुनिया इसी ऐन्द्रिय ज्ञान को ही प्रत्यक्षज्ञान मानती है । अतः इस दृष्टि से प्रत्यक्ष को २ प्रकार का बताया है ।

१) सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष—सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष यह ऐन्द्रिय तथा मानस प्रत्यक्ष है। अतः लोक व्यवहार में जिसे सांख्यवहारिक कहते हैं उसे ही शास्त्रीय भाषा में परोक्ष नाम दिया है। यह मति—श्रुत दो प्रकार के भेदवाला है, अतः मति और श्रुत ज्ञान का आधार मन और इन्द्रियों पर रहता है। अतः मन इन्द्रियों के माध्यम से ही मति-श्रुतज्ञान होता है।

२) पारमार्थिक प्रत्यक्ष—दूसरा पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहलाता है। प्रत्यक्ष शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—अक्षं नाम आत्मा। आत्मानं प्रति इति प्रत्यक्षम् ॥ अक्ष शब्द आत्मावाचक भी है। अतः अक्ष से आत्मा ग्राह्य है। आत्मा के प्रति सीधे ही पदार्थों का किसी की भी मदद के बिना ग्रहण होने को सीधा प्रत्यक्ष कहते हैं। इसमें मन और इन्द्रियों की मदद की बिल्कुल ही आवश्यकता नहीं रहती। आत्मा सीधे ही लोक को जान सके। सीधे ही किसी के मन के विचारों को जान सके। तथा सीधे ही लोक एवं अलोक के पदार्थों को अच्छी तरह जान सके ऐसा ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाता है। ऐसे ३ ज्ञान हैं १) अवधिज्ञान, २) मनःपर्यवज्ञान और ३) केवलज्ञान। ये ३ ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान हैं। अतः इन तीनों ज्ञानों के लिए मन या किसी भी इन्द्रिय की आवश्यकता ही नहीं रहती है। आखिर चक्षु आदि इन्द्रियों की शक्ति सीमित—मर्यादित है। यहाँ से स्वर्ग या नरक में इतनी लम्बी सुदूर तक आँखें कैसे देख पाएँगी? संभव ही नहीं है। अतः आँख बंद हो या खुल्ली हो कुछ भी फरक नहीं पड़ता। आँखों की नेत्रज्योती स्वर्ग—नरक तक पहुँच ही नहीं सकती है। अतः उसकी कल्पना करना ही व्यर्थ है। अतः अवधि आदि तीनों ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान हैं। इसे लोकव्यवहार के इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान के अन्तर्गत भ्रमणावश कोई मान न ले इसके लिए उसे पारमार्थिक प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं।

१) अवधिज्ञान से बिना मन और इन्द्रियों की मदद के आत्मा प्रत्यक्ष रूप से स्वर्ग—नरकादि क्षेत्रों को जान सकती है।

२) मनःपर्यवज्ञान—मन—इन्द्रियों के बिना लोक के संज्ञि पंचेन्द्रिय जीवों के मनोगत भावों के विचारों को जाना जाता है, उसे मनःपर्यवज्ञान कहते हैं।

३) केवलज्ञान—मन और इन्द्रियों की रत्तीभर भी आवश्यकता ही नहीं रहती और आत्मा सीधे लोक और अलोक की अनन्तक्षेत्रीय, अनन्तकालीन, भूत—वर्तमान—भाव

तीनों काल की अनन्तता तथा द्रव्य से अनन्त द्रव्य और उनके अनन्त गुण तथा अनन्त पर्यायों को इस आत्म पारमार्थिक प्रत्यक्ष केवलज्ञान से जाने जाते हैं। अतः यह अनन्त ज्ञान भी कहलाता है। अनन्त कालीन इसकी सत्ता है। ठीक इसका सहयोगी केवलदर्शन है जो देखने का काम करता है।

किस गुणस्थान पर कौनसा ज्ञान—

१ ले मिथ्यात्व के गुणस्थान पर १) मतिज्ञान, २) श्रुतज्ञान तथा ३) विभंगअवधि और अवधिज्ञान होता है। ये ही २ रे, ३ रे, तथा चौथे सम्यक्त्व के गुणस्थान पर भी होते हैं। ४ थे, ५ वे गुणस्थान पर सम्यक्त्वी श्रावक और ब्रती श्रावक को मति, श्रुत और अवधि ये ३ ज्ञान होते हैं। ४ थे मनःपर्यवज्ञान का अधिकारी एकमात्र छठे गुणस्थान का सर्वविरतिधर साधु ही है। ये विशुद्ध कक्षा के होते जाते हैं। सम्यक्त्वी का ज्ञान भी सम्यग्, तथा मिथ्यात्वी जीव का ज्ञान भी मिथ्यात्व रहता है। इसलिए सम्यक्त्वी जीव मिथ्या शास्त्र भी पढ़े तो उसे सम्यग् रूप में परिणमन होता है और यदि मिथ्यात्वी जीव सम्यग् शास्त्र भी पढ़े तो उसे मिथ्या रूप में परिणमन होता है। लेकिन गुरुगम से सही यथार्थता का मर्मादि समझ जाए तो मिथ्यात्व छोड़कर उसमें से बाहर निकलकर सम्यक्त्व में भी आ सकता है।

श्रावक की कक्षा में आनन्द श्रावक को जैसा कि अवधिज्ञान प्राप्त हुआ था। स्वर्ग के देवी देवता जो कि १ ले से ४ थे गुणस्थान के ही मालिक हैं उसके आगे के गुणस्थान को कदापि स्पर्श कर ही नहीं सकते हैं वे मति, श्रुत और अवधिज्ञान इन ३ ज्ञान के अधिकारी हैं। ४ था और ५ वाँ ये दो ज्ञान समस्त देवलोक के सभी देवी देवताओं को अनन्त भूतकाल में भी कहीं हुआ नहीं था और अनन्त भविष्य में भी कभी होगा ही नहीं। देवलोक, में एक व्यवस्था देवताओं के लिए अच्छी है कि... वहाँ जन्मतः अवधिज्ञान प्राप्त होता है। अतः वे भवप्रत्ययिक अवधिज्ञानवाले कहलाते हैं।

इसी तरह की व्यवस्था नरक गति की सातों नरकपृथ्वियों में है। अतः सातों नरकों में मति—श्रुत तो होते ही हैं। परन्तु साथ में वहाँ अवधिज्ञान, विभंगअवधिज्ञान होता है मिथ्यात्वियों को। वैसे संसार के समस्त जीवमात्र को मति—श्रुत के २ ज्ञान तो अनिवार्य रूप से होते ही हैं। रहते ही हैं। निगोद के सूक्ष्मतम जीव में भी दोनों ज्ञान पड़े हैं। भले ही अंशमात्र ही हैं। बड़े जीवों में यही मति—श्रुत बड़ा हुआ रहता है। यहाँ इस पृथ्वी पर मनुष्यों को जन्मजात अवधिज्ञान नहीं होता है। अतः भव प्रत्ययिक नहीं लेकिन गुण-

प्रत्ययिक अवधिज्ञान होता है। यहाँ तक कि तिर्यच गति के पशु—पक्षी जीवों को भी मति—श्रुत ज्ञान तो होता ही है, लेकिन अवधिज्ञान भी पशु—पक्षियों को भी हो सकता है।

मनुष्य १ ले गुणस्थान पर ही ३ ज्ञान—मति—श्रुत और अवधिज्ञान पाता है। २ रे, ३ रे, तथा ४ थे और ५ वे पर भी ३ ज्ञानधारी होता है। और ६ ठे गुणस्थान पर साधु ४ था मनःपर्यवज्ञान पा सकता है। मनःपर्यवज्ञान ही एक ऐसा ज्ञान है कि... एक मात्र साधु महाराज को ही हो सकता है। जबकि शेष चारों ज्ञान साधु व्यतिरिक्त श्रावकों को भी हो सकते हैं। केवलज्ञान गृहस्थ वेश में भी हो सकता है। ५ वाँ केवलज्ञान यह सीधे १३ वे गुणस्थान पर ही प्राप्त होता है। १४ वे गुणस्थान पर भी केवली ही रहते हैं। और यहाँ संसार में से केवलज्ञान—केवलदर्शनादि पूर्ण कक्षा के प्राप्त करके यहाँ से लेकर ही मोक्ष में जाते हैं। कोई मोक्ष में जाकर केवलज्ञान नहीं पाते हैं। यहाँ पाकर साथ लेकर जाते हैं। यह ऐसा अप्रतिपाती ज्ञान है कि एक बार प्राप्त हो जाने के पश्चात् पुनः गिरता नहीं है, नष्ट भी नहीं होता है। आकर वापिस चला भी नहीं जाता है। अनन्तकाल तक मोक्ष में सदा रहता है। अतः सिद्ध भगवान सदा केवली सर्वज्ञ—सर्वदर्शी रहते हैं।

स्त्री को केवलज्ञान—

स्त्री शरीर धारण करनेवाली आत्मा भी इसी तरह, इसी प्रक्रिया से आगे बढ़कर ८ वे गुणस्थान पर आकर शुक्लध्यान की धारा में क्षपकश्रेणी पर आरूढ हो सकती है और ८ वे गुणस्थान पर अवेदी, वेद रहित बनकर १० वे गुणस्थान पर कषायरहित बन सकती है। तथा सीधे १२ वे गुणस्थान पर... आकर वीतराग बनकर १२ वे के अन्तिम समय में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अन्तराय की सर्व प्रकृतियाँ क्षय करके १३ वे गुणस्थान पर आकर केवलज्ञान—केवलदर्शन प्राप्त करके सर्वज्ञ सर्वदर्शी बनती है। इसमें स्त्री शरीर कहीं बीच में बाधक नहीं बनता है। मल्लीनाथ इस चौबीसी के १९ वे तीर्थकर स्त्रीदेहधारी ही थे। सभी तीर्थकर भगवन्तों की साध्वियाँ हजारों—लाखों की संख्या में केवलज्ञान केवलदर्शन पाकर मोक्ष में गई हैं। वे सभी देहधारी ही थीं। ध्यान की धारा में आगे बढ़ना है, धर्मध्यान से शुक्लध्यान में ऊपर चढ़ना है और क्षपक श्रेणी प्रारम्भ करके आगे के गुणस्थान पर आरूढ होकर अन्त में १२ वे गुणस्थान पर वीतरागी बनकर १३ वे गुणस्थान पर केवलज्ञानादि प्राप्त करके केवली—सर्वज्ञ बनना है। इस प्रक्रिया में स्त्रीदेह कहाँ बीच में बाधक बनता है? यह संपूर्ण रूप से आत्मिक प्रक्रिया है। आत्मा के अन्दर ही होनेवाली यह प्रक्रिया है। इसमें देह कहीं भी बाधक नहीं बनता है। परन्तु यह समझ में नहीं आता

है कि... दिगंबर सम्प्रदाय जैन सिद्धान्तों को मानते हुए सम्प्रदायवाद के मोह के चक्र में फसकर इस सिद्धान्त को भी उल्टा देते हैं और स्त्री को केवलज्ञान नहीं होता और वह मोक्ष में जा ही नहीं सकती है ऐसा मानते हैं। क्या वे आत्मा को नहीं मानते हैं? जी हाँ... मानते ही हैं। क्या गुणस्थानों की प्राप्ति के स्वरूप को नहीं मानते हैं? ऐसा भी नहीं है, अच्छी तरह मानते हैं। क्या दिगंबर केवलज्ञान को नहीं मानते हैं? मानते हैं। क्या दिगंबर मतावलम्बी केवलज्ञान प्राप्त होने की इस प्रक्रिया को नहीं मानते हैं? मानते ही हैं। तो क्या दिगंबर केवलज्ञान को ध्यानजन्य प्रक्रिया से होना नहीं मानते हैं? नहीं वैसा भी नहीं है। दिगंबर भी केवलज्ञान की उपलब्धि ध्यानजन्य ही मानते हैं। तो क्या वे क्षपक श्रेणी नहीं मानते हैं? अच्छी तरह मानते हैं। तो फिर स्त्री को केवलज्ञान का निषेध क्यों किया? इसके पीछे कोई शास्त्रीय सैद्धान्तिक कारण नहीं दे पाते हैं दिगंबर। एक मात्र संप्रदाय का राग—मोह ही प्रबल कारण है। बस, इस पक्षराग की तीव्रता में फसकर शास्त्रीय सिद्धान्त के खून करने का पाप निरर्थक ही सिर पर उठाते हैं? केवलज्ञान की प्राप्ति की समूची प्रक्रिया आन्तरिक—आत्मिक होने के बावजूद स्त्रीदेह को बीच में लाकर उसे कारण बनाकर स्त्री के लिए केवलज्ञान के सिद्धान्त तोड़ देनेवाले दिगंबर यह क्यों नहीं समझते हैं कि इससे आत्मस्वरूप... आदि अनेक सिद्धान्तों के स्वरूप को भी वे तोड़—मरोड़कर विकृत कर रहे हैं। एक मात्र पक्ष राग के मोह के कारण वे स्वयं फसते जा रहे हैं। एक मात्र वस्त्र (अम्बर) का राग—मोह छोड़कर निर्वस्त्र नग्न हुए... लेकिन सम्प्रदायवाद के मोह—राग की तीव्रतर रागावस्था ने फिर उन्हें लपेट लिया, फसा दिया। इस तरह सम्प्रदायवाद का भूत धर्म के शुद्ध स्वरूप को भी कितना बिगाड़ देता है यह इसका ज्वलंत दृष्टान्त इससे बड़ा और कहीं दूसरा ढूँढना?

१३ वे गुणस्थान पर “सयोगी”—

मन—वचन—काया के ये ३ योग आत्मा को मिलते हैं। १) मनोयोग में मन साधन है, जो विचार करने में सहायक है। मन के जरिए विचार किये जाते हैं। वचन योग के द्वारा भाषा का प्रयोग किया जाता है। १३ वे गुणस्थान पर केवली भगवान को भी देशना देनी पड़ती है। अतः वचन प्रयोग करने के लिए वचनयोग रखना पड़ता है। तीसरा काययोग है। जब तक शरीर रहता है। तब तक काय योग अनिवार्य रूप से रहेगा ही। १३ वे गुणस्थान के स्वामी केवली भगवान को भी देहयोग है ही, क्योंकि काया की प्रवृत्ति चल ही रही है। आहार—निहार—विहारादि सभी काया की प्रवृत्ति अनिवार्य है। अतः

काययोग की निवृत्ति संभव ही नहीं है। इस तरह आत्मज्ञान से केवलज्ञानी है। चारों घाती कर्मों का क्षय हो जाने के कारण प्रगट हुए चारों प्रकार के गुण केवलज्ञान, केवलदर्शन, वीतरागता तथा अनन्त वीर्यादि लब्धियाँ प्रगट होने के बावजूद भी चारों अघाती कर्म वहाँ मौजूद हैं। इसके कारण अघाती कर्म की प्रवृत्तियाँ भी १३ वे गुणस्थान पर रहती ही हैं। मन—वचन—काया के तीनों योगों की प्राप्ति भी ४ अघाती कर्मों के नामकर्म के कारण हुई है। अतः इनकी भी सत्ता जबतक है तब तक प्रवृत्ति भी रहेगी ही। हाँ, यह बात सही है कि कहाँ तक... किस गुणस्थान तक कैसी प्रवृत्ति और किस गुणस्थान से कैसे योगों की प्रवृत्ति रहेगी? या चलेगी? इसका ख्याल गुणस्थान के आधार पर आएगा।

१ ले गुणस्थान पर तीनों योगों की प्रवृत्तियों में अशुभ लेश्या आदि कषाय तथा आर्त—रौद्र ध्यान की प्रधानता थी अतः प्रवृत्ति भी उसके आधार पर हिंसादि कषायादि की ज्यादा रही। अतः परिणाम स्वरूप तीनों योग उसी में ज्यादा बंधे हुए रहे।

४ थे गुणस्थान पर भी जीव अविरति में ही था। फिर भी सम्यग् दर्शन की प्राप्ति से मन की मानसिक मान्यता में थोड़ी सुधारणा जरूर हो जाती है। लेकिन फिर भी योगों की हिंसादि—कषायादि की प्रवृत्ति रहती है।

५ वे गुणस्थान पर कुछ देर विरति आती है और कुछ देर विरति नहीं आती है। जब विरति आती है तब मन—वचन—काया के योग संवरवाले बन जाते हैं। तीनों योगों की प्रवृत्ति सीमित—गुप्तिवाली संवर प्रधान बनती है। विरति में “दुर्विहंतिविहेणं—मणेणं—वायाए—काएणं न करेमि—न कारवेमि” के पञ्चवक्त्राण “करेमि भंते” के सूत्र से लिये जाते हैं। आखिर ५ वे गुणस्थान पर गृहस्थी है। इसलिए विरति अविरतिवाला मिश्र भाववाला है। तीनों योगों को सम्यग् बनाने के लिए समिति तथा गुप्त रखने के लिए गुप्ति धर्म बताया है।

अब छठे गुणस्थान पर आकर जो संसार का सर्वथा त्यागी विरक्त हो जाने के कारण जब घर बार संसार सब छोड़ ही दिया है तो फिर तीनों योगों के कारण हिंसादि की क्रिया—प्रवृत्ति क्यों रखनी? अब साधु बनने के कारण लेश्याएँ भी सुधर जाती हैं। शुभ लेश्याएँ आती हैं। कषायों के विषय में १६ में से १२ कषाय तो सर्वथा निकल चुके हैं। अब मात्र ४ ही शेष बचे हैं। वे भी संज्वलन की अल्पकालीन स्थितिवाले हैं। तथा धर्मध्यान आदि ध्यान की प्रवृत्ति बढ़ती ही जाती है। इस तरह लेश्या, कषाय और ध्यान की विशुद्धि हो जाने से अब मन—वचन—काया के तीनों योग काफी हद तक शुद्ध हो जाते हैं। अतः इन तीनों योगों की प्रवृत्ति सुधर जाती है।

दूसरी तरह छठे गुणस्थान पर साधु बना हुआ साधक . . . सर्वविरतिरूप दीक्षा—चारित्र अंगीकार कर लेता है । अतः 'करेमि भंते' के पाठ से 'जावज्जीवाए' शब्दों से आजीवनभर की सामायिक उच्चैर लेता है । तथा यावज्जीवनपर्यन्त किसी भी प्रकार की मन—वचन—काया के योगों की प्रवृत्तियों में प्रतिबन्ध लगाता है । "तिविहं—तिविहेणं—मणेणं—वायाए काएणं, न करेमि, न कारवेमि, करंतंपि अन्नं न समणुज्जाणामि" के पाठ पूर्वक आजीवन पर्यन्त की भीष्म प्रतिज्ञा कर लेता है ३ x ३ = ९ । मनादि ३ योग—पूर्वक न करना—न कराना—करते हुए की अनुमोदना भी त्यों करना पूर्वक नौ कोटिपूर्वक की प्रतिज्ञा कर लेता है । अतः अब छठे गुणस्थान से आगे के सभी गुणस्थान पर नौ कोटि शुद्ध विरति पालनेवाला साधक रहता है । इससे आश्रव का निरोध हो गया । अतः आश्रवप्रधान प्रवृत्ति बन्द होकर अब संवरात्मक प्रवृत्ति रहती है । ये तीनों योग मनादि के जिस प्रकार के कर्मों का बंधादि कराते थे उसके बजाय ये योग अब उनसे ही बचाते हैं । अतः संवरात्मक धर्म ज्यादा होता है । संवर आश्रव निरोधात्मक धर्म है । अब तीनों योग संवर में लग गए । समिति—गुप्ति पूर्वक की और अष्ट प्रवचनमाता की जयणापूर्वक की ही प्रवृत्ति रहती है । अतः सातवें गुणस्थान से अप्रमत्त बन जाने के बाद तो और उपयोग जागृत हो जाता है । इससे इतनी ज्यादा सावधानी आ जाती है कि . . . अब तीनों योगों के होते हुए भी कर्म बंध की प्रवृत्ति अब नहीं है । अब संपूर्ण निर्जरा ही निर्जरा चलती है । अनन्त काल तक जो तीनों योग कर्म बंधाने की प्रवृत्ति कराते थे वे अब सर्वथा—संपूर्ण रूप से उल्टे पलट गए हैं अतः अब बंध के बदले निर्जरा कराते हैं ।

इस तरह योगी ने तीनों योगों को अपने वश में कर लिया है । अतः सही अर्थ में महान योगी बन गया है । जो भी योगी अपने मनादि तीनों योगों के द्वारा सर्वथा पापकर्म की प्रवृत्ति बन्द कर दे और इन तीनों योगों से आत्मा पर लगे हुए सभी कर्मों का क्षय करने में सहयोगी बनाए उसे ही सही योगी कहते हैं । तथा श्रेष्ठतम योगी कहते हैं । और जो योगी बनने के बावजूद भी अपने मनादि तीनों योगों पर नियंत्रण न कर सके या इन तीनों योगों से कर्मक्षय निर्जरा न कर सके और उल्टा कर्मबंध ही करता रहे, उसे योगी नहीं कहा जाता । वर्तमानकाल में ऐसे सैंकड़ों योगी दुनिया की बाजारों में देखने मिलेंगे जो योगी होने का दावा करते हैं, दिखावा करते हैं । परन्तु सही अर्थ में योगी कहलाने के योग्य नहीं है ।

क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ हुआ योगी जितने प्रमाण में कर्मों की ढेर सारी निर्जरा करता जाता है उतनी निर्जरा तो शायद ही कोई योगी करता होगा । ऐसा क्षपक योगी १२ वे

गुणस्थान पर पहुँचता ही तब है जब वह मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय कर लेता है। तभी वीतरागी बनता है। और फिर १२ वे गुणस्थान पर पहुँचकर ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय कर्म इन ३ घाती कर्मों का सर्वथा जड़मूल से क्षय कर लेता है। तब वह १३ वे गुणस्थान पर पहुँच कर सर्वज्ञ सर्वदर्शी अनन्त शक्तिशाली बन जाता है। यही सिद्ध करता है कि... यह साधक सच्चा सही योगी था। अतः १३ वे गुणस्थान पर पहुँचकर सर्वज्ञ—वीतरागी बनने के बावजूद भी उनके तीनों योग हैं अतः वे योगी हैं। योग सहित केवली होने के कारण उन्हें सयोगी केवली कहते हैं। बस, इसके पश्चात् वे १४ वे गुणस्थान पर पहुँचकर अयोगी बनकर योगों का सर्वथा त्याग कर देंगे। सदा के लिए तीनों योगों को छोड़कर अयोगी बन जाएंगे। उसके पश्चात् ही सिद्ध बनेंगे।

१३ वे गुणस्थान पर भी कर्म बंध—

१३ वे गुणस्थान पर पहुँचकर वीतरागता सर्वज्ञादि—अनन्त चतुष्टयी प्राप्त करके इतनी महान उपलब्धि प्राप्त कर ली है फिर भी क्या वे कर्म बांधेंगे? क्या नए कर्मों का उपार्जन करेंगे? यदि हाँ कहें तो कैसे मानने में आएंगी यह बात? और यदि सर्वथा ना कह देते हैं तो तीनों योग हैं। तीनों योगों की प्रवृत्तियाँ भी हैं। अतः मन—वचन—कायादि बरोबर प्रवृत्तिशील है। और तीनों की प्रवृत्तियाँ चल रही हैं। तो मनादि की तीनों योगों की जो प्रवृत्तियाँ चल रही हैं उनसे क्या कर्मों का बंध होगा कि नहीं? होता है या नहीं? और यदि होता भी हो तो किन कर्मों का बंध ही सकता है? क्योंकि घाती कर्मों के विभाग में सभी कर्मों का क्षय मूल से संपूर्ण हो चुका है। तथा उनका क्षय सर्वथा क्षायिक भाव से हो चुका है। अतः उन कर्मों का बंध तो सर्वथा क्षय हो जाने के कारण पुनः होगा ही नहीं। वीतरागतादि सर्वज्ञतादि सभी अनन्त चतुष्टयी के गुण क्षायिक भाव से प्रगट हुए हैं। अतः इन पर तो पुनः कर्म के आवरण कदापि नहीं लगेंगे। लेकिन ८ कर्मों में दूसरा विभाग जो अघाती कर्म का है। इसमें ४ अघाती कर्म हैं। १३ वे गुणस्थान की आत्मा को पुनः संसार चक्र में जन्म लेना ही नहीं है। अतः आगामी आयुष्य तो सर्वथा बांधना ही नहीं है। इसलिए आयुष्य कर्म का बंध तो वे करेंगे ही नहीं। अब रही बात शेष ३ अघाती की।

गोत्र कर्म भी आगामी जन्म में उच्च या नीच गोत्र में ले जानेवाला है। अतः जब अगला जन्म ही नहीं लेना है तो फिर गोत्र कर्म भी नया बांधने का रहता ही नहीं है। इसी तरह नाम कर्म जो शरीर रचना, इन्द्रिय, गति, जाति, वर्णादि की रचना—व्यवस्था करता है।

शुभ—अशुभ दोनों प्रकार के नाम कर्म जो मृत्यु के बाद होनेवाले आगले जन्म की व्यवस्था करने रूप तैयारी करनेवाला कर्म है। अतः इसको भी बांधने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। क्योंकि १३ वे गुणस्थानवाले को अगला नया जन्म ही लेना नहीं है। नियम ही है कि जो भी साधक एक बार १३ वे गुणस्थान पर आरूढ़ हो गया उसे दुबारा जन्म लेने का रहता ही नहीं है। एक बार केवलज्ञान हो जाने के पश्चात् दूसरा जन्म पुनः धारण करने का शेष रहता ही नहीं है। अतः १३ वे गुणस्थानवाले केवली का मोक्ष अवश्य ही है। अतः नाम, गोत्र और वेदनीय इन ३ अघाती कर्मों का भी नया बंध होने वाला ही नहीं है।

अब रही एक मात्र वेदनीय कर्म की बात। वेदनीय कर्म के २ विभाग हैं। १) शाता वेदनीय और २) अशाता वेदनीय। ये दोनों बांधे जाय तब इनकी उत्कृष्ट बंधस्थिति... इतनी होती है। तथा जघन्यतम (न्यूनतम) स्थिति बंध १ अंतर्मुहूर्त होता है। फिर तुरंत उदय में आता है और सुख—दुःख देकर चला जाता है। १३ वे गुणस्थान के स्वामी केवली भगवान को १३ वे गुणस्थान पर आठों कर्मों में से एकमात्र शाता वेदनीय कर्म का ही बंध होता है। उसे भी प्रथम समय में बांधते हैं और दूसरे समय में भोगते हैं और तीसरे समय में तो क्षय भी कर देते हैं। यहाँ कषायादि भाव तो सर्वथा होते ही नहीं हैं। अतः बंध की स्थिति लम्बी दीर्घ तो पडनेवाली ही नहीं है।

१४ गुणस्थानों के सोपानों पर आप देख रहे हैं कि कषायों का बंध, कषायों का उदय और सत्ता कहाँ तक रही है? १० वे गुणस्थान तक कषाय का उदय था। लेकिन १२ वे गुणस्थान से तो सत्ता से क्षीण हो गया। अब कषाय न तो बंध में है, न ही उदय में है, और न ही सत्ता में है। इसलिए अंश मात्र भी कषाय का अस्तित्व किसी भी रूप में नहीं बचा है। इसलिए अब कषाय की नाम मात्र भी प्रवृत्ति नहीं है।

कर्म बंध के हेतुओं में अन्य हेतु मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद भी नहीं हैं। ये ३ और कषाय इन ४ का तो नाम मात्र भी अस्तित्व १३ वे गुणस्थान पर बचा ही नहीं है। इसलिए किसी की भी प्रवृत्ति नहीं है। अतः किसी के कारण कर्मों का बंध हो यह संभव ही नहीं है। अब मात्र एक ही बंध हेतु बचा है वह है योग। १३ वे गुणस्थान पर केवली भगवान को भी योगबंध होता है। क्योंकि मन—वचन—काया के योग यहाँ भी मौजूद हैं। इनकी प्रवृत्ति यहाँ भी होती ही है। अतः १३ वे गुणस्थान पर जो कर्म का बंध होगा वह भी योगज बंध होता है।

सकषायऽकषाययोः साम्प्रायिकेर्यापथयोः ॥

१) सकषाय अर्थात् कषायभाव सहित जिन जिन कर्मों का बंध किया जाता है उसे साम्प्रायिक बंध का नाम दिया है। बात भी सही है। “सकषायत्वात् जीवो कर्मणः योग्यान् पुद्गलानादते।” तत्त्वार्थकार स्पष्ट लिखते हैं कि... जब जब जीव राग—द्वेषादि कषायों के आधीन होता है तब विशेष रूप से कर्मण वर्गणा के कर्मबंध योग्य पुद्गल परमाणुओं को ग्रहण करता है। यह कर्म परमाणुओं के ग्रहण की विधि या प्रक्रिया को आश्रव की प्रक्रिया कहते हैं। प्रथम आश्रव अर्थात् कर्माणुओं का अङ्गमन होता है। फिर बन्ध अर्थात् आत्मप्रदेशों के साथ कर्माणुओं का एकरसीभाव होता है। कषाय आश्रव में

भी कारणभूत है और ये ही कषाय बंध में भी कारणभूत हैं। इसलिए कर्माणुओं को खींचकर आकर्षित करके आत्मप्रदेश में लाना और आत्मप्रदेशों के साथ एकरस करके बांधकर रखने का दोनों काम कषाय करते हैं। अतः कषायों के लिए ही दूसरा शब्द प्रयोग किया है— “सम्पराय”। तत्त्वार्थ भाष्यकार ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है— “सम्परैत्यस्मिन्नात्मेति सम्परायः — चातुर्गतिकः संसारः” अच्छी तरह आत्मा को जो ४ गतिरूप संसार में लाए उसे सम्पराय कहते हैं। यही समान अर्थ है कषाय शब्द का। कष = संसार और आय = लाभ। अर्थात् संसार का लाभ हो, संसार बढे, उसे कषाय कहते हैं। अतः दोनों शब्दों से ही यह साफ—साफ सिद्ध हो जाता है कि राग—द्वेष—क्रोध—मान—माया—लोभ रूप कषाय करने से कर्मों का आश्रव होता है। फिर आत्मप्रदेशों के साथ उनका एकरसीभाव से बंध होता है और कर्म से लिप्त आत्मा चतुर्गतिरूप संसार में परिभ्रमण करती ही रहती है। इस तरह संसार का चक्र चलता ही रहता है। १ ले गुणस्थान मिथ्यात्व से लेकर जब तक कषायों का उदय और प्रवृत्ति रहती है वहाँ तक साम्परायिक बंध होता रहता है। मन, वचन, काया के तीनों योगों का कषायभाव ने राग द्वेष क्रोधादि ने अपने लिये ज्यादा उपयोग किया। इसलिए योग गौण हो गए और कषाय प्रधानरूप थे अतः उनसे ही आश्रव—बंध की क्रिया हुई।

२) ऐर्यापथिक बंध— जीव के ४ थे गुणस्थान पर आ जाने के पश्चात् मिथ्यात्व का बंध हेतु समाप्त हो जाता है और छठे, ७ वे गुणस्थान पर आ जाने के बाद अव्रत के आश्रव और बंध द्वारा दोनों समाज हो जाते हैं। ७ वे गुणस्थान के पश्चात् तो प्रमाद का भी नाम मात्र नहीं रहता है। इसी तरह १ ले गुणस्थान से कषाय की जो प्राधान्यता थी वह १० वे गुणस्थान तक चली। ११ वे गुणस्थान पर कषाय का उदय प्रवृत्ति आदि कुछ भी नहीं है परन्तु सत्ता में पड़े हैं अतः उदय होने की पूरी सम्भावना है। १२ वे गुणस्थान पर कषाय अब सत्ता में भी नहीं है परन्तु १२, और १३ वे गुणस्थान वालों को भी मन, वचन—काया—तीनों योग तो है ही। इन्द्रियाँ हैं। इन्द्रियों की क्रिया—प्रवृत्ति भी है। काया शरीर है अतः शरीर से गमन—आगमन आहार—निहारादि की भी सब प्रकार की प्रवृत्तियाँ करनी ही पड़ती हैं। अनन्त काल तक संसार चक्र में आज दिन तक के परिभ्रमण काल में जीव ने कषायभाव रहित होकर अपने मन—वचन—काया के योगों का कभी उपयोग या प्रवृत्ति ही नहीं की है। क्योंकि संसार में सदा ही राग—द्वेष के निमित्तों में जीव सदा ही फसा रहा, मन आदि तीनों योगों को सदा उसी में ही फसाकर रखा। इसलिए बिना राग—द्वेष की मनादि योगों की प्रवृत्ति का आनन्द कभी लूटा ही नहीं है।

अब १२ वे गुणस्थान पर कषाय सर्वथा चले जाने के कारण... अब मनादि योग बिना कषाय की बिना राग—द्वेष क्रोधादि की प्रवृत्ति करेंगे। यद्यपि मनादि की भी तथा प्रकार की प्रवृत्ति से कर्माणुओं का आश्रव—आगमन होता है। फिर बंध भी होता है। उसे ऐर्यापथिक आश्रव बंध कहते हैं। तत्त्वार्थ भाष्यकार कहते हैं कि—

ईरणमिर्था—गतिरागमानुसारिणी। पन्थामार्गः प्रवेशो यस्य कर्मणस्तदीर्यापथं, एवंविधगतिः उपादानं कर्मकषायस्य (गतिरत्रोपलक्षणमात्रं), योगमात्रप्रत्ययत्वात्, गच्छतस्तिष्ठतो वा त्रिसमयस्थितिको भवत्यकषायस्य बन्धः।

ईर्यापथ शब्द की व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि... 'ईर गतौ' धातु से ईरण—गति करने अर्थ में है उससे ईर्या शब्द बना। पन्थ शब्द मार्ग अर्थ में है। यह सामान्य शब्दार्थ है। मार्ग में गमनागमन की क्रिया करनी आदि। परन्तु विशेष गूढार्थ है कर्म के मार्ग में प्रवेश होना। इस प्रकार की गति कर्मों का उपार्जन की सूचक है। गति शब्द तो यहाँ उपलक्षण मात्र है। मन—वचन—काया के योग मात्र की प्रवृत्ति है। जाते—आते जो गमनागमन की प्रवृत्ति करनी पड़ती है वह कायिक है तथा मन की भी गमनागमन की प्रवृत्ति चलती है। मन भी आता है जाता है। तथा वचन भी।

जैसा कि चित्रों में बताया है— चित्र नं. १ में एक बच्चा घर की दिवाल पर कीचड की या मिट्टी की बॉल बनाकर फेंकता है। वह दिवाल पर लगकर गिर जाता है, या दिवाल पर चिपका हुआ ही रहता है। आप देखेंगे कि गिर जाने के पश्चात् भी दिवाल पर उस डेले का दाग बरोबर रहता है। ठीक इसी तरह आत्मा पर कषाय भाव की राग—द्वेष जन्य प्रवृत्ति के कारण जो आश्रव होता है उससे कर्म का बंध हो जाता है, वे कर्म आत्मा पर चिपक जाते हैं। मिट्टी के डेले में नमी थी, अतः दिवाल पर चिपक गया। दाग रह गया। ऐसा कर्म का बंध साम्परायिक बंध कहलाता है।

दूसरे चित्र में वही मिट्टी या कीचड का डेला धूप में पूरा सूख जाने के पश्चात् या कोई भी बॉल घर की दिवाल पर फेंकी जाय तो वह तुरंत दिवाल पर स्पर्श करके गिर जाएगी। वहाँ रुकेगी नहीं और उसका दाग भी नहीं रहेगा। इस तरह का आत्मा के साथ कर्म का जो बंध होता है उसे ऐर्यापथिक बंध कहते हैं। यह योगज बंध कहलाता है। परन्तु साम्परायिक बंध कषायज बंध कहलाता है।

बंधस्थिति— साम्परायिक बंध जो कषाय जनित बंध है उसमें राग—द्वेष—क्रोधादि का रस रहता है। अतः रस बंध होने के कारण उनकी बंध स्थिति का काल भी काफी

लम्बा—चौड़ा रहता है। अतः उसे दीर्घ स्थिति कहते हैं। जैसे कि गीले ढेले में नमी—पानी रहता है। अतः मिट्टी या कीचड़ दिवाल पर चिपकता है। इसलिए कषायों का एक रस बनता है। वह कर्माणुओं को आत्मा के साथ दीर्घ काल तक चिपकाने में कारणभूत बनता है। लेकिन जब कषाय सर्वथा क्षय हो जाते हैं तब मनादि योग उसकी चंगुल से मुक्त हो जाते हैं। अब कषायभाव से मुक्त (रहित) मनादि योग सामान्यरूप से प्रवृत्ति आदि करेंगे उससे भी कर्माणुओं का बंध होगा लेकिन वह... दूसरे चित्र में है वैसे नमी.. पानी सूख जानेवाले ढेले की तरह सूखे हुए कर्माणु मात्र आत्मा के प्रदेशों पर लगेंगे जरूर परन्तु किसी भी प्रकार का रस न होने से वे ज्यादा देर तक लगे हुए—चिपके हुए नहीं रहेंगे। जैसे बॉल दिवाल पर न तो ठहरती है और न ही उसका दाग लगता है। दाग लगने में भी मिट्टी के अंश ही वहाँ चिपकते हैं। शास्त्रकार कहते हैं कि—

पयइ सहावो वुत्तो ठिई कालावहारणं ।

अणुभागो रसो णेओ, पएसो दल संचओ ॥

४ प्रकार के बंधों में—प्रकृति बंध स्वभाव को कहते हैं। अर्थात् प्रकृति होने से कर्म के आवरण आत्मप्रदेशों पर आ जाने से आत्म गुण आच्छादित हो जाएंगे और ऊपर कर्म परमाणु हावी हो जाएंगे। अतः आवृत्त आत्मगुणों की ज्ञानादि की प्रकृति (स्वभाव) का व्यवहार सामने नहीं आएगा। परन्तु कर्मावरण का स्वभाव ही सामने आएगा। आत्मगुणों से कर्मजन्य स्वभाव सर्वथा विपरीत ही है और इस विपरीत भाव का जो स्वभाव व्यवहार में बाहर आएगा वह आत्म गुणों का घात करके विपरीत रूप में ही बाहर आएगा। जैसे बल्ब पर काला कपड़ा ढक कर जलाने से बल्ब के प्रकाश के बजाय उस काले कपड़े की छाया ही व्यवहार में सामने आएगी। ठीक उसी काले कपड़े की तरह यहाँ काले कर्मों की असर व्यवहार में बाहर दिखाई देगी। वह आत्मगुण से विपरीत होगी। अज्ञान, अदर्शन मोह—राग—द्वेष अशक्ति आदि जितने भी बाह्य व्यवहार में आएंगे वे विपरीत ही आएंगे। यही कर्म की प्रकृति है, स्वभाव है। इसलिए प्रकृतिबंध कर्म स्वभाव को कहा है।

स्थिति बंध काल की अवधि का सूचक है। एक बार बंधा हुआ कर्म आत्मप्रदेशों पर कहाँ तक? कितने वर्षों तक लगा रहेगा? यह सूचित करता है। जैसे सीमेन्ट में पानी का रस गिरते ही वह जमकर पत्थर—सा बंध जाता है। ठीक उसी तरह ग्रहित कार्मण वर्गणा के परमाणुओं में लेश्याओं क्रोधादि कषायों तथा आर्त—रौद्रादि ध्यान की जैसी परिणति का रस उसमें डालेंगे वैसे कर्म बंध होगा। इस रस के घोल से कर्म—परमाणु इकट्ठे होकर चिपकेंगे। और रस के आधार पर स्थिति बंध के काल का आधार रहता है।

प्रदेश बंध में आत्मा जिन कार्मण वर्गणाओं के परमाणुओं को ग्रहण करती है उनका प्रमाण मुख्यरूप से है। वे परमाणु कितनी संख्या में, कितनी मात्रा में हैं ? जैसे रोटी बनाने के लिए आटा कितना लेना ? या फिर इस खम्भे के लिए सिमेन्ट कितनी मात्रा में लेनी ? यह निर्णय प्रदेश बंध में होता है। इसलिए आत्म प्रदेशों पर कार्मण वर्गणा के परमाणुओं की संख्या और मात्रा (प्रमाण) का आधार भी रस बंध पर आधारित रहता है। “पएसो” का अर्थ “दलसंचओ” किया है। कार्मण वर्गणा के दलिकों का संचय अर्थात् इकट्ठा करना। जैसे बूंदी के लड्डू में बूंदी के दाने कितने हैं ? संख्या की गिनती का प्रमाण है। इसी तरह आत्मा के साथ कर्मबंध होता है। उसमें कार्मण वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं की गिनती—संख्या का प्रमाण रहता है।

इन ४ प्रकार के कर्मबंधों में... मिथ्यात्व—अविरति—कषाय आदि बंधहेतुओं से होनेवाले बंध में रस, प्रकृति और स्थितिबंध का आधार प्रमुख रूप से रहता है। जी हाँ, .. तदनुरूप उस मात्रा में प्रदेशों का संचय तो होगा ही। अतः चारों प्रकार के बंध होंगे। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये ५ कर्म बंध के हेतु हैं। कारणभूत हैं। और प्रकृति, स्थिति, रस और प्रदेश ये ४ कर्म बंध के प्रकार हैं। कषायादि बंधहेतु की तीव्रता मन्दता के आधार पर... रस बंध होगा और रस के आधार पर स्थिति बंध होगा। परन्तु यदि इन बंध हेतुओं में से एक एक की संख्या कम होती जाय तो उसके आधार पर.. रस बंध और स्थिति बंध भी घट कर कम होते हैं। बंध हेतुओं में सबसे बड़ा राजा कषाय है। और बंध के चारों प्रकारों में सबसे बड़ा राजा रस बंध है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि रस बंध का आधार कषाय पर है और स्थिति बंध का आधार रस बंध पर है। यदि रस का प्रमाण ज्यादा रहा तो स्थिति का बंध भी ज्यादा—दीर्घ रहेगा। और यदि रस का प्रमाण कम होगा तो स्थिति बंध में भी काल का प्रमाण कम रहेगा। जिससे ज्यादा दीर्घ—लम्बी स्थिति नहीं बंधेगी।

केवली का प्रदेशबंध और स्थिति—

१३ वे गुणस्थान पर जीव केवलज्ञानी सर्वज्ञ वीतरागी बन चुका है। वीतरागता ही मोहनीय कर्म की सर्वथा सत्ता का अभाव सूचित करती है। यह प्रतीक—प्रमाण है। इसी तरह शेष ज्ञानादि गुण भी उन उन कर्मों के सर्वथा अभाव के सूचक हैं। ऐसे वीतरागी—सर्वज्ञ—सर्वदर्शी भगवान् १३ वे गुणस्थान पर कर्म बांधेंगे या नहीं ? इस का उत्तर स्पष्ट ही है कि... जहाँ तक बंध हेतुओं का अस्तित्व रहेगा—वहाँ तक तो कर्मों का

बंध निश्चित ही होगा और उसमें भी बंध तो चारों प्रकार का होगा। लेकिन जिन बंध हेतुओं की संख्या मात्र कम हो जाएगी उस हिसाब से बंध का प्रमाण जरूर कम हो जाएगा। इसलिए साधक को साधना की दृष्टि से समझना चाहिए कि... बंध के प्रकारों पर लक्ष्य रखने की अपेक्षा बंध के हेतुओं पर ही ज्यादा चिन्ता करें। कर्म बंध के हेतु जो मिथ्यात्वादि हैं उनसे बचने के लिए ही प्रबल पुरुषार्थ करना चाहिए। इस कार्य को करने की प्रवृत्ति—पुरुषार्थ को ही धर्म कहा है। मिथ्यात्व से बचने के लिए या उसे दूर हटाने के लिए जो उपाय है वह एकमात्र सम्यक्त्व का है। इसी तरह आगे के कर्म बंध हेतुओं से बचने के लिए जो उपाय—विकल्परूप हैं वे ही धर्म हैं। व्रत या विरति धर्म अव्रत के पाप बंधहेतु से बचाएगा। प्रमाद का बंध हेतु टलने से अप्रमत्त धर्म बढ़ेगा। चौथा बंध हेतु कषाय संपूर्ण रूप से सर्वांशिक जड़मूल से हटाकर १३ वे गुणस्थान पर पहुँचकर आत्म—गुण वीतरागतादि जो प्रगट कर लेता है वह साधक... पुनः... कभी राग—द्वेषादि कषाय नहीं करता है। पुनः कषायों का आलंबन लेना उसके लिए संभव ही नहीं है। कषाय जो बंधहेतुओं का मुख्य राजा है उसके टल जाने से अब १३ वे गुणस्थान पर जो भी जितना भी कर्म का बंध होगा वह अब शेष ५ वे बंध हेतु के द्वारा ही होगा। उत्तर—उत्तर (अर्थात् ऊपर ऊपर) के बंध हेतु जैसे टलते जाएंगे वैसे—वैसे पूर्व—पूर्व के बंध हेतु की संभावना ही नहीं रहेगी। उनका सर्वथा लोप हो जाएगा। वे रहेंगे नहीं और जो पूर्व के बंधहेतु रहेंगे तो उत्तर बंध हेतु अवश्य ही रहेंगे।

१२ वे, १३ वे गुणस्थान पर एक मात्र अंतिम बंध हेतु “योग” ही बचा है। कषाय मुख्य राजा के न रहने के कारण अकेला मन—वचन—काया का बंध हेतु होने के कारण थोड़ा सा अल्पप्राय भी कर्म बंध होगा जरूर, लेकिन वह नाम मात्र ही रहेगा। यद्यपि इस प्रकार के योगज बंध में भी प्रकृति और रस बंध ये दोनों नहीं होंगे क्योंकि रस बंध का मुख्य कारण कषाय थे। वे कषाय ही नहीं बचे हैं। अतः रस बंध नहीं होगा। और रस बंध नहीं होगा तो स्थिति बंध भी नहीं पड़ेगा। तथा प्रकृति बंध क्या होगा? चारों घाती कर्मों का तो सर्वथा क्षय हो चुका है अतः उनका तो सवाल ही खड़ा नहीं होता है। अब रही अघाती ४ कर्मों की बात इनमें भी आयुष्य, नाम, और गोत्र इन ३ कर्मों का नया बंध तो होता ही नहीं है। आयुष्य तो वैसे भी नहीं बांधना है क्योंकि आगामी जन्म ही नहीं लेना है उसी भव में मोक्ष में जाना है। इसलिए सवाल ही नहीं उठता कि नया आयुष्य बांधे। तथा नाम कर्म भी अगले जन्म में जो देहादि धारण करना हो तो उसके पीछे काम करता है। इसी तरह गोत्र की व्यवस्था की बात कब आती है? जब जन्म ले तब। यदि

जन्म ही धारण न करे तो फिर गोत्र का सवाल ही कहाँ उठता है। इस तरह नाम—गोत्र भी नए बंध के चक्र में से सर्वथा निकल जाते हैं तो फिर बचा कौन ? सिर्फ १ वेदनीय कर्म। वेदनीय कर्म में २ भेद हैं— १) शाता वेदनीय और २) अशाता वेदनीय। बस, इन २ प्रकृतियों में से किसी का भी परिवर्तन से बंध होता रहेगा। या तो शाता वेदनीय का बंध हो, या फिर अशाता वेदनीय का बंध हो। किसी एक का होगा।

शाता वेदनीय कर्म सुख—शाता प्रदान करनेवाला है। और अशाता वेदनीय कर्म शारीरिक वेदना—दुःख देनेवाला कर्म है। अतः इनमें से बंध होगा। और इनका बंध १२ वे, तथा १३ वे गुणस्थानवाले दोनों को समान रूप से पड़ेगा। अर्थात् दोनों को एक वेदनीय कर्म का ही बंध होगा। ८ कर्मों में से मात्र एक कर्म का ही नया बंध होगा। तथा इस कर्म का बंध भी मात्र प्रदेश बंध ही होगा। अतः इस प्रदेश बंध में तो स्थिति कितनी रहेगी ? यह कहते हैं—

“पढमे समए बढुपुढा बितिए समए वेदिता ततिए समए निजिण्णा सेआले अकम्पं खावि भवति” —(इति) पारमर्षवचनात् त्रिसमयावस्थान एव वेदितव्यः।

परम ऋषि महापुरुष लिखते हैं कि... प्रथम समय में बंध होता है। वह स्पष्ट बद्ध जैसा रहता है। दूसरे समय में उसका वेदन (भोगना) हो जाता है। और तीसरे समय में निर्जरा भी कर लेते हैं। तथा शेष समय में अकर्मों कर्मरहित रहते हैं।

केवली को कर्मों का उदय और वेदन—

१३ वे गुणस्थान पर बिराजमान केवली के ८ में ४ घाती कर्मों का तो सर्वथा संपूर्ण क्षय पहले ही हो चुका है। अब ४ अघाती कर्मों का क्षय नहीं हुआ है। अतः इन ४ अघाती कर्मों का उदय है। अतः जहाँ तक जीवन है, शरीर है, जीना है, वहाँ तक अघाती कर्मों का सब का उदय तो रहेगा ही। क्योंकि उनके आधार पर ही शरीर टिका हुआ है। अतः मृत्यु की अन्तिम श्वास पर्यन्त इन चारों अघाती कर्मों के उदय की आवश्यकता रहती है। जब उदय रहता है तो वेदन भी होता ही है। इन चारों अघाती कर्मों का उदय भुगतना है। क्योंकि शरीर का उपयोग शरीर द्वारा क्रिया—प्रवृत्ति उनको भी करनी ही है। जो तीर्थंकर भगवान् बने हैं उनको भी अपने उपार्जित इस श्रेष्ठ पुण्य प्रकृति का वेदन करना पड़ता है। अर्थात् भुगतनी पड़ती है।

विशेषात्तीर्थकृतकर्म, येनास्थर्जितमूर्जितम्।

तत्कर्मोदयतोऽग्रासौ स्याज्जिनेन्द्रो जगत्पतिः ॥ ८५ ॥

स सर्वातिशयैर्युक्तः, सर्वाभरणैर्नतः ।

चिरं विजयते सर्वोत्तमं तीर्थं प्रवर्तयन् ॥ ८६ ॥

वेद्यते तीर्थकृत्कर्म, तेन सद्देशनादिभिः ।

भूतले भव्यजीवानां, प्रतिबोधादि कुर्वता ॥ ८७ ॥

गुणस्थान क्रमारोह ग्रन्थकार महर्षि लिखते हैं कि... वीशस्थानक तप तथा सर्वजीव कल्याण के प्रबल भाव पूर्वक उत्कृष्टकक्षा की आराधना करके जिसने तीर्थकर नामकर्म की श्रेष्ठतम पुण्यप्रकृति उपार्जित की हो वह महानात्मा उसके पुण्योदय होने से १३ वे गुणस्थान पर आकर सर्वज्ञ केवली बनते हैं। तीनों भुवन में सबके पूजनीय—पूज्य त्रिभुवनपति तीर्थकर भगवान् बनते हैं। ऐसे भगवान् ३४ अतिशयों से शोभनीय बनते हैं। सर्वोत्कृष्ट तीर्थ प्रवर्तते हुए विचरते हैं। पूर्व में बांधा कर्म उदय में आने पर... वेदना—भुगतनी तो पड़ती ही है। अतः उस कर्म के वेदन काल में कैसे वेदेगे भगवान्? अतः यहाँ श्लोक में स्पष्ट लिखते हैं कि... तीर्थकर भगवान् देशना देते हैं। देवता गण समवसरण—अतिशय की रचना करते हैं। उसका भी उपभोग करते हैं अर्थात् नौ सुवर्कमलों पर विचरते हैं। समवसरण में बैठकर देशना देते हैं। इस अवनितल पर निरंतर सर्व जीवों को प्रतिबोधित करते हुए विचरते हैं। अपनी कल्याणकारी देशना द्वारा भव्य जीवों को सम्यक्त्व की प्राप्ति कराते हैं, देशविरतिधर्म दिलाते हैं। धर्मतीर्थ की स्थापना करते हैं। चतुर्विध संघ की स्थापना करते हैं। यह तारक तीर्थ तथा संघ उनकी उपस्थिति में भी हजारों लाखों वर्षों तक भी जगत् के सर्व जीवों का कल्याण करते रहेंगे। इस तरह वे अपने तीर्थकर नामकर्म की पुण्यप्रकृति का वेदन करते हैं। उदीरणा उन्हें नाम—गोत्र इन दो कर्मों की करनी पड़ती है। न हो तो न भी करे। और अब निर्जरा ४ अघाती कर्मों की ही करनी है।

१३ वे गुणस्थान का स्थिति—काल—

उत्कर्षतोऽष्टवर्षेन पूर्वकोटिप्रमाणकम् ।

कालं यावन्महीपीठे, केवली विहरत्यलम् ॥ ८८ ॥

सभी गुणस्थानों का अपना—अपना जघन्य तथा उत्कृष्ट स्थिति काल रहता है। इस १३ वे गुणस्थान का उत्कृष्ट स्थिति काल कुछ कम ऐसा पूर्वक्रोड वर्षों का है। कुछ कम से तात्पर्य यह है कि पूर्वक्रोडवर्ष में ८ वर्ष कम। क्योंकि कोई भाग्यशाली इस अवनितल पर जन्म लेगा, वह बाल्यावस्था बिताएगा। बालक की वृद्धि होगी और आठ वर्ष का

होगा : तब वह दीक्षा के योग्य बनेगा । ८ वर्ष की आयु में दीक्षा ग्रहण करके फिर अपनी ध्यानादि की साधना तपश्चर्या आदि करेगा । नौ वर्ष का होने पर चारों घनघाती कर्मों का क्षय करके इसी क्रम से गुणस्थानों की श्रेणी पर एक एक गुणस्थान के सोपान चढ़ते हुए १३ वे गुणस्थान पर आकर केवलज्ञान पाकर केवली बनता है । अतः पूर्व क्रोड वर्ष के काल में ८ वर्ष न्यून (कम) की गणना की गई है । बाकी आगे का काल पूरा ही है । आजीवन पर्यन्त का लम्बा काल काफी है । इस तरह १३ वे गुणस्थान पर पूर्व क्रोड वर्षों का दीर्घ काल है । “पूर्व” शब्द यहाँ पर निर्धारित वर्षों के काल की संज्ञाविशेष है । वर्ष—वर्ष का काल बढ़ते—बढ़ते हजारों वर्ष, लाखों वर्षों का काल बीतता जाता है । उसमें ८४ लाख वर्ष जब हो जाते हैं तब उसे १ पूर्वांग कहते हैं । पूर्व का भी एक छोटा अंग उसे पूर्वांग कहते हैं । पूर्व पूर्वांग से बड़ा कालमान है । ऐसे पूर्वांग भी आगे बढ़ते—बढ़ते हजारों लाखों पूर्वांग होते जाते हैं । अतः १ पूर्व = बराबर—७०५६० अरब वर्ष होते हैं । इतने वर्षों का यह काल अभी तो १ पूर्व का हुआ है । और पूर्व भी वर्षों की गणना में और आगे बढ़ते ही जाय ... वे भी हजारों पूर्व, लाखों पूर्व और फिर करोड़ (क्रोड) पूर्व का भी काल हो जाता है । इतने पूर्व क्रोडवर्षों का काल १३ वे गुणस्थान पर केवलज्ञानी का रहना है । यह तो जिनका इतना लम्बा आयुष्य पहले से ही बाँधा हुआ रहता है उसका काल इतना होता है । यह उत्कृष्ट से केवली के १३ वे गुणस्थान पर रहने का आयुष्य काल है । इसमें ८ वर्ष न्यून समझने चाहिए ।

लेकिन सब केवलियों का काल इतना लम्बा होता ही है ऐसा नहीं है । यह उत्कृष्ट काल है । किसी का उत्कृष्ट आयुष्य इतना हो और उनका केवलज्ञान नौवें वर्ष में पाने के पश्चात् का आयुष्य काल इतना हो सकता है । अन्यथा कम होता है । मध्यम आयुष्य तथा जघन्य से भी केवली का काल इस गुणस्थान पर रह सकता है ।

तीर्थंकर भगवन्तों के लिए अलग ही नियम है । तीर्थंकर भगवन्तों का इतना लम्बा उत्कृष्ट आयुष्य नहीं होता है अतः वे मध्यम कक्षा के आयुष्यवाले होते हैं । इसलिए तीर्थंकर बननेवालों का १३ वे गुणस्थान पर का काल देशोन १ लाख पूर्ववर्ष जितना ही होता है । इस अवसर्पिणी काल में १ ले तीर्थंकर श्री ऋषभदेव भगवान का ८४ लाख पूर्व का कुल आयुष्य काल था । उसमें से ८३ लाख पूर्व वर्षों का काल तो संसार के गृहस्थाश्रम में ही बीत गए । ८४—८३ = १ लाख पूर्व का काल शेष रहने पर उन्होंने संसार से महाभिनिष्क्रमण करके दीक्षा ग्रहण की । और १००० वर्ष तक छद्मस्थावस्था में रहे । उसके बाद केवलज्ञान हुआ । अतः वे १३ वे गुणस्थान पर केवली के रूप में १ लाख पूर्व

में १००० वर्ष कम इतना काल रहे, विचरे । इस तरह चौबीस तीर्थकर भगवानों का आयुष्य, छद्मस्थ काल तथा केवली अवस्था का काल निम्न कोष्टक देखने से ख्याल आएगा ।

तीर्थकरनाम	कुल आयुष्य	छद्मस्थ काल
१ ऋषभ देव	८४ लाख पूर्व	१००० वर्ष
२ अजितनाथ	७३ लाख पूर्व	१२ वर्ष
३ संभवनाथ	६० लाख पूर्व	१४ वर्ष
४ अभिनन्दनस्वामी	५० लाख पूर्व	१८ वर्ष
५ सुमतिनाथ भ	४० लाख पूर्व	२० वर्ष
६ पद्मप्रभस्वामी भ	३० लाख पूर्व	६ महीना
७ सुपार्श्वनाथ भ	२० लाख पूर्व	८ महीना
८ चन्द्रप्रभु भ	१० लाख पूर्व	३ महीना
९ सुविधिनाथ	२ लाख पूर्व	४ महीना
१० शीतलनाथ	१ लाख पूर्व	३ महीना
११ श्रेयांसनाथ	८४ लाख वर्ष	२ महीना
१२ वासुपूज्यस्वामी	७२ लाख वर्ष	१ महीना
१३ विमलनाथ	६० लाख वर्ष	२ महीना
१४ अनन्तनाथ	३० लाख वर्ष	३ वर्ष
१५ धर्मनाथ भ	१० लाख वर्ष	२ वर्ष
१६ शान्तिनाथ	१ लाख वर्ष	१ वर्ष
१७ कुंथुनाथ	८५ लाख वर्ष	१६ वर्ष
१८ अरनाथ	८४ लाख वर्ष	३ वर्ष
१९ मल्लीनाथ	५५ लाख वर्ष	१ अहोरात्र
२० मुनिसुवतस्वामी	३० लाख वर्ष	११ महीने
२१ नेमिनाथस्वामी	१० लाख वर्ष	नौ महीने
२२ अरिष्टनेमि	१ लाख वर्ष	५४ दिन
२३ पार्श्वनाथ	१०० वर्ष	८४ दिन
२४ महावीर स्वामी	७२ वर्ष	१२ वर्ष

वर्तमान चौबीशी के २४ तीर्थकर भगवन्तों का कुल आयुष्यकाल उपरोक्त तालिका में दिया है। उन्होंने अपने जीवन में गृहस्थाश्रम में कितना काल बिताने के पश्चात् दीक्षा ग्रहण की यह भी कोष्ठक में देखने से ख्याल आएगा। तथा दीक्षा लेने के पश्चात् कितने समय तक वे छद्मस्थ रूप में रहे? अर्थात् कब तक उन्हें केवलज्ञान नहीं हुआ? जब तक केवलज्ञान नहीं होता है। तब तक के उस अन्तरालकाल को छद्मस्थ काल कहते हैं। यद्यपि तीर्थकर जो विशिष्ट कक्षा के महापुरुष हैं उनको जन्म से ही गर्भ काल से ही ३ ज्ञान पूर्ण होते हैं और दीक्षा ग्रहण के समय ४ था मनःपर्यव ज्ञान पूर्ण हो जाता है। अब ५ ज्ञान में से ४ ज्ञान के मालिक तो वे बन गए। फिर भी जब तक पाँचवा केवलज्ञान प्राप्त नहीं होता है तब तक वे छद्मस्थ ही कहे जाते हैं।

उपरोक्त नियम तीर्थकर के सिवाय अन्य किसी भी सामान्य केवली के लिए नहीं है। अतः वे जन्मजात ३ ज्ञानी नहीं होते हैं तथा दीक्षा ग्रहण करने के समय ४ था ज्ञान भी अनिवार्य रूप से नहीं होता है। फिर भी उनको आगे केवलज्ञान हो जाता है। चाहे वे गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी ध्यानादि करके केवलज्ञान प्राप्त करें या फिर... दीक्षा लेने के पश्चात् ध्यानादि की साधना करके केवलज्ञान प्राप्त करे। कर सकते हैं। लेकिन तीर्थकर तो अनिवार्य रूप से दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् ही केवलज्ञान प्राप्त करेंगे। पहले से ही गृहस्थाश्रम में कभी नहीं।

२४ तीर्थकरों का छद्मस्थावस्था का काल देखने से पता चलेगा कि किसका कितना कम है और किसका ज्यादा है? कम से कम १ अहोरात्रि का छद्मस्थ काल मल्लीनाथ भगवान का है। बस, आज दीक्षा ली और कल केवलज्ञान हो गया। इस तरह सिर्फ १ दिन रात का ही छद्मस्थ काल का अन्तराल समय बीच में निकला। शेष सब केवलज्ञानी के रूप में एक मात्र ये १९ वे तीर्थकर मल्लीनाथ ही थे। जिन्होंने १००० राजकुमारों के साथ में दीक्षा ग्रहण की और सिर्फ १ ही दिन के बाद केवली बन गए। भगवान नेमिनाथ सिर्फ ५४ दिन तक छद्मस्थ रहे फिर केवली बने। श्री पार्श्वनाथ प्रभु ८४ दिन तक छद्मस्थ रहे फिर केवली भगवान बने। दृष्टे पद्मप्रभु भगवान से लगाकर १३ वे विमलनाथ भगवान तक के ८ तीर्थकर भगवन्तों ने सिर्फ कुछ महीनों के अन्तराल काल में छद्मस्थ रहने के पश्चात् केवलज्ञान पाया। २४ वे तीर्थपति हमारे आसन्न उपकारी श्री महावीरस्वामी भगवान १२ वर्ष तक दीक्षा के पश्चात् छद्मस्थ रहे, फिर केवलज्ञान पाए। जबकि इस चौबीशी में एक प्रथम तीर्थकर श्री ऋषभदेव भगवान ही ऐसे रहे, जिन्होंने सबसे लम्बा काल छद्मावस्था में बिताया। १००० वर्ष तक वे छद्मस्थ रहे। फिर चारों घाति कर्मों का क्षय करके

केवलज्ञान पाया। इस तरह इस अवसर्पिणी काल की वर्तमान चौबीशी के प्रथम तीर्थकर को छद्मस्थावस्था में सबसे ज्यादा समय लगा। केवलज्ञान पाने में सबसे ज्यादा विलम्ब (अन्य तीर्थकरों की अपेक्षा) हुआ।

यह तो होता है। सबका समान काल होना तो कभी भी संभव ही नहीं है। क्योंकि सबके अपने-अपने कर्मों का प्रमाण भी कम-ज्यादा रहता है। तथा क्षय करने की तीव्रतादि के आधार पर भी समय का आधार रहता है। भले ही समय कम-ज्यादा लगे, इसमें बड़ी बात नहीं है। लेकिन केवलज्ञान अनिवार्य रूप से होने ही वाला है। तीर्थकर अनिवार्य रूप से केवली बनकर मोक्ष में जाएंगे ही। उन्हें भवान्तर-जन्मान्तर तो करना ही नहीं है। तीर्थकर अनिवार्य रूप से तद्भव मोक्षगामी जीव है। अतः उसी भव में मोक्ष में जाएंगे ही।

केवली भुक्ति सिद्धि—

केवलज्ञान हो जाने के पश्चात् केवली भगवान् आहार—पानी ग्रहण करते ही हैं। क्योंकि तीनों योगों में काय योग भी साथ ही है। काया की जो स्वाभाविक—प्राकृतिक आहार—निहारदि की प्रवृत्तियाँ हैं वे तो हैं वे हैं ही। रहेगी ही। और रहे इससे केवलज्ञान को कोई नुकसान भी नहीं। क्योंकि केवलज्ञान आत्मगुण है, आत्मा में रहनेवाला है। जबकि आहार यह शरीर की आवश्यकता है। अतः आहार करने से या निहार—शरीर से मल—मूत्रादि का विसर्जन करने से केवलज्ञान चला नहीं जाता है। या कम ज्यादा नहीं हो जाता है। अतः आहार—निहार की साहजिक स्वाभाविक जो प्रवृत्तियाँ हैं, अनिवार्य रूप से होती रहती हैं। इसमें कुछ भी अयुक्त नहीं है। फिर भी समझ में नहीं आता है कि क्यों दिगंबर सम्प्रदाय ने निरर्थक विरोध खड़ा करके सम्प्रदाय भेद का विष घोला है, एक निरर्थक विवाद फैलाया है। कभी सोचा भी सही कि क्या यह शास्त्रीय या सैद्धान्तिक विधान है? तर्क, युक्ति और बुद्धि की तुला पर तोलने पर भी क्या इसमें यथार्थता—वास्तविकता का अंश मात्र भी तथ्य—सत्य कुछ निकलेगा? कदापि नहीं जब संभव ही नहीं है, तो फिर निरर्थक विवाद फैलाकर असत्य की प्ररूपणा करके सत्य का अपलाप करके केवली का स्वरूप विकृत करने से कितना भारी पापकर्म उपार्जन करते हैं दिगंबर बंधु?

१) स्त्री मुक्ति, २) केवली भुक्ति। बस इन दो सिद्धान्तों के विषयों में मत-भेद का विवाद खड़ा करके निरर्थक असत्य फैलाने का पाप सिर पर क्यों लेना चाहिए? क्या वे

आत्मा के यथार्थ स्वरूप को नहीं मानते हैं ? या क्या वे गुणस्थानों की प्रक्रिया नहीं मानते हैं ? या क्या वे कर्मक्षय की निर्जरा की प्रक्रिया क्षपक श्रेणी आदि नहीं मानते हैं ? आखिर क्या बात है ? यह समझ में नहीं आता है । दार्शनिक ग्रन्थों में जहाँ इन चर्चाओं को उठाई है, इनमें भी कोई दम तर्क—युक्तियों में नहीं दिखाई देता । फिर भी निरर्थक रूप से इस प्रश्न को बड़ा रूप देकर एक धर्म के बीच दिवाल खड़ी करके निरर्थक अलग होकर सम्प्रदाय खड़ा करना कहाँ तक उचित है ?

आप बुद्धिमान हैं । अतः बुद्धिजीवी वर्ग को विचार करने के लिए आह्वान देता हूँ कि वे जरूर इस पर अपनी बुद्धि चला कर इस निरर्थक विवाद को मिटाकर सही सत्य को अपनाएँ । और धर्म को सम्प्रदायवाद के बंधन से मुक्त करें । सोचिए... कर्मशास्त्रकार एवं श्री सर्वज्ञ भगवंत ने ५ प्रकार के शरीर बताए हैं । १) औदारिक २) आहारक, ३) वैक्रिय, ४) तैजस और ५) कार्मण । इन ५ प्रकार के शरीरों में देव नारकी जीवों की शरीर रचना वैक्रिय वर्णना के पुद्गल परमाणुओं की बनी हुई होती है । अतः उन्हें हमारी तरह आहार करने की आवश्यकता ही नहीं रहती है । तो क्या देव—नारक जीवों को आहार न करने के कारण केवली तुल्य माना जाय ? या केवली को देव नारक तुल्य देहवाला माना जाय ? केवलज्ञान किस प्रकार के शरीरधारी को होता है ? क्या वैक्रिय शरीरधारी को कभी केवलज्ञान हुआ भी है ? अनन्तकाल में भी ऐसी कोई घटना नहीं हुई । एक भी दृष्टान्त नहीं है । वैक्रिय देहधारी देव—नारक जीवों में से किसी एक को भी कभी भी केवलज्ञान हुआ ही नहीं है । यदि केवलज्ञान का आहार के होने न होने के साथ ही कुछ संबंध होता हो... आजीवन पर्यन्त सर्वथा रोटी—चावल का आहार न करनेवाले देव नारकी को पहले केवलज्ञान होता, या वे केवली बनकर आजीवन पर्यन्त अनाहारी रह जाते । लेकिन वैसा तो है ही नहीं, “न भूतो न भविष्यति” जैसी बात है । इसी तरह नग्नता को ही केवलज्ञान की प्राप्ति में अनिवार्य प्रधान हेतु माननेवालों को यह भी सोचना चाहिए कि पशु—पक्षी आजीवन पर्यन्त नग्न—दिगंबर ही रहते हैं । क्या कभी किसी पशु—पक्षी को केवलज्ञान हुआ है ? या क्या कभी किसी देव—नारकी को केवलज्ञान हुआ है ? अनन्तकाल में भी नहीं ।

इसी तरह आहारक लेब्धिधारी साधु महात्मा यदि आहारक वर्णना के पुद्गल परमाणुओं को ग्रहण करके आहारक शरीर बनाते हैं । बनाकर महाविदेह क्षेत्र में तीर्थंकर भगवान के पास जाकर पुनः लौटते हैं । और पुनः उस आहारक शरीर को छोड़कर औदारिक

शरीर में लौट आते हैं। यह अन्तर्मुहूर्त का खेल है। यह कार्य भी वैक्रिय देहधारी कदापि कर ही नहीं सकते हैं। अतः देव नारकी के लिए आहारक शरीर बनाने का कोई सवाल ही खड़ा नहीं होता है।

अब रही बात औदारिक शरीर की। विशिष्ट प्रकार की औदारिक वर्गणा के पुद्गल परमाणुओं को ग्रहण करके जिस शरीर की रचना की जाती है उसे औदारिक शरीर कहते हैं। मनुष्य और तिर्य्यच पशु पक्षी की गति—जाती के समस्त जीव सभी मनुष्य तथा सभी पशु—पक्षी इस प्रकार के औदारिक शरीर की रचना करते हैं। ऐसा शरीर अन्न—पानी के आधार पर टिकता है। हमारे माता—पिता वे स्वयं जो औदारिक देहधारी हैं, उन्होंने जिस प्रकार का आहार किया... अन्न—पानी का भक्षण किया, और उसके आधार पर... जैसा रज—वीर्य बना... उस रज—वीर्य के संयोग की स्थिति में हमारी आत्मा ने कर्मसंयोगवशात् उस माता के गर्भ में आकर जन्म ग्रहण किया। अतः हमारा यह शरीर भी उदार पुद्गलों से बना हुआ औदारिक शरीर ही है। अतः इस शरीर का आधार अन्न—पानी के आहार ग्रहण पर रहता है। अतः आहार के बल पर ही टिकता है। आखिर केवली हो या तीर्थंकर हो उनका सबका शरीर भी औदारिक ही होता है। और याद रखिए, औदारिक देहधारी ही केवलज्ञान पाते हैं, और वे ही मोक्ष में जाते हैं। अन्य वैक्रिय देहधारी कोई न तो केवलज्ञान पा सका है और न ही मोक्ष में जा सकता है।

केवली या तीर्थंकर ने भी इस मनुष्य गति में आकर अपने माता—पिता से गर्भज जन्म ही लिया है। अतः उनका शरीर भी औदारिक ही है। उन्होंने अपने गृहस्थाश्रम में रोटी, चावल, दाल, शाक, सब्जी, फल, मिष्ठानादि आहार का ही भोजन किया है। अरे ! उन दिनों गृहस्थाश्रम में भी तीर्थंकर मति, श्रुत और अवधि इन तीनों ज्ञानों से परिपूर्ण थे। ज्ञान पूरा था। जो भी तीर्थंकर जितने काल तक अपने गृहस्थाश्रम में उतने वर्षों तक वे ज्ञानी होने के बावजूद भी आहार तो किया ही है। ८३ लाख पूर्व तक भगवान ऋषभदेव अपने घर में रहे, शादी हुई, १०० संतान भी हुए। पौत्र—प्रपौत्रादि अनेक हुए। ८३ लाख पूर्व के इतने लम्बे काल तक ज्ञानी होने के कारण क्या उन्होंने आहार नहीं किया ? अरे ! अवश्य ही किया। नहीं तो इतने लाखों करोड़ों—अरबों वर्ष तक कैसे जीवित रहे ? यदि आहार न स्वीकारें तो क्या वे अनाहारी थे ? या अनशन था ? या क्या वे वैक्रिय देहधारी थे कि जिसके कारण आहार की उनको आवश्यकता ही नहीं थी ?

अरे ! इससे भी आगे सोचिए... शास्त्र तो यहाँ तक कहते हैं कि... गर्भ के ९।। महीने में ही भगवान ३ ज्ञान के मालिक थे, और जन्म के बाद भगवान ने अपनी माता का

स्तनपान किया कि नहीं ? इन्द्र के आने के समय जब उनके हाथ में ईक्षु थी तब बालस्वरूप भगवान ऋषभदेव ने ईक्षु लेने हेतु हाथ लम्बा किया और इन्द्र ने दिया । इसके आधार पर ईक्ष्वाकु वंश नामकरण हुआ । तो क्या आहार या स्तनपान से ३ ज्ञान को धक्का लगा ? क्या ज्ञान चला गया ? जी नहीं ।

अब दीक्षा लेने के समय अनिवार्य रूप से सभी तीर्थंकर भगवन्तों को ४ था मनःपर्यव ज्ञान होता है । अब चतुर्ज्ञानी हो गए हैं परमात्मा । मनोगत भावों को भी जानते हैं । जिनागम शास्त्र में स्पष्ट लिखते हैं कि... दीक्षा के समय तीर्थंकर भगवान जो तप करते हैं, २ उपवास, या ३ उपवास या और भी कम—ज्यादा उपवास सभी करते हैं । तथा उसके पश्चात् उनके पारणे भी हुए हैं । गृहस्थ श्रावकों ने अन्न—पानी—आहार की भिक्षा उन्हें दी है । पारणे के प्रसंग पर पंच दिव्य प्रगट हुए हैं । छद्मावस्था में तीर्थंकर स्वयं भिक्षार्थ गए हैं और सर्वज्ञावस्था में तीर्थंकर या केवली अपने शिष्यों के द्वारा लाई हुई भिक्षा ग्रहण करते हैं । सभी तीर्थंकरों के चरित्रों में पारणे करानेवाले श्रावकों के नामों का भी निर्देश है । वह स्पष्ट मिलता है । तथा किस वस्तु से उन्होंने पारणा कराया यह भी नामनिर्देश के साथ मिलता है । उदाहरणार्थ भ० महावीर स्वामी को परमान्न (खीर) से पारणा कराने के कई बार के प्रसंग लिखे गए हैं । जीरण शेठ जो प्रभु को आहार—पानी की भिक्षा वहोराने की भावना से विनंति करके... अपनी गली आदि सजाकर प्रभु के आगमन की प्रतीक्षा में भावना से चिन्तन करते घर के बाहरी ओटे पर बैठे हैं । और प्रभु पधारते नहीं हैं । परन्तु जीरण शेठ के विशुद्ध दक्ष के ऊँचे अध्यवसाय से कितना लाभ हुआ यह दर्शाया है । इस तरह अनेक तीर्थंकर भगवन्तों की भिक्षादि का वर्णन शास्त्रों में स्पष्ट मिलता है ।

सर्वज्ञ बने हुए परमात्मा अपने शिष्यों के द्वारा लाई हुई भिक्षा ग्रहण करते हैं ऐसा वर्णन भी स्पष्ट रूप से उनके चरित्रों में मिलता है ।

२४ तीर्थंकर भगवन्तों के जीव में सभी का छद्मस्थावस्था का कालमान लिखा है । तथा उनके केवली पर्याय का कितना काल था वह भी लिखा है । इस तरह केवली पर्याय के काल में कितने वर्ष बिताए यह भी स्पष्ट निर्देश मिलता है । जो यहाँ तालिका के कोष्ठक में लिखा है । भ० महावीर स्वामी का कुल आयुष्य ७२ वर्ष का था । ३० वर्ष गृहस्थावस्था में बिताए । ४२ वर्ष दीक्षा पर्याय के रहे । इसमें १२ वर्ष प्रभु छद्मस्थावस्था में अर्थात् असर्वज्ञ के रूप में विचरे । और ३० वर्ष केवली पर्याय के रूप में विचरे । भगवान पार्श्वनाथ १०० वर्ष के कुल आयुष्यवाले थे । ३० वर्ष की उम्र में दीक्षा ली । सिर्फ ८४ दिन ही छद्मस्थ रहे और फिर शेष ७० वर्ष तक का आयुष्य सर्वज्ञावस्था में बिताया । २२ वे

तीर्थकर भगवान श्री अरिष्टनेमि का कुल आयुष्य १००० वर्ष का था और ३०० वर्ष कुमारवस्था में घर में बिता कर दीक्षा ग्रहण की। और सिर्फ ५४ दिन में तो केवलज्ञान भी हो गया। इस तरह ७०० वर्ष तक केवली भगवान के रूप में इस अवनीतल को पावन करते हुए विचरे हैं। भगवान आदिनाथ का सर्वज्ञावस्था का काल... १ लाख पूर्व में १००० वर्ष न्यून इतना लम्बा रहा है। इस तरह चौबीस ही तीर्थकर भगवन्तों का सर्वज्ञावस्था का काल कई वर्षों का लम्बा—सुदीर्घ दर्शाया गया है। पान नं. १३१८ पर दी गई तालिका से स्पष्ट होगा।

१ वर्ष के ३६५ दिन के हिसाब से उन तीर्थकर भगवन्तों के सर्वज्ञावस्था रूप केवली पर्याय के वर्षों के दिनों का हिसाब लगाइए। ४० महावीर स्वामी के ३० वर्षों के कुल दिन १०९५० दिन हुए। ४० श्री पार्श्वनाथ के... ७० वर्ष के कुल दिन २५४६६ दिन (८४ दिन छद्मावस्था के कम) इतने दिन तक वे इस अवनिताल पर केवली रूप में विचरे। तथा भगवान श्री नेमिनाथ अपने ७०० वर्ष में ५४ दिन कम इनके दिन होंगे २५५४४६ दिन तक केवली पर्याय में विचरे हैं। इस तरह चौबीसों तीर्थकर भगवन्तों के आयुष्य में से गृहस्थाश्रम तथा छद्मस्थावस्था को मिलाकर निकालने से केवली पर्याय के वर्ष आएंगे। उनको ३६५ दिनों के हिसाब से गुणाकार करने पर जो दिन आएंगे वे उनके... केवली पर्याय के दिन आएंगे। इतने लम्बे दिनों तक वे इसी औदारिक देह में रहकर देशना देते रहे हैं। विचरण इस अवनिताल पर करते रहे हैं। तो क्या इतने हजारों—लाखों—करोड़ों दिनों तक वे सदा उपवासी ही रहे? आहार—पानी क्या बिल्कुल ही ग्रहण नहीं किया? तो क्या इस शरीर को ही औदारिक से बढ़कर वैक्रिय कर दिया या क्या किया? ऐसा यदि कर सकते थे या हो सकता था तो पहले कभी क्यों नहीं किया? दीक्षा लेते ही कर देते तो... कभी भी आहार करने की नौबत ही नहीं आती। क्या वे छद्मस्थ काल में नहीं कर सकते हैं? और केवली पर्याय के काल में ही ऐसा कर सकते हैं? ऐसा क्यों? या क्या केवली बनने के बाद ही कोई ऐसी विशिष्ट कक्षा की शक्ति का संचार होता है? या क्या बात है?

दूसरी तरफ शास्त्रों में कहीं भी केवली बनने के बाद से निर्वाण पाने तक के दीर्घ काल में कभी किसी भी प्रकार का तप किया हो ऐसा भी कोई वर्णन नहीं मिलता है। क्या मासक्षमण किये? कितने किये? और क्या क्या तप किये? कितने उपवास किये? आदि का कोई वर्णन नहीं मिलता है। लेकिन निर्वाण के समय किस—किस तीर्थकर भगवान ने कितने उपवास किये यह उल्लेख उनके चरित्रों में मिलता है। ४० महावीर

स्वामी छट्ट तप = २ उपवास करके निर्वाण पाए । मोक्ष में गए । इसी तरह ४० पार्श्वनाथ प्रभु १ मासक्षमण का तप = ३० उपवास करके निर्वाण पद पाए । मोक्ष में गए । इस तरह सभी तीर्थंकर भगवंतों के निर्वाण तप का वर्णन मिलता है । अधिकांश तीर्थंकरों ने निर्वाण तप अर्थात् मोक्ष प्राप्ति के समय १ महीने के उपवास—मासक्षमण का तप करके निर्वाण पद पाया है । सबसे कम तप अन्तिम तीर्थंकर भगवान श्री महावीर स्वामी भगवान ने निर्वाण के समय किया है— वह है सिर्फ २ उपवास ।

लेकिन केवलज्ञान की प्राप्ति के काल से लेकर इतने दीर्घ काल में कहाँ किसने कितना तप किया ? उसकी कोई विशेष बात नहीं मिलती है । इससे यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने तप नहीं किया । आहार ग्रहण करते रहे । और यदि मान भी लो कि तप किया हो तो उस तप का प्रमाण कितना था ? शायद १००, २००, ५०० उपवास एक साथ किये होंगे ? लेकिन बाद में पारणा भी किया तो होगा ? या मासक्षमण किये हो तो एक के बाद दूसरे मासक्षमण के अन्तराल में कितना अन्तराल काल था ? कितने दिनों बाद पुनः दूसरा—तीसरा मासक्षमण किया ? यदि इतने दिनों के बाद दूसरा—तीसरा मासक्षमण किया तो बीच के दिनों में आहार—पानी—भिक्षा अवश्य ग्रहण की होगी ।

केवली पर्याय में तप करने की आवश्यकता क्यों नहीं रहती ? इसके उत्तर में स्पष्ट कहते हैं कि—

राग—द्वेषौ च न स्यातां, तपसा किं प्रयोजनम् ।

राग—द्वेषौ यदि स्यातां, तपसा किं प्रयोजनम् ?

यदि राग—द्वेष सत्ता में है ही नहीं तो फिर तप करने का प्रयोजन क्या ? और राग—द्वेष की तीव्रता प्रगट हो, प्रत्यक्ष में वर्तमान काल में तीव्र रूप से किये जाते हो, तो ऐसे समय में भी तप क्या काम आएगा ? निरर्थक जाएगा । ऊपर से कर्म बंध होगा, और हो सकता है कोई नियाणा करके निकाचित कर्म उपार्जन करें ।

केवली ने तो चारों घाती कर्मों का क्षय कर दिया है । अतः मोहनीयादि के सर्वथा क्षय हो जाने के कारण राग—द्वेष—कषायादि जब अंश मात्र ही नहीं है तो फिर निरर्थक तप करने से क्या फायदा ? किस प्रयोजन से करना है ? शायद आप कहेंगे । अघाती कर्मों का क्षय करने के लिए । तो वह भी बात नहीं रहती । क्योंकि चारों अघाती कर्म अभी इतने लम्बे वर्षों तक जीवन जीने में सहयोगी—उपयोगी हैं । आयुष्य कर्म तो अभी जीने के लिए चाहिए ही । नाम कर्म की शुभ पुण्य प्रकृतियाँ अच्छी सहयोगी हैं । तीर्थंकर

नामकर्म की प्रकृष्ट पुण्यप्रकृति का उदय तो उपयोगी होने से चाहिए। गोत्रकर्म तो केवली को ऊँचे गोत्र (उच्च कुल) में रखकर बैठा है। वेदनीय कर्म शाता का सुख सहयोगी बनकर दे रहा है। अतः इनकी किसी की बड़ी समस्या ही नहीं है। अतः इन अघाती कर्मों का क्षय करने के लिए आज इतनी बड़ी तपश्चर्या करनी पड़े ऐसा आवश्यक नहीं लगता है। शायद केवली भगवान् के आयुष्य कर्म के दलिकों से यदि अन्य ३ अघाती कर्मों के दलिकों की मात्रा यदि प्रमाण में काफी ज्यादा हो तो अन्त में समानता लाने के लिए वे महापुरुष समुद्घात कर लेंगे। लेकिन ऐसी समुद्घात की क्रिया निर्वाण के समय अन्त में होगी। और इस क्रियाविशेष में समय भी कितना लगता है? एक आँख की पलक खोलकर बन्द करने में जो असंख्य समय बीत जाते हैं उसमें से मात्र ८ समयों के न्यूनतम काल में यह समुद्घात हो जाता है। परन्तु यहाँ तो बात है... हजारों—लाखों दिनों की। केवली पर्याय के इतने लंबे वर्षों की बात है। ५० आदिनाथ को १००० वर्ष कम ऐसे १ लाख पूर्व का लम्बा आयुष्य केवली के रूप में बिताना है। देशना भी देनी है, विहारादि सब करना है। अतः इस औदारिक शरीर के लिए आहार की अनिवार्यता रहेगी ही। और जो केवली पूर्व क्रोड वर्ष के आयुष्यवाले हो और उसमें भी सिर्फ ८ वर्ष की बाल्यावस्था में जिन्होंने दीक्षा लेकर नौ वर्ष की उम्र में केवलज्ञान पा लिया हो ऐसे केवली क्या पूर्वक्रोड वर्ष का पूरा आयुष्य बिना आहार लिये ही बिताएंगे? जबकी औदारिक ही देह है।

औदारिक देहधारी को ही नियम से केवलज्ञान होता है अन्यथा किसी भी अन्य प्रकार के देहधारी को तो केवल हो ही नहीं सकता है। और एक मात्र औदारिक देहधारी ही आहार ग्रहण करते हैं और उसमें भी दिगंबर मतवादी आहार का केवली के लिए निषेध कर देते हैं तो यह मनघडंत बात कैसे युक्तियुक्त लगेगी? आखिर किस कारण से वे निषेध करते हैं? क्या किसी ऐसे भारी कर्म का नया उदय ही केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद हो जाता है कि जिसके उदय के कारण केवली आहार ग्रहण ही न करें। ऐसा तो एक मात्र अन्तराय कर्म है जो विघ्न—अन्तराय डाले बीच में और आहार उपलब्ध ही न होने दे। जैसा कि प्रथम तीर्थपति आदिनाथ भगवान् के जीवन में हुआ था। उन्होंने दीक्षा ली और ऐसा अन्तराय कर्म उदय में आया कि बरोबर ४०० दिन (१३ महीने + ३५ दिन) तक आहार—पानी गोचरी (भिक्षा) में उपलब्ध ही नहीं हुआ। मिला ही नहीं। लेकिन एक दिन उस कर्म का आवरण हटा और श्रेयांस कुमार के करकमल से प्रभु ने इक्षुरस ग्रहण करके पारणा किया—आहार ग्रहण करके उदरपूर्ती की। क्या दिगंबर बंधु किसी ऐसे नए कर्म का उदय मानेंगे? क्या वे मानने के लिए तैयार हैं? और यदि ऐसा कर्म मानेंगे तो उस

कर्म की भी अपनी बंधस्थिति तो निश्चित ही माननी पड़ेगी । फिर उस कर्मावरण के क्षय हो जाने के पश्चात् पुनः आहार—पानी ग्रहण करने की प्रक्रिया उन्हें स्वीकार करनी ही पड़ेगी । और यदि नहीं तो उस कर्म को अत्यन्त सुदीर्घ स्थितिवाला मानना पड़ेगा जिसकी आयुष्य की समाप्ति तक समाप्ति ही न हो । ते फिर आयुष्य के समाप्त हो जाने के पश्चात् भी उस कर्म की स्थिति और सत्ता माननी पड़ेगी । फिर उसको भुगतने के लिए क्या पुनः जन्म लेना ? क्योंकि कर्म शेष रहेगा तो दुबारा जन्म लेना ही पड़ेगा । और ऐसा मानेंगे तो केवली को तद्भव मोक्षगामी मानने के बजाय पुनर्जन्मी मानना पड़ेगा । यह तो और बड़े सिद्धान्त का घात मानना पड़ेगा । इस तरह दिगंबर दोनों तरफ से फस जाते हैं ।

दूसरी तरफ यदि ऐसे अन्तराय कर्म को मानकर दिगंबर केवली को आहार नहीं मानते हैं तो क्या ऐसे अन्तराय कर्म के उदय में, और सत्ता में रहने पर केवलज्ञान का होना वे मानने के लिए तैयार हैं ? क्या अन्तराय कर्म को घाती कर्मों की गणना में नहीं मानते हैं ? यदि नहीं तो फिर क्या अघाती में गिनेंगे ? यह तो शास्त्रों में स्पष्ट ही है कि ... आत्मा के गुण का घातक होने के कारण घाती कर्म ही है । और चारों घाती कर्मों का संपूर्ण क्षय होने से ही केवलज्ञान की प्राप्ति होती है । न कि एक मात्र ज्ञानावरणीय कर्म के ही क्षय से । मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थ) में भी १० वे अध्याय में “मोहक्षयाद्...” सूत्र से चारों घाती कर्मों के सर्वथा संपूर्ण क्षय होने से केवलज्ञान की प्राप्ति होती है । ऐसा स्पष्ट कहा है । फिर कहाँ इस बात का सवाल ही खड़ा होता है ? दिगंबर भी यही सिद्धान्त मानते हैं । फिर क्यों निरर्थक विवाद खड़ा करते हैं ? “इतो व्याघ्रस्ततो तटी” इधर बाघ और उधर नदी जैसी स्थिति में फसनेवाले दिगंबर मतवादी दोनों तरफ से फसते हैं । अतः मेरा कहना है कि क्या दिगंबर बंधु केवली आहार करे इस कारण नहीं मानते हैं कि ... यदि केवली आहार करेंगे तो क्या केवलज्ञान चला जाएगा ? अरे ! क्या केवलज्ञान को वापिस चला जानेवाला—प्रतिपाती मानते हैं ? अरे ? यह तो सबड़े बड़ी सिद्धान्त को कुचलने की भूल होगी । अरे ... रे ! ... केवलज्ञान जैसे महान गुण को आहार से चले जानेवाला मानना ... कितनी बड़ी भारी भूल होगी ? दूसरे मति आदि ज्ञान की तरह केवलज्ञान को भी प्रतिपाती—पुनः चला जानेवाला शास्त्रों ने बताया ही नहीं है । यह तो शास्त्रत सिद्धान्त है कि ... केवलज्ञान एक बार होने के बाद अनन्तकाल तक आत्मा के साथ रहता ही है । कभी भी वापिस चला नहीं जाता । सिद्ध बन जाती है आत्मा, तब सिद्धावस्था में भी सदाकाल सर्वज्ञ ही रहती है । कभी भी पुनः असर्वज्ञ बन ही नहीं सकती है । अतः यह बुद्धि का निरर्थक व्यायाम सिद्धान्त घातक सिद्ध होगा इसलिए दिगंबर बंधुओं को इस

महापाप से बचने के लिए यह हठाग्रह छोड़ना ही चाहिए और केवली आहार भुक्ति तथा स्त्री मुक्ति अनिवार्यरूप से माननी ही चाहिए ।

केवली समुद्धात की प्रक्रिया—

चेदायुषः स्थितिर्न्यूना, सकाशाद्देहकर्मणः ।

तदा तत्तुल्यतां कर्तुं, समुद्धातं करोत्यसौ ॥ ८९ ॥

दंडत्वं च कपाटत्वं मंथानत्वं च पूरणम् ।

कुस्ते सर्वलोकस्य, चतुर्भिः समथैरसौ ॥ ९० ॥

एवमात्मप्रदेशानां प्रसारणविधानतः ।

कर्मलेशान् समीकृत्योत्क्रमात्तस्मान्निवर्तते ॥ ९१ ॥

समुद्धातस्य तस्याद्ये, चाष्टमे समये मुनिः ।

औदारिकांगयोगः स्याद् द्विषद्सप्तमकेषु तु ॥ ९२ ॥

मिश्रौदारिकयोगी च (स्यात्) , तृतीयाद्येषु तु त्रिषु ।

समयेष्वेककर्मांगधरोऽनाहारकश्च सः ॥ ९३ ॥

यः षण्मासाधिकायुष्को, लभते केवलोद्भूतम् ।

करोत्यसौ समुद्धातमन्ये कुर्वन्ति वा न वा ॥ ८४ ॥

गुणस्थान क्रमारोह ग्रन्थकार महर्षी समुद्धात की प्रक्रिया का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि . . . यथावस्थित अर्थात् स्वाभाविक रूप से देह में अवस्थित रहे हुए आत्मप्रदेशों को “सम्” अर्थात् “समन्तात्” = सब तरफ से (चारों बाजु से) “उद्धातन” अवस्थित स्वभाव से अन्य स्वभाव में परिणमन करना अर्थात् आत्मप्रदेश जिस व्यवस्था में सुव्यवस्थित थे उस व्यवस्था को बदलकर दूसरे तरीके से कुछ काल के लिए व्यवस्थित करने की क्रिया को “समुद्धात” कहते हैं । ऐसे समुद्धात ७ प्रकार के होते हैं—

मणुआणं सत्त समुद्धाया—

वेयण-कसाय-मरणे, वेउळ्वि तेय एय आहारे ।

केवलियं समुद्धाया, सत्त इमे हुंति सन्नीणं ॥

“वेदना—कषाय-मरण—वैक्रिय—तैजसाहारक—कैवलिकाः”

मनुष्यों के ७ समुद्धात होते हैं— १) वेदना समुद्धात, २) कषाय समुद्धात, ३) मरण समुद्धात, ४) वैक्रिय समुद्धात, ५) तैजस समुद्धात, ६) आहारक समुद्धात और

७) केवली समुद्धात । इस तरह सात प्रकार के समुद्धात दर्शाए हैं शास्त्रकार भगवंतो ने । अवसरप्राप्त वर्णन यहाँ पर केवली समुद्धात का है । आखिर केवलज्ञानी भगवान् ऐसा समुद्धात क्यों करते हैं ? इसके उत्तर में कहते हैं कि... वेदन करने योग्य नाम, गोत्र और वेदनीय कर्म की स्थिति (अवधि) से यदि आयुष्य कर्म की स्थिति (अवधि) अल्प—कम हो तो उन तीनों कर्मों की स्थिति आयुष्य कर्म के समानान्तर अर्थात् समान करने के लिए समुद्धात करना जरूरी है । इस प्रक्रिया को समुद्धात कहते हैं । केवलज्ञान हो जाने के बाद निश्चित ही उसी भव में मोक्ष प्राप्त होता ही है । अब मोक्ष में जाने के लिए सभी कर्मों का जडमूल से सर्वथा क्षय होना अत्यन्त आवश्यक है । कोई भी कर्म शेष रह जाएगा तो मोक्ष की प्राप्ति कैसे होगी ? ४ घाती कर्म तो केवलज्ञान प्राप्त करने के पहले ही क्षय कर दिये हैं । अब रही बात शेष ४ अघाती कर्मों की । इन ४ का सर्वथा जडमूल से क्षय होगा । तभी सदा के लिए मुक्ति होगी । अन्यथा कर्म शेष रह जाने पर पुनः जन्म धारण करना पड़ेगा । ४ अघाती में आयुष्य कर्म जीवन जीने की काल अवधि का सूचक मात्र है । अतः जब तक आयुष्य कर्म उदय में है वहाँ तक हम जीते हैं... और जैसे ही इसकी समाप्ति हो जाय, उदय समाप्त हो जाय कि तुरंत ही मृत्यु हो जाएगी । अब आयुष्य तो समाप्त हो जाय परन्तु नाम—गोत्र—वेदनीय कर्म की स्थिति काफी ज्यादा होगी तो क्या होगा ? इन कर्मों के विपाकों को भुगतने के लिए पुनः जन्म लेना पड़ेगा । उसी भव में अनिवार्य रूप से मोक्ष में जाना ही जाना है । इसलिए एक भी कर्म को अवशिष्ट रखकर तो काम चलेगा ही नहीं । ऐसे में यदि आयुष्य कर्म से अन्य ३ अघाती नामादि कर्मों की स्थिति ज्यादा हो तो क्या करना ? मानों कि आयुष्य कर्म अब सिर्फ ६ महीना ही अवशिष्ट है और नाम—गोत्र—वेदनीय कर्म आदि ४—६ वर्ष के काल की स्थितिवाले अवशिष्ट हो तो क्या करना ? बस, ऐसी स्थिति में चारों कर्मों की स्थिति समान करने की प्रक्रिया का नाम “समुद्धात” है । इस प्रक्रिया से नाम—गोत्र—वेदनीय इन तीनों कर्मों की ४—६ वर्षों की स्थिति जो आयुष्य से अधिक है उसे काट कर कम करके आयुष्य कर्म के जितनी अर्थात् ६ महीने के माप की करनी ताकि आयुष्य के क्षय के साथ साथ शेष तीनों अघाती कर्मों का भी क्षय हो जाय । और अंश मात्र कर्म भी अवशिष्ट न रहे । तब आत्मा मुक्त होती है । इस प्रक्रिया को यहाँ समुद्धात की प्रक्रिया कही है ।

समुद्धात करने की प्रक्रिया और समय—

अब समुद्धात करने की प्रक्रिया कैसे की जाती है ? केवली क्या करते हैं ? कैसे करते हैं ? इसमें कितना समय लगता है इत्यादि ९० वे श्लोक में तथा आगे बताते हैं ।

शेष ३ अघाती कर्मों की स्थिति आयुष्य कर्म के समकक्ष करने के लिए... केवली भगवान अपने आत्मप्रदेशों को ऊर्ध्वलोकान्त से अधोलोकान्त तक प्रसारित करते हैं। फैलाते हैं। देहस्थित आत्मप्रदेशों को देह से बाहर निकालकर समस्त लोकाकाश परिमित स्थिति को बनाते हैं। अर्थात् समस्त लोकाकाश के प्रदेशों में आत्मप्रदेशों को व्यवस्थित रूप से फैला देते हैं। अलोक में गति सहायक धर्मास्तिकाय का अस्तित्व ही नहीं होने से अलोक में आत्मप्रदेशों का गमन हो ही नहीं सकता है। अतः अलोक का सवाल ही खड़ा नहीं होता है। इसलिए समस्त लोक क्षेत्र में केवली अपनी आत्मा के असंख्य प्रदेशों को अपने शरीर से बाहर निकालकर फैलाते हैं।

इस प्रसारण की क्रिया में १ समय मात्र काल लगता है। इस प्रसारण की क्रिया में आत्मप्रदेशों को दीर्घ श्रेणीवाला—दंडाकार रूप में स्थित करते हैं। फिर दूसरे समय में पूर्व—पश्चिम की दिशा में आत्मप्रदेशों को प्रसारित करते हुए कपाट (किवाड) समान आकार की रचना करते हैं।

अब तीसरे समय में उस कपाट (किवाड) आकार रूप में विस्तारे = फैलाए हुए उन आत्म प्रदेशों को फिर दक्षिण से उत्तर दिशा तक प्रसारण करके मन्थानाकार के रूप में रचना करते हैं। और आगे चौथे समय में... उस बनाए हुए मन्थान के अन्तरो को भरने की क्रिया करते हैं। इस प्रक्रिया में समस्त १४ राजलोक प्रमाण लोक क्षेत्र को संपूर्ण रूप से भर देते हैं अर्थात् संपूर्ण १४ राजलोक में सर्वत्र केवली के आत्मप्रदेश व्याप्त हो जाते हैं। अब कोई कोना भी खाली नहीं बच पाता। इस तरह समुद्घात करने की इस प्रक्रिया

में केवली भगवान अपने आत्मप्रदेशों से सिर्फ ४ समय मात्र काल में संपूर्ण लोकाकाश व्यापी बन जाते हैं। समस्त १४ राजलोक में व्याप्त बन जाते हैं। जिसमें १४ राजलोक का एक अंश भाग भी अवशिष्ट नहीं बच पाता, अर्थात् समस्त लोकाकाशों का स्पर्श कर लेते हैं। इस तरह संपूर्ण लोक व्याप्त बन जाते हैं।

इस चित्र को देखिए.... एक बार आँख खोलकर बंध करते हैं इतनी एक पलक मात्र क्रिया में असंख्य समय बीत जाते हैं। इसमें सिर्फ ४ समय का ही काल लगता है आत्मा को समुद्धात की क्रिया में समस्त लोक व्यापी बनने में। बस, अब इन ४ समयों की इस प्रक्रिया के बाद पुनः पूर्ववत् स्थिति में आने के लिए केवली उल्टे क्रम से सीधे की तरफ आते हैं।

शायद आपके मन में ऐसी शंका जगेगी कि... क्या यह कोई चमत्कार दिखाया? या अपनी शक्ति का प्रदर्शन किया? या यह क्या किया? क्यों किया? क्या इससे कर्मनिर्जरा होती है?.... इसके उत्तर में स्पष्ट है कि मात्र ४ समय लोकसंस्थान पूरण की इस प्रक्रिया का हमारे जैसे सभी सामान्य जीवों को क्या ख्याल आएगा? समुद्धात करने की केवली की इस क्रिया का जगत् में किसी भी जीव को ख्याल आ ही नहीं सकता है। एक मात्र अन्य केवली ही जान सकते हैं। अतः यह कोई चमत्कार की क्रिया ही नहीं है। जहाँ हमें एक पलक में होनेवाले असंख्य समयों का ख्याल ही नहीं आता है वहाँ सिर्फ ४ समय का क्या ख्याल आएगा? सवाल ही नहीं है। गुणस्थान क्रमारोहकार लिखते हैं कि... “एवमात्मप्रदेशानां प्रसारणविधानतः कर्मलेशान् समीकृत्य” इस तरह केवली भगवान अपने आत्मप्रदेशों को विस्तार, प्रसारण करने के इस प्रयोग से कर्मलेशों को समान करते हैं। अर्थात् जिन नाम, गोत्र, वेदनीय अधाती कर्मों की स्थिति आयुष्य कर्म से काफी ज्यादा थी उनकी अतिरिक्तता को कम करके आयुष्य के समकक्ष करते हैं। बस, अपना निर्धारित कार्य पूरा हो जाने के पश्चात् जिस क्रम से किया था उसी क्रम से अर्थात् वापिस उल्टे—विपरीत क्रम से पुनः आत्मप्रदेशों को देहस्थित करने की दिशा में लौटते हैं।

पाँचवे समय में अंतर्पूर्ति की क्रिया करके निवर्तते हैं। अर्थात् मंथान के आंतर में प्रसारित आत्मप्रदेशों का संकोचन करके पुनः मन्थानरूप बनाते हैं। मन्थानाकार बनते हैं।

अब छठे समय... मन्थानाकार से भी पुनः निवर्तते हैं। अर्थात् मन्थानरूप प्रसारित आत्मप्रदेशों का संहरण (संकुचन) करके कपाटस्थ बनाते हैं। किवाडाकार (खुल्ले) बनाते हैं।

सातवे समय में (प्रथम चित्र की तरह) कपाटाकार आत्मप्रदेशों का भी संहरण करते हैं। अतः दंडस्थाकार आत्मप्रदेशों को व्यवस्थित करते हैं। उसके पश्चात् आठवें समय में दंडाकार से भी अपने आत्मप्रदेशों का संहरण (आकुंचन) करने की क्रिया करके देहस्थ बनते हैं। आत्मप्रदेशों को देहाकार सुस्थित कर देते हैं। अर्थात् पुनः देहरूप में स्थिर हो जाते हैं। इसी प्रक्रिया को पूर्वधर वाचकमुख्यजी महापुरुष इसी तरह फरमाते हैं।

इस समुद्घात की प्रक्रिया करने के पहले समय और आठवे समय में केवली औदारिक काययोगी होते हैं। २, ६ और ७ वे समय में औदारिक मिश्रकाययोगी होते हैं। तथा ३, ४, और ५ वे इन तीन समयों में एक कार्मण काययोगी और अनाहारक होते हैं।

समुद्घात किसके लिए अनिवार्य है—

षणमास्यायुषि शेषे उत्पन्नं येषां केवलज्ञानम्।

ते नियमासमुद्घातिनः शेषाः समुद्घाते भक्तव्याः ॥ १ ॥

(छम्मासाऊ सेसे, उण्णं जेसि केवलं नाणं।

ते नियमा समुग्घाया, सेसा समुग्घाय भइयव्वा ॥ १ ॥)

गुणस्थान क्रमारोह के १४ वे श्लोक में जो बात कही है वही बात सिद्धान्तकार ने भी समान शब्दों में स्पष्ट की है। वे कहते हैं ऐसा समुद्घात सबके लिए करना अनिवार्य नहीं है। सभी करते ही हैं या सबको करना ही पड़ता है ऐसा नियम नहीं है। जिन केवली का ६ महीना (या कुछ अधिक) आयुष्य शेष हो, या ६ महीना या कुछ अधिक आयुष्य शेष हो और केवलज्ञान पाए हो ऐसे केवली निश्चय ही समुद्घात की क्रिया करते हैं और दूसरे जो ६ महीने के अन्दर के आयुष्यवाले केवली भगवन्त समुद्घात विकल्प से करते हैं। अर्थात् करे या न भी करे। जिनको ३ शेष अघाती कर्मों की स्थिति आयुष्य के समान न हो, ज्यादा हो उनको समान करने के लिए ही समुद्घात करना पड़ता है। इस तरह यह समुद्घात की प्रक्रिया का वर्णन है।

१३ वे गुणस्थान के केवली की कर्म प्रकृतियाँ—

१३ वे गुणस्थान पर सयोगी केवली, तीर्थकर केवली, सामान्य केवली, मूक केवली, अन्तःकृत् केवली, समुद्घाती केवली, उपसर्ग सिद्ध केवली आदि अनेक प्रकार हैं। इन सबकी अनन्त चतुष्टयी में कहीं कोई अन्तर या भिन्नता नहीं रहती है। अर्थात् संपूर्ण समानता रहती है। सिर्फ तीर्थकर की तीर्थकर नामकर्म की उत्कृष्ट पुण्यप्रकृति का उदय ही विशेष रूप से है। बस, इस पुण्यात्मक विशेषता को बाजु में रखकर सभी केवलियों की विचारणा करे तो सब कुछ समानता ही पाई जाती है। किसी भी प्रकार का कोई भेद नहीं रहता है।

४५ आगम शास्त्रों में . . . “अंतगड दशा” नामक आगम शास्त्र में एक अन्तर्मुहूर्त परिमित ४८ मिनट के सीमित काल में केवलज्ञान पाकर कौन-कौन और कितने मोक्ष में गए? उन महापुरुषों का विशेष वर्णन किया गया है। जो एक अंतर्मुहूर्त = ४८ मिनट के सीमित काल में जो केवलज्ञान पाकर मोक्ष में चले गए उन्हें अन्तःकृत् (अन्तगड) केवली कहते हैं। तीर्थकरों को तीर्थकर केवली तथा तद्व्यतिरिक्तों को सामान्य केवली कहते हैं।

१३ वे गुणस्थान पर बंध, उदय, उदीरणा, सत्ता किन कर्मों की कितनी संख्या में है उनका विवेचन कर्मग्रन्थकार ने किया है— १३ वे गुणस्थान पर ८ कर्मों में से एक मात्र वेदनीय कर्म की १ शाता वेदनीय कर्म प्रकृति का ही बंध होता है। शेष किसी का भी नया बंध नहीं होता है। तथा ४ अघाती कर्मों की ४२ उत्तर प्रकृतियों का उदय होता है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय तथा अन्तराय ये ४ घाती कर्म तो उदय में रहते ही नहीं हैं। सर्वथा क्षय हो चुके हैं। अघाती के ४ कर्मों में से आयुष्य की १, गोत्र की १, वेदनीय की शाता तथा अशाता—२, तथा नामकर्म की ३८ इस तरह = ४२ कर्मप्रकृतियाँ उदय में रहती हैं। तथा सयोगी केवली ३८ नाम की तथा १ वेदनीय कर्म की मिलाकर ३९ कर्मप्रकृतियों की उदीरणा भी करते हैं। इस १३ वे गुणस्थान पर्यन्त केवली के आत्मप्रदेशों पर ४ अघाती कर्मों की कुल मिलाकर ८५ प्रकृतियों की सत्ता पड़ी है। इनमें नाम कर्म की ८० + गोत्र की २, + वेदनीय की २ + आयुष्य की १ = ८५ उत्तर प्रकृतियाँ सत्ता में मौजूद हैं। चिन्ता का विषय नहीं है। पानखर की हवा के एक झोके में सब चली जाएगी। “पंचाशीतिर्जरद्वस्त्रप्रायाः शेषा सयोगिमि ॥ ८२ ॥” पुराने जीर्ण कपड़े

को फाड़ने की तरह सब नष्ट हो जायगी । ४ प्रकार के शुक्ल ध्यान में से तीसरे भेद के शुक्ल ध्यान के ध्यान में विचरते हुए इस अवनितल पर महान उपकार करते हुए केवली भगवान् अब मुक्ति की तरफ आगे बढ़ते हैं ।

सर्वे सन्तु केवलिनः ।

इति प्रार्थना ।

विकास का अन्त, सिद्धत्व की प्राप्ति

शुक्लध्यान के अवान्तर भेदों का ध्यान.....	१३३९
१३ वे गुणस्थान पर सयोगी सर्वज्ञ का ध्यान.....	१३४०
हमारे और सर्वज्ञ के ध्यान में अन्तर.....	१३४१
शैलेशीकरण की प्रक्रिया.....	१३४६
१४ वां अयोगी केवली गुणस्थान का स्वरूप.....	१३५२
१४ वे गुणस्थान पर अयोगी की ध्यान साधना.....	१३५७
निश्चय और व्यवहार से ध्यान का स्वरूप.....	१३५९
मोक्ष का भौगोलिक स्थान.....	१३६४
उर्ध्वगति क्यों और कैसे होती है ?.....	१३७१
अलोक में गमन क्यों नहीं ?	१३७७
अढ़ाई द्वीप-समुद्रों में से कहीं से भी मोक्ष.....	१३८०
सिद्धों की अनन्त कृपा.....	१३८५
१५ प्रकार से मोक्षगमन.....	१३९४
मोक्ष में एक स्थान पर एक साथ अनेक सिद्धात्मा.....	१४२३
क्या सिद्धिशला पर खाली जगह है ?.....	१४२६
१२ अनुयोग द्वारा से सिद्धस्वरूप की विचारणा.....	१४२७
सिद्धों के ३१ गुण.....	१४३८
नौ अनुयोगों से मोक्ष की सिद्धि.....	१४४०
पंचावयव वाक्य द्वारा मोक्ष सिद्धि.....	१४४५
संसार की विपरीततावस्था मोक्ष.....	१४६७
मोक्ष में क्या नहीं होता है ?.....	१४६९
मुक्ति विषयक विविध दर्शनों की मान्यताएं.....	१४७६
नमुत्थुणं सूत्र की संपदा का अर्थ.....	१४७९
पंचसूत्र में सिद्धस्वरूप वर्णन.....	१४८२
विकास यात्रा का अन्त.....	१४८४

विकास का अन्त "सिद्धत्व की प्राप्ति"

प्रस्तुत पुस्तक न तो अवकाश यात्रा की है, या न ही तीर्थयात्रा की है। परन्तु "आध्यात्मिक विकास यात्रा" की है। यह इस प्रकार की आध्यात्मिक विकास यात्रा जो निगोद की प्राथमिक कक्षा से प्रारम्भ हुई है और अब अन्तिम चरण में प्रवेश कर रही है। गुणस्थानों के इन १४ सोपानों रूपी पटरियों पर से गुजरती हुई सीधी मुक्ति के धाम में जाकर रुकती है। पूर्ण होती है। अतः आत्मा की इस विकास यात्रा का प्रथम छोर... यदि निगोदावस्था का है तो अन्तिम छोर मुक्ति का धाम है। ऐसी यह १४ गुणस्थान की लम्बी रस्सी है जिसके ये दो किनारे हैं। बीच की लम्बाई काफी है। इसी यात्रा को करती हुई अनन्त आत्माएँ मुक्ति के धाम में पहुँच कर सिद्ध बन चुकी हैं। बस, यही मार्ग हमारे लिये भी है।

गुणस्थानों के सोपानों का - शाश्वत मार्ग—

याद रखिए, १४ गुणस्थानों के सोपानों का यह मार्ग शाश्वत मार्ग है। अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करने के उपाय रूप में शाश्वत मार्ग है। इसलिए १४ गुणस्थान का यह मार्ग किसी को बनाना नहीं पड़ता है। किसी ने नहीं बनाया। यह तो जो मोक्ष में जाते हैं उनके जाने से बन जाता है। आत्मा का मार्ग है। हम कैसे कहें कि... यह महावीर स्वामी ने बनाया है या पार्श्वनाथ ने बनाया है। जी नहीं। भगवान महावीर के पहले भी अनन्त जीव मोक्ष में जा चुके हैं। इसलिए इन अनन्तों में से किसका नाम सूचित करेंगे? शायद आप कहेंगे कि... आदिनाथ—ऋषभदेव ही सर्वप्रथम मोक्ष में गए होंगे? जी नहीं। ये तो वर्तमान कालचक्र के इस अवसर्पिणी काल के प्रथम तीर्थंकर भगवान हैं अतः इस काल की कालिक अपेक्षा से प्रथम मोक्षगामी मानना या कहना संभव है। लेकिन ऋषभदेव के भी पहले बीती हुई अनन्त अवसर्पिणियों और उत्सर्पिणियों के काल में अनन्त आत्माएँ मोक्ष में जा चुकी हैं। अतः जो भी जब भी मोक्ष में गए हैं वे सभी इन गुणस्थानों के सोपानों पर चढ़ते हुए ही क्रमशः कर्मक्षय करते हुए मोक्ष में गए हैं। अतः यही शाश्वत मार्ग है। इसके व्यतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग ही नहीं है। विकल्प ही नहीं है।

शाश्वतता का सीधा अर्थ है त्रैकालिक स्थिति । तीनों काल में यह मार्ग शाश्वत है । भूतकाल के अनन्त वर्षों में यही मार्ग था । वर्तमान में भी यही मार्ग चालू है । तथा भविष्य के अनन्त काल में जो भी मोक्ष में जाएंगे या जितने भी मोक्ष में जाएंगे वे सभी इसी गुणस्थानों के मार्ग पर से गुजरते हुए ही जाएंगे । दूसरा कोई विकल्प ही नहीं है । इस तरह काल की दृष्टि से यह शाश्वत मार्ग है ।

इसी तरह क्षेत्र की अपेक्षासे भी यही मार्ग शाश्वत है । जैसा कि समस्त लोक का स्वरूप पिछले अध्यायों में आप पढ़ चुके हैं—उसमें भौगोलिक स्वरूप का भी संक्षिप्त वर्णन किया है । उसके आधार पर असंख्य द्वीप—समुद्रों के इस लोक के २ ॥ द्वीप के १५ कर्मभूमियों में से जो भी, जब भी मोक्ष में जाएंगे वे चाहे संख्या में अनन्त हो, फिर भी सर्वत्र यही १४ गुणस्थानों के सोपानों का ही यह मोक्षमार्ग शाश्वत मार्ग है । आज भी वर्तमानकाल में पाँचों महाविदेह क्षेत्रों में जहाँ मोक्षमार्ग सदा चालू है वहाँ भी मोक्ष की प्राप्ति इसी मार्ग के क्रम से होती है । इसलिए किसी तीर्थंकर विशेष ने इसको बनाया यह कहना भी अयुक्त होगा । अपितु तीनों काल में शाश्वत मार्ग है । किसी के बनाने की आवश्यकता ही नहीं है । सर्वज्ञ केवली भगवान ने अपने अनन्तज्ञान से जानकर जगत् को बताया है । याद रखिए, बताने और बनाने में आसमान—जमीन का अन्तर है । बनाने की प्रक्रिया में क्या बनाना है ? कोई जड़ वस्तु हो तो बनाने की बात आती है । अन्यथा तो बनाना क्या है ? यह तो प्रत्येक आत्मा कर्मक्षय करने की इस प्रक्रिया से गुजरती हुई जब मोक्ष में जाती है, पहुँचती है तब वह स्वयं ही वैसी बन जाती है । अतः मार्ग गुणस्थानों का वैसा बन जाता है । इसलिए सर्वज्ञ भगवन्तों ने जगत् के हित के लिए यह शाश्वत मार्ग अपने ज्ञानयोग से जानकर बताया है । अतः ऐसे शाश्वत मार्ग की उपासना करनी ही चाहिए ।

आत्ममार्ग— आखिर यह मार्ग शाश्वत क्यों है ? क्योंकि यह आत्ममार्ग है । आत्मगुणों का मार्ग होने के कारण ही इसे आध्यात्मिक मार्ग कहते हैं । आत्मा पर लगे कर्मों का क्षय करना और गुणों को प्रगट करना यही इस मार्ग का रहस्य है । अब दोनों में से पहले किसका क्रम बैठाना ? क्या पहले कर्मों का क्षय करें ताकि गुण प्रगट हो ? या फिर पहले गुणों का प्रगटीकरण करें जिससे कर्मों का क्षय होगा ? जी नहीं । सिद्धान्त तो यही है कि जैसे—जैसे कर्मों का क्षय होता जाएगा वैसे वैसे आत्मा के गुण प्रगट होते जाएंगे । लेकिन गुणों के आने के बाद कर्मों का क्षय होगा यह संभव ही नहीं है । इसके लिए साधना का मार्ग यही है कि... जिन पूर्वज महापुरुषों के कर्मों का क्षय हो चुका हो

और जिनके आत्मगुण प्रगट हो चुके हो उनको अपनी साधना का केन्द्र बनाकर उन्हें अपने आराध्य देव बनाकर उनकी उपासना करें... उन्हीं के बताए हुए मार्ग पर चलें, उनके बताए हुए मार्ग को ही धर्म मानकर उसी पथ पर चलें, उनके उपदेश—आदेश को ही आज्ञा के रूप में शिरोधार्य करके... आज्ञा के आचरण को ही धर्म मानकर उस पथ पर उनके अनुगामी बनकर चलने से... एक दिन उनके जैसे बना जा सकता है। इसलिए यह आत्मिक मार्ग है। गुणस्थानों के सोपानों के आरोहण के इस मार्ग को आध्यात्मिक मार्ग कहा है। आत्मा का विकास इस मार्ग में आत्मा के विकास की प्रक्रिया के दर्शन प्रत्येक सोपान पर क्रमशः किये जा सकते हैं।

याद रखिए, धर्म का सर्वश्रेष्ठ सर्वोत्तम स्वरूप ही आध्यात्मिक धर्म का स्वरूप है। होली आदि के अवसर पर रंग खेलना आदि धर्म की आड के नीचे पाप करना यह धर्म का निकृष्ट स्वरूप है। जन मानस में जो उत्सवप्रधान धर्म का स्वरूप स्थिर हो चुका है जिससे वे धर्म को उत्सव का पर्याय और उत्सव को धर्म का पर्याय मान बैठे हैं। यह उनकी अज्ञानता का परिचय है। बस, फिर उसमें नाच—गानादि धामधूम चलती ही रहती है। जब सामान्य जन इस विशुद्धात्म स्वरूप को समझकर इसकी श्रेष्ठता—सर्वोपरिता के आस्वाद को चखेंगे तब जाकर वे कहीं आत्म सन्मुख बनेंगे। अन्यथा कोई विकल्प ही नहीं है। जब तक जीव आत्म सन्मुख ही नहीं बनता है वहाँ तक उसके कल्याण के द्वार ही नहीं खुलते हैं। एक कदम भी वह कभी आगे बढ़ नहीं पाता है। अतः गुणों की उपासना को ही आचरणरूप धर्म बनाकर, तथा आत्मशत्रु रूप कर्मों को अच्छी तरह पहचानकर कर्मों का क्षय करना और आत्मगुणों को प्रगट करने का लक्ष्य लेकर साधना करना इसी को धर्म, तथा इसी में धर्म मानकर आत्मा आगे विकास करे तो ही मुक्ति की प्राप्ति कभी सुलभ बनेगी। अन्यथा अनन्त काल में भी नहीं।

अतः जगत् के कितने ही हो, चाहे कोई भी धर्म क्यों न हो लेकिन उस धर्म में आध्यात्मिकता का धर्म तो होना ही चाहिए। आत्मस्वरूप, आत्ममार्ग कर्म को पहचानने तथा क्षय करने की प्रक्रिया, तथा आत्मगुणों के प्रगटीकरण की प्रक्रिया का धर्म तो सभी धर्मों में स्पष्ट होना ही चाहिए। तो ही वह श्रेष्ठ धर्म की गणना में गिना जा सकेगा। गिनने के योग्य बनेगा। अन्यथा जो धर्म आत्मा की, कर्म की, गुणों की आत्मकल्याण या विकास साधने की प्रक्रिया बताते ही नहीं हैं, या उनके धर्मशास्त्रों में निर्देश मात्र भी नहीं हैं, वे धर्म ही कहाने के लायक नहीं हैं। ऐसे धर्म को धर्म कैसे कहें? अरे! आश्चर्य तो इस बात का है कि... आत्मा के अस्तित्व को ही सर्वथा न माननेवाले भी धर्म कहलाते हैं, और वे

भी आत्मा के विकास की, तथा साधना की बातें करते हैं तब उनकी बातें कितनी हास्यास्पद लगती हैं ? कोई कहते हैं ध्यान करो, ध्यान के नाम पर अपनी मान्यता किसी भी तरह थोपने की कोशिश करते हैं । लेकिन आत्मा के अस्तित्व को ही नहीं मानना, तथा कर्म विज्ञान के स्वरूप को भी नहीं मानना और फिर भी ध्यान सिखाकर कहना कि तुम्हारा विकास हो जाएगा । याद रखिए, यदि आत्म विकास होगा तो भी वह आत्मा के धरातल पर ही होगा । कर्मक्षयपूर्वक ही गुणों का प्रगटीकरण होगा । इसे ही आत्मिक विकास कहा जा सकेगा ।

गुणस्थानों की प्रक्रिया का मार्ग क्या जैनों का ही है ?— शायद कोई यह भी सोचेगा कि गुणस्थानों के सोपानों पर आरोहण का यह मार्ग एक मात्र जैनों का ही मार्ग है । जैन धर्म का ही मार्ग है । अतः इसके उत्तर में यही कहना है कि... जी... नहीं । इसमें मात्र जैन धर्म की ही बात है ऐसा कुछ भी नहीं है । यह तो आत्मा का मार्ग है । आत्मा न तो जैन है और न ही हिन्दु—मुस्लिम है । या न ही बौद्ध—ख्रिस्ती है । आत्मा किसी भी धर्म संप्रदाय या धर्म की नहीं होती है । आत्मा संसारी अवस्था में कर्मग्रस्त है चाहे वह किसी भी धर्म की क्यों न हो ? और सर्वथा कर्मरहित होने पर सिद्धावस्था में आत्मा निरंजन, निराकार, अकर्मी, अशरीरी होती है । अतः वहाँ किसी प्रकार के धर्म, पंथ या सम्प्रदाय की कोई बात ही खड़ी नहीं होती । ये सब सम्प्रदाय, पन्थ या गच्छ की बातें तथा व्यवस्था मानव सर्जित हैं और यहाँ संसारी अवस्था में हैं ।

याद रखिए, सर्वज्ञ तीर्थंकर भगवान तो आत्मधर्म बनाते हैं । कर्मक्षय के मार्ग रूप धर्म की स्थापना-व्यवस्था करते हैं । आत्मगुणों की प्राप्ति की प्रक्रिया रूप धर्म की स्थापना की है । उसके अनुरूप आचारधर्म का स्वरूप बैठाया है । लोगों ने अपनी तरफ से विकृति करते करते धर्म को इतना ज्यादा विकृत कर दिया है कि जिससे उसमें कई बातें विकृत हो चुकी हैं । याद रखिए, ... तीर्थंकर सर्वज्ञ भगवान कभी भी संप्रदाय—पन्थ या गच्छ की स्थापना करते ही नहीं हैं । यह तो बाद के काल के रागी—द्वेषियों का काम है, जिन्होंने बाद के काल में अपने—अपने अहंकार भाव के कारण कषायादि भावों की वृत्ति के कारण सम्प्रदाय, गच्छ या पन्थों की स्थापना की है । इनके भेद—प्रभेद निकाले हैं । इसी कारण उन—उन प्रकार के सम्प्रदायों में राग—द्वेष की मात्रा की, प्रवृत्ति की स्पष्ट गंध आती है । इसलिए सुज्ञ साधकों को चाहिए कि... यदि अपनी आत्मा का कल्याण करना हो तो कृपया साम्प्रदायिक—गच्छीय वमल के बंधन में से बाहर निकलकर शुद्धात्म धर्म में जुड़ना चाहिए.. । कर्मक्षय करते हुए राग—द्वेषादि कषायों से बचते हुए आत्मगुणों के सोपानों

पर चढ़ते हुए आत्मा का विकास साधते हुए सिद्ध बनना चाहिए। इस तरह इन १४ ही गुणस्थानों के लिए कहीं जैन धर्म के नामों की संयोजना भी नहीं की गई है। प्रत्येक गुणस्थान आत्मगुणों की अवस्था के सूचक हैं। अतः आत्मधर्म ही एक मात्र उपाय है।

शुक्लध्यान के अवान्तर भेदों का ध्यान—

सब प्रकार के ध्यानों में सर्वोत्तम ध्यान साधना शुक्लध्यान की है। और देखा जाय तो सबसे कठिन... अत्यन्त क्लिष्ट ध्यान साधना शुक्ल ध्यान की ही है। क्षपक श्रेणी का साधक योगी आठवें अपूर्व करण गुणस्थान से शुक्लध्यान की साधना करता हुआ युद्ध की सीमा पर के सैनिक की तरह आगे बढ़ रहा है। बस, अब ८ वे गुणस्थान से आगे के सभी गुणस्थान पर शुक्लध्यान का ही बोलबाला है। इसी की प्राधान्यता है। ८ वे से १२ वे तक के ४ गुणस्थान क्षपक श्रेणी के उनपर शुक्ल ध्यान के प्रथम दो प्रकार के ध्यानों की प्रधान रूप से साधना चलती है। बस, उसके पश्चात् योगी चारों घाती कर्मों का क्षय करके १३ वे गुणस्थान पर केवली—सर्वज्ञ—सर्वदर्शी बन जाता है। अब १३ वे गुणस्थान पर... शुक्लध्यान के तीसरे चरण की ध्यान साधना करने का प्रधान रूप से रहता है। तपादि करें या न भी करें... लेकिन ध्यान अवश्य करेंगे ही। सयोगी केवली भी ध्यान करते हैं। अधिकांश रूप से ध्यान योग में ही काल निर्गमन करते हैं। बस, अब अन्तिम १४ वे गुणस्थान पर शुक्लध्यान का चौथा भेद ध्यान की धारा में रहता है। बस,... फिर तो अन्त ही है। इधर गुणस्थान का अन्त और इधर शुक्लध्यान का अन्त। बस, सब बात का अन्त आ जाता है। फिर तो संसार का भी अन्त, जीवन का भी अन्त और सदा के लिए मुक्ति...। बस, सबका अन्त। ध्यान का भी अन्त। अब सिद्ध बनने के बाद ध्यान करने की आवश्यकता ही नहीं है। और अध्यान—ध्यान बाहर रहने का भी कोई प्रश्न ही नहीं है। अब करने का प्रश्न ही नहीं है। अब सदा काल सहजभाव से स्वाभाविक रूप से ध्यान ही है। इसलिए प्रयत्नपूर्वक करने का कोई प्रश्न ही नहीं है। इस तरह ३ चरण में ४ भेदवाले शुक्लध्यान की साधना होती है। १) छंदस्थावस्था में, २) सर्वज्ञावस्था में... और अन्त में, ३) अयोगी की अवस्था में। या इसे गुणस्थान पर विभाजन करें तो “शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः” “परे केवलिनः”

१३ वे गुणस्थान पर सयोगी सर्वज्ञ का ध्यान—

समुदघातान्निवृत्तोऽसौ, मनवाक्काययोगवान् ।

ध्याये ह्योगनिरोधार्थं, शुक्लध्यानं तृतीयकम् ॥ ९५ ॥

आत्मस्पन्दात्मिका सूक्ष्मा क्रिया यत्रानिवृत्तिका ।

तत्तृतीयं भवेच्छुक्लं सूक्ष्मक्रियानिवृत्तिकम् ॥ ९६ ॥

१३ वे सयोगी केवली गुणस्थान पर समुदघात करने की क्रिया से निवृत्त मन, वचन और काय योग के योगवाले योगी अब योगों का निरोध करने के लिए अर्थात् रोकने के लिए तीसरे भेद का शुक्लध्यान करते हैं। ऐसा योग निरोध क्या है? और कैसे होता है? तथा इसमें शुक्ल ध्यान के तीसरे भेद का ही अनिवार्य रूप से क्या काम है? तीसरे शुक्लध्यान से ही योग निरोध कैसे होता है? तथा तीसरे प्रकार के शुक्लध्यान का क्या स्वरूप है? वह कहते हैं—

सयोगी केवली १३ वे गुणस्थान पर जब योगों का निरोध करना हो तब विशिष्ट कक्षा के तीसरे शुक्लध्यान का आश्रय लेते हैं केवली भगवान्। तीसरे प्रकार के शुक्ल ध्यान का नामकरण सूक्ष्म क्रिया अनिवृत्ति शुक्लध्यान।

जिस प्रकार के ध्यान में आत्मप्रदेशों का स्पंदन अर्थात् फरकना, चलायमान होना है। इस प्रकार की स्पंदन रूप सूक्ष्म क्रिया जो निरंतर चलती रहती है। ऐसी आत्मस्पन्दनात्मक सूक्ष्म क्रिया अनिवृत्तिवाली रहती है। अनिवृत्ति का अर्थ है... अब वह क्रिया सूक्ष्मत्व छोड़कर पुनः कभी भी स्थूल रूप अर्थात् बादर रूप लेनेवाली नहीं है। बस, अब कभी भी सूक्ष्म क्रिया कभी भी स्थूल रूप होनेवाली ही नहीं है। इस सूक्ष्म क्रिया अनिवृत्ति प्रकार का तीसरा शुक्लध्यान कहते हैं।

तीसरे प्रकार के इस शुक्ल ध्यान में सूक्ष्म क्रिया अर्थात् अत्यन्त अल्प क्रिया होती है। और वह भी अप्रतिपाती अर्थात् पतन से सर्वथा रहित होती है। कभी भी कदापि जिसका पतन होना संभव ही नहीं है उसे अप्रतिपाती कहते हैं। अर्थात् पतन रहित। काययोग की क्रिया में अब मात्र श्वासोच्छ्वास लेने—छोड़ने रूप सूक्ष्म क्रिया ही रहती है। ध्यान करनेवाले ध्याता के परिणाम (अध्यवसाय) विशेष का पतन नहीं होता है उस ध्यान को सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती कहते हैं। प्रधान रूप से या तीसरे प्रकार का शुक्लध्यान सर्वज्ञ सयोगी केवली को आयुष्य समाप्ति के अन्तिम अन्तर्मुहूर्त के अवशिष्ट समय में जब योग निरोध करते हैं तब होता है। मनोयोग वचनयोगों का सर्वथा निरोध हो जाय, तब मात्र

क्षासोच्छ्वासरूप सूक्ष्मकाययोग ही शेष रहे तब ही यह ध्यान होता है। अतः यह ध्यान १३ वे गुणस्थान के अन्त में होता है। सयोगी केवली के लिए... प्रधान ध्यान साधना शुक्ल ध्यान की ही है।

हमारे और सर्वज्ञ के ध्यान में अन्तर—

छद्मस्थस्य यथा ध्यानं, मनसः स्थैर्यमुच्यते।

तथैव वपुषः स्थैर्यं, ध्यानं केवलिनो भवेत् ॥ १०१ ॥

हम जो छद्मस्थ जाँव हैं हमारा ध्यान कैसा होता है? और सर्वज्ञ भगवान जो १३ वे गुणस्थान पर पहुँचे हुए सयोगी सर्वज्ञ के ध्यान में आसमान जमीन का अन्तर है। हमारे जैसे छद्मस्थों का ध्यान जो कषाय प्रधान हो तो आर्त—रौद्र ध्यान कहते हैं। तथा कषाय कम हो जाने पर धर्मध्यान कहते हैं। उसके पश्चात् शुक्लध्यान प्रारम्भ हो जाता है। तत्त्वार्थसूत्रकार वाचक मुख्यजी उमास्वातिजी म. “शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः”, तथा “परे केवलिनः” ९/३९, ४० इन दोनों सूत्रों से ज्यादा स्पष्ट करके कहते हैं कि... उपशम और क्षपक श्रेणी के आरम्भ में धर्म और शुक्ल दोनों प्रकार के ध्यान होते हैं। दोनों श्रेणी में ८, ९ और १० वे गुणस्थान पर धर्मध्यान होता है। ११ वे तथा १२ वे गुणस्थान पर शुक्लध्यान और धर्मध्यान दोनों बताए हैं। इस तरह १२ वे गुणस्थान पर्यन्त धर्मध्यान की सत्ता दर्शायी है इससे धर्मध्यान का अस्तित्व सिद्ध होता है। यद्यपि प्राधान्यता शुक्लध्यान की रहती है। तथा पूर्वो (शास्त्रों की संज्ञाविशेष है) के जानकारों के लिए विशेष व्यवस्था बताते हुए कहते हैं कि—

उपशान्त कषाय और क्षीण कषायवाले मुनि यदि पूर्वधर अर्थात् पूर्वों के अच्छे ज्ञाता हो तो उनको शुक्लध्यान ११ वे तथा १२ वे गुणस्थान पर होता है। तथा श्रेणी के आरंभक मुनि यदि पूर्वधर—पूर्वों के ज्ञाता न हो तो उनके लिए श्रेणी में धर्मध्यान की प्राधान्यता रहती है। इस तरह धर्मध्यान के अभ्यास की विशेष सिद्धि से वे आगे शुक्लध्यान में प्रविष्ट होते हैं। यह सामान्य रूप विशेष स्पष्ट करते हुए भेद किया है।

इस प्रकार जब तक १३ वे गुणस्थान पर नहीं पहुँचते हैं और केवली सर्वज्ञ नहीं बनते हैं वहाँ तक वे छद्मस्थ ही कहलाते हैं। अतः छद्मस्थ के ध्यान और सर्वज्ञ के ध्यान में जो विशेष अन्तर बताया है वह है— छद्मस्थ योगी के ध्यान में मन को स्थिर करने का लक्ष्य होता है। बस, मनोजय—मनोनिग्रह में ही ध्यान की सिद्धि—पूर्णता मान लेते हैं। इसलिए मनोजयलक्षी ध्यान छद्मस्थ का कहलाता है। जबकि सर्वज्ञ केवली प्रभु जो १३

वे गुणस्थान पर उनका . . . काययोग की स्थिरता में ही ध्यान की श्रेष्ठता है । क्योंकि उनको मन को साधने का कोई सवाल ही नहीं रहता है इसलिए । मन तो उनका संपूर्ण रूप से स्थिर ही है । दूसरी तरफ वीतरागता और सर्वज्ञता भी चरम कक्षा की प्राप्ति हो चुकी है । अतः अब मन को साधने का सवाल ही नहीं रहता है । इसलिए जब योगनिरोध की प्रक्रिया आती है तब काय योग को अचल करना . . . स्थिर करना ही ध्यान कहलाता है । यह बड़ी सूक्ष्म क्रिया है । अतः सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाती (अनिवृत्ति) की कक्षा का तीसरे प्रकार का शुक्लध्यान कहलाता है । इसमें श्वास—उच्छ्वास की क्रिया मात्र अवशिष्ट रखकर शेष सर्व काय योग स्थिर कर देते हैं ।

१३ वे गुणस्थानवर्ती सयोगी केवली प्रभु अन्तिम अन्तर्मुहूर्त काल में योगनिरोध की प्रक्रिया करेंगे, तब शुक्ल ध्यान के तीसरे भेद का ध्यान करेंगे । तथा केवलज्ञान की प्राप्ति के पहले प्रथम दो भेदों का ध्यान रहता है । अतः जब १३ वे गुणस्थान पर देशोन पूर्वक्रोड वर्षों का इतना दीर्घ काल बिताते हैं तब क्या करते हैं ? कौन सा ध्यान करते हैं ? या ध्यान करते हैं या नहीं ? इसके उत्तर में पूर्वाचार्य महर्षी फरमाते हैं कि . . . नहीं, सतत केवलज्ञान—दर्शन में रहते हुए प्रभु ध्यानान्तरिका में रहते हैं । अन्य किसी ध्यान की आवश्यकता वहाँ नहीं रहती ।

योगनिरोध की क्रिया—

बादरे काययोगेऽस्मिन् स्थितिं कृत्वा स्वभावतः ।

सूक्ष्मीकरोति वाक्चित्तयोगयुग्मं स बादरम् ॥ ९७ ॥

त्यक्त्वा स्थूलं वपुर्योगं, सूक्ष्मवाक्चित्तयोः स्थितिम् ।

कृत्वा नयति सूक्ष्मत्वं, काययोगं तु बादरम् ॥ ९८ ॥

सुसूक्ष्मकाय योगेऽथ, स्थितिं कृत्वा पुनः क्षणम् ।

निग्रहं कुरुते सद्यः, सूक्ष्मवाक्चित्तयोगयोः ॥ ९९ ॥

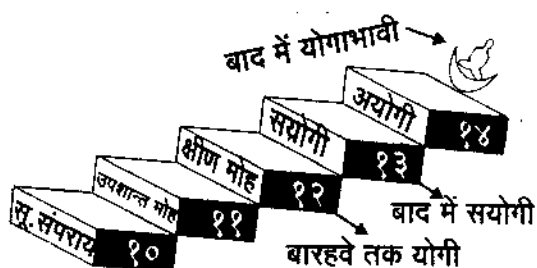
ततः सूक्ष्मे वपुर्योगे, स्थितिं कृत्वा क्षणं हि सः ।

सूक्ष्मक्रियं निजात्मानं, चिन्द्रूपं विन्दति स्वयम् ॥ १०० ॥

गुणस्थान क्रमारोह ग्रन्थकार महर्षी . . . विशेष वर्णन करते हुए लिखते हैं कि . . . १३ वे गुणस्थान पर सयोगी केवली सर्वज्ञ भगवान् सुदीर्घ लम्बे काल तक सयोगी अवस्था में रहकर ध्यानान्तरिका में काल यापन करते हुए अनन्त ज्ञान—दर्शन से समस्त लोकालोक को जानते—देखते हुए विचरते हैं । देशनादि द्वारा जगत् पर महान उपकार करते हैं । इस

तरह आयुष्य काल व्यतीत करते हुए... अन्तिम अन्तर्मुहूर्त मात्र काल अवशिष्ट रहता है । तब योग निरोध करने की तैयारी करते हैं ।

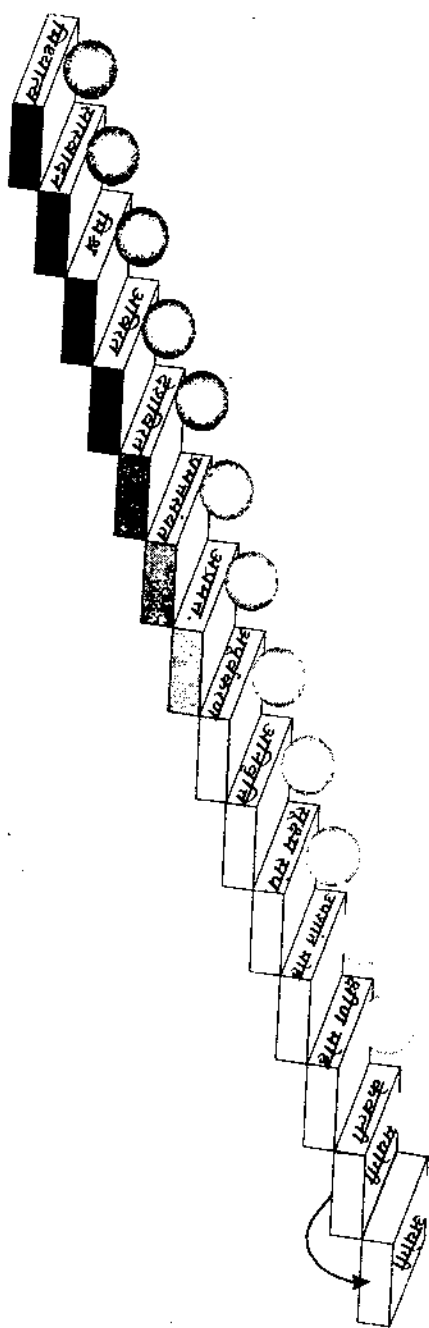
हम योगी बनने की कोशिश करते हैं । अपने मन—वचन—काया के योगों को साधकर अच्छे योगी बनने की कोशिश करते हैं । जबकि १३ वे गुणस्थान पर सयोगी महात्मा अब योगों का निरोध करके अयोगी बनने की तैयारी करते हैं । अतः योग की दृष्टि से १४ गुणस्थान का विभाजन इस तरह किया जा सकता है—



१ ले गुणस्थान से १२ गुणस्थान पर्यंत—तक के साधक अच्छे योगी महात्मा बनने की कोशिश करते हैं, बनते हैं । अपने योगों को साधते हैं । १३ वे गुणस्थान पर सयोगी योगसहित अपने योगज व्यापार भी सीमित करते हैं । तथा अन्त में मन—वचन—काया के तीनों योगों का निरोध करके अयोगी बनकर १४ वे गुणस्थान पर आते हैं । बस, फिर आगे तो सवाल ही नहीं रहता है । सिद्ध बन जाने के बाद मन—वचन—काया आदि सभी तीनों योगों का अनन्तकाल तक अभाव ही रहता है । अतः क्या बनना आसान है ? योगी बनना आसान है या सयोगी बनना आसान है या अयोगी बनना सरल लगता है ? अच्छे—सच्चे योगी बनना पहले अत्यन्त आवश्यक है । १३ वे गुणस्थान पर पहुँचकर सर्वज्ञ—वीतरागी बनकर सयोगी बनना आसान है ? फिर योगों को योगों की प्रवृत्तियों को रोककर अर्थात् योगों का निरोध करके अयोगी बना जाता है । बस, फिर मुक्तावस्था में अनन्त काल तक अयोगी ही रहना है ।

“सम्यग् योगनिग्रहो गुप्तिः” तत्त्वार्थसूत्र के इस सूत्र में महापुरुष ने मन—वचन—काया के इन तीनों योगों की प्रवृत्तियों को कैसे निर्दोष बनानी ? मनादि तीनों योगों की चलती हुई विचारादि प्रवृत्तियों को भी आत्मा के लिए उपयोगी—सहयोगी कैसे

बनानी इसकी प्रक्रिया “गुप्ति” नामक संवर धर्म के स्वरूप वर्णन में बताई है। सम्यग् पूर्वक अच्छी तरह मन—वचन—काया के तीनों योगों का निग्रह करना इसे गुप्ति धर्म कहते हैं। जैसे कछुआ अपने अंगोपांगों को अंदर संकोच लेता है ठीक उसी तरह योगी बननेवाले को अपने योगों को अच्छी तरह संकोचन करके गुप्त कर लेना चाहिए। योगी बनने के लिए मनादि योगों का निग्रह करना और अयोगी बनने के लिए मनादि तीनों योगों का निरोध करना पड़ता है। बस, इस निग्रह और निरोध का अर्थ और प्रक्रिया अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए। निग्रहकरण की प्रक्रिया ४ थे से १२ वे गुणस्थान पर्यन्त क्रमशः उत्कृष्ट, उत्कृष्टतम कक्षा की होती है। जबकि निरोध करने की प्रक्रिया सिर्फ १३ वे गुणस्थान के अन्त में ही होती है। पहले योगों को सुधार कर अच्छा बनाना है वह निग्रह है। जबकि योगों को सर्वथा रखना ही नहीं उनकी प्रवृत्ति भी नहीं रखनी यह निरोध है। अतः पहले वर्षों तक योग निग्रह की प्रक्रिया करनेवाला ही अन्त में योग निरोध कर पाएगा। योगनिग्रह वर्षों तक करना पड़ता है जबकि योग निरोध निर्वाण पूर्व सिर्फ १ अन्तर्मुहूर्त के समय में ही हो जाती है।



यदि हम इन तीनों योगों का सम्यग् निग्रह नहीं कर सके और यदि इनकी प्रवृत्ति—उपयोग भी नहीं सुधार सके तो ये आत्मा को सदा ही कर्म बंधाते रहेंगे ।

१) योगाश्रव—योगजबन्ध—मन, वचन और काया इन तीनों योगों द्वारा जीव बाह्याकाश में रहे हुए कर्मण वर्णना के अनन्त पुद्गल परमाणुओं को खींचकर—आकर्षित कर आत्म प्रदेशों में लाता है । यह योगाश्रव की प्रक्रिया है । आश्रव के पश्चात् बंध होता है । उसे योगज बंध कहते हैं । इसमें मनादि तीनों योगों का आत्मा के अनुरूप—अनुकूल उपयोग न होने से कर्म बंध होता है । इस तरह मनादि तीनों योग बंध हेतु का काम करते हैं और प्रवृत्ति रूप विचारादि द्वारा सतत कर्मबंध करते हैं । तत्त्वार्थ में स्पष्ट किया है कि “काय—वाङ्—मनः कर्मयोगः” ॥ ये काया, वचन और मन तीनों योग से . . आत्मा को कर्मों का योग होता है । कर्मबंध होता है इससे ।

२) योग निग्रह—अब सम्यग् रूप से अच्छी तरह योग निग्रह करना है । याद रखिए, ये जो मनादि तीनों योग आत्मा को कर्म बंधाने में सहयोगी—उपयोगी थे वे ही आत्मा के लिए कर्मक्षय—निर्जरा कराने में भी यदि अच्छी तरह सहयोगी बन जाय तो कर्मों की निर्जरा कराते हैं । आखिर ये तीनों योग जड हैं । चेतनात्मा ने अपने लिये बनाए हैं । परन्तु इन योगों का सदुपयोग करने के बजाय जीव ने संसारी अवस्था में . . . ज्यादा से ज्यादा दुरुपयोग ही किया है । इसी से कर्म बंध ज्यादा हुआ है । सदुपयोग ही योग निग्रह है । इस निग्रह की प्रक्रिया से कर्माश्रव का संवरण होगा और फिर निर्जरा होगी । संवरण में नए कर्मों का आश्रवण, आत्मा में आगमन नहीं होगा । तथा जो पहले के लगे हुए कर्म हैं उनकी निर्जरा कर सकता है ।

इसलिए योगों का उपयोग सम्यग् करना चाहिए । “उपयोग” शब्द आत्मा के अपने ज्ञान—दर्शन के उपयोग भाव में रहने का भी वाचक है । आत्मगुणों की स्पष्ट अनुभूति में जीने से विशेष कर्मों की निर्जरा होती है । १३ वे गुणस्थान पर्यन्त योगज बंध जो होता था उसका भी अब अन्त में योग निरोध कर देने से वह भी बंद हो जाता है । यह अन्तिम . . . कक्षा का बंध हेतु था यह भी ऐर्यापथिक कर्म बंध १३ वे गुणस्थान पर कराता था, इसलिए १३ वे गुणस्थान के अन्त काल में आकर . . . योग निरोध करते हैं । तब जाकर अयोगी बनते हैं । इस प्रकार की योग निरोध करने की प्रक्रिया में क्या करते हैं ? कैसे करते हैं ? यह दर्शाते हैं—

योग निरोध— १३ वे गुणस्थान पर . . . सूक्ष्मक्रिया अनिवृत्ति नामक ३ रे प्रकार का शुक्लध्यान करनेवाले सयोगी केवली भगवान आत्मवीर्य की अचिन्त्य शक्ति द्वारा

बादर (स्थूल) काययोग में अर्थात् पहले जैसे बादर काय योग में रहते थे वैसे ही रहकर वर्तते हुए... बादर वचनयोग और बादर मनोयोग इन दोनों योगों को क्रमशः सूक्ष्म करते जाते हैं। इस तरह मनोयोग और वचनयोग दोनों योग सूक्ष्म हो जाने के पश्चात् उन सूक्ष्म मन-वचन योग में रहकर बादर काययोग का त्याग करके, उस बादर काययोग को अब सूक्ष्म करते हैं। अब पुनः क्षणभर अर्थात् अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त उस अत्यन्त सूक्ष्म हुए काययोग में रहकर शीघ्र सूक्ष्म वचनयोग और सूक्ष्म मनोयोग का निग्रह करते हैं, अर्थात् सर्वथा उस योग की सत्ता का अभाव करते हैं। इस तरह योग का अभाव करना यही योग निरोध की प्रक्रिया है। अब इतना कर लेने के पश्चात् पुनः वे केवली भगवान् सूक्ष्म काययोग में रहकर ... प्रकट रूप से सूक्ष्मक्रियावाले और ज्ञानरूप ऐसे अपने आत्मस्वरूप का स्वयं अनुभव करते हैं। इस प्रकार योगनिरोध की क्रिया की जाती है।

इस योगनिरोध के करने से लेश्या का निरोध हो जाता है। तथा योग निमित्तक बंध में जो शाता वेदनीय कर्म का बंध होता था उसका नाश हो जाता है। वह भी बंद हो जाता है। १३ वे गुणस्थान पर केवली भगवन्त सयोगी सलेश्य कहलाते हैं। (होते हैं)। लेकिन योग निरोध हो जाने के पश्चात्... के १४ वे गुणस्थान पर.... अयोगी एवं अलेश्य हो जाते हैं। यदि प्रतिसमय योग चालु रहे तो योगनिमित्तक कर्मबंध भी निरन्तर चालु ही रहेगा। यदि इस तरह योगज कर्मबंध भी सतत चालू ही रहेगा तो... किसी केवली का भी कभी मोक्ष नहीं होगा। इसलिए योग निरोध करना अनिवार्य है। समुद्घात करना सबके लिए अनिवार्य नहीं है, लेकिन... योग निरोध सबके लिए करना अनिवार्य है। तभी मुक्ति होगी। समुद्घात में जैसे अंतःकृद् केवली के लिए प्राधान्यरूप से करना अनिवार्य रहता है। तीर्थकरादि के लिए अनिवार्य नहीं रहता है। परन्तु योग निरोध की क्रिया तो तीर्थकरों को तथा अन्य केवलियों को भी करनी ही पड़ती है।

शैलेशीकरण की प्रक्रिया—

शैलेशीकरणारम्भी, वपुर्योगे ससूक्ष्मके।

तिष्ठन्नूर्ध्वास्यद् शीघ्रं, योगातीतं धियासति ॥ १०२ ॥

अब अन्त में शैलेशीकरण करने की बात आती है। १३ वे गुणस्थान पर दीर्घकाल तक विचरते हुए केवलज्ञानी महापुरुष अन्तिम अन्तर्मुहूर्त काल में आते हैं। इस अन्तर्मुहूर्त काल में योग निरोध की क्रिया करके अपने तीनों योगों को रुंधते हैं। इस अन्तर्मुहूर्त काल में आते—आते अन्त में अन्तिम समय पर आते हैं। सूक्ष्म काय योग में रहे हुए सर्वज्ञ

भगवान् यथाशीघ्र योगातीत-योगरहित अवस्था में अर्थात् १४ वे गुणस्थान पर अयोगी अवस्था में पहुँचने की तैयारी करते हैं। केवली भगवान् १३ वे गुणस्थान पर शुक्लध्यान के तीसरे भेद के ध्यान साधना में रहते हैं। योग निरोध की क्रिया भी इसी ध्यान में करते हैं।

अब शुक्लध्यान के चौथे भेद का ध्यान शुरू होता है।

तत्रानिवृत्तिशब्दान्तं, समुच्छिन्नक्रियात्मकम् ।
चतुर्थं भवति ध्यान-प्रयोगिपरमेष्ठिनः ॥ १०५ ॥
समुच्छिन्ना क्रिया यत्र सूक्ष्मयोगात्मिकापि हि ।
समुच्छिन्नक्रियं प्रोक्तं तद्द्वारं मुक्तिवेश्मनः ॥ १०६ ॥

व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामक ४ था शुक्लध्यान—

तत्त्वार्थकार ने चौथे प्रकार के शुक्लध्यान का नाम व्युपरत क्रियानिवृत्ति रखा है। यहाँ गुणस्थान क्रमारोह ग्रन्थकार महापुरुष समुच्छिन्न क्रिया नाम रखते हैं। शब्दभिन्न परन्तु तात्पर्य, हेतु और अर्थ सब एक ही है। व्युपरतक्रियानिवृत्ति शब्द में दो शब्दों की रचना है। १) व्युपरतक्रिया और २) अनिवृत्ति। अर्थात् जिसमें क्रिया सर्वथा रुक गई है उसे व्युपरतक्रिया कहते हैं। तथा जिसमें पतन नहीं है वह अनिवृत्ति। जिसमें मन आदि तीनों योगों का सर्वथा निरोध हो जाता है उसके कारण अब किसी भी प्रकार की क्रिया नहीं रहती है। तथा ध्यान करनेवाले ध्याता के परिणामों का कभी पतन ही नहीं होता है। ऐसे ध्यान विशेष को व्युपरत क्रियानिवृत्ति प्रकार का चौथा शुक्लध्यान कहते हैं। जिस ध्यान में सूक्ष्मयोगात्मक अर्थात् सूक्ष्म काययोग रूप क्रिया भी निश्चय रूप से—स्पष्ट रूप से सर्वथा नहीं रहती है। समुच्छिन्ना अर्थात् सर्वथा निवृत्त हो चुकी है, अर्थात् सर्वथा क्रिया का अभाव ही हो चुका है उसे समुच्छिन्न क्रिया कहते हैं। ऐसी ध्यानावस्था शुक्लध्यान के चौथे भेद की कहलाती है। आपको आश्चर्य इस बात का लगेगा कि इस प्रकार का चौथा शुक्लध्यान मोक्षपुरी में जाने के लिए प्रवेश द्वार के समान है। इसलिए ग्रन्थकार ने श्लोक में “मुक्तिवेश्मनः” शब्द का प्रयोग किया है। मोक्षरूपी महल के प्रवेश द्वार समान हैं। कहने का कारण यही है कि... बस, इस प्रकार के चौथे शुक्लध्यान के द्वारा सीधे तुरंत चेतना-जीव मुक्तिपुरी में ही जाता है।

“तत्त्वैक-काययोगाऽयोगानाम्” ९-४२, तत्त्वार्थसूत्र के इस सूत्र से वाचकमुख्यजी ने... चार प्रकार के शुक्लध्यान में से किसको कौन सा ध्यान रहता है यह सूचित किया है। इसमें ३ योग में से एक योगवाले योगी को (काय योग) और अन्त में अयोगी को क्रमशः एक एक प्रकार का शुक्लध्यान होता है। शुक्लध्यान के प्रथम भेद का ध्यान “पृथक्त्व—वितर्क सविचार नामक ध्यान... मन, वचन और काया के तीनों योगों का जिसको व्यापार होता है ऐसे महात्माओं को होता है। तथा दूसरे प्रकार का एकत्व वितर्क—अविचार नामक शुक्लध्यान ३ में से एक योगवाले को होता है। तथा तीसरे प्रकार का सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती नामक शुक्लध्यान सिर्फ काययोग के व्यापारवाले सयोगी केवली को १३ वे गुणस्थान पर रहता है। तथा चौथे प्रकार का व्युपरत क्रियानिवृत्ति नामक शुक्लध्यान सिर्फ अयोगी महापुरुष को ही होता है। अर्थात् योग व्यापार (क्रिया) रहित ऐसे अयोगी को होता है। इस तरह चारों प्रकार के शुक्ल ध्यान को करनेवाले भिन्न—भिन्न अधिकारी ध्याताओं का निर्देश एक छोटे से सूत्र से कर दिया है।

किसी जलते हुए दीपक को भिन्न भिन्न दिशा की हवा लगने पर दीपक की ज्योति (लौ) अस्थिर रहती है। स्थिर नहीं रह पाती है। ठीक उसी तरह आत्मा के अध्यवसाय भी अस्थिर रहते हैं...। जैसे हवा का झोखा बन्द हो जाता है। या हवा बहनी बन्द हो जाती है तब दीपक की ज्योति बिल्कुल स्थिर हो जाती है। ठीक उसी तरह आत्मा के अध्यवसायों को स्थिर करने के लिए मोह के राग—द्वेषादि सर्वथा रोककर ज्ञान की धारा तत्त्व पर स्थिर करना ही श्रेष्ठ ध्यान है। याद रखिए, देह पर—श्वास पर या किसी भी अंगविशेष पर स्थिर होना, या मन को स्थिर करना यह ध्यान नहीं है। ऐसे देह ध्यान से निर्जरा नहीं होती है। इसलिए देह से ऊपर उठकर... बाहर निकलकर... देहातीत अवस्था में अपनी दीपक की ज्योती स्वरूप जैसे ज्ञान की धारा (अध्यवसाय विशेष की धारा) को आत्मा, परमात्मा, मोक्षादि तत्त्वों के विषय पर... स्थिर करना इस प्रक्रिया को ध्यान कहते हैं। हवा के झोखे की तरह बहती हवा के आते ही ज्योति की स्थिरता जैसे टूट जाती है और अस्थिर हो जाती है ठीक उसी तरह राग—द्वेष की धारा... (मोह कर्म की धारा) बीच में आते ही ज्ञानधारा की स्थिरता टूट जाती है। अतः अध्यवसाय धारा की निश्चल दीपशिखावत् स्थिति को ध्यान कहते हैं। ऐसे शुद्ध ध्यान में मन की स्थिरता पर लक्ष्य रखने की अपेक्षा ज्ञान धारा की स्थिरता पर विशेष ध्यान रखना चाहिए। किसी भी स्वरूप में ज्ञान की अध्यवसाय धारा एक विषय पर स्थिर रूप से रहे तब ज्ञान खुलता है। विषय का तत्त्व स्पष्ट होता है। निर्जरा का प्रमाण बढ़ता है तथा कर्मक्षय की मात्रा बढ़ने से आत्म गुणों का प्रमाण में प्रगटीकरण भी बढ़ता है।

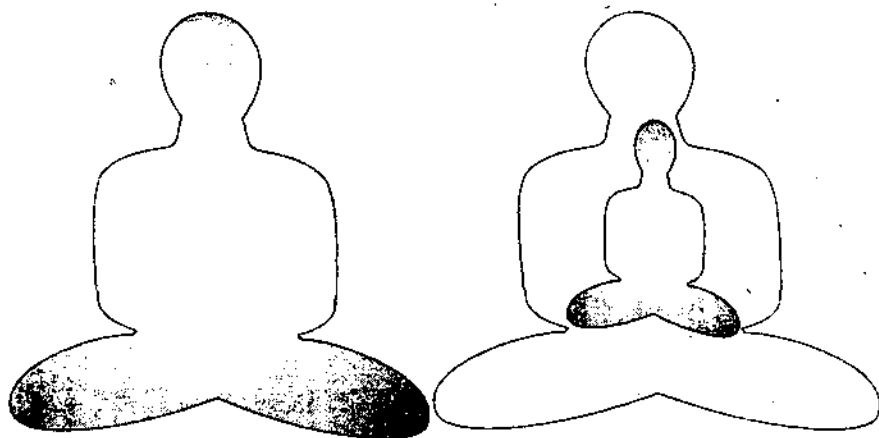
ध्यान का यह स्वरूप छद्मस्थ जीवों की दृष्टि से है। अतः इस प्रकार का ध्यान १२ वे गुणस्थान पर्यन्त होता है। इस प्रकार के ध्यान को निश्चल—स्थिर अध्यवसाय एक पदार्थ विषयक कहा है। १३ वे गुणस्थान पर सयोगी केवली भगवान को भाव मन रूप चिन्तनात्मक व्यापार नहीं रहता है। इसलिए मानसिक व्यापार ही नहीं रहता है। क्योंकि सर्वज्ञ इन्द्रियों से निरपेक्ष होते हैं। इसलिए सर्वज्ञ केवली के लिए योग निरोध यही ध्यान कहलाता है। इसलिए उनको “एकाग्रचिन्ता निरोधात्मक ध्यान” की व्याख्या नहीं लागू होती। यह व्याख्या हमारे जैसे छद्मस्थों के लिए लागू होती है। स्पष्ट शब्दों में कहा जाय तो १३ वे—१४ वे गुणस्थान पर जो ध्यान का स्वरूप है वह छद्मस्थों के ध्यान से सर्वथा भिन्न कक्षा का ही है। १३ वे सयोगी केवली गुणस्थान के अन्त में मानसिक, वाचिक और कायिक व्यापार के निरोध का अर्थात् योगनिरोध का कार्य शुरु किया जाता है। उसमें सूक्ष्म क्रियाप्रतिपाति नामक तीसरे प्रकार का शुक्लध्यान बताया है। योग निरोध के पश्चात् शैलेशीकरण की प्रक्रिया करते हैं। उसके पश्चात् चौथे समुच्छिन्न क्रियानिवृति नामक शुक्लध्यान की साधना रहती है। इन दोनों प्रकार के ध्यानों में मानसिक व्यापार को अवकाश ही नहीं है। फिर भी ये दोनों ध्यान के रूप में पहचाने जाते हैं। इसलिए मात्र “एकाग्रचिन्ता निरोधात्मक ध्यान” ही ध्यान का लक्षण नहीं है। इस लक्षण में एक मात्र “चिन्ता” अर्थात् मन के मानसिक व्यापार का ही निरोध करना है। बात भी सही है कि छद्मस्थावस्था में जहाँ मोहकर्म के उदय के कारण राग—द्वेषादि की मानसिक प्रवृत्ति ही ज्यादा है इसलिए ऐसा लक्षण मनोयोग का व्यापार रोकने के लिए ध्यान का लक्षण इस प्रकार किया गया है। इसमें अशुभ अध्यवसायात्मक मनोयोग के व्यापार का निरोध करना है परन्तु काययोग के निरोध की बात इस लक्षण में नहीं की है। इसलिए १३ वे गुणस्थान पर ध्यान किया जाता है और उसमें भी अन्तिम अन्तर्मुहूर्त में जो कक्षा ध्यान की है वह योग निरोधात्मक है। इस योग निरोध में और ऊपर जो चिन्तानिरोध दिया है उसमें अन्तर यही है कि चिन्तानिरोध में सिर्फ एक स्थूल मनोयोग के अशुभ व्यापार का निरोध है। और... योग निरोध में मन—वचन—काया के तीनों का स्थूलयोग फिर क्रमशः सूक्ष्म योगों का निरोध करना है। यह भी ध्यानपूर्वक ही होगा। अतः स्थूल काययोग के व्यापार को रोकना (निरोध) को भी ध्यान कहते हैं। आत्मप्रदेशों की निष्कंपता यह (चरम कक्षा की स्थिरता) भी ध्यान है। ध्यानजन्य साध्यरूप फलविशेष है तथा अन्त में जाकर सयोगी से अयोगी बनने की कक्षा में चरम कक्षा का अन्तिम ध्यान आता है। वह है शुक्लध्यान का चौथा भेद।

शैलेशीकरण— योग निरोध की क्रिया के पश्चात् अब अयोगी बनकर सदा के लिए मुक्ति के धाम को प्राप्त करने के लिए महापुरुष शैलेशीकरण करते हैं। १३ वे सयोगी केवली गुणस्थान के अन्तिम अन्तर्मुहूर्त के भी अन्तिम समय में शरीर नामकर्म के उदय का नाश होने से अपने आत्मप्रदेशों का घनीभूत स्वरूप होने से अन्त्य (चरम) शरीर के आकार से त्रिभाग न्यून अवगाहना करते हैं। अर्थात् अन्तिम समय में... औदारिकद्विक, अस्थिरद्विक, विहायोगतिद्विक, प्रत्येक त्रिक, संस्थान षट्क, अगुरुलघुचतुष्क, वर्णादि चतुष्क, निर्माण, तैजस, कार्मण, प्रथम संघयण, स्वरद्विक और किसी भी १ वेदनीय (शाता अथवा अशाता) इन ३० कर्मप्रकृतियों का उदय विच्छेद होता है। यहाँ पर अंग और उपांग का उदय विच्छेद होने के कारण वे चरम शरीरी महापुरुष की जो शरीर की उँचाई-अवगाहना विशेष होती है उसकी त्रिभाग न्यून अवगाहना करते हैं। इस तरह लघु अवगाहना कैसे हो जाती है? इसके उत्तर में कहते हैं कि अपने आत्मप्रदेश घनीभूत हो जाने से अर्थात् चरम अंग और उपांगगत नासिका आदि के छिद्रों का पूरण (भरने से) आत्मप्रदेश घननिबिड हो जाते हैं। ऐसा घनीभूत निबिड कर देने से अब पेट आदि अंगों के रिक्त स्थान (भाग) खाली नहीं बचते हैं। इस तरह घनीभूत होने से अवगाहना त्रिभागन्यून हो जाती है। ऐसा शास्त्र में निर्देश है।

वैसे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और आत्मा नामक ये ४ द्रव्य (पदार्थ) स्वाभाविक रूप से घन संबंधवाले अर्थात् शुषिरता रहित संबंधात्मक पिंडवाले हैं। इससे आत्मा के प्रदेशों का संबंध “शरीर” नामक नामकर्म के उदय के कारण शरीरव्याप्ति के अनुकूल था। परन्तु अब उस कर्म का उदय विच्छेद (नाश—क्षय) हो जाने के कारण शरीर में ही व्याप्त रहने के कारणरूप कर्म का क्षय—नाश हो जाने से आत्मप्रदेशों का शरीर में रहे हुए ही घनसंबंधवाला होने का कार्य होता है। घन कहने का मुख्य कारण यह है कि शरीर का रिक्त भाग (खाली स्थान) प्रायः १/३ भाग जितना ही संभवित है। इसलिए रिक्त स्थानों की पूर्ति हो जाने के पश्चात् अब घनीभूत आत्म प्रदेशों का १/३ भाग ही शेष रहता है।

प्रश्न— यहाँ शास्त्रीय चर्चा में प्रश्न खड़ा किया है कि शरीर नामकर्म के उदय से आत्मा शरीर व्याप्त बनती है। तो फिर शरीर नामकर्म के उदय का क्षय (नाश) हो जाने के बाद भी आत्मा शरीर में २/३ भाग ही क्यों अवशिष्ट रहती है? अंगुल के असंख्यातवें भाग जितना सूक्ष्मघन क्यों नहीं बन जाता है? अथवा तो फिर अपनी स्वयं की संपूर्ण

अवगाहनी प्रधीण में लोकाकाश प्रमाण व्याप्तिवाला क्यों नहीं बनता है ? इसके भी उत्तर में ... कहते हैं कि ... शरीर नाम कर्म का सर्वथा उदयविच्छेद (उदय में से अभाव) हो चुका है । दूसरी आत्मप्रदेशों की अपनी कोई स्वतंत्र अवगाहना विशेष होती ही नहीं है । तथा इसके लिए शुद्ध आत्मद्रव्य की दृष्टि से आत्मा (सिद्ध) का वर्णन शास्त्रों में (विशेषावश्यक भाष्यादि में) जहाँ किया गया है वहाँ “से न दीहे, से न हस्से” इत्यादि पदों से आत्मद्रव्य की अवगाहना होती ही नहीं है यह स्पष्ट कहा गया है । एक मात्र, शरीर की अवगाहना के साथ साथ ही आत्मप्रदेशों की अवगाहना शरीरानुरूप होती है । अब शुद्ध आत्मद्रव्य रूप सिद्ध की जो अवगाहना होनेवाली है वह स्वयं अपनी आत्मद्रव्य की स्वाभाविक तो है ही नहीं । अतः शरीर की उपाधिगत अवगाहना होनेवाली है । इसलिए पूर्व प्रयोग जन्य यह उपाधिगत अवगाहना पहले के देह के अनुरूप ही होती है ।



पूर्ण शरीर में व्याप्त
आत्मा

रिक्त स्थानों की पूर्ति के पश्चात्
घनीभूत आत्म प्रदेश

इसलिए १/३ रिक्त (खाली) स्थान भर जाने के कारण २/३ भाग जितने घनीभूत आत्मप्रदेश हो जाते हैं । इससे कम ज्यादा नहीं हो सकता है ।

अथवा योगनिरोध की क्रिया करने के समय ही आत्मप्रदेशों का संहरण होता है, और उस अवस्था में सयोगीपना और सकर्मोपना भी है ऐसा कर्मसहित सयोगी केवली के योग का उस समय उतना ही सामर्थ्य होता है जिसके कारण वे शुषिरभाग जितना ही संहरण करके २/३ जितना ही होता है । परन्तु इससे ज्यादा संहरण संभव ही नहीं है ।

इससे ज्यादा संहरण करके एक आकाशप्रदेश में सूक्ष्म घन रूप नहीं हो जाता है । श्री विशेषावश्यक भाष्य में कहते हैं कि—

संहार संभवाओ, पएसमेत्तमि किं न संठाइ ? ।

सामंत्था भावाओ, सकम्पयाओ सहावाओ ॥ ३१६४ ॥

जब आत्मप्रदेशों के संकुचन (संहरण) करने का अर्थात् घनीभूत करने का सामर्थ्य हो, संभव है तो फिर ऐसा आकुंचन क्यों नहीं कर लेते हैं कि जिससे आत्मा मात्र एक ही आकाश प्रदेश में घनीभूत होकर समा जाय ? इसके उत्तर में कहते हैं कि आत्मप्रदेशों का आकुंचन करके घनीभूत करने का तथाप्रकार का सामर्थ्य (योग का) अभाव होने से, तथा कर्मसहितता होने से, तथा स्वाभाविक रूप से ही २/३ भाग से अधिक संहरण एवं सूक्ष्म घनीभूत हो ही नहीं सकता है । संभव ही नहीं है ।

शैलेशीकरण की क्रिया करके अन्त में देह छोड़ने के समय शरीर के अन्दर के रिक्त स्थानों को भर देता है । इससे आत्म प्रदेश घनाकार स्थिति में आ जाते हैं । ऐसी स्थिति में मूलभूत शरीर की अवगाहना का एक तृतीयांश भाग घट जाता है और दो—तृतीयांश भाग शेष रहता है । बस, अब आत्मा शरीर का सर्वथा त्यागकर... देह छोड़कर.... सीधी मोक्ष में प्रयाण करती है ।

अस्यान्येद्भेदयच्छेदात् स्वप्रदेशघनत्वतः ।

करोत्यन्याद्भसंस्थान-त्रिभागोनावगाहनम् ॥ १०३ ॥

सयोगी केवली नामक १३ वे गुणस्थान के अन्तिम समय में शरीरनाम कर्म के उदय का सर्वथा नाश (क्षय) हो जाने से अपने स्वयं के आत्मप्रदेशों का घनीभूत स्वरूप होने से अन्तिम (चरम) शरीर के आकार की त्रिभागन्यून (कम) अवगाहना करते हैं ।

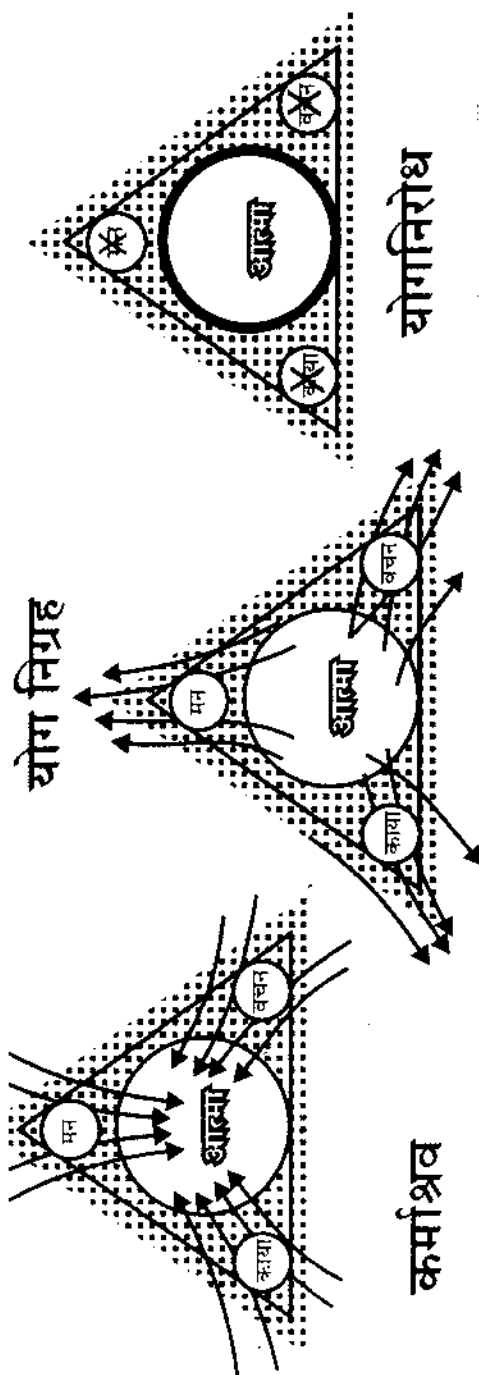
१४ वाँ अयोगी केवली गुणस्थान का स्वरूप—

अथायोगिगुणस्थाने, तिष्ठतोऽस्य जिनेशितुः ।

लघु पंचाक्षरोच्चार-प्रमितैव स्थितिर्भवेत् ॥ १०४ ॥

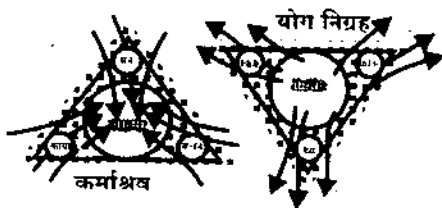
अब गुणस्थानों के विषय का वर्णन करते-करते अन्त में अन्तिम १४ वे गुणस्थान का वर्णन जो क्रम प्राप्त है वह करता हूँ ।

गुणस्थान की व्यवस्था में... अनुक्रम से अन्तिम १४ वाँ गुणस्थान अयोगी केवली का गुणस्थान है । केवली के २ गुणस्थान हैं— १२ वाँ और १३ वाँ । वीतरागी के ३



गुणस्थान हैं— १२ वाँ, १३ वाँ और १४ वाँ । शेष सभी छद्मस्थों के गुणस्थान हैं । याद रखिए, केवलज्ञानी सर्वज्ञ बनने में आत्म विकास की प्रक्रिया का अन्त नहीं आ जाता है । बस, अब अन्तिम एक ही कदम शेष रहता है सिद्ध बनना । मोक्ष में जाकर मुक्त बनना है । मुक्ति की प्राप्ति के बिना पूर्णता नहीं आती, बात अधूरी रहती है । इसलिए अरिहंत, आचार्य, उपाध्याय, साधु आदि सब का अन्तिम विरामस्थान मुक्ति ही है । मोक्ष प्राप्त करना अनिवार्य ही है । और मुक्ति की प्राप्ति का प्रथम सोपान अयोगी केवली नामक १४ वा गुणस्थान है । तथा संसार की तरफ से देखा जाय तो यह १४ वाँ गुणस्थान अन्तिम सोपान है । मोक्ष में जाने का तो प्रवेशद्वार ही समझिए । सबको इसी द्वार से होकर मोक्ष में जाना पड़ता है । अयोगी हुए बिना तो कदापि संभव ही नहीं है ।

अनादि से अनन्त काल तक इन मन—वचन—काया के योगों के गुलाम बनकर आत्मा ने अनन्तानन्त कर्म बांधे हैं । अनन्त काल बिताया है । और उसका फल भी काफी भुगता है । परिणामस्वरूप सुख—दुःख भी काफी भुगते हैं । इस तरह इस संसार में योगवश कर्माधीन अवस्था में अनन्त काल तक आत्मा ने कर्म की थपेड़ें खाई हैं । अब आत्मा इन तीनों योगों को अच्छी तरह पहचान चुकी है । ये सब जड़ योग हैं । ठीक है, जीव के लिए संसार में रहने



के लिए अनिवार्य हैं, उपयोगी हैं। कम—ज्यादा मिलते हैं। संज्ञि पंचेन्द्रिय जीवों को पूर्ण रूप से तीनों योग मिलते हैं। परन्तु चेतन जीवात्मा इन योगों का यदि सही सदुपयोग कर सके अर्थात् आत्मा अपनी कर्म निर्जरा करने के लिए यदि इन योगों का

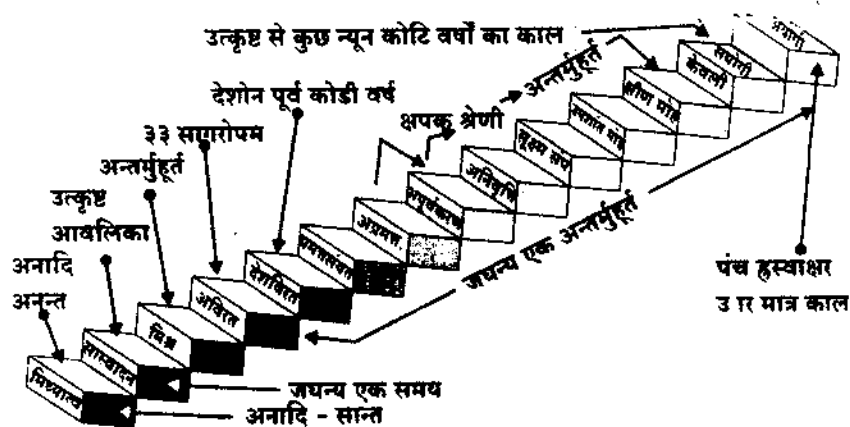
उपयोग करे, तो ही उत्तम लाभ है। तो ही योगों का सही उपयोग—सदुपयोग है। अन्यथा दुरुपयोग में पुनः कर्मबंध ही प्रधान रूप से होता है। यदि कर्मबंध हुआ तो फिर वही चक्र संसार परिभ्रमण का रहेगा।

साधक बने हुए योगी महात्मा जिसने गुणस्थानों के सोपानों पर चढ़ने का रखा है उसने आत्मलक्ष का उपयोग भाव बनाकर... जितेन्द्रिय बनते हुए... आगे बढ़ते हुए व्रत विरति को धारण करते हुए योगों पर लगाम रखने का काम शुरु किया। आगे महाव्रत धारण करके संसार का त्यागी महात्मा बना। अब तो तीनों योगों पर पूरा नियंत्रण आ गया। उसमें भी प्रमत्त से अप्रमत्त योगी बना और अपने तीनों योगों पर विजय पाकर... श्रेणी के श्रीगणेश करता है। अब आगे पहुँचकर योगी तो क्या महायोगी बनता है। उपयोग भाव की जागृति में उपयोगी बनता है। फिर १२ वे गुणस्थान पर पहुँचकर वीतरागी बनता है। यह राग—द्वेषादि की प्रवृत्ति का संपूर्ण त्यागी... वीतरागी बनकर १३ वे गुणस्थान पर सर्वज्ञ—सर्वदर्शी बनता है। फिर भी मन—वचन—काया के तीनों योगों की प्रवृत्तियाँ चालू ही रहती हैं। पहले छद्मस्थावस्था में ये तीनों योग जो मोहनीय कर्म के आधीन राग—द्वेष में चलते थे वे अब मोहनीय कर्म के अभाव में मुश्किल से १०% से २०% ही कार्यशील रहते हैं। शरीर की आहार—निहार—विहारादि की प्रवृत्ति में कार्यशील रहता है। मनोयोग से केवली को कुछ भी चिंतन—मनन तो करना रहता ही नहीं है। अतः भाव मन की कोई प्रवृत्ति केवली को होती ही नहीं है। अतः मन होते हुए भी इसका विशेष कोई उपयोग नहीं रहता है। इस तरह १३ वे गुणस्थान के सयोगी सर्वज्ञ महापुरुष अब अयोगी की कक्षा प्राप्त करने अन्तिम कक्षा में जा रहे हैं। योगी से सयोगी और सयोगी से योगनिरोधी और अन्त में अयोगी बनने की अन्तिम कक्षा में प्रवेश करते हैं।

आखिर आत्मा अपने आप में एक पूर्ण, स्वतंत्र द्रव्य है। चेतन द्रव्य है। जबकि मन—वचन—काया— इन्द्रियाँ ये सभी योग जड हैं, अजीव हैं। इनकी अब कोई आवश्यकता ही नहीं है। सिद्धावस्था में इन जड योगों का आत्मा के लिए कोई उपयोग—कोई आवश्यकता ही नहीं रहती है। अतः इन तीनों योगों का सर्वथा त्याग करना, छोड़ कर सर्वथा उनसे अलग ही हो जाना यह मुक्ति की तैयारी है। मुक्ति में जिस और जैसे स्वरूप को सदाकाल रखना है उसके लिए यहाँ देहस्थावस्था में ही सारी तैयारी करके फिर मोक्ष में जाना है। इसलिए यहाँ पर अयोगी बनना अर्थात् योगों के बंधन से सर्वथा मुक्त बनना ही मुक्ति का स्वरूप है, उसके अनुरूप वैसी ही प्रवृत्ति करनी है। अतः अयोगी बनकर १४ वे गुणस्थान पर शैलेशीकरणादि करके बस, अब अन्त में देह छोड़कर जाने की तैयारी कर रहे हैं। अन्तिम गुणस्थान अयोगी का है। अयोगी बनने का है, अयोगी बने हुए का है।

सबसे कम समय १४ वे गुणस्थान का—

चौदह ही गणस्थान का जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट काल पहले भी देख आए हैं—



स्पष्टीकरण

१) प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थान पर काल (अभिव्य जीव की अपेक्षा से) अनादि—अनन्त का है। जबकि भवी जीव की अपेक्षा से अनादि सान्त स्थिति है। मिथ्यात्व है ही अनादि कालीन। अतः इसका काल जघन्य नहीं हो सकता। हाँ, क्षय करने में अन्तर्मुहूर्त ही लगता है।

२) दूसरे सास्वादन गुणस्थान का काल जघन्य से १ समय मात्र का ही है, जबकि उत्कृष्ट से ६ आवलिका का है। (असंख्य समयों की १ आवलिका बनती है। काल गणना पद्धति से यह समझना चाहिए। पहले आए हुए विषय को देखें)

३) तीसरे मिश्र गुणस्थान का काल—अन्तर्मुहूर्त परिमित है।

४) चौथे सम्यक्त्व गुणस्थान का काल जघन्य से अन्तर्मुहूर्त का है। और उत्कृष्ट से ३३ सागरोपम से कुछ अधिक का है।

५, ६) पाँचवे गुणस्थान का काल जघन्य अन्तर्मुहूर्त का है और उत्कृष्ट काल देशोनपूर्व कोटि वर्ष का है। इसी तरह छठे गुणस्थान का भी काल इतना ही देशोन पूर्व कोटि वर्ष उत्कृष्ट से है।

७) सातवे गुणस्थान से लेकर ८, ९, १०, ११, और १२ वे इन सब गुणस्थान का जघन्य, मध्यम एवं उत्कृष्ट से सब काल अन्तर्मुहूर्त का है। यहाँ कहीं ज्यादा ठहरना ही नहीं है।

१३ वे गुणस्थान पर सर्वज्ञ केवली बनकर कुछ न्यून ऐसे पूर्व कोटि वर्ष का है। तथा जघन्य काल तो अन्तर्मुहूर्त का है। मरुदेवी माता आदि जैसे अनेक हैं जिनको केवल ज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त परिमित काल में ही आयुष्य की समाप्ति हो गई और मोक्ष में चले गए। ऐसे केवलज्ञानी को अंतःकृत केवली कहते हैं। इन अन्तःकृत केवलियों के केवलज्ञान का १३ वे गुणस्थान पर समस्त काल सिर्फ अन्तर्मुहूर्त मात्र ही रहता है। अन्त में जाकर १४ वे गुणस्थान का जघन्य और उत्कृष्ट काल ५ ह्रस्वाक्षर मात्र काल ही है। अ इ उ ऋ और लृ इन पाँच ह्रस्व अक्षरों का उच्चार करने में जितना समय लगता है सिर्फ उतना ही समय १४ वे गुणस्थान पर लगता है।

इस तरह सभी गुणस्थान की तुलना करके देखा जाय तो सबसे कम से कम अल्पतम काल १४ वे गुणस्थान का है। फिर दूसरा नंबर २ रे गुणस्थान सास्वादन का ६ आवलिका

का है। और उसके पश्चात् तो अन्तर्मुहूर्त का आता है। अन्त में सबसे ज्यादा अधिक से अधिक काल मिथ्यात्व का है क्योंकि निगोद में अनन्त काल बिताया जीव ने फिर... निगोद से बाहर निकल कर भी जीव ने इस ८४ लक्ष जीव योनियों के संसार चक्र में घूमते हुए असंख्य से अन्त काल बिताया। इस तरह संसार में अनादि से अनन्त काल तक जीव मिथ्यात्व गुणस्थान पर रहा। अब १४ वे गुणस्थान के पश्चात् मुक्त होकर जीव मोक्ष में अनन्त काल तक रहेगा।

१४ वे गुणस्थान पर अयोगी की ध्यान साधना—

एक तरफ इस १४ वे गुणस्थान अयोगी केवली का काल मात्र पंच ह्रस्वाक्षर के उच्चारण मात्र का बताया है। अक्षरों में भी व्यंजनाक्षरों की गणना न की। क्योंकि... व्यंजनाक्षरों के उच्चारण में समय दुगुने से भी ज्यादा जाता है। इसलिए ह्रस्वाक्षर लिए। दीर्घाक्षर नहीं। आ, ई, ऊ, ये दीर्घ हैं। दीर्घ स्वर के उच्चारण में भी दुगुना समय लगेगा। इसलिए ह्रस्व स्वर—अ, इ, उ, ऋ, लृ बस इतने और ऐसे पाँच छोटे अक्षरों के उच्चारण मात्र जितना काल गिना है। इस तरह काल की गणना करने के लिए ह्रस्व अक्षरों उनमें भी स्वरों के उच्चारण का मापदंड लिया है। फिर भी इसे जघन्य अन्तर्मुहूर्त की गणना में ही गिनेगे। दूसरी तरफ आपको आश्चर्य इस बात का लगेगा कि... इतने अल्प—कम से कम काल में भी ध्यान साधना करते हैं अयोगी महापुरुष। वह कौन सा ध्यान? कैसा ध्यान है? कैसे करते हैं? उस ध्यान में क्या और किसका ध्यान करते हैं यह स्पष्ट करते हैं—

तत्रानिवृत्तिशब्दान्तं, समुच्छिन्नक्रियात्मकः ।

चतुर्थं भवति ध्यान-मयोगिपरमेष्ठिनः ॥ १०५ ॥

समुच्छिन्ना क्रिया यत्र, सूक्ष्मयोगात्मिकापि ही ।

समुच्छिन्नं क्रियं प्रोक्तं, तद्द्वारं मुक्तिवेश्मनः ॥ १०६ ॥

शुक्ल ध्यान के ४ प्रकार बताए हैं जिनकी विचारणा पहले काफी कर चुके हैं। यहाँ शुक्ल ध्यान के चौथे प्रकार की ध्यान साधना होती है। चौथा प्रकार समुच्छिन्न क्रिया रूप ध्यान का है। तीसरा भेद जो सूक्ष्म क्रिया अनिवृत्ति रूप था। और उसमें... सूक्ष्म क्रिया की निवृत्ति नहीं होने के कारण अनिवृत्ति कहा है। इस प्रकार की सूक्ष्म क्रिया केवली भगवन्त को भव के अन्तिम समय तक रहती ही है। इसलिए अनिवृत्ति शब्द का प्रयोग किया है। न निवृत्ति इति अनिवृत्ति। “अ” अक्षर यहाँ निषेधार्थक है। इस क्रिया की

निवृत्ति नहीं सूचित करता है। अस्तित्व बताता है। अतः अयोगी अवस्था में भी सूक्ष्म काय के साथ सूक्ष्मक्रिया का अस्तित्व सूचित करती है। यह सूक्ष्म क्रिया आत्मस्पर्दनमात्र रहती है।

अब अयोगी अवस्था में चौथे प्रकार के शुक्लध्यान में जो समुच्छिन्नक्रिया अनिवृत्तिरूप है, इसमें सूक्ष्म क्रिया की भी निवृत्ति सर्वथा हो जाती है। इसलिए समुच्छिन्न शब्द का प्रयोग किया है। जिस ध्यान में सूक्ष्मयोगात्मक अर्थात् सूक्ष्म काययोगरूप क्रिया भी सर्वथा नहीं रहती है। उसमें क्रिया का अभाव सर्वथा हो जाता है। इसलिए चौथे भेद के लिए विशेष नामकरण यहाँ पर इस प्रकार किया है। तत्त्वार्थसूत्र में शुक्लध्यान के चौथे भेद का नाम—“व्युपरतक्रियानिवृत्ति” रखा है। इस नाम में “व्युपरतक्रिया और अनिवृत्ति” ये दो शब्द प्रयुक्त हैं। जिसमें सर्वथा क्रिया रुक गई है ऐसा स्वरूप “व्युपरतक्रिया” का है। और जिसका पतन नहीं है उस अनिवृत्ति शब्द से द्योतित किया है। अब यह स्पष्ट होता है कि... जिसकी १४ वे गुणस्थान में अयोगी अवस्था में मन—वचन—काया के तीनों योगों की क्रिया का सर्वथा अभाव हो चुका है, अर्थात् अब तीनों में से किसी भी योग की स्थूल या सूक्ष्म किसी भी प्रकार की क्रिया शेष रही ही नहीं है, ऐसे अयोगी महात्मा जो अन्तिम कक्षा का ध्यान करनेवाले ध्याता हैं, उनके अध्यवसाय या विशिष्ट परिणाम का आंशिक भी पतन संभव ही नहीं है, ऐसे ध्यान को व्युपरतक्रियानिवृत्ति, या समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति कहते हैं। इस प्रकार का शुक्लध्यान का चौथा चरम भेद १४ वे अयोगी गुणस्थान के अल्प सीमितकाल में ही होता है। ऐसा ध्यान “मुक्तिवेश्मन” अर्थात् मोक्ष के प्रवेशद्वार समान है। मुक्ति रूपी महल में जाने के लिए प्रवेश द्वार समान है। क्योंकि बस, इस प्रकार के ऐसे ध्यान से अनन्तर समय में मोक्ष की ही प्राप्ति होती है।

अयोगी को ध्यान का संभव कैसे ?

देहाऽस्तित्वेऽप्ययोगत्वं, कथं ? तद् घटते प्रभो ।

देहाऽभावे तथा ध्यानं, दुर्घटं घटते कथम् ? ॥ १०७ ॥

शास्त्रकार महर्षी स्वयं यहाँ शंका उठाते हैं कि... हे प्रभु। “देहास्तित्वे” अर्थात् काया का सूक्ष्मयोग होने पर योगीपना कहलाता है। फिर भी “अयोगी” ऐसा क्यों कहते हो ? यह कैसे घटेगा ? कैसे सुसंगत बैठेगी बात ? इसी तरह “देहाभाव” अर्थात् सर्वथा देह का अभाव हो अर्थात् सर्वथा काययोग का अभाव ही हो तो देह के अभाव में ध्यान

कैसे घटता है ? यह सुसंगत कैसे होगा ? शिष्य की इस शंका के उत्तर में गुरुदेव स्वयं २ गाथा से उत्तर देते हैं—

वपुषोऽत्रातिसूक्ष्मत्वात्छीघ्रं भावी क्षयत्वतः ।

कायकार्यासमर्थत्वात् सति कायेऽप्ययोगता ॥ १०८ ॥

तच्छरीराश्रयादध्यानमस्तीति न विरुध्यते ।

निजशुद्धात्मचिद्रूप-निर्भरानन्दशालिनः ॥ १०९ ॥

शास्त्रकार महर्षी फरमाते हैं कि... इस अयोगी गुणस्थान में सूक्ष्म काययोग होते हुए भी अयोगीपना जो कहलाता है वह कैसे ? ... अतः कहते हैं कि... काया इतनी सूक्ष्मतम क्रियावाली रहती है कि जिससे अतिसूक्ष्मपना गिना जाता है। उस सूक्ष्म काय योग का भी शीघ्र ही क्षय होनेवाला होने के कारण.... “कायकार्यासमर्थत्वात्” अर्थात् शरीर का जो कार्य उसे साधने में काया असमर्थ होने आदि कारणों से काया विद्यमान होते हुए भी... अयोगीपना उचित है।

अब दूसरे समाधान के विषय में कहते हैं कि... “तच्छरीरत्वात्” अर्थात् तथाप्रकार के शरीर के अस्तित्व के आश्रय से ध्यान भी हो सकता है, इसमें कोई विरोध होना संभव नहीं है। किसे विरोध नहीं है ? मात्र अयोगी गुणस्थानवर्ती भगवान् कर सकते हैं। अपने निर्मल परमात्म ज्ञान स्वरूप में तन्मय होने से उत्पन्न हुआ परमानन्दयुक्त होते हैं। अर्थात् ऐसे अयोगी भगवान् को भी सूक्ष्मकाय योगवाली काया के आश्रय से ध्यान हो सकता है। संभव है।

यहाँ गुणस्थान क्रमारेह ग्रन्थकार अयोगी गुणस्थान पर सूक्ष्मकाययोग मानते हैं। जबकि अन्य शास्त्रकार महर्षि अयोगी गुणस्थान पर सूक्ष्म काययोग का भी अभाव मानते हैं। इतना अल्पमात्र मतभेद है। सामान्य बात है।

निश्चय और व्यवहार से ध्यान का स्वरूप—

आत्मानमात्मनात्मैव, ध्याता ध्यायति तत्त्वतः ।

उपचारस्तदन्यो हि व्यवहारनयाश्रितः ॥ ११० ॥

तत्त्वतः अर्थात् निश्चय नय की दृष्टि से... आत्मा स्वयं ध्याता अर्थात् ध्यान का कर्ता है, और वही कारणभूत “साधनभूत” ऐसे आत्मा के द्वारा कर्माधीनपना धारण करनेवाली आत्मा ही ध्याता है। यहाँ स्पष्ट रूप से अष्टांगयोग की प्रवृत्तिरूप दूसरा जो

कुछ उपचार ध्यान के अंग है वह सर्व व्यवहारनय की अपेक्षा से ध्यानरूप ही जानना चाहिए। अष्टांग योग की प्रक्रिया में... जो ध्यानादि की प्रक्रिया है, या मनोयोग को साधने हेतु एकाग्रताकारक जो ध्यान है, उसे व्यवहारध्यान कहते हैं। जबकि ध्याता, ध्यान और ध्येय की एकात्मता जिसमें हो जाय अर्थात् आत्मा ही आत्मा का ध्यान करती हुई आत्मरूप आत्मामय ही बन जाय उसे निश्चय नय का ध्यान कहते हैं।

१४ वे अयोगी गुणस्थान पर कर्मप्रकृतियाँ—

अनादि काल से आत्मप्रदेशों पर लगे हुए कर्म... अभी भी आत्मा पर चिपके हुए हैं। यद्यपि क्षपक श्रेणी करके कर्मों का क्षय करती हुई आत्मा १४ वे गुणस्थान पर पहुँची है, अयोगी बन गई। यहाँ भी कर्म सत्ता में पड़े हैं। कितने उदय में है और कितने सत्ता में पड़े हैं? यद्यपि अब महान अयोगी महापुरुष नए कर्मों का उपार्जन (बंध) नहीं करते हैं, फिर भी पहले के कई कर्म बांधकर रखे हैं, वे अभी भी सत्ता में पड़े हैं। आठ कर्मों में से ४ घाती कर्मों को तो कभी के क्षय कर दिये हैं। नये भी बांधने ही नहीं है। अतः वे ४ घाती कर्म तो सत्ता में भी नहीं रहे हैं। सत्ता में से सर्वथा लोप हो चुके हैं। फिर भी शेष ४ अघाती कर्म जो सत्ता में पड़े हैं उनमें से किस कर्म की कितनी प्रकृतियाँ सत्ता में, उदयादि में पड़ी हैं उसे भी जान लेना आवश्यक है।

आठ कर्मों की कुल उत्तर (अवान्तर) प्रकृतियाँ १५८ हैं। इनमें से ४ अघाती कर्मों की १११ कुल प्रकृतियाँ होती हैं। उनमें से घाती कर्म रहित अयोगी अवस्था में १४ वे गुणस्थान पर... ८५ कर्मप्रकृतियाँ सत्ता में रहती हैं। जिसमें नामकर्म की ८०, गोत्र कर्म की २, वेदनीय कर्म की २, आयुष्य कर्म की १ = कुल ८५। इस तरह ८५ अवान्तर कर्मप्रकृतियाँ चारों अघाती कर्मों की सत्ता में रहती हैं। हाँ, इनमें भी गोत्र तथा वेदनीय कर्मों की दो-दो प्रकृतियों की गणना की गई है। नीच और उच्च गोत्र दोनों हैं। दोनों में से कोई १ ही रहेगी। इसी तरह शाता-अशाता की २ प्रकृतियाँ हैं। ये भी दोनों एक साथ न रहे तो १ गिनें। इससे ८५ - २ = ८३ ही रही। इतनी कर्मप्रकृतियाँ सत्ता में रहती हैं। यह सत्ता का विचार है। सत्ता में रहने का तात्पर्य यह नहीं है कि सभी उदय में भी रहे ही। नहीं। सत्ता में रहने के बावजूद भी उदय में न भी रहे। इस तरह उदय की दृष्टि से विचार करने पर सिर्फ १२ प्रकृतियाँ ही उदय में रहती हैं १४ वे गुणस्थान पर। अघाती की है। शरीरादि-आयुष्यादि की आवश्यकता अनिवार्य है। अतः ४ आयुष्य में से १ मनुष्यायु, १ गोत्र कर्म की, १ वेदनीय कर्म की तथा ९ कर्मप्रकृतियाँ नामकर्म की = इस

तरह कुल १२ प्रक्रिया उदय में रहती हैं। अयोगी को किसी भी कर्म की उदीरणा तो करनी ही नहीं है। अतः वह तो सवाल ही नहीं है। इसी तरह बन्ध में भी बिल्कुल जीरो। किसी भी कर्मप्रकृति का बन्ध तो संभव ही नहीं है।

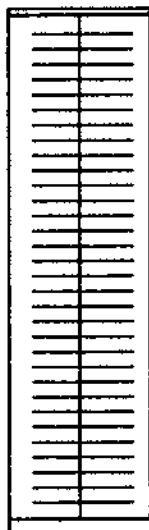
अब तो अन्त में मोक्ष में जाने की तैयारी करनी है। इसलिए उदय और सत्ता में से समूल क्षय—नष्ट करनी ही है। तभी मुक्ति संभव होगी। अन्यथा कर्म के रहते तो मुक्ति संभव ही नहीं है। इसलिए अयोगी महात्मा १४ वे गुणस्थान के उपान्त्य और अन्त्य समय में इस तरह इन दो विभागों में इन सत्तागत ८५ प्रकृतियों का समूल क्षय (नाश) करना प्रारंभ करते हैं।

वे प्रकृतियाँ हैं— शरीर नामकर्म की ५, बंधन नामकर्म की ५, संघातन नामकर्म की ५, अंगोपांग नामकर्म की ३, वर्ण नामकर्म की ५, रस नामकर्म की ६, संघयण नामकर्म की ६, स्पर्श नामकर्म की ८, गन्ध नामकर्म की २, नीचगोत्र की १, अनादेय नामकर्म की १, दौर्भाग्य नामकर्म की १, अगुरुलघु नामकर्म की १, उपघात नामकर्म की १, पराघात नामकर्म की १, निर्माण नामकर्म की १, अपर्याप्त नामकर्म की १, उच्छ्वास नामकर्म की १, अपयश नामकर्म की १, विहायोगति नामकर्म की १, शुभ नामकर्म की १, अशुभ नामकर्म की १, स्थिर नामकर्म की १, अस्थिर नामकर्म की १, देवगति की १, देवानुपूर्वी की १, प्रत्येक नामकर्म की १, सुस्वर की १, दुःस्वर की १ तथा वेदनीय कर्म की १ = इन ७२ प्रकृतियों का सबसे पहले पाँच ह्रस्वाक्षर परिमित कालवाले १४ वे गुणस्थान के उपान्त्य अर्थात् अन्तिम के पहलेवाले समय में क्षय करती है। इन कर्मप्रकृतियों को “मुक्तिपुरीद्वारार्गलोपमाः” कहते हैं। बात भी बिल्कुल सही है। मोक्ष में जाने के प्रवेश द्वार में विघ्नभूत—अन्तरायरूप अर्गला समान ये प्रकृतियाँ हैं। अतः इनका जब तक समूल क्षय न किया जाय तब तक मुक्ति नहीं होती है, रुकती है। इसलिए इनका सर्वथा क्षय करते हैं। निर्जरा करके खपाते हैं। यह बात उपान्त्य समय की थी। उपान्त्य समय में ७२ कर्म की प्रकृतियाँ खपाई। अब अन्तिम समय का क्रम आया। जहाँ हमारी आँख की पलक झपकती है उतने में असंख्य समय बीत जाते हैं। यहाँ गिनति के सीमित समय का ही काल है। वह भी मात्र पंच ह्रस्वाक्षर अ, इ, उ, ऋ और लृ का उच्चार करने जितना काल। बस, अब मात्र इतने समय में अयोगी महात्मा को सब कुछ करना है। उपान्त्य समय में ७२ कर्मप्रकृतियों का क्षय करके बची हुई १३ प्रकृतियाँ अन्तिम समय में खपाते हैं।

ये १३ प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं— कोई १ वेदनीय कर्म, आदेय नामकर्म की १, पर्याप्त नामकर्म की १, त्रस नामकर्म की १, बादर नामकर्म की १, मनुष्यायुष्य की १, सुयश नामकर्म की १, मनुष्य गति नामकर्म की १, मनुष्यानुपूर्वी नामकर्म की १, सौभाग्य नामकर्म की १, उच्च गोत्र की १, पंचेन्द्रिय नामकर्म की १ तथा अन्त में तीर्थंकर नामकर्म की १, ऐसी कुल मिला कर १३ प्रकृतियों का क्षय १४ वे गुणस्थान के बिल्कुल अन्तिम समय में करते हैं। अब वे सर्वथा निरावरण बन जाते हैं। कर्म के आवरण का सर्वथा—सर्वांश समूल क्षय हो जाने के पश्चात् आत्मा सीधी ही मोक्ष में पहुँच जाती है।

अनादि से लेकर आज दिन तक के बीते हुए अनन्त काल में प्रथम बार आत्मा कर्मावरणरहित बनती है। बीते हुए अनन्त काल में कभी भी कर्म के बादलों का आवरण क्षीण नहीं हुआ था, नहीं हटे थे, जो अनन्तकाल बाद आज प्रथमबार हटे, क्षीण हुए। बस, बन्धन से पहली बार मुक्ति मिली। संसार की जेल, शरीर की पराधीनता, और कर्म की गुलामी में से आत्मा पहली बार मुक्त हुई। स्व-स्वरूप का, अपने ही शुद्ध स्वरूप का पहली ही बार उसे अनुभव हुआ - रसास्वाद हुआ। इस आनन्द की कल्पना कौन कर सकता है? कर्मों का गुलाम बिचारा क्या उसका स्वाद चखे? सही अर्थ में उस पूर्ण आनन्द का ख्याल तो उसीको आएगा जो स्वयं मुक्त बना है। सिद्ध बना है। या जो केवली सर्वज्ञ बने हैं, उनको ख्याल आएगा। वे ही उस सिद्ध स्वरूप का वर्णन कर सकते हैं, अन्यथा कोई समर्थ ही नहीं है। सर्वज्ञ प्रभु लोकालोक—ज्ञानधारक है। त्रिकालज्ञानी है। त्रिलोकज्ञानी है। अतः केवलज्ञान से समस्त लोकालोकव्यापी, सर्वजीव एवं सर्व परमाणुव्यापी परमात्मा के लिए अब क्या छिपा हुआ है? जहाँ सब कुछ हस्तामलकवत्, या प्रदीपवत् प्रत्यक्षीकरण होता है, वहाँ क्या शेष रहता है? कुछ भी नहीं। आज जो भी और जितना भी ज्ञान उपलब्ध है, उपयोग में है, या जगत् में आया है वह सब एक मात्र सर्वज्ञ परमात्मा से ही आया है। जैसे नदियों का मूल हिमालयादि पर्वत होते हैं, वहाँ से स्रोत बहते रहते हैं। ठीक उसी तरह ज्ञान का मूल उद्गम स्रोत सर्वज्ञ परमात्मा ही होते हैं। यह उन्हीं की असीम कृपा का परिणाम है कि आज ऐसे कलियुग में तत्त्वों का यथार्थ एवं गहन ज्ञान उपलब्ध है। मोक्ष में गई हुई कोई मुक्तात्मा-सिद्धात्मा कहने के लिए पुनः संसार में आने ही नहीं है। आखिर क्यों आएंगी? अशरीरी जो ठहरे। अतः सिद्धों का स्वरूप तथा सिद्ध बनने की इस प्रक्रिया का भी सारा स्वरूप सर्वज्ञ प्रभु ही वर्णित करते हैं। गुणस्थानों का सारा स्वरूप तथा किस गुणस्थान पर क्या होता है? इस सारी प्रक्रिया का स्वरूप सर्वज्ञ प्रभु ने ही वर्णित किया है।

कर्मक्षय के समय ही मोक्ष—



क्षयं नीत्वा स लोकान्तं, तत्रैव समये व्रजेत् ।

लब्धसिद्धत्वपर्यायः, परमेष्ठी सनातनः ॥ ११९ ॥

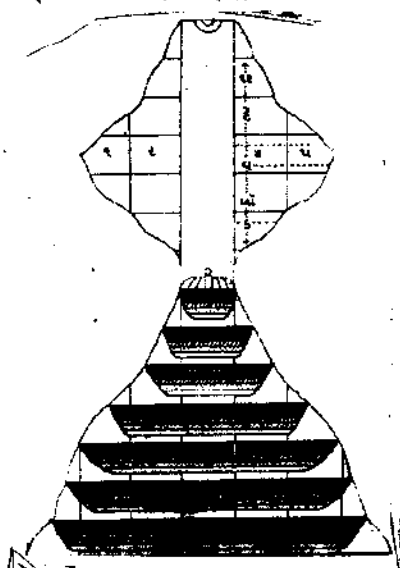
१४ वे गुणस्थान का कुल काल ही पंच ह्रस्वाक्षर उच्चार मात्र ही है । उसमें पहले के समयों तक तो ८५ कर्मप्रकृतियाँ सत्ता में हैं । उनमें से १२ उदय में हैं । उपान्त्य अन्तिम के आगे के पहले समय में ७२ कर्मप्रकृतियों का क्षय, तथा अन्तिम समय में शेष १३ कर्मप्रकृतियों का क्षय करते हैं । तथा जैसे ही क्षय हुआ नहीं कि बस, .. समयान्तर भी नहीं करना है, अर्थात् दूसरा समय भी नहीं लेना है और उसी समय में द्रुत गति से कर्म रहित वह आत्मा सीधी लोकान्त में चली जाती है । मुक्ति के धाम में पहुँच जाती है । वह आत्मा उसी समय सिद्धपना धारण कर लेती है । बस, अब सिद्धपना जो धारण

किया वह अनन्त काल तक एक ही स्वरूप में स्थिर रहेगा । अतः अनन्त काल तक अपरिवर्तनशील रहेगा । यह अन्तिम पर्याय है । वैसे तो संसार में परिभ्रमण काल में इस आत्मा ने अनन्त x अनन्त ऐसी अनन्तानन्त पर्यायें धारण की हैं । शायद संसार की एक भी पर्याय छोड़ी नहीं होगी । अब पर्यायान्तर भी नहीं करना है । किसी भी प्रकार की नई पर्याय न तो धारण करनी है या न ही वर्तमान कालीन सिद्ध की पर्याय बदलनी है । जी नहीं । यह भी सिद्ध का अर्थ है । सिद्ध बनना मतलब अन्तिम कक्षा की पर्याय धारण करनी है । अन्तिम उसी को कहते हैं जिसके बाद पुनः दूसरी धारण ही न करनी पड़े । अपरिवर्तनशील पर्याय धारण करनी है । यद्यपि आत्मा का अस्तित्व अनादि काल से है और भावि में भी अनन्त काल तक रहने ही वाला है । सिद्ध बनने के बाद भी अनन्त काल तक का अस्तित्व है ही । रहता ही है । न तो कभी काल का अन्त आता है और न ही कभी आत्मा के अस्तित्व का अन्त आता है । अतः आत्मा के अस्तित्व का अभाव अनन्त काल में भी कभी नहीं होता है ।

बौद्ध दर्शन मतावलम्बी जो आत्मा के अस्तित्व का सर्वथा अभाव मानते हैं वे मोक्ष को भी सर्वथा अभावात्मक ही मानते हैं । अतः अभाव का क्या स्वरूप होता है ? जैसे शशशृंग, वन्ध्यापुत्र, खपुष्प, आदि की तरह जिसका सर्वथा अभाव ही मानना है तो फिर अभावात्मक की मुक्ति का वर्णन करना इससे बड़ी मूर्खता और क्या हो सकती है ? यह

तो कैसी बात है जैसे कि वन्ध्या पुत्र की शादी का अद्भुत वर्णन करना, या खपुष्पो से महल को सजाना या शशशृंग से खुदाई की हुई जमीन पर खेती करके उसके फलों का मधुर भोजन करने जैसी बात है। यदि कोई ऐसा वर्णन करता भी है तो वह कैसा मूर्ख कहलाएगा ? उसकी कल्पना करिए ! जब वन्ध्या का पुत्र ही नहीं है तो फिर उसकी शादी रचाने के दिवास्वप्न जैसी बात करनी। या जब ख = आकाश का कोई फूल जब होता ही नहीं है तो फिर उससे महल सजाने की बात कितनी बड़ी मूर्खताभरी कहलाएगी ? ठीक उसी तरह आत्मा का अस्तित्व ही न माननेवाले के लिए मोक्ष की बात करनी सबसे बड़ी मूर्खता की बात होगी। इसलिए मोक्ष—मुक्ति मानने का अधिकार उसी को है जो आत्मा के अस्तित्व और स्वरूप को सही शुद्ध अर्थ में मानते हो। अन्यथा कदापि नहीं।

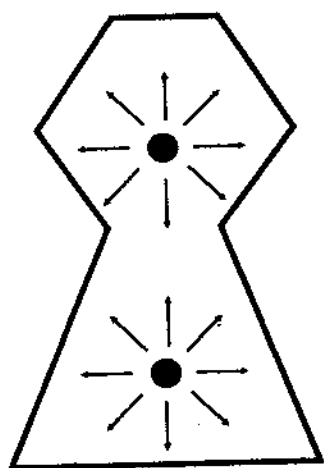
मोक्ष का भौगोलिक स्थान—



अन्त में आत्मा देह छोड़कर जाती है। यह शाश्वत सत्य बिल्कुल सही है। इस प्रकार की वाक्य रचना में “जाना” शब्द है। संस्कृत की “गम्” धातु जाने के अर्थ में प्रयुक्त है। आखिर आत्मा जाती है तो इस प्रकार के वाक्य प्रयोग में “जाना” किस स्थान का सूचक है ? “जाना” क्रिया में किसी स्थान विशेष का सूचक अभिप्रेत अर्थ है। इसलिए आत्मा अन्त में देह छोड़कर जाती है तो कहाँ जाती है ? यह प्रश्न अवश्य उठेगा। कहाँ शब्द भी स्थान का सूचन करता है। ठीक उसी तरह जाना क्रिया भी स्थान का निर्देश करती है। शास्त्र ने उत्तर में स्पष्ट कह दिया कि मोक्ष में जाती है। परन्तु मोक्ष शब्द से स्थानविशेष का स्पष्ट निर्देश नहीं होता है। इसलिए मोक्ष का भौगोलिक स्थान विशेष का निर्देश “लोकान्त” शब्द से किया है।

अनन्त अलोक के बीच लोक क्षेत्र है। यह मानों बड़े गोले के बीच के केन्द्र बिन्दु की तरह प्रतीत होता है। अनन्तगुणे अलोक के मध्य केन्द्र में अनन्तवें भाग के छोटे से रूप में है। (इसका चित्रों के साथ वर्णन प्रारम्भ में इसीलिए दिया है कि जिससे कोई भी

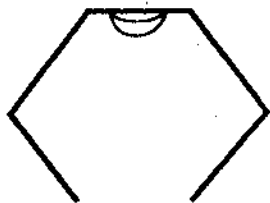
स्पष्ट रूप से समझ सकें। इसी हेतु से पहले देना मुनासिब समझा कि जिससे आगे जहाँ जहाँ भी भूगोल—खगोलादि लोक संबंध विषय जब भी आए तब समझने की सुविधा अच्छी रहे।) ग्रन्थकार महर्षिने “लोकान्त” शब्द का प्रयोग किया है। तथा “सिद्धाणं बुद्धाणं” सूत्र में “लोअग्ग मुवगयाणं” में “लोकाग्र” शब्द का प्रयोग किया है। लोक का “अग्र” और लोक का “अन्त” इन दोनों शब्दों का प्रयोग मिलता है। आखिर दो में से कौन सा शब्द सही और कौन सा गलत है? तात्पर्यार्थ देखने पर दोनों शब्द सही हैं। एक भी गलत नहीं है। दोनों एक ही अर्थ का निर्देश करते हैं। अन्त शब्द से लोक का अन्त अभिप्रेत है। लेकिन किस दिशा का अन्त लेना? क्योंकि अनन्त अलोक के मध्य में आकाश में लटकते हुए त्रिशंकु की तरह संपूर्ण लोक लटक रहा है। इसलिए किसी भी दिशा में जाने पर लोक का अन्त तो आएगा ही। इस तरह चारों दिशा में जाने पर भी अन्त तो आएगा ही। विदिशा में जाने पर भी अन्त आता है, और ऊर्ध्व अधो दिशा में जाने पर भी अन्त आता ही है।



इसलिए आत्मा किसी भी दिशा में जाती है ऐसा अर्थ निकल सकता है। लेकिन यह बैठता नहीं है। इससे अधो दिशा में अन्त या ऊर्ध्व दिशा में अन्त या क्या समझना? अधो दिशा में मुक्त आत्मा का गमन तो वैसे भी संभव नहीं है। क्योंकि कर्म के भार स भारी हुई या दबी हुई हो तो ही आत्मा का अधोगमन होता है। अनेक प्रकार के भारी कर्म करके तो आत्मा अनन्त बार अधो लोक में नरक में जाकर आई है। अब तो सर्वथा कर्मरजरहित ही हो चुकी है आत्मा। अतः नीचे अधो दिशा में जाने का कोई

प्रयोजन ही नहीं रहता है। इसी अन्य किसी दिशा या विदिशा में भी जाने का सवाल ही नहीं खड़ा होता है। इसलिए “लोकाग्र” शब्द का निर्देश किया है। लोक का अग्र भाग कहा है। अग्र भाग से सीधा अर्थ लोक के ऊपर का आगे का भाग। यही अभिप्रेत है।

यह समस्त लोक जो १४ रज्जु परिमित है। इसलिए १४ राजलोक प्रमाण समस्त लोक क्षेत्र है। चित्र सामने रखने पर स्पष्ट हो जाता है कि अग्रभाग कौन सा होता है? कहाँ होता है? अग्र शब्द भी ऊपर के भाग का सूचक है। और आत्मा का सीधे ऊर्ध्वगमन

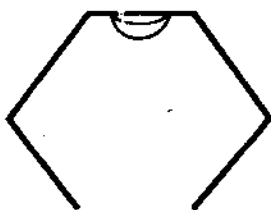


ही होता है उससे भी ऊपर का अग्र भाग ही लक्षित होता है। अतः समस्त चतुर्दश रज्जु परिमित लोक का ऊपरी अन्तवाला अग्र भाग ही मोक्ष का भौगोलिक स्थान है। यहाँ अन्त शब्द लोक के साथ जोड़कर “लोकान्त” शब्द बनाकर जो दिया है वह और भी रहस्य खोलते हुए स्पष्ट करता है कि लोक के अन्त अर्थात् अन्तिम सीमा तक आत्मा पहुँचती है। अतः उसे ही लोकान्त कहना उचित है। जैसे ही आत्मा ने देह छोड़ा

वैसे ही सीधे ऊर्ध्व दिशा में ऊपर की तरफ सीधी जाती है। कोई भी उसका बाधक—अवरोधक बन ही नहीं सकता है। अतः अभेद्य रूप से सीधी ऊर्ध्व दिशा में जाकर लोकान्त में ही रुकती है। जहाँ सिद्धात्मा रुके वह लोकान्त है, या जहाँ लोकान्त है वहाँ आत्मा रुकती है।

लोकान्ते सिद्धशिला—

“तदनन्तरमूर्ध्व गच्छत्यालोकान्तात्”

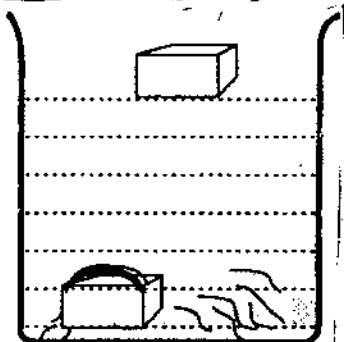


“तदनन्तर” शब्द... कर्मक्षय के अनन्तर अर्थात् बाद में ऐसा अर्थ स्पष्ट होता है। कर्मक्षय के पश्चात् ही आत्मा मुक्त होकर ऊपर जाती है। अतः तत्त्वार्थ के इस सूत्र में “ऊर्ध्व” शब्द स्पष्ट रूप से ऊर्ध्व लोक ऊपर की दिशा का निर्देश करता है। अब ऊपर

जाते हुए... कहाँ तक जाना उसके लिए आलोकान्तात् “शब्द” है। अलोक नहीं परन्तु लोकान्त शब्द है। लोक के अन्तिम भाग तक। १४ राजलोक के लोक में नीचे से एक एक राज गिनने पर... अन्तिम चौदहवें राज में ऊपर सिद्धशिला आती है। जो उल्टी छत्री या छत्र को उल्टा रखो वैसी गोलाकार स्थिति में है। लेकिन एक तरफ की दिशा में कैसी दिखेगी? अष्टमी के चांद के जैसी दिखाई देती है। अतः चित्रांकन भी वैसा ही किया गया है।

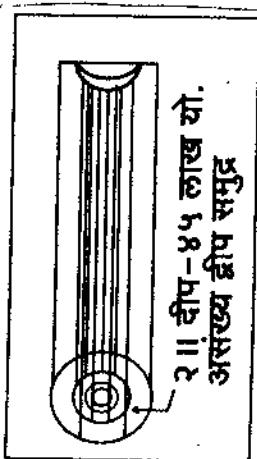
‘शिला’ शब्द पृथ्वीवाचक होने से पत्थर की शिला कहते हैं। जी हों... पाषाण की होने से यह पृथ्वीकाय के एकेन्द्रिय जीवों के पिण्ड से निर्मित है। अतः पृथ्वीकायिक है। स्फटिकरत्नमय है। सादृश्यता की तुलना देने हेतु सिद्ध स्फटिक रत्न की उपमा दी है। यह पार्थिव देहमय है। अतः नामकरण करने में वैसे पाषाणा शिला कह सकते थे? परन्तु निवास की प्राधान्यता की दृष्टि से सिद्ध भगवन्तों का निवास उसपर होने के कारण सिद्धशिला नामकरण ही उचित है। यद्यपि सिद्ध परमात्मा इस शिला का स्पर्श मात्र भी नहीं करते हैं। उनको इस शिला पर बैठना भी नहीं है। वे तो लोकान्त का स्पर्श करते रहते हैं।

सिद्धशिला-



अलोक के आकाश को जहाँ लोक क्षेत्र का ऊपरी अन्तिम किनारा जहाँ स्पर्श होता है उस लोकान्त की सीमा से नीचे की ओर १ योजन के अन्तर के पश्चात् सिद्धशिला नामक

पृथ्वी आई हुई है। ‘सिद्ध’ शब्द सिद्ध भगवन्तों का वाचक है और ‘शिला’ शब्द यहाँ पृथ्वीवाचक है। जैसे वैमानिक देवलोक की पृथ्वियाँ हैं, मनुष्य क्षेत्र (लोक) की असंख्य द्वीपों की पृथ्वियाँ हैं, या सात नरक क्षेत्र की सातों पृथ्वियाँ हैं, बस, वैसी ही यह सिद्धशिला भी पृथ्वीविशेष है। यहाँ सिद्धों का निवास इसके ऊपर होने से उनका नाम साथ में जुड़ने से सिद्धशिला के रूप में पहचानी जाती है। यह पृथ्वी स्फटिकरत्नमय है। बिल्कुल



स्फटिकमय शुद्ध सफेद है। ऊपरी भाग में तो सपाट है। थाली के जैसी पूरी गोल है। लेकिन एक दिशा से चित्र देखने पर अष्टमी के चांद की तरह दिखाई देगी परन्तु मूलतः पूर्ण गोल है। विष्कंभ अर्थात् लम्बाई-चौड़ाई माप-प्रमाण में ४५ लाख योजन परिमित है। मध्यलोक में मनुष्य क्षेत्र जिसमें असंख्य द्वीप-समुद्र हैं। और उसके भी मध्य में अढाई द्वीप-समुद्र हैं और वे भी ४५ लाख योजन विस्तारवाले ही हैं। अतः ४५ लाख योजन विस्तारवाला ही मनुष्य क्षेत्र अढाई द्वीप प्रमाण है। ठीक उसी तरह उतनी ही माप की ऊपर उल्टे छत्र समान

सिद्धशिला है। यह भी ४५ लाख योजन विस्तारवाली है। मनुष्य क्षेत्र के मापवाली ही है। अतः मनुष्य ४५ लाख योजन विस्तारवाले अढ़ाई द्वीप के किसी भी भाग में से मोक्ष में जा सकता है।



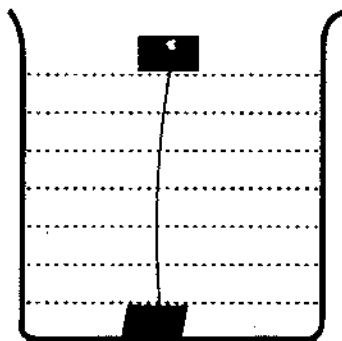
यह सिद्धशिला बराबर मध्य भाग में ८ योजन जाड़ी मोटी है। मध्यभाग से फिर दोनों चारों तरफ जाने पर क्रमशः मोटाई—जाड़ाई घटती जाती है। और घटते—घटते इतनी ज्यादा घटती जाती है कि मक्खी के पंख जैसी पतली बन जाती है किनारे के भाग पर। बस, इसी कारण दूज के चन्द्रमा की तरह इसके आकार को उपमा दी जाती है। इस सिद्धशिला की पृथ्वी का नाम “ईषत्प्राग्भारा” है।

सर्व कर्मक्षय—

“कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः” तत्त्वार्थ सूत्र में मोक्ष सूचक इस सूत्र में “कृत्स्न” शब्द सर्व कर्मों का संपूर्ण—सर्वथा क्षय का सूचक है। व्याख्यान में “आत्यंतिक” क्षय करने के अर्थ में है। अंशमात्र भी कर्म शेष न रहे तभी मोक्ष होता है, अन्यथा नहीं। मोक्ष शब्द जो दो अक्षरों का बना हुआ है, इन दोनों अक्षरों को अलग—अलग स्वतंत्र करके एक—एक अक्षर का अर्थ निकाल कर देखेंगे तो यह ‘मोक्ष’ शब्द ही अपना स्वरूप स्पष्ट करता है। मो + क्ष = मोक्ष “मो” अक्षर मोहनीय कर्म का प्रथम अक्षर है— मोह का सूचक है। वाचक है। आठ कर्मों का मुख्य राजा ही मोहनीय कर्म है। शेष सभी कर्म इस मोह राजा के पीछे की सेना है। “क्ष” अक्षर क्षय का वाचक—सूचक है। इस तरह दोनों अक्षर मिलकर बने हुए मोक्ष शब्द का स्पष्ट निर्देश ही यह है कि... मोहादि आठों कर्मों का सर्वथा क्षय करना है। इसलिए ‘कृत्स्न’ शब्द प्रयोग से सूत्रकार महर्षी सर्वथा—सर्वांशिक—संपूर्ण अर्थ में कर्मों का क्षय करने का सूचन करते हैं। सूक्ष्मतम कर्मण वर्गणा के पुद्गल—परमाणु जो आत्मा के प्रदेशों पर अनन्तानन्त लगे हुए हैं उन सबका आत्यन्तिक क्षय नाश होता है। तभी मोक्ष की प्राप्ति संभव होती है। १४ वे गुणस्थान अयोगी केवली पर... केवलज्ञानी सर्वज्ञ प्रभु सर्व कर्मों का सर्वथा क्षय करके मुक्त होते हैं। योग निरोध के कर्मों का सर्वथा क्षय करके मुक्त होते हैं। योग निरोध के पश्चात् शैलेशीकरण करके सदा के लिए मुक्ति के धाम में पहुँच जाते हैं।

ऊर्ध्वगमन—

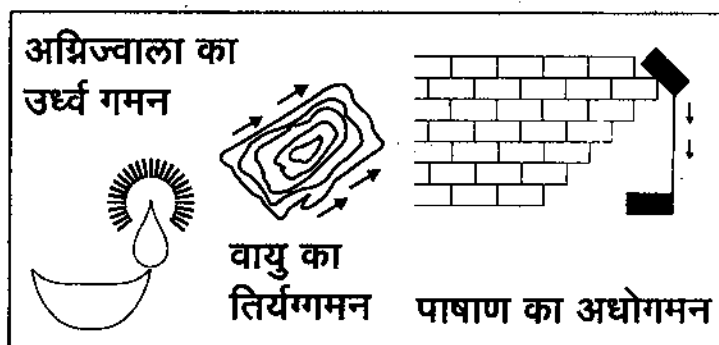
“तदनन्तरमूर्ध्व गच्छत्यालोकान्ताद्” १०-५ । इस तरह सर्व कर्मों का क्षय करके आत्मा सीधी मोक्ष में जाती है । मोक्ष में जाने के लिए उसे सीधे ऊपर ही जाना है । इसीलिए ऊर्ध्वगमन शब्द का प्रयोग तत्त्वार्थसूत्रकार ने किया है । ऊर्ध्वगमन कैसे होता है ? इसको सामान्य दृष्टान्तों से समझाते हुए भी स्पष्ट किया है—



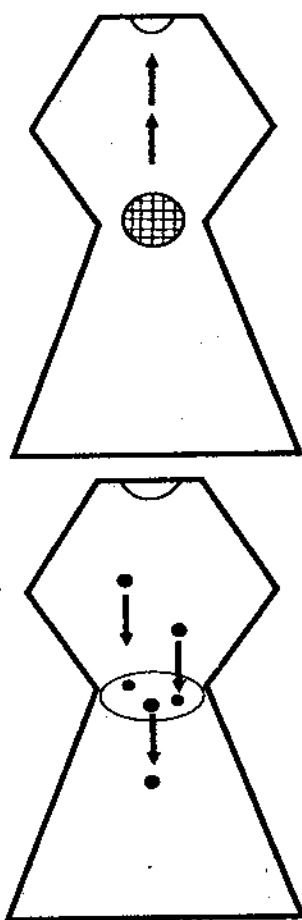
१) जैसे एक पानी की टंकी या हौज में पत्थर के साथ बांधकर एक लकड़े के टुकड़े को पानी में डाल दिया हो और कालान्तर में रस्सी का बंधन टूटने पर पत्थर के बंधन से छुटकारा पानेवाला लकड़ा सीधा ऊपर आ जाता है । सहज स्वाभाविक रूप से काष्ठ ऊपर ही आएगा और पानी पर तैरेगा । वह अन्य किसी दिशा में न जाते हुए सीधे ऊपर आता है । इस दृष्टान्त की तरह आत्मा जो कर्म के बंधन से बंधी हुई आत्मा

कर्म के बंधन के टलने पर बंधन के अभाव में सहज स्वाभाविक गति से आत्मा भी ऊपर उठकर ऊर्ध्वगमन करती हुई सीधी मोक्ष में—सिद्धशिला पर पहुँचती है ।

२) अग्निज्वाला — “लौ” की भी ऊर्ध्वगति का स्वभाव होता है । वायु का तिच्छर्गमन करने का स्वभाव है । पाषाण के भार के कारण अधोगमन करने का स्वभाव है ।



इस तरह सबका अपना—अपना सहज स्वाभाविक स्वभाव है । सहज स्वभाव विपरीत नहीं होता । उल्टा नहीं चलता । जैसे उनका स्वभाव है । ठीक उसी तरह आत्मा



का ऊर्ध्वगमन का सहज स्वभाव है—
अतः कर्मावरणरहित आत्मा
ऊर्ध्वगमन करती है। क्योंकि जड़
पुद्गल परमाणु स्वरूप जो कर्मण
वर्गणा भी उसका भार था, बंधन था
वह छूट गया। निकल जाने से आत्मा
सीधी ऊर्ध्वगमन करके ऊपर जाती
है। मोक्ष जाती है। ठीक इससे
विपरीत कर्म के भार के कारण यही
संसारी आत्मा संसार में भारवाली
बनकर नीचे गिरती है। पतन होता है।
पत्थर जैसे भार के कारण पतित होकर
नीचे गिरता है ठीक उसी तरह आत्मा
भी कर्म के भार के कारण नीचे गिरती
है। अधोदिशा में गमन करती है।
अब आत्मा की स्वाभाविकता चली
गई, नहीं रही और कर्म की
स्वाभाविकता आ गई। अतः कर्म की
स्वाभाविकता आत्मा के लिए
विभाविकता—विकृति कहलाएगी।

जैसे मिट्टी का लेप लगाकर किसी लकड़े विशेष को पानी में डाला जाय। लकड़ा
जो सहज स्वाभाविक रूप से हल्का होने के कारण ऊपर ही आता है। लेकिन मिट्टी के
भार ने उसे नीचे गमन कराया है। अब वह पानी में नीचे पड़ा है। जैसे मिट्टी पानी में
भीगकर पिघल जाएगी वैसे ही लकड़ा पुनः उठकर ऊपर आ जाएगा।

दूसरा एक दृष्टान्त शास्त्रों में एरण्ड बीज का मिलता है। एरण्ड बीज जो अपने
कवच में बंधा हुआ रहता है लेकिन जैसे ही कवच का मुँह खुलते ही बीज ऊपर उठकर
बाहर आता है। यह उसका सहज स्वाभाविक स्वभाव है। ठीक उसी तरह आत्मा का भी

सहज स्वाभाविक स्वभाव ऊर्ध्व दिशा में ऊर्ध्वगमन करने का ही है । मात्र कर्मबंधन छूटने की ही देरी है । कर्मबंधन का आवरण टलते ही आत्मा ऊर्ध्वगमन कर जाती है ।

ऊर्ध्वगति क्यों और कैसे होती है ?—

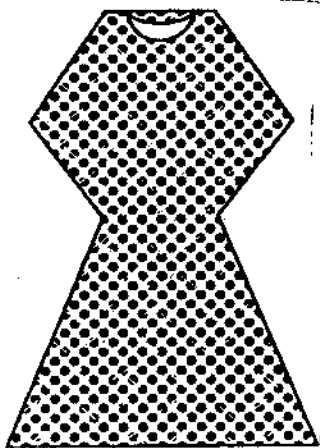
पूर्वप्रयोगाद् असंगत्वात्, बन्धविच्छेदात्, तथा गतिपरिणामाच्च तद्वृत्तिः ॥ १०-६ ॥ तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वातिजी म. ने इस सूत्र में ऊर्ध्वगति के ४ प्रमुख कारण बताए हैं । १) पूर्व प्रयोग से, २) असंग से, ३) बंध के विच्छेद से, ४) तथा गति के परिणाम से ये चार मुख्य कारण बताए हैं । यहाँ प्रश्न यह उठता है कि... १) सब कर्मों का क्षय होने से आत्मा की गति ऊर्ध्व ही क्यों होती है ? तिछीं या अधो क्यों नहीं होती है ? २) संसारी आत्मा की गति तिछीं, अधो, ऊँची तीनों प्रकार की होती है तो फिर मुक्त होनेवाली आत्मा की सिर्फ ऊर्ध्व ही क्यों ? ३) गति में योग यदि सहायक हो तो फिर योगों के अभाव में भी गति क्यों होती है ? इन तीनों प्रकार के प्रश्नों का समाधान करने के लिए तत्त्वार्थकार महर्षी ने सूत्र में ४ विशिष्ट विशेषणों का समावेश करके उत्तर दिया है । अतः क्रम से एक एक समझने से स्पष्टीकरण होगा ।

मुक्त बनेवाली आत्मा ने यहाँ पर ही योग—निरोध, शैलेशीकरणादि करके समस्त कर्मों का क्षय कर ही दिया है, अतः वह आत्मा यहीं मुक्त हो चुकी है । कर्म के बंधन से मुक्ति यही सही मुक्ति है । वह तो यहाँ पर ही हो चुकी है । जीव को क्षेत्र का बंधन तो है ही नहीं । सिद्धशिला के ऊपर, लोकान्त के अन्तिम किनारे तक जीव ने सूक्ष्मावस्था में एकेन्द्रिय के भवों में वहाँ भी जन्म—मरण कर लिए । वह सूक्ष्म पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु तथा साधारण वनस्पति के भवों में सिद्धशिला पर भी जाकर आया । वहाँ भी जाकर आया । अरे ! सिद्धशिला ही एकेन्द्रिय पृथ्वीकार के जीवों की ही बनी हुई है । आज भी और सदाकाल सिद्धशिला के ऊपर—लोकान्त तक सूक्ष्म एकेन्द्रिय नाम कर्म के उदयवाले—सूक्ष्मपने के उदयवाले पृथ्वी—पानी—अग्नि—वायु—साधारण वनस्पतिकाय के अनन्त जीव वहाँ हैं । मौजूद हैं । उनका अस्तित्व वहाँ हैं । वे वहाँ अनन्त सिद्धों का स्पर्श भी करके आए । क्योंकि है ही एक इन्द्रियवाले, इसलिए स्पर्श से ज्यादा अनुभव तो और किसी भी विषय का कर ही नहीं सकते हैं । चक्षु आदि अन्य इन्द्रियाँ आदि तो कुछ है ही नहीं । अतः देखने आदि की बात तो उपस्थित होती ही नहीं है । और स्वयं सूक्ष्मत्व की जाति के इतने सूक्ष्मतम स्वरूपवाले देहधारी हैं कि उनको सिद्ध का स्पर्श हो भी जाय तो भी क्या अनुभव होगा ? अरे ! यहाँ जब हवा (वायु) स्थूल स्वरूप में है फिर

भी बहती हुई हवा प्रभु प्रतिमा को या साक्षात् विचरते हुए भगवान को भी स्पर्श कर ले तो भी क्या अनुभव होगा ? जबकि सिद्धशिला पर वह तो सूक्ष्मस्वरूपी एकेन्द्रिय है ।

पत्तेय तरुं मुत्तुं पंचवि पुढवाइणो सयल लोए ।

सुहुपा हवन्ति नियमा, अंतमुहत्ताउ अदिसा ॥



जीवविचार ग्रन्थकार स्पष्ट लिखते हैं कि प्रत्येक वनस्पतिकाय के पेड—पौधों को छोड़कर शेष सभी पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और सूक्ष्म साधारण वनस्पतिकाय के सभी एकेन्द्रिय जीवों का अस्तित्व संपूर्ण १४ राजलोक में है । वे सभी सूक्ष्मतम स्वरूप में हैं । तथा अदृश्य हैं । हम अपनी चर्म चक्षु से कदापि उन्हें देख ही नहीं सकते हैं । अतः वे केवली के ज्ञान से ही गम्य एवं ग्राह्य हैं । वे सभी

सूक्ष्म जीव मात्र अन्तर्मुहूर्त के आयुष्यवाले हैं । सिर्फ ४८ मिनिट के दो घडी के अंतर्मुहूर्त परिमित काल में उत्पन्न होने तथा मरने के स्वभाववाले हैं । ऐसे ये सभी सूक्ष्म जीव १४ राजलोक में कहीं भी हो उनको उस स्थान—क्षेत्र विशेष से कोई फरक नहीं पडता है । अतः वे सिद्धशिला पर हो या ७ वीं नरक के कोने में हो या हमारे यहाँ के आकाश प्रदेश में हो ... या कहीं भी हो, उससे क्या फरक पडता है ? क्षेत्रविशेष से वे सिद्धशिला के ऊपर के भाग में हैं अतः उनको मोक्ष में गए या मुक्त हो गए ऐसा कहना सर्वथा गलत है । ऐसे सूक्ष्म जीवों में अतिव्याप्ति न हो जाय इसलिए कर्म का क्षय होना ही चाहिए । अतः यही लक्षण किया गया है कि— “कर्ममुक्ति किल मुक्तिरेव” कर्म से मुक्ति ही सही मुक्ति है । यह लक्षण करने से एकेन्द्रिय जो सूक्ष्म जीव हैं वे कर्म सहित, कर्म के बंधनवाले हैं अतः उनकी मुक्ति नहीं समझनी है, परन्तु कर्म के बंधन से मुक्ति को ही सही वास्तविक मुक्ति समझनी चाहिए । इसलिए समस्त लोक में रहने के साथ साथ यदि वे सिद्धशिला पर भी सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव रहते हैं तो वे संसारी ही कहलाते हैं । सिद्ध कदापि नहीं । अभी उन सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों को अनन्त काल तक संसार चक्र में परिभ्रमण करना ही पडेगा । इस ८४ लक्ष जीवयोनियों में चारों गति में परिभ्रमण करते हुए अनन्त जन्म—मरण बिताने पडेगे ।

तब जाकर वह सिद्ध बनने की भ्रमण कक्षा में आएगा। तब मुक्ति का लक्ष्य बनेगा। आखिर “कृत्स्न” = सर्व कर्मों का क्षय होगा, तब जाकर उस जीव की मुक्ति होगी। इसकी पूरी प्रक्रिया समझने के लिए... तथा सूक्ष्म स्वरूप एकेन्द्रिय के निगोद जीव से लेकर मुक्ति तक का संपूर्ण स्वरूप समझने के लिये ही प्रस्तुत पुस्तक है। इसे साधन्त पूरी पढ़ने—समझने से ही संसार से मुक्त होने की पूरी प्रक्रिया समझ में आएगी। अतः मात्र क्षेत्र मुक्ति ही मुक्ति नहीं अपितु कर्म मुक्ति, भव मुक्ति आदि के सभी प्रकार अच्छी तरह समझने अनिवार्य हैं।

१) पूर्व प्रयोग—



तत्त्वार्थ सूत्रकार ने सूत्र में पूर्व प्रयोग शब्द का प्रयोग किया है। पूर्व शब्द “पहले” के अर्थ में है। पहले की क्रिया का जो प्रयोग किया हो उससे होनेवाली आगे की क्रिया का प्रयोग यह सर्व अभिप्रेत है। उदाहरणार्थ जैसे चालु पंखे की ‘स्वीच ओफ’ अर्थात् बटन बंद कर देने के बाद भी थोड़ी देर तक वह चलता ही रहता है। यद्यपि बंद होने की दिशा में ही है। अतः गति की तीव्रता जरूर कम हो गई और मन्द बन चुकी है, फिर भी स्थिर होने में अभी भी समय लगेगा, तब तक वह गति में घूमता ही रहेगा। पहले तो बिजली उसकी तीव्र गति में कारण थी, अब बिजली का करन्ट बन्द हो चुका है, कोई कारण नहीं है फिर भी बराबर घूम रहा है पंखा।

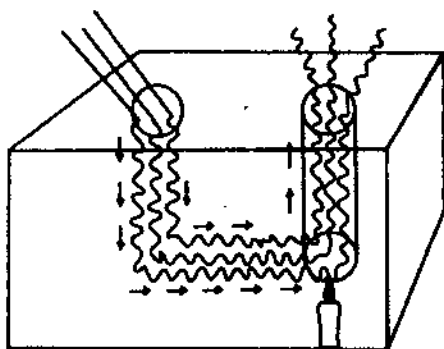
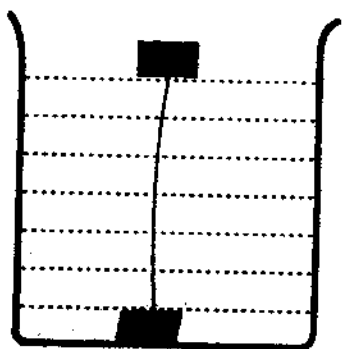
इसी तरह दूसरा दृष्टान्त कुम्हार के चाक का है। घड़े बनानेवाला कुम्हार जिस चाक पर घड़े बनाता है वह मिट्टी का ढेला चाक पर रखकर चाक को दंड से घुमाता जाता है इसी

कारण चाक घूमता जाता है और घड़े को आकार देता जाता है। ऐसे में वह बीच में ही घुमाना छोड़ देता है। फिर भी चाक अपनी घूटी पर घूमता ही रहता है। उसे स्थिर होने में देरी लगेगी। लेकिन कोई प्रेरक या कारक कोई भी न होने पर भी चाक स्थिर न होने तक घूमता रहेगा।

तीसरा प्रयोग तीर—धनुष्य का है। कोई व्यक्ति खींचतानकर... धनुष्य पर से बाण छोड़ दे तो वह तीर आकाश में काफी लम्बे तक जाता है। लेकिन आकाश में अब तो कोई गति करानेवाला है ही नहीं। तीर छोड़नेवाले ने तो दोरी खींचकर छोड़ दी। उसके पश्चात् आकाश में अब कोई प्रेरक—कारण नहीं है। फिर भी आकाश में १ माइल तक भी तीर गति करता है।

ये पूर्व प्रयोग के दृष्टान्त हैं। इन प्रयोगों में पहले (पूर्व) जो शक्ति लग गई उसीसे आगे अर्थात् बाद में भी गति की क्रिया चलती रहती है। ठीक उसी तरह आत्मा के विषय में भी समझना चाहिए। पहले जब आत्मा देहधारी अवस्था में थी और उस समय जिस प्रकार तीनों योगों की जो क्रिया चलती थी, उसमें अचानक योगों की क्रिया बन्द हो जाने पर... भी अर्थात् योगनिरोध—शैलेशीकरण—अयोगी अवस्था के हो जाने पर देह त्याग के बाद भी मोक्ष में जाने तक की सारी क्रिया होती ही रहती है। पूर्व योग के प्रयोग के संस्कारों से जीव ऊर्ध्व गति करता है। इस प्रकार की ऊर्ध्व गति में गमन करने से जीव लोकान्त (लोकाग्र) प्रदेश में पहुँचता है। जैसे भ्रमणशील पंखा या कुम्हार का चाक स्थिर होने की दिशा में ही है। उसकी गति मन्द—मन्दतर होती ही जा रही है, अतः अन्त में स्थिर हो ही जानेवाली है। ठीक इसी तरह आत्मा की भी गती ऊर्ध्वगमन होकर लोकान्त या लोकाग्रभाग में स्थिर हो ही जानेवाली है। जहाँ यह स्थिरता आए, बस, वही मोक्ष है। इस तरह पूर्वप्रयोग शब्द का प्रयोग करके सूत्रकार ने पूर्वयोगों की सहायता के प्रयोग से ऊर्ध्वगति—गमन की प्रक्रिया सूचित की है।

दूसरे प्रश्न के उत्तर में “असंगत्वात् बन्धविच्छेदात्” इन दो विशेषणों का शब्दप्रयोग सूत्रकार महर्षी ने किया है। आत्मा का यदि ऊर्ध्वगति में गमन करने का स्वभाव है तो फिर वह तिर्यग् गमन, तथा अधोगमन क्यों करती है? इसके समाधान में स्पष्ट उत्तर यही



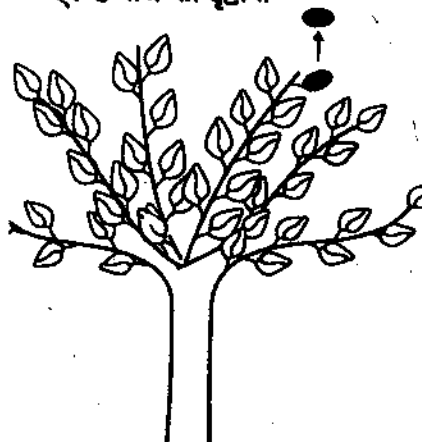
है कि आत्मा पर लगे हुए कर्म ही इसमें कारणभूत हैं। जैसे लकड़ा (काष्ठ) पानी पर तैरने के ही स्वभाववाला है फिर भी उसपर यदि मिट्टी का लेप कर दिया जाय तो वह पानी में डूब जाता है। ठीक उसी तरह कर्म जो कार्मण वर्गणा रूप जड पुद्गल परमाणु है उसका बना हुआ पिण्डरूप कर्म जिसने आत्मा पर भार बढ़ा दिया जिसके परिणाम स्वरूप आत्मा को ऊर्ध्व, अधो, तिर्यग् दिशाओं में भी गमन करना पड़ता है। जैसे धुआ ऊपर उठने के स्वभाववाला ही है। क्योंकि उसमें के भार—वजन कारक घटक द्रव्य वहीं जलकर भस्म बनकर नीचे गिर चुके हैं। अतः वजन विहीन अवस्था में वह धुआ ऊपर उठता है। ऊर्ध्वगमन करने का उसका स्वभाव है। फिर भी मोमबत्ती के प्रयोगविशेष से उसको पुनः नीचे लाया जा सकता है। आता भी है। लेकिन यह कृत्रिम है। वास्तव में ऊर्ध्वगमन ही उसका मूलभूत स्वभाव है। ठीक ऐसी ही हालत आत्मा की है।

एक लकड़े के बक्से में दो छेद कर चिमनी लगाकर जलती अगरबत्ती एक चिमनी पर रखने से ऊपर जाने के स्वभाववाला धुआ भी नीचे गमन करेगा। बक्से की पहली चिमनी से होता हुआ नीचे आएगा। क्योंकि अन्दर मोमबत्ती जल रही है। वह अपने जलने के लिए चारों तरफ से वायु मण्डल से हवा खींचती है। वहाँ का आकाश प्रदेश

खाली हो जाता है, अतः रिक्तस्थान की पूर्ति हेतु ऊपर से धुँआ भी नीचे आ जाता है । और दूसरी चिमनी से ऊपर चला जाता है ।

आत्मा भी कर्मों के संग से, बन्धन विशेष से नीचे—अधोगति में तथा तिर्यग् गति में भी गमन करती है । लेकिन जैसे ही कर्म का संग (संबंध, बन्धन) टला कि तुरन्त आत्मा अपने स्वभावानुसार सीधी ऊर्ध्वगमन करती है ।

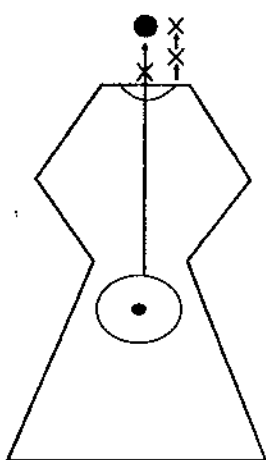
एरण्ड बीज का दृष्टान्त—



कई किस्म के पौधों में एरण्ड का भी एक पौधा आता है । इस पौधे पर एरण्ड का फल जब पक जाता है । तब उस फल का ऊपरी हिस्सा सूख जाता है । ऊपरी प्रतर जब फट जाता है तब उस फल के दो भाग हो जाते हैं । ऐसे समय में उसमें रहा हुआ बीज उछल कर ऊपर आता है । जब तक उस फल की प्रतर सूखकर फट न जाय तब तक बीज उस प्रतर के नीचे ही दबा रहता है । ज्यों ही प्रतर के दो भाग होते हैं कि तुरन्त

बीज ऊपर उछलता है । ठीक इसी तरह आत्मा भी कर्म के आवरण के नीचे दबी है । बस, उस आवरण के हटते ही आत्मा तुरन्त ऊर्ध्वगमन करती है । एरण्ड बीज तो सिर्फ थोड़ासा उछलकर रह जाएगा । लेकिन आत्मा जब उछलती है, ऊपर उठती है तब... देह से, कर्म संग के बंधन से मुक्त होकर सीधी ऊर्ध्वगमन करके लोकान्त तक पहुँचती है । “असंगत्वात्” इस विशेषण में जो कर्म के संग—संबंध का असंग अर्थात् अभाव हो जाना है । संग के साथ ‘अ’ अक्षर निषेध अर्थ में लगा है । दूसरे विशेषण में जो “बन्धविच्छेदात्” शब्दप्रयोग है, इसमें भी बन्ध किसका है ? कर्म का है । बस, उसका विच्छेद अर्थात् नाश, छूटना, अलग हो जाना यही अर्थ है । कर्म के बन्धन के छूट जाने से, नष्ट हो जाने से आत्मा ऊर्ध्वगमन करती है । “तथागतिपरिणामात्” विशेषण देने का प्रयोजन स्पष्ट है कि... तथाप्रकार की ऊर्ध्वगति करने का ही आत्मा का परिणाम अर्थात् स्वभाव होने से आत्मा ऊपर—ऊर्ध्वगमन करती है । अनन्त काल के बाद आत्मा को आज प्रथम बार अपने स्वभावानुसार, गुणानुसार वर्तन—प्रवृत्ति—गति करने का मौका मिला है ।

अलोक में गमन क्यों नहीं?—



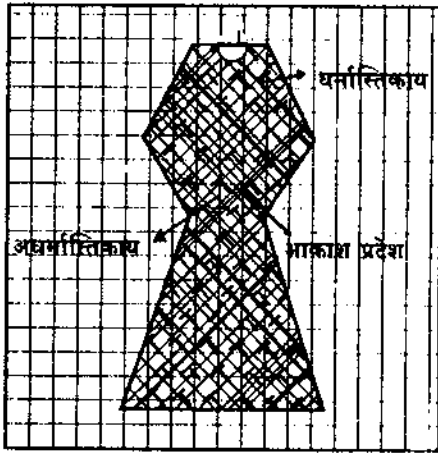
जब आत्मा देह और कर्म के बंधन से सर्वथा छूट जाती है तब एक ही समय में सीधे लोकान्त तक पहुँच जाती है। यदि १ समय में इतनी लम्बी सात राजलोक के असंख्य योजनों का अन्तर काटकर आत्मा जा सकती है तो फिर आगे अलोक में क्यों नहीं जाती है? १ समय में असंख्य योजन... जा सकती है इतनी तीव्र गति की हम बुद्धि से कल्पना तक नहीं कर सकते हैं, हमारे लिये तो सोचना भी असंभव

है। फिर भी मन में यह प्रश्न जरूर उपस्थित हो सकता है कि... इतनी तीव्र गति से चलनेवाली आत्मा के लिए बीच में ऐसा क्या अवरोधक तत्त्व आया? कौन बीच में बाधक बना? यह गति किसने रोकी? आखिर क्यों रोकी? लोक और अलोक के बीच में कोई दिवाल बनी हुई है? आखिर क्या है? अरे! यदि दिवाल बनी हुई भी होती तो क्या वह आत्मा के लिए बाधक—अवरोधक बनती? अरे! तिच्छा लोक के मनुष्य क्षेत्र में से ऊपर आने में, बीच के ७ राज लोक में... कितनी पृथ्वियाँ आती हैं? इतनी सब पृथ्वियों को भेद—छेदकर आत्मा ऊपर जाती है। इतनी अनन्त—अचिन्त्य असीम उसकी गति है। तो फिर लोकान्त क्षेत्र में जाकर क्यों रुकी? लोकान्त से भी आगे अलोक अनन्त है। जिस का कहीं अन्त ही नहीं है वह अनन्त ही है। ऐसा अनन्त अलोकाकाश, जो असीम है, वहाँ कोई सीमा ही नहीं है। कहीं कोई अन्त ही नहीं आता है। दूसरी तरफ अलोक में भी आकाश द्रव्य तो है ही। जो और जैसा आकाशास्तिकाय द्रव्य लोक क्षेत्र में है ठीक वही और वैसा ही आकाश द्रव्य अलोक में भी फैला हुआ है। यहाँ लोक क्षेत्र में भी आकाश प्रदेशों की रचना सुव्यवस्थित है। ठीक उसी तरह अलोक में भी आकाश द्रव्य के प्रदेश फैले हुए हैं। अतः जैसी गति लोक क्षेत्र के आकाश प्रदेशों पर होती है वैसी ही गति अलोक क्षेत्र के आकाश प्रदेशों पर भी हो सकती थी। याद रखिए किसी भी द्रव्य, जीव या अजीव परमाणु जो भी गति करनेवाले द्रव्य हैं वे बरोबर आकाश प्रदेशों पर ही गति करते हैं। जैसे एक ट्रेन (बैलगाड़ी) अपनी पटरी पर ही गति करती है, ठीक उसी तरह

आत्मा भी आकाश प्रदेशों पर ही गति करती है। आकाश प्रदेशों की जाल इतनी सुव्यवस्थित बिछी हुई है, कि समस्त लोकक्षेत्र में कोई भी द्रव्य बरोबर गति कर सकते हैं। ठीक इसी तरह ये ही आकाश द्रव्य—अलोक में भी बिछे हुए हैं। तो फिर गति अलोक में क्यों नहीं होती ?

मान लो कि यदि आत्मा अलोक में जाती तो कहाँ जाती ? अलोक अनन्त है। उसका कहीं अन्त ही नहीं है, तो आत्मा कहाँ पर रुकती ? कहाँ स्थिर होती ? कहाँ ठहरती ? अनन्त अलोक में कहीं कोई स्थान विशेष रुकने योग्य है ही नहीं ? तो क्या अनन्त में विलीन हो जाती ? अदृश्य हो जाती ? या क्या होता ? लेकिन अर्हत् दर्शन का सिद्धान्त स्पष्ट कहता है कि... आत्मद्रव्य शाश्वत है। अनादि—अनन्त है। कभी भी नष्ट होता ही नहीं है। यदि नष्ट होता होता तो अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण करने के समय ही नष्ट हो जाता। या कहीं विलीन होने जैसी कोई बात होती तो संसार में कब की विलीन हो चुकी होती ? क्यों अलोक में आकर विलीन होती ? अलोक में आत्मा को विलीन करनेवाला ऐसा कौन सा घटक द्रव्य है ? अलोक में एक मात्र आकाश के सिवाय अन्य किसी भी द्रव्य का अस्तित्व है ही नहीं। तीनों काल में कभी भी नहीं रहता है। तो फिर आत्मद्रव्य को विलीन कौन करेगा ? आकाश सक्रिय द्रव्य है ही नहीं। इसलिए आकाश किसी के लिए कुछ भी कर नहीं सकता है। आकाश आधेय द्रव्य है ही नहीं। इसलिए आकाश किसी के लिए कुछ भी कर नहीं सकता है। आकाश आधार द्रव्य है। शेष सभी आधेयभूत द्रव्य हैं। अतः आकाश सर्वथा निष्क्रिय द्रव्य है। यह कुछ भी नहीं करता है। लोक क्षेत्र में भी जो आकाशास्तिकाय द्रव्य है, उसने अनन्त काल में कभी भी किसी का कुछ किया ही नहीं, और किसी ने भी कभी भी आकाश की कारण शक्ति का अनुभव नहीं किया है। न ही किसी केवली ने या न ही किसी तीर्थंकर परमात्मा ने या न ही सिद्ध भगवान ने। जब कारक शक्ति आकाश द्रव्य में है ही नहीं तो फिर किसी के अनुभव का सवाल ही नहीं खड़ा होता है।

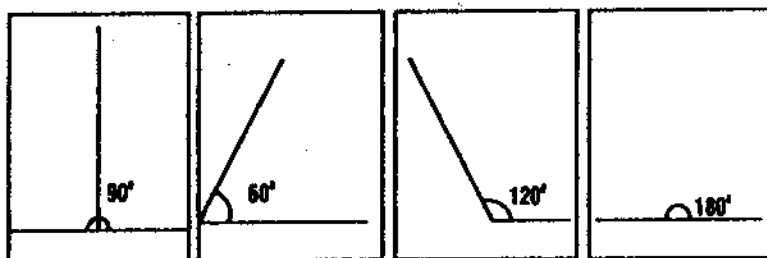
अतः आत्मा का अलोक में गमन क्यों नहीं होता है ? इस प्रश्न का उत्तर आपने यदि पुस्तक के प्रारम्भ में लिखा हुआ पंचास्तिकाय का स्वरूप पढ़कर अच्छी तरह समझ लिया होता तो इस प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ने में आप बहुत जल्दी सफल होते। सीधी बात यह है कि... धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय नामक इस द्रव्यों का अस्तित्व अलोक में सर्वथा है ही नहीं। ये एक मात्र लोकक्षेत्र में ही है। इन पंचास्तिकाय द्रव्यों की शाश्वत



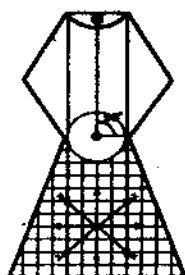
व्यवस्था के कारण ही लोक—अलोक का भिन्न—भिन्न अस्तित्व है। इनमें जैसा कि पहले से पढ़ आए हैं कि... धर्मास्तिकाय गतिसहायक द्रव्य है और ठीक इससे विपरीत गुणधर्मवाला अधर्मास्तिकाय द्रव्य है। यह स्थितिस्थापक सहायक द्रव्य है। और ये दोनों द्रव्य लोक की चरम सीमा—(लोकान्त, लोकाग्र) तक बरोबर रहते ही हैं। बस, अलोक में इनका एक भी प्रदेश नहीं रहता है। इसलिए गति सहायक धर्मास्तिकाय

द्रव्य जहाँ तक अर्थात् लोकान्त तक होने के कारण आत्मा का ऊर्ध्वगमन इसकी सहायता के आधार पर लोकान्त तक ही होगा। गति कर पाएगी। उसके आगे अलोक में धर्मास्तिकाय का एक भी प्रदेश नहीं है, अतः अलोक में गति नहीं होगी। गति का आधार आकाश प्रदेश और गति करने में सहायक धर्मास्तिकाय द्रव्य है। इस तरह इन दोनों द्रव्यों की स्थिति (का अस्तित्व) दशों दिशाओं के लोकान्त तक बरोबर रहती है। आकाशास्तिकाय के प्रदेश लोक में और अलोक दोनों में समान रूप से प्रसरे हुए हैं ही। उनमें कहीं कोई फरक नहीं है। इनमें धर्मास्तिकाय—अधर्मास्तिकाय के क्षेत्र में उनके साथ रहनेवाले आकाश को लोकाकाश कहते हैं। और उनके बिना रहनेवाले आकाश को अलोकाकाश कहते हैं। लोकक्षेत्रगत आकाशप्रदेशों के आधार पर धर्मास्तिकाय की सहायता के बलपर गति करती हुई ऊर्ध्वगमन करके लोकान्त - लोकाग्र भाग में पहुँची हुई आत्मा अधर्मास्तिकाय द्रव्य की स्थितिस्थापकता के गुण की सहायता लेकर स्थिर होती है। बस, फिर अनन्तकाल तक उसी स्वरूप में स्थिर रहना है। अतः यह सिद्धान्त शाश्वत स्वरूप में बनता है कि... कभी भी कोई भी सिद्ध बननेवाली आत्मा अलोक में जाती ही नहीं है। मात्र लोकान्त तक ही जाती है। और धर्मास्तिकाय की सहायता के आधार पर जाती है और अधर्मास्तिकाय की सहायता के आधार पर अनन्त काल तक वही स्थिर रहती है।

आत्मा की सीधी गति—



यद्यपि आत्मा की ऊर्ध्वगमन की ही गति होती है फिर भी... वह सीधी होती है या नहीं? या टेढ़ी होती है? या कैसी उसके लिए कहते हैं कि ९० डिग्री के कोन की दिशा में बिल्कुल सीधी ही होती है। अतः ४५, या ६०, या १८० या किसी भी अन्य डिग्री



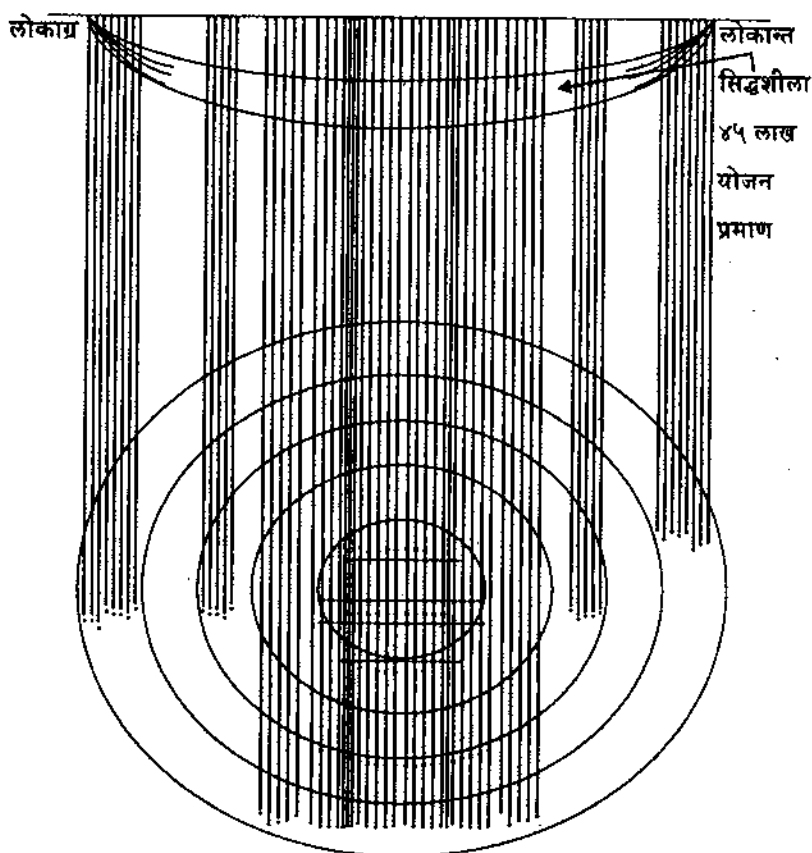
में नहीं होती है। एकमात्र ९० डिग्री के कोन में ही सीधी ऊर्ध्वगति होती है। ऊपर के चित्र में दर्शाए अनुसार आकाश प्रदेशों की स्थापना एक सीधा खड़ा और एक सीधा आड़ा तार की तरह है। जैसे कपड़े बुने जाते हैं उसमें एक धागा खड़ा सीधा और दूसरा सीधा आड़ा रहता है उसी प्रकार आकाश प्रदेशों की रचना होती है। इसलिए इन आकाश प्रदेशों पर गमन—गति भी बिल्कुल सीधी ही होगी। तिरछी—टेढ़ी—मेढ़ी

नहीं होती है। आकाश प्रदेशों की स्थापना जैसी है उसी के आधार पर उस पर जीव व जड़ पुद्गल परमाणुओं की गति होगी। अतः सीधी दिशा में ही गति होगी। विदिशा में (विपरीत दिशा) में गति गमन नहीं होता है। आधे चित्र में से यह भी समझ लीजिए। गमनागमन की क्रिया करनेवाले जीव और जड़ के पुद्गल द्रव्य ये दो ही गति—स्थिति आदि की क्रिया करनेवाले सक्रिय द्रव्य हैं। बस, इनके सिवाय अन्य कोई नहीं है।

अढ़ाई द्वीप—समुद्रों में से कहीं से भी मोक्ष—

इसी पुस्तक में आगे पहले थोड़ा भौगोलिक वर्णन लोक संबंधी इसी आशय से किया था ताकि आगे जब जब भी इस संबंधी विषय आए उस समय स्पष्ट रूप से जल्दी

समझा जा सके। इस १४ राज लोक में ३ लोक हैं। १) देवलोक २) नरकलोक, तथा ३) तिर्छा लोक। १) देवलोक में से कदापि कोई देव कभी मोक्ष में नहीं जाता है। तथा ७ नरक के नरकलोक में से भी कभी भी कोई नारकी भी मोक्ष में नहीं जाते हैं। अब रही बात तिर्छा लोक या मनुष्य लोक की। तिर्छालोक में असंख्य तिर्यच—पशु—पक्षी रहते हैं। वे भी कभी भी मोक्ष में जाते ही नहीं हैं। इस तरह देव, नारकी और तिर्यच गति के-३ गति के जीव तो तीनों काल में कभी भी मोक्ष में जाते ही नहीं हैं। अब रही बात मनुष्य गति की। मनुष्य गति में मनुष्यों के लिए २॥ द्वीप समुद्रों का ४५ लाख योजन का क्षेत्र है। जो इस प्रकार है—



४५ लाख योजन विस्तारवाला अढाई द्वीप मनुष्य क्षेत्र

वैसे तिर्छालोक में असंख्य द्वीप—समुद्र हैं। (भौगोलिक स्थिति का वर्णन पहले पढ़िए) इनमें भी प्रारम्भ के मात्र २ ॥ द्वीप—समुद्रों का क्षेत्र ही मनुष्य क्षेत्र है। बस, इसके बाहर मनुष्य क्षेत्र है ही नहीं। इसलिए पुष्करद्वीप जो १६ लाख योजन के विस्तारवाला क्षेत्र है लेकिन उसके मध्य में अर्थात् ८ लाख योजन पर संपूर्ण गोलाकार मानुषोत्तर पर्वत है। यहाँ तक ही मनुष्यों की बस्ती है, इसके आगे नहीं है, इसलिए पर्वत का नाम भी मानुषोत्तर पर्वत ही है। अतः १६ लाख योजन विस्तारवाला पुष्कर द्वीप होते हुए भी मनुष्य क्षेत्र की गणना में पूर्व के ८ तथा पश्चिम के भी ८ = १६ लाख योजन परिमित पुष्कर द्वीप की गणना मनुष्य क्षेत्र में नहीं की। जिससे पुष्कर द्वीप मनुष्य क्षेत्र में आधा ही अभिप्रेत रखा है। इसलिए पुष्करार्ध शब्द (नाम) प्रचलित है। तथा बीच के दो धातकी खंड द्वीप और जंबु द्वीप हैं। ये दो द्वीप और पुष्कर द्वीप आधा इसलिए २ ॥ (अढ़ाई) द्वीप मनुष्य बसति के कहे जाते हैं। यही सिद्ध क्षेत्र—मोक्ष क्षेत्र है। इनके बीच में लवण और कालोदधि नामक दो समुद्र भी स्थित हैं। इस तरह सबका विस्तार $८ + ८ + ४ + २ + १ + २ + ४ + ८ + ८ = ४५$ लाख योजन है। इस ४५ लाख योजन मनुष्य क्षेत्र में से ही मनुष्य मोक्ष में जाते हैं। अतः इस मनुष्य क्षेत्र के अनुरूप ठीक इतने ही माप की अर्थात् ४५ लाख योजन के विस्तारवाली फैली हुई—सात राजलोक ऊपर सिद्धशिला है। जैसे मानों मनुष्य ने सिर पर उल्टी छत्री पकड़ रखी हो इस तरह हमारे संपूर्ण मनुष्य क्षेत्र पर मानों शिरछत्र समान सिद्धशिला सबसे ऊपर लोक के ऊपरी अन्तिम किनारे पर है। अतः कोई भी मनुष्य कहीं से भी मोक्ष में जा सकता है। किसी भी क्षेत्र से आत्मा देह छोड़कर ऊर्ध्वगमन करके मोक्ष में जाएगी। तब नब्बे के कोन की सीधी दिशा में ही ऊर्ध्वगमन करती हुई सिद्धशिला पर पहुँचेगी। ठीक अपने देह छोड़े हुए स्थान के ऊपर ही सदाकाल वह रहेगी। इसीलिए मनुष्य क्षेत्र और सिद्धशिला दोनों का विस्तार बिल्कुल सप्रमाण समान ही है।

अब रही बात मनुष्य क्षेत्र के बीच के समुद्रों की। ४५ लाख योजन के विस्तार में से $८ + २ + २ + ८ = २०$ लाख योजन का विस्तार दो समुद्रों का पूर्व—पश्चिम (१० पूर्व का + १० पश्चिम का) का लवण और कालोदधि समुद्र का मिलाकर यदि निकाल दिया जाय तो $४५ - २० = २५$ लाख योजन का ही विस्तार बचा। समुद्रों में मनुष्य कहाँ रहेंगे? फिर बीच के द्वीपों में हो सकते हैं। या फिर जो मनुष्य समुद्री यात्रा जहाजों में करते हों और उस समुद्री सफर में कई दिनों का समय बीतता हो ऐसी परिस्थिति में भी यदि कोई क्षपक श्रेणी का आरम्भ करे तो कर्मक्षय करके मोक्ष में जा सकता है।

तथा समुद्रों के बीच के पहाड़ों पर जाकर कोई रहे और वहाँ ध्यान—साधना करे तो वहाँ से भी मोक्ष में जा सकता है। इसलिए इसकी भी गणना मोक्ष क्षेत्र में की गई है। परन्तु ऐसे १०% जीव हो सकते हैं। परन्तु प्रधान रूप से तो २५ लाख योजन का विस्तार ही १०% मनुष्यों के मोक्ष में जाने के लिए उपयुक्त गिना जाता है।

अब इन २५ लाख योजन विस्तारवाले २॥ द्वीप में भी ५ भरत क्षेत्र + ५ ऐरावत क्षेत्र और ५ महाविदेह क्षेत्र जो हैं वे ही मोक्षगमन योग्य क्षेत्र हैं। बस, इन १५ कर्मभूमिवाले क्षेत्रों में से ही मोक्ष में जा सकते हैं। अन्यथा तदतिरिक्त कई ऐसे क्षेत्र हैं जिनकी गणना अकर्मभूमि के रूप में की जाती है। वहाँ से कोई भी जीव मोक्ष में नहीं जाता है। १५ कर्मभूमि के क्षेत्रों की अपेक्षा अकर्मभूमि के क्षेत्र दुगुने ३० हैं। वहाँ न तो भगवान्, न तो गुरु हैं और न ही धर्म है। अतः ऐसी अकर्मभूमियों में से अनन्तकाल में भी कोई मोक्ष में नहीं गया और न ही जाएगा। हाँ, कर्मभूमि में जन्म लिया हुआ कोई यहाँ की भूमि में आकर क्षपक श्रेणी का प्रारम्भ करके मोक्ष में जा सकता है। इसलिए ४५ लाख योजनवाले समस्त मनुष्य क्षेत्र की गणना की गई है।

इन क्षेत्रों के आधार पर... मनुष्यों की उत्पत्ति के प्रकार गिने गए हैं। १५ कर्मभूमिज + ३० अकर्मभूमिज + और ५६ अंतर्द्वीपज = कुल मिलाकर १०१ प्रकार होते हैं। ये १०१ देश—क्षेत्र हैं। अतः उन देश—क्षेत्रों में उत्पन्न हुए मनुष्यों को भी देश—क्षेत्र की पहचान के आधार पर विभक्त करके प्रकार के रूप में गिने गए हैं। इनमें भी १०१ प्रकार के गर्भज पर्याप्त + १०१ प्रकार के गर्भज अपर्याप्त तथा १०१ प्रकार के संमुच्छिर्म इस तरह कुल ३०३ प्रकार दर्शाए गए हैं। (विशेष वर्णन पहले किये हुए विस्तार से समझ लेना)। ये ३०३ प्रकार के सभी मनुष्य मोक्ष में जाने के अधिकारी नहीं होते हैं। हाँ, जन्मगत गति—जाति से तो मनुष्य ही गिने जाएंगे। लेकिन १०१ संमुच्छिर्म + तथा १०१ गर्भज अपर्याप्त मनुष्य जीवों का तो मोक्ष में जाने का कोई सवाल ही नहीं बचता है। क्योंकि इनके पास तो पर्याप्त—पूर्ण आयुष्य ही नहीं है। अब रही बात ३०३—२०२ = १०१ प्रकार के मनुष्यों की। ये १०१ गर्भज पर्याप्त जरूर हैं, आयुष्यादि पूरा है लेकिन ३० अकर्मभूमिज तथा ५६ अन्तर्द्वीपज मनुष्य ऐसे क्षेत्र में पैदा हुए हैं जहाँ देव—गुरु—धर्मादि की किसी भी प्रकार की सामग्री उपलब्ध ही नहीं है। अतः क्या करें? १०१ में से ३० + ५६ = ८६ प्रकार और घट गए। परिणाम स्वरूप मात्र १५ कर्मभूमिज मनुष्य ही बचे। बस, ३०३ प्रकार के मनुष्यों में से मात्र ये १५ प्रकार ही शेष बचे, जो मोक्ष में जाने के अधिकारी कहलाते हैं और इनकी योग्यता में क्षेत्रजन्य योग्यता भी अपना पूरा हिस्सा

लेती है। ये क्षेत्र १५ कर्मभूमि के ५ भरत + ५ ऐरावत तथा + ५ महाविदेह के मिलाकर हैं। बस, इन १५ कर्मभूमि में जन्मे हुए गर्भज संज्ञि पर्याप्त पंचेन्द्रिय मनुष्य ही मोक्ष में जा सकते हैं। इनमें ही योग्यता—पात्रता मोक्ष में जाने की है। अतः ये ही मोक्ष में जाने योग्य अधिकारी हैं। बस, इनके अतिरिक्त अन्य कोई भी मोक्ष में जाने के अधिकारी नहीं है। यह शाश्वत सिद्धान्त है। तीनों काल में अपरिवर्तनशील है। इस विवेचन से स्पष्ट ख्याल आता है कि मोक्ष में जाने के लिए क्षेत्र की योग्यता, अनुकूलतादि कितनी महत्वपूर्ण बात है?

सिद्ध क्षेत्र की पवित्र सिद्ध भूमि—



उपरोक्त १५ कर्मभूमियों में १ प्रकार जंबुद्वीप के भरतक्षेत्र का है। ५ भरतक्षेत्रों में से जंबुद्वीप का भरतक्षेत्र एक है। भरत क्षेत्र के छ खंडों में से मध्य खंड में भारत देश (जो वर्तमान भारत—हिन्दुस्थान) है। उसके अनेक राज्यों में से गुजरात राज्य के सौराष्ट्र प्रदेश के भावनगर जिले में श्री शत्रुंजय सिद्ध क्षेत्र है। जहाँ से कंकड कंकड की भूमि पर से अनन्त आत्माएँ मोक्ष में गई हैं। जिसमें २० क्रोड के श्रमण

परिवार के साथ पांडव मोक्ष में गए हैं। ५ क्रोड के साथ पुंडरीक स्वामी मोक्ष में गए हैं। ३ क्रोड के साथ रामचंद्रजी मोक्ष में गए हैं। ९१ लाख के साथ नारदजी मोक्ष में गए हैं। शिव सोमजसाजी १३ क्रोड के साथ, तथा १५२५५७७७ साधु—साध्वीजियों के साथ श्री शान्तिनाथ भगवान पालीताणा में चातुर्मास करके मोक्ष में गये हैं। थावच्चा पुत्र १००० के साथ मोक्ष में गये। ऐसे कई महा पुरुष पालीताणा श्री शत्रुंजय तीर्थ से मोक्ष में गए हैं। लिस्ट लिखने जाए तो बहुत बड़ी—लम्बी यादी है। इतना यहाँ स्थान भी खाली नहीं है अतः ग्रन्थ विस्तार के भय से नहीं लिख रहा हूँ। जिज्ञासु सूत्रों को “श्री शत्रुंजय कल्प” ग्रन्थ से सविस्तर विशेष जानकारी प्राप्त करनी चाहिए। इसलिए प्रायः शाश्वत कहे गए इस तीर्थ से “कांकरे कांकरे सिद्ध्या अनन्त” अर्थात् कंकड—कंकड की भूमि पर से अनन्त

आत्माएँ सिद्ध बनी हैं। इसलिए अनन्त आत्माएँ जिस भूमि या क्षेत्र से सिद्ध बनी हैं ऐसे क्षेत्र को सिद्ध क्षेत्र कहा है। भारत देश में ऐसे सिर्फ दो ही सिद्धक्षेत्र बड़े हैं। जिसमें बिहार राज्य में सम्पत्तेशिखरजी का भी क्षेत्र इसी प्रकार का सिद्धक्षेत्र गिना जाता है। यहाँ से वर्तमान चौबीशी के २० तीर्थकर भगवान अपने-अपने शिष्य समूह के साथ अनशन-तप-ध्यानादि करके केवलज्ञान पाकर मोक्ष में पधारे हैं। अतः यह क्षेत्र भी सिद्ध भगवन्तों की महिमावाला अतिशय क्षेत्र, तीर्थक्षेत्र या कल्याणक भूमि कहलाता है। ऐसे अन्य तीर्थ—पावापुरी, गिरनारजी, चंपापुरी आदि अनेक तीर्थक्षेत्र हैं जहाँ से अनेक मोक्ष में गए हैं। राजगृही आदि के क्षेत्र कि जहाँ से अनेक गणधर भगवन्तादि भी मोक्ष में गए हैं। वैसे मोक्ष में जाने के लिए भारत देश की कोई भी भूमि कोई भी क्षेत्र अनुकूल नहीं है ऐसा नहीं है। कहीं से भी किसी भी भूमि-क्षेत्र से मोक्ष में जा सकते हैं। किसी का भी निषेध नहीं है। फिर भी प्रधान रूप से... इन सिद्धक्षेत्रों की बात की है।

सिद्धों की अनन्त कृपा—

जो आत्मा जिस भूमि-क्षेत्र विशेष से... जहाँ से मोक्ष में जाती है उसी क्षेत्र के ठीक ऊपर उसीकी सीध में स्थिर रहती है। यद्यपि वे देहधारी सशरीरी थे तब जिस भूमिक्षेत्र में रहते थे, विचरते थे, या जहाँ से मोक्ष में गए उन मुक्तात्मा को अपने क्षेत्र का किसी भी प्रकार का कोई मोह-रागादि कुछ भी नहीं है। फिर भी एक मात्र देह छोड़कर निर्वाण पाते समय मोक्ष में जाते समय ९० नब्बे अंश का कोन बनाती हुई सीधी ऊर्ध्वगति में ऊपर लोकान्त क्षेत्र में जाती है। फिर वहीं अनन्त काल तक स्थिर रहती है। अतः यहाँ की धरती पर का उनका देह छोड़ने का विशेष क्षेत्र सिद्धक्षेत्र कहलाता है। यही कल्याणक भूमि है। सिद्धों की कृपा का वह क्षेत्र विशेष बनता है। यद्यपि सभी क्षेत्र संपूर्ण १४ राजलोक प्रमाण क्षेत्र सिद्धों की कृपा का ही क्षेत्र है। फिर भी यह विशेष रहता है। प्रभु की कृपा सीधी इस क्षेत्र से प्राप्त होगी। जैसे बादल जहाँ जिस भूमि के ऊपर रहते हैं, जहाँ बरसते हैं, उस भूमि को प्रधान रूप से पानी मिलता है। पानी से वह भूमि विशेष रूप से सींची जाती है। भले ही फिर हवामान के साथ बौछारें इधर-उधर उड़ती हैं, बरसती हैं। मानसून की असर चारों तरफ होती है, फिर भी प्रधान रूप से बादल के नीचे की भूमि पल्लवित होगी। बादलों की वर्षा की तरह ही अनन्त सिद्ध भगवन्तों की अनन्त-कृपा का पात्र भी उसी के ठीक नीचे रहनेवाला साधना करनेवाला साधक बनेगा। यदि बरसते बादलों के नीचे भी किसी ने अपना पात्र ग्लास—बाल्टी आदि उल्टी रखी तो उसका पात्र

कैसे भरेगा । वह कुछ भी नहीं पा सकेगा । ठीक इसी तरह जो जीव यहाँ अपनी मति, बुद्धि, धारणा, श्रद्धा, उल्टी—विपरीत रखेगा वह क्या पाएगा ? कहनेवाले आज भी बहुत घूम रहे हैं कि मैं तो मोक्ष को मानता ही नहीं हूँ । सिद्धों का अस्तित्व ही नहीं मानता हूँ । तो फिर सिद्धों की अनन्त कृपा का पात्र वह कैसे बनेगा ? अरे ! यदि दिल्ली आदि कहीं से आकाशवाणी—विविधभारती आदि से राष्ट्रपति का भाषण आदि हो रहा हो उस समय यदि कोई अपना ट्रान्जिस्टर—रेडियो चालू ही न करे, रिसीवर उठाए ही नहीं तो उसे क्या सुनाई देगा ? ठीक उसी तरह मिथ्यात्वी जीवों की हालत होती है । वे जो सिद्धों को या मोक्ष को न माननेवाले हैं वे क्या सिद्धों की कृपा पाएंगे ? अतः सम्यग् दर्शन श्रद्धा हमारे मन को Positive विधेयात्मक बनाती है । निषेधना निकाल देती है । परिणामों की धारा सीधी दिशा में चलती है । विपरीतता या उल्टापन निकल जाता है । अतः श्रद्धालु सम्यग् दर्शन पाने में काफी फायदे—लाभ हैं । आत्मा की विकास यात्रा का अर्थात् ऊपर उठने का मूल बीज सम्यग् दर्शन ही है । प्रथम सोपान यही है । यहीं मोक्ष की दिशा में प्रयाण का आद्यबिन्दु है ।

ऐसी कल्याणक भूमियों की यात्रा करने जाते हैं कि जिससे सम्यग् दर्शन प्राप्त हो, और यदि प्राप्त हुआ है तो निर्मल—विमल हो । अरिहंत—सिद्धों की भक्ति हो । दर्शन—पूजा—पाठादि करके उन सिद्धत्मा का जप—ध्यान करने स्थिरासन में बैठ जाना चाहिए । सिद्ध भगवन्तों के साथ एकाकारता, लय लगानी चाहिए । सिद्धों की सीधी कृपा की प्राप्ति की अनुभूति करनी चाहिए । असीम महती बरसती कृपा में स्नान करने से संसारी—सकर्मों जीव भी सिद्धत्व की प्राप्ति की दिशा में आगे प्रगति यथासंभव शीघ्र होती है । जैसे भौतिक जगत् में सौर ऊर्जा की प्राप्ति करके सेंकड़ों कार्य किये जा सकते हैं । आध्यात्मिक जगत् में सिद्धों की कृपा रूप ऊर्जा को प्राप्त करके अपनी सोलर सेल की बेटरी क्यों नहीं चार्ज की जा सकती है ? अर्थात् आसानी से कर सकता है । भूतकाल में जितने भी अनन्त जीव मोक्ष में गए हैं वे सभी सिद्धों का आलंबन, सिद्धों को नमस्कार, सिद्धों की भक्ति, ... सिद्धों का स्मरण, सिद्धों का ध्यान, आदि की क्रिया—प्रवृत्ति करके ही गए हैं । आज भी कोई भी साधक वैसी कक्षा प्राप्त कर सकता है ।

जे केई गया मुखं, चे केवि य गच्छई मोक्खं ।
ते सव्वे चिय इक्क नवकारणभावेणैव ॥

भूतकाल में जितने अनन्त मोक्ष में गए हैं तथा भविष्यकाल में भी जितने मोक्ष में जाएंगे वे सभी एक मात्र नमस्कार महामंत्र के प्रभाव से ही । अर्थात् नमस्कार महामंत्र की जप—ध्यान—साधनादि करके तद्जन्य कृपादि प्राप्त करके ही मोक्ष में गए हैं एवं जाएंगे । नमस्कार महामंत्र में दूसरे पद में “नमो सिद्धाणं” पद से अनन्त सिद्धों को नमस्कार किया गया है । सिद्ध शब्द एक वचन है जो एक की संख्या का ही वाचक—सूचक है । जबकि ... नवकार में प्रयुक्त “सिद्धाणं” शब्द बहुवचन है । अतः इस बहुवचन से एक साथ सिद्धशिला पर बिराजित अनन्त सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार किया गया है । सिद्धशिला पर अनन्तानन्त सिद्ध भगवन्त हैं । क्योंकि काल भी अनन्त बीता है । तथा, संख्या में जीव भी अनन्त मोक्ष में गए हैं उन सभी अनन्त सिद्धों को एक साथ एक छोटे से पद से नमस्कार होता हो तो कितना बड़ा लाभ होता है । इसीलिए “नमो सिद्धाणं” मन्त्रात्मक पद का जप निरंतर करना चाहिए । इस पद में यदि क्षेत्रवादी “लोए” तथा संख्यावाची... “सव्व” शब्द और मिला दिया जाय तो “नमो लोए सव्व सिद्धाणं” विस्तृत मंत्र पद बनेगा । अर्थ होगा लोक में अर्थात् लोकाग्र क्षेत्र में या लोकान्त क्षेत्र में सभी = अनन्त सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार करता हूं । इसी तरह इसमें कालवाची (काल—सूचक) एक और शब्द “सया” जोड़कर क्षेत्रवाची ‘लोए’ शब्द जोड़कर सिद्धस्तव सूत्र में थोड़ा अलग से मन्त्र बनाया है—“नमो सया सव्व सिद्धाणं” अर्थ है... सदा काल सर्व अनन्त सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार हो । या अनन्त—सर्व सिद्ध भगवन्तों को सदा काल नमस्कार हो । इस तरह सिद्धों को नमस्कार करके ही कोई भी संसारी जीवात्मा अपना विकास प्रारंभ कर सकती है ।

कर्मबंधरहित जीव की गति—

षड् द्रव्यों एवं पंचास्तिकायात्मक इस संपूर्ण लोक में मात्र जीव और पुद्गल ये दो ही गतिकारक द्रव्य हैं । धर्मास्तिकाय द्रव्य स्वयं गति करता भी नहीं है और अपने दबाव

या प्रभावादि द्वारा किसी को गति कराता भी नहीं है। अतः इसे गतिकारक न कहते हुए गतिसहायक ही कहा है। लेकिन यह धर्मास्तिकाय द्रव्य स्वतः समस्त लोकव्यापी सर्वथा स्थिर स्वरूप में ही है। स्वयं गति नहीं करता है। ठीक ऐसा ही अधर्मास्तिकाय द्रव्य है, यह भी गति नहीं करता है और संपूर्ण लोकव्यापी सर्वथा स्थिर द्रव्य है। यह स्थिति सहायक द्रव्य है। आकाशास्तिकाय समस्त लोक और अलोक उभयव्यापी सर्वथा स्थिर स्थायी द्रव्य है। इसमें कभी गति का सवाल ही खड़ा नहीं होता है। यह अवकाशदायी स्वभाववाला द्रव्य है।

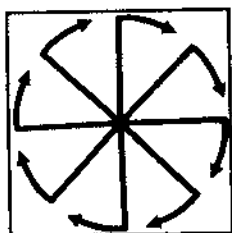
अब रही बात काल की। वैसे काल का द्रव्यरूप में कोई स्वतंत्र अस्तित्व तो है ही नहीं। अतः गति करने का सवाल ही खड़ा नहीं होता है। यह तो व्यवहार सहायक द्रव्य है। संसार में नया, पुराना, आज का, पहले का, भविष्य का, भूतकालीन या वर्तमानकालीन आदि व्यवहार काल के आधार पर चलता है। सूर्य—चन्द्र—ग्रह—नक्षत्र—तारादि जो चर ज्योतिषी देवता हैं उनके विमानों की निरंतर गति के आधार पर रात—दिन आदि काल की व्यवस्था चलती है। घड़ी आदि यन्त्र उसी हिसाब से बने हैं।

अतः समस्त संसार में गति करनेवाले, अर्थात् स्वयं स्वाभाविक गतिकारक द्रव्य अर्थात् गति करनेवाले दो ही हैं। एक जीव और दूसरा पुद्गल द्रव्य। पुद्गल में— १) स्कंध, २) देश, ३) प्रदेश, और ४) परमाणु ये चारों स्वरूप हैं। स्कंध स्थूल है। अतः भार—आकारादि की स्थूलता के कारण उसमें गति की मात्रा कम है। जबकि सूक्ष्मस्वरूपी परमाणु की गति सर्वलोकव्यापी मानी है। यद्यपि पुद्गल में ४ प्रकार हैं, फिर भी ... देश—प्रदेश तो स्कंध से ही जुड़े हुए हैं, उनका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। जबकि परमाणु तो स्कंध से अलग होकर स्वतंत्र रूप से अस्तित्व रखता है। अतः दो विभाग ही हो जाते हैं। एक स्कंध और दूसरा परमाणु। हमेशा पुद्गल द्रव्य इन दो स्वरूपों में ही रहता है। स्कंध स्थूल रूप है। भार—आकार विशेषादि से युक्त होने के कारण स्वतः गति की संभावना नहींवत् है। जबकि परमाणु भार—आकारादि रहित होने से उसकी गति—आगतिरूप क्रिया नैसर्गिक रूप से भी संभावित है। जबकि जड़—अजीव होने से स्कंधरूप पुद्गल द्रव्य की सहज स्वाभाविक गति न होने से निष्क्रिय द्रव्य है। अतः इसमें क्रिया की प्रेरणा जीव द्वारा संभवती है।

सर्व द्रव्यों में एक मात्र जीव द्रव्य ही सक्रिय है। स्वाभाविक गति करनेवाला द्रव्य है। गति सहायक धर्मास्तिकाय द्रव्य की सहायता लेकर लोकाकाश के प्रदेशोंपर समस्त लोक क्षेत्र में गति करता है।

जीव दो प्रकार के हैं। “जीवा मुक्ता—संसारिणो य” मुक्त और संसारी। मुक्त—सिद्ध बने हुए सिद्धात्माओं की तो कभी भी कदापि कोई गति होती ही नहीं है। वे अनन्त काल में भी एक आकाश—प्रदेश से समीपवर्ती दूसरे आकाशप्रदेश पर भी गति—गमन करते ही नहीं हैं। अतः सर्वथा निष्क्रिय—अगतिशील अर्थात् गति के अभाववाले हैं। गति—गमन आदि जो भी क्रिया करनी है वह संसारी जीव को ही करनी है। अतः गति करनेवाली आत्मा सक्रिय है। गति की क्रिया करनेवाली है।

अब संसारी में २ प्रकार बताए हैं। एक तो कर्म बंधनवाले हमारे जैसे जीव और दूसरे सर्वकर्मक्षय कर चुके हैं ऐसे कर्मबंधनरहित जो जीव ऊर्ध्वगमन करके मोक्ष में जा रहे हैं वे जीव। जो कि अभी कर्मबंधन से मुक्त होकर—छुटकारा पाकर मोक्ष में—लोकाग्र भाग में जा रहे हैं ऐसे जीव इन दोनों की गति होती है। कर्म के भार से दबा हुआ जीव अधोगति में ज्यादा गति करता है। चलते चक्राकार ८४ लक्ष जीव योनियों में जन्मादि धारण करते हुए जीव—कर्मभार के संयोगवश संसार चक्र की चारों गतियों में गति करता है। अतः स्वस्तिक में चारों दिशाओं में गति का सूचन



निर्देशन किया है। इसीलिए नरक—तिर्यच आदि चारों को गति नाम से सूचित किया है। क्योंकि जीव कर्मसंयोगवश गति करके इन चारों में जाता है। जीव स्वभाव से ही गतिशील है। परन्तु यह गति कर्मजन्य है, कर्मप्रेरित है। जब कर्म नहीं रहेंगे तब जीव में गति भी नहीं रहेगी। यह भी बात निश्चित ही है। कर्मरहित अवस्था में जीव की

स्वाभाविक गति ऊर्ध्वगामी है। अतः जीव ऊपर जाने के स्वभाववाला है। परन्तु कर्म अपने भार से दबाकर नीचे ले जाता है। जैसे लकड़ा पानी पर तैरने के स्वभाववाला है। धुंआ हल्का होकर ऊपर उठने के स्वभाववाला है। परन्तु कृत्रिम प्रयोग द्वारा उसे नीचे भी गति कराई जा सकती है। पुद्गल द्रव्य का अधोगामी स्वभाव है, अतः वह नीचे गति करता है। कर्म का बंधन पुद्गल को सर्वथा नहीं है। अतः पुद्गल की सहज—स्वाभाविक गति उर्ध्वगति है। ठीक इससे विपरीत जीव की स्वाभाविक गति ऊर्ध्वगति है। और कर्मबंधन प्रेरित अधोगती है। अतः पुद्गल की एक ही गति है जबकि जीव के लिए २ गतियाँ हैं। कर्मजन्य (कर्मप्रेरित) और कर्मरहित जीव की स्वाभाविक गति।

कर्मरहित अवस्था में भी दो भेद हैं। एक तो कर्म के अनादिकालीन बंधन में से मुक्त होकर मोक्ष में लोकान्त तक जाते हुए जीव और दूसरे लोकाग्र भाग में पहुँचकर स्थिर

हो चुके हैं वे सिद्ध जीव । दोनों कर्मरहितावस्था में समान रूप हैं लेकिन दूसरे प्रकार के जो सिद्ध बनकर लोकाग्र में स्थिर बन चुके हैं, उनमें गति की संभावना ही नहीं है । वे सर्वथा अशरीरी हैं, अतः गति आदि करने का कोई प्रश्न ही नहीं है । अब रही बात प्रथम प्रकार के जीव जो कर्मबंधन से मुक्त होते ही उर्ध्व गति करके लोकाग्र तक ऊपर पहुँचते हैं । उनकी उर्ध्वगमन रूप गति यह जीव की सहज स्वाभाविक गति है । फिर भी “पूर्वप्रयोगात्” शब्द से तत्त्वार्थकार ने निर्देश किया है । साथ ही “बन्धविच्छेदात्”, “तथागतिपरिणामाच्च” विशेषण जोड़कर और स्पष्ट किया है । लेकिन इस निर्देश में कर्मप्रेरित गति की तरफ इशारा जरूर किया है । पंचमांग श्री भगवती सूत्र के सप्तम शतक के प्रथम उद्देश्य में स्वयं सर्वज्ञ परमात्मा स्पष्ट फरमाते हैं कि...

१० प्रश्न— अत्यिणं भते ! अकम्मस्स गती पन्नायति ?

उत्तर— हंता, अत्यि ।

११ प्रश्न— अत्यिणं भते ! अकम्मस्स गती पन्नायति ?

उत्तर— गोयमा ! निस्संगयाए, निरंगयाए, गतिपरिणामेणं, बंधणछेयणयाए, निरिधणयाए, पुव्वप्पओगेणं अकम्मस्स गती पन्नायति ।

१२ प्रश्न— कहं णं भते ! निस्संगयाए निरंगणयाए, गइपरिणामेणं अकम्मस्स गती पन्नायति ?

उत्तर— गोयमा ! से जहानामए केइ पुरिसे सुक्कं तुंबं निच्छिडुं निरुवहयं आणुपुव्वीए परिकम्मेमाणे परिकम्मेमाणे दब्भेहि य कुसेहि य वेढेइ, वेढेत्ता अट्ठहिं मट्ठियालेवेहिं लिपइ, लिपित्ता उण्हे दलयति, भूतिं भूतिं सुक्कं समाणं अत्थाहमतारमपेरिसियंसि उदगंसि पक्खिवेज्जा । से णूणं गोयमा ! से तुंबे तेसिं अट्ठण्हं मट्ठियालेवाणं गुरुयत्ताए, भारियत्ताए, गुरुसंभारियत्ताए सलिलतलमतिवइत्ता अहे धरणितलपइट्ठाणे भवइ ? हंता, भवइ । अहे णं से तुंबे तेसिं अट्ठण्हं मट्ठियालेवाणं परिकखएणं धरणितलमतिवइत्ता उप्पि सलिलतलपइट्ठाणे भवइ ? हंता, भवइ । एवं खलु गोयमा ! निस्संगयाए, निरंगणयाए, गइपरिणामेणं अकम्मस्स गती पन्नायति ।

१३ प्रश्न— कहं णं भते ! बंधणछेदणयाए अकम्मस्स गइ पन्नत्ता ?

उत्तर— गोयमा ! से जहानामए कलसिंबलिया इ वा, मुग्गसिंबलिया इ वा, माससिंबलिया इ वा, सिंबलिसिंबलिया इ वा, एरंडमिजिया इ वा उण्हे दिन्ना सुक्का समाणी फुडित्ता णं एगंतमंतं गच्छइ, एवं खलु गोयमा !

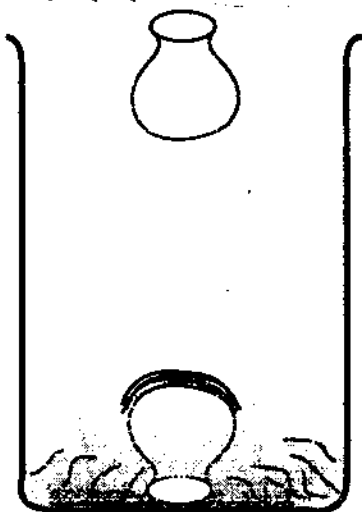
१४ प्रश्न—कहं णं भते ! निरंघणयाए अकम्मस्स गती ?

उत्तर— गोयमा ! से जहानामए धूमस्स इंधणविण्णमुक्कस्स उडुं वीससाए निव्वाधाएणं गती पवत्तत्ति, एवं खलु गोयमा !

१५ प्रश्न—कहं णं भते पुव्वण्णओगेणं अकम्मस्स गती पनत्ता ?

उत्तर— गोयमा ! से जहानामए कंडस्स कोदंडविण्णमुक्कस्स लक्ख्वाभिमुही निव्वाधाएणं गती पवत्तइ, एवं खलु गोयमा ! पुव्वण्णओगेणं अकम्मस्स गती पन्नायते, एवं खलु गोयमा ! नीसंगयाए, निरंगणयाए, जाव पुव्वण्णओगेणं अकम्मस्स गती पन्नात्ता ।

आद्य गणघर श्री गौतमस्वामीजी सर्वज्ञ श्री वीर प्रभु ने प्रश्न करे छे— हे भगवन् ! क्या कर्मरहित जीव की गति स्वीकारनी चाहिए ? प्रभु फरमाते हैं... हाँ गौतम ! स्वीकारनी चाहिए । प्रश्न— हे भगवन् ! कर्मरहित जीवों की गति कैसे स्वीकारे ? उत्तर में प्रभु ने कहा ... हे गौतम ! ... निःसंगपने से, गति के परिणाम से, बंध (कर्मबंध) के विच्छेद होने से, निरिंधन होने के कारण—कर्मरूप इंधन से सर्वथा मुक्त होने के कारण, तथा पूर्वप्रयोग के कारण कर्मरहित जीव की गति होती है । यह कैसे स्वीकारनी ? इसके स्पष्टीकरण में प्रभु स्पष्ट कहते हैं कि—



जैसे कोई पुरुष बिनाछिद्र का अखंड ऐसे सूके तुंबड़े को क्रमपूर्वक अत्यन्त संस्कार करके डाभ और कुश से लपेट दें । और फिर मिट्टी के आठ स्तरों का लेप करे, अर्थात् मिट्टी के ८ स्तर चढ़ाए । लेपन करके उसे धूप में सुखा दें । खूब सूखने के बाद उसे गहरे पानी में डाले । हे गौतम ! ... मिट्टी के भार से भारी बना हुआ तुंबा पानी के नीचे के तल भाग में जाकर बैठ जाएगा । पानी के कारण भोग कर पुनः उस मिट्टी के एक—एक स्तर पानी में धुलते जाएंगे । जैसे ही सारी मिट्टी निकल जाएगी कि वह तुंबा वजन

विहीन अवस्था में सीधा पानी की ऊपरी सतह पर आ जाएगा । हे गौतम ! ठीक इस दृष्टान्त की तरह भी निःसंगपने, निरागपने एवं गति के परिणाम विशेष से कर्मरहित हुआ जीव ... सीधा ऊपर गमन करता है । ऊर्ध्व गति में जाता है ।

पुनः गौतम इसी बात को दोहराते हैं— हे भगवन् ! बंधन का छेद होने पर जीव की गति कैसे स्वीकारनी ? पुनः समाधान करते हुए प्रभु फरमाते हैं कि... हे गौतम ! जैसे मटर की शींग, भूंग और उडद की शींग, सिबली (शेमला) की शींग और एरंड फल को धूप में रखें और वे अच्छी तरह खूब सूख जाय तब उसकी शींग फूट जाती है । खुल जाती है और उसमें से बीज अपने आप ऊपर आ जाता है । एरण्ड फल अपने आप ऊपर उछल जाता है । ठीक इसी तरह हे गौतम ! बंध का विच्छेद हो जाने से कर्मरहित जीव की गति स्वीकारी जाती है ।

हे भगवन् ! निरिधन (कर्मरूपी इंधन से रहित) होने पर जीव की ऊर्ध्व गति कैसे स्वीकारनी ? है गौतम ! जैसे किसी किसी काष्ठ के जलने के समय जलकर काष्ठ की भस्म नीचे गिर जाती है और धुंआ ऊपर उठता है । यह प्रतिबन्धरहित सीधी ऊर्ध्वगति करता है । वैसे ही आत्मा के प्रदेशों पर लगे कर्मरूपी इंधन के निर्जरा की प्रक्रिया में जलकर भस्म हो जाने के पश्चात् निरिधन अर्थात् कर्मरहित अवस्था में आत्मा सीधी ऊर्ध्व दिशा में गति करती है ।

पुनः प्रश्न में गौतम पूछते हैं— हे भगवन् ! पूर्वप्रयोग से भी जीव की ऊर्ध्व गति कैसे स्वीकारे ? प्रभु ने फरमाया... हे गौतम ! जैसे धनुष्य की त्रिज्या को जोर से खींचकर छोड़ने पर (यह पूर्व प्रयोग) उस पर का तीर (बाण) जैसे लक्ष्य की दिशा में काफी लम्बे अन्तर तक गति करता ही जाता है । ठीक उसी तरह से पूर्व प्रयोग से भी जीव की गति (ऊर्ध्व) स्वीकारी जाती है ।

इस तरह हे गौतम ! निःसंगता से, नीरागता से, निरिधनता से बन्धविच्छेद तथा पूर्वप्रयोग से कर्मरहित जीव की भी ऊर्ध्वगति स्वीकारी जाती है ।

इसी बात को पू. वाचक मुख्य उपास्वातिजी महाराज ने तत्त्वार्थाधिगम सूत्र के १० वे अध्याय के ७ वे सूत्र— “पूर्वप्रयोगादसंगत्वात् बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च तद्गतिः ॥ १०/७ ॥” से स्पष्ट की है । ये सूत्रकार हैं अतः अत्यन्त संक्षेप में... सूत्रों से निर्देश किया है । विषय वही है । प्रत्येक हेतु को चित्र एवं विस्तार से स्पष्ट किया है ।

इस तरह कर्मबंधन से सर्वथा मुक्त होनेवाला कर्मरहित अकर्मों जीव शीघ्र ही ऊर्ध्व गति के ऊपर लोकान्त या लोकाग्र तक जाकर अधर्मास्तिकाय की सहायता से स्थिरता धारण कर लेता है । स्थिति स्थापकता में आ जाता है । अर्थात् सदा के लिए स्थिर बन जाता है । अब पुनः कभी गति करने का सवाल ही नहीं खड़ा होता । यद्यपि अन्तिम लोकान्त

भाग में वहाँ धर्मास्तिकाय द्रव्य का अस्तित्व है, फिर भी अब गति नहीं होती है। क्योंकि अब कोई पूर्वप्रयोगादि कुछ भी नहीं है। अतः अब एक बार सिद्धात्मा जिस लोकाकाश के अन्तिम लोकान्त के आकाश प्रदेश पर स्थिर हो गई वह अनन्त काल तक वैसी स्थिर ही रहेगी। अब अनन्तकाल में कभी भी उसे हिलना भी नहीं है। और समीपवर्ती पास के आकाश प्रदेश को भी छूना तक नहीं है। मतलब यह है कि... अब एक मिलिमिटर भी गति करनी ही नहीं है। होती ही नहीं है क्योंकि अब पूर्वप्रयोगादि कोई हेतु नहीं है।

पूर्वप्रयोगादि या बन्धविच्छेदादि हेतुओं में कर्म का स्पष्ट निर्देश ख्याल आता है। १४ वे गुणस्थान पर अयोगी अवस्था में भी जब... देह छोड़ रहे थे तब शैलेशीकरण, योग निरोध, कर्मक्षय आदि करते थे, तब जो कर्मसंसर्ग साथ था उससे छूटते समय के दबाव के कारण छूटते ही ऊर्ध्वगति स्वाभाविक हो जाती है। जैसे धनुष्य पर से तीर छूटते ही त्रिज्या के खिचाव, सिकुड़न आकुंचन रूप क्रिया से तीर की तीव्र गति होती है। वैसे ही देह और कर्म छोड़ते समय के दबाव के कारण जीव की ऊर्ध्व गति सहज—स्वाभाविक गती होती है। जैसे स्थावर की वनस्पति की कक्षा में पड़ा हुआ एरण्डबीज स्वाभाविक रूप से उछलता है। ठीक उसी तरह देह और कर्म के बन्धन विच्छेद होते ही जीवात्मा उछलकर सीधी ७ राजलोक की गति करके ऊपर लोकान्त तक पहुँच जाती है।

१ समय में असंख्य योजन गमन—

१ रज्जु अर्थात् १ राज लोक जो कि असंख्य योजन के अन्तर का होता है, ऐसे ७ राज लोक का अन्तर है मनुष्य क्षेत्र से। तिर्छालोक की ढाई द्वीप की मनुष्यभूमि पर से जीव मोक्ष में जाता है अतः ढाई द्वीपरूप मनुष्यक्षेत्र से ऊपर लोकान्त ७ राज लोक अर्थात् असंख्य योजन दूर है। इतनी असंख्य योजन लम्बी गति जीव करके जाएगा तब लोकान्त—सिद्धशिला पर पहुँचेगा। लेकिन आपको सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह जानकर होगा कि.... अपनी इस धरती पर से सिद्ध होनेवाला जीव १ समय मात्र काल में ही असंख्य योजनों का - ७ राजलोक का अन्तर काटकर लोकान्त तक पहुँच जाता है। इस गमन में १ से दूसरा समय कभी भी नहीं होता है। अर्थात् समयान्तर नहीं होता है। और भी स्पष्ट करते हुए शास्त्रकार महर्षि कहते हैं कि.... जिस समय देह छोड़ते हैं उसी समय लोकान्त के अन्तिम आकाश प्रदेश पर स्थिर हो जाते हैं। बस, समयान्तर अर्थात् समय का परिवर्तन कभी होता ही नहीं है। वही समय रहता है। बदलता ही नहीं है। १ समय इतना सूक्ष्म है कि जिसकी कालगणना करना भी हमारी बुद्धि के बाहर की बात है। जैसे

पुद्गल जड द्रव्य में परमाणु सूक्ष्मतम अन्तिम इकाई है ठीक उसी तरह काल द्रव्य में १ समय सूक्ष्मतम इकाई है। जैसे अत्यन्त सूक्ष्मतम परमाणु हमारे लिए बुद्धिगम्य—बुद्धिग्राह्य नहीं है ठीक उसी तरह काल द्रव्य की सूक्ष्मतम इकाई “समय” भी हमारे लिए बुद्धिगम्य या बुद्धिग्राह्य नहीं है। एक बार की हमारी पलक झपकने में ही असंख्य समय बीत जाते हैं तो फिर १ समय की तो बात ही कहाँ रही ? आँख की पलक झपकने की गणना करना यह हमारे जैसे मति—ज्ञानियों के लिए स्थूल काल की गणनारूप है। जबकि एक पलक झपकने के असंख्य समयों में से १ समय की गणना करना यह तो मात्र केवली गम्य एवं उनके लिए ही ग्राह्य है। अतः वे ही जान एवं देख सकते हैं कि... १ समय काल की कितनी सूक्ष्मतम अन्तिम इकाई है। और एक से दूसरे समय का विभाजन, भिन्नता केवली ही जान एवं देख सकते हैं। अन्य किसी के वश की बात ही नहीं है। अतः ये उन केवली सर्वज्ञ के ही वचन हैं कि... जिस समय कर्मरहित होकर आत्मा देह छोड़ती है, कर्म का संग (बंधन) छोड़ती है ठीक उसी समय—अर्थात् दूसरा समय न बदलते—न लेते हुए उसी समय में असंख्य योजनों का अन्तर काट कर लोकान्त प्रदेश में जाकर उसी समय सिद्धरूप में स्थिर हो जाती है। ओहो !... कितना बड़ा आश्चर्यकारी कार्य है यह ? कितनी द्रुत गति है यह जीव की ? क्यों ? कैसे ? क्या कारणादि की रतीभर विचार करना हमारे वश की बात ही नहीं है। सर्वज्ञ वचन स्वीकार्य ही होता है। इस तरह गतिविषयक विचारणा की गई है। इसीलिए “जं जं जिणेहिं भासिआई तमेव निःसंक सच्चं” अर्थात् जो... जो... जिनेश्वर—सर्वज्ञ भगवन्तो ने फरमाया है वही शंकारहित सत्य है। बस, यह सर्वज्ञाश्रित श्रद्धा ही सम्यग् दर्शन है। सम्यक्त्व है। इसे ही पाना है। अतः पाने के लिए पुरुषार्थ प्रबल करना चाहिए।

१५ प्रकार से मोक्ष गमन—

वैसे देखा जाय तो मोक्ष गमन के कोई भिन्न प्रकार होते ही नहीं हैं। गुणस्थान क्रमारोह के १४ सोपानों पर क्रमशः ऊपर चढ़ते—चढ़ते अन्त में १४ वे गुणस्थान पर आकर सर्वकर्मक्षय करके . . . शैलेशीकरणादि करके, योगनिरोध करके अन्त में देह छोड़कर मोक्ष में जाते हैं। वैसे सभी जाते हैं। इसमें कहीं भेद या अन्तर प्रकार को कोई अवकाश ही नहीं है। फिर भी व्यवहार नय से कुछ भेद जरूर होने हैं। उदाहरण के लिए . . . जैसे क्षपक श्रेणी का प्रारम्भ करके गुणस्थानों के सोपानों पर क्रमशः आगे बढ़ते—बढ़ते कोई तो तीर्थंकर बनते हैं, और कोई नहीं भी बनते हैं। इस तरह भेद हो जाते हैं। कोई स्त्रीदेहधारी ही मोक्ष में जाती है और कोई पुरुषदेहधारी मोक्ष में जाते हैं। इस तरह भेद गिने जाते हैं। ये व्यावहारिक बाह्य भेद हैं। परन्तु आन्तर प्रक्रिया गुणस्थान क्रमारोह की सबके लिए राजमार्ग रूप एक ही है। ऐसे १५ प्रकार श्री पद्मवर्णसूत्र आगम शास्त्र में ७ वे सूत्र में इस प्रकार दर्शाए हैं—

जिण-अजिण-तित्थ-तित्था-गिहि-अन्न-सलिंग थी नर-नपुंसा।

पत्तेय-सयंबुद्धा-बुद्धबोहिय सिद्धाणिक्का य ॥ ५५ ॥

१) जिन--सिद्ध, २) अजिन, ३) तीर्थ, ४) अतीर्थ, ५) गृहस्थलिंगी, ६) अन्यलिंगी, ७) स्वलिंगी, ८) स्त्रीलिंगी, ९) पुरुषलिंगी, १०) नपुंसकलिंगी, ११) प्रत्येकबुद्ध, १२) स्वयंबुद्ध, १३) बुद्धबोधित १४) एकसिद्ध और १५) अनेकसिद्ध इस प्रकार १५ प्रकार दर्शाए गए हैं। वास्तव में ये कोई सिद्धावस्था आश्रय से भेद नहीं है। ये तो सिद्ध बनने के पहले की अवस्था के भेद हैं। सिद्ध बनने के पहले की अवस्था में कौन कैसा था? क्या थे? अतः उसके आधार पर भेदों की व्यवस्था बैठाई गई है। सिद्ध बनने के पहले कौन किस स्थिति में था? कौन कैसा था? क्या था? इत्यादि अवस्था के आधार पर वर्गीकरण करने से १५ प्रकार निश्चित होते हैं।

उपरोक्त इन १५ भेदों में दृष्टान्तरूप से जिनके नामों का निर्देश किया गया है वे नवतत्त्व में इस प्रकार दर्शाए हैं—

जिण सिद्धा अरिहंता, अजिणसिद्धा य पुंडरिअ पमुहा।

गणहारी तित्थ सिद्धा, अतित्थ सिद्धा य मरुदेवा ॥ ५६ ॥

गिहिलिंग सिद्ध भरहो, वक्कलचिरीय अन्नलिंगम्मि।

साहु सलिंग सिद्धा थी सिद्धा चंदणा पमुहा ॥ ५७ ॥

पुंसिद्धा गोयमाई, गांगेयाई नपुंसया सिद्धा ।
 पत्तेय सयंबुद्धा, भणिया करकंडु कविलाई ॥ ५८ ॥
 तह बुद्ध बोहि गुरुबोहिया य इग समये इग सिद्धाय ।
 इग समयेऽवि अणेगा, सिद्धा तेऽणेग सिद्धा य ॥ ५९ ॥

उपरोक्त दृष्टान्तों का दर्शक यह चित्र मोक्षगमन बताता है ।



१) जिनसिद्ध— जिस जीव ने पूर्व के तीसरे भव में तीर्थकर नामकर्म उपार्जन किया हो और तीर्थकर नामकर्म के उदय से तीर्थकर बनकर समवसरण में बिराजमान होकर, देशना देकर धर्मतीर्थ की स्थापना करके अन्त में निर्वाण पाकर जो मोक्ष में जाय वे जिनसिद्ध कहलाते हैं । जैसे भ० ऋषभदेव, भ० महावीरस्वामी आदि ।

२) अजिनसिद्ध— जो ... जीव तीर्थकर पद पाए बिना... अर्थात् अरिहंत भगवान बने बिना ही मोक्ष में जाय वे सभी अजिन सिद्ध के भेदों की गणना में गिने जाते हैं। उदाहरणार्थ ... गौतमस्वामी, पुंडरीकस्वामी आदि गणधर पद पाकर मोक्ष में गए हैं। वे तीर्थकर नहीं बने। अतः वे अजिनसिद्ध कहलाते हैं।

३) तीर्थसिद्ध— तीर्थकर बनकर अरिहंत परमात्मा केवलज्ञान पाकर समवसरण में देशना देकर धर्मतीर्थ की स्थापना करते हैं। गणधरों की स्थापना करते हैं।

साधु—साध्वी—श्रावक—श्राविका रूप चतुर्विध संघ की स्थापना करते हैं। गणधर तथा श्री संघ 'तीर्थ' रूप कहलाते हैं। ऐसे तीर्थ की स्थापना हो जाने के बाद उनके तीर्थ काल अर्थात् शासन काल में जो मोक्ष में जाते हैं वे 'तीर्थसिद्ध' भेद की गणना में आते हैं। गणधर आदि तीर्थ सिद्ध कहे जाते हैं। जैसे कि ७० महावीर प्रभु की विद्यमानता के काल में ही उनके ९ गणधर राजगृही से मोक्ष में गए। या तीर्थकर के निर्वाण के पश्चात् भी उनका शासन—'तीर्थ' प्रवर्तमान रहता है। उसमें भी कोई मोक्ष में जाए वे तीर्थसिद्ध कहलाते हैं।

४) अतीर्थसिद्ध— इसी तरह उपरोक्त तीर्थ का विषय समझकर ऐसे तीर्थ की स्थापना ही नहीं हुई हो उसके पहले ही कोई आत्मा मोक्ष में जाय, या फिर तीर्थ का विच्छेद ही हो जाय और उस विच्छेद काल में ही कोई जीव मोक्ष में जाय उसे अतीर्थ सिद्ध कहते हैं। ये दो प्रकार हुए अतीर्थ सिद्ध के। पहले प्रकार में मरुदेवी माता का दृष्टान्त आता है। जैसे कि ... भगवान आदिनाथ ऋषभदेव प्रभु को केवलज्ञान प्राप्त हुआ, और अभी देशना देनी, तीर्थ की स्थापना करनी अवशिष्ट है इतने में तो भरतजी मरुदेवी माता को हाथी पर बैठाकर ला रहे थे। इतने में भावना के उद्रेक से मरुदेवी माता शुक्लध्यान की धारा में क्षपक श्रेणी प्रारम्भ कर सीधे १३ वे गुणस्थान पर पहुँची। केवलज्ञान भी पालिया। दूसरी तरफ उनका आयुष्यकाल बिल्कुल कम था। अतः आयुष्य

पूर्ण होते ही मोक्ष में पहुँच गई। इस तरह भ० ऋषभदेव के तीर्थस्थापना करने के पहले ही मरुदेवी माता मोक्ष में चली गई। इसे अतीर्थसिद्ध कहते हैं। जैसा कि— कल्पसूत्र में बताया है—

“उभसस्सणं अरहओ कोसलियस्स दुविहा अंतगडभूमी हुत्था, तं जहा—जुगंतगडभूमी य परियायंतगडभूमी य, जाव असंखिज्जाओ पुरिसजुगाओ जुगंतगडभूमी, अंतोमुहुत्तपरिआए अंतमकासी ॥ २२६ ॥

कौशलिक श्री ऋषभदेव भगवान के समय में २ प्रकार की अंतःकृद् भूमियाँ हुई थी। १) युगान्तकृद् भूमि, और २) पर्यायान्तकृद् भूमि ऐसी दो प्रकार की भूमियाँ हैं। अन्तगड (अन्तःकृद्) भूमि अर्थात् मोक्षगामी जीवों के लिए मोक्ष में जाने के लिए कालिक मर्यादा दो प्रकार की हुई।

१) युगान्तकृद् भूमि यहाँ पर युग अर्थात् गुरु—शिष्य—प्रशिष्यादि के क्रमशः होनेवाले पट्टधर पुरुष ... ऐसी जो परंपरा चलती रहती है उसके द्वारा प्रमित—मर्यादित जो मोक्षगामीओं को मोक्ष में जाने का काल उसे युगांतकृद्भूमि कहते हैं। “जाव असंखिज्जाओ पुरिसजुगाओ जुगंतगडभूमि”— जैसा कि— प्रथम तीर्थकर भगवान के काल में इस प्रकार की युगान्तकृद्भूमि असंख्य पुरुषों तक रही। अर्थात् ऋषभदेव के शासन में एक के बाद दूसरे फिर तीसरे ... इस तरह पट्टपरंपरा में असंख्य युगपुरुषों तक मोक्ष में जाने का मार्ग चालू रहा। असंख्य महापुरुष मोक्ष में जाते रहे। मोक्ष में जानेवालों की परंपरा असंख्य पुरुषों तक चली।

२) दूसरी पर्यायान्तकृद् भूमि अर्थात् “अंतोमुहुत्तपरिआए अंतमकासी” अर्थात् जिसके केवली पर्याय का काल अभी मात्र अन्तर्मुहूर्त ही हुआ था। अर्थात् केवलज्ञान पाए अभी अन्तर्मुहूर्त मात्र ही काल बीता था। अभी तो देवता आएंगे, समवसरण की रचना करेंगे। चारों तरफ उद्घोषणा करेंगे ... उसके बाद हजारों नर—नारी तथा तिर्यच पशु—पक्षी और देवी—देवता सभी आएंगे .. समवसरण में बैठेंगे, प्रभु भी उसमें बैठकर देशना फरमाएंगे, धर्मतीर्थ—संघ—गणधरादि की स्थापना करेंगे। कोई न कोई जीव धर्म पाएंगे, व्रतादि ग्रहण करेंगे तब जाकर कोई जीव निर्जरादि करके कर्मक्षय करके मोक्ष में जाएगा।

भ० तीर्थकर प्रभु को केवलज्ञान होने के बाद जब प्रभु तीर्थ की स्थापना कर देते हैं उसके बाद से मोक्ष मार्ग प्रारम्भ हो जाता है। ऐसा नियम है। लेकिन भ. ऋषभदेव को

केवलज्ञान हो चुका था और तीर्थ की स्थापना करने ही वाले थे कि... इस बीच के अन्तराल काल में मरुदेवी माता को केवलज्ञान हो गया, और आयुष्य अल्प शेष था। अतः आयुष्य पूर्ण होते ही मोक्ष में सिधारे—पधारे।

ऐसी मरुदेवी माता श्री ऋषभदेव के केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद अन्तर्मुहूर्त परिमित काल में ही केवलज्ञान पाई... और अन्तर्मुहूर्त परिमित काल में ही मोक्ष में भी चली गई। क्योंकि आयुष्य इतना ही था। अन्तर्मुहूर्त परिमित ही था। अतः वे अंतगड केवली, अन्तःकृद् केवली कहलाए। ऐसे अन्तःकृद् केवली (अन्तगड केवली) तो अन्य बहुत हुए हैं। इनका वर्णन एक स्वतंत्र आठवे अंगसूत्र आगम शास्त्र में है। पूरा आगम ही उनके वर्णन का भरा हुआ है। लेकिन ऐसे अन्तःकृद् केवली तीर्थसिद्ध है या अतीर्थसिद्ध? अभी तक शास्त्रों में एक मात्र मरुदेवी माता के सिवाय अन्य किसी का अतीर्थ अन्तःकृद्केवली का नाम नहीं मिलता है। ४० ऋषभदेव के तीर्थ स्थापन काल के पहले ही... अतीर्थकाल में ही मोक्ष में पधारे हैं मरुदेवी माता। अतः वे अतीर्थ सिद्ध ही कहलाएंगे। क्योंकि अभी तक धर्मतीर्थ की स्थापना ही नहीं हुई है और कोई मोक्ष में चला जाय तो वह जीव तीर्थकर के शासन में तीर्थकाल में कैसे गिना जाएगा? नियम यह है। कि... “तीर्थ” शासन काल में ही कोई मोक्ष में जा सकता है। अन्यथा नहीं। लेकिन यहाँ मरुदेवी माता के लिए नियम नहीं पला, अपवाद बना। अतः वे अतीर्थसिद्ध कहलाए।

इसी तरह तीर्थस्थापना के पश्चात् यह तीर्थ अर्थात् प्रभु का संस्थापित शासन.... तीर्थकर की विद्यमानता तक ही चलता है ऐसा नियम नहीं है। तीर्थकर का आयुष्य तो सीमित—मर्यादित ही रहता है। जबकि उनके द्वारा संस्थापित तीर्थ—शासन तो भविष्य में परम्परा में होते रहनेवाले अनेक पट्टपरंपरा के महापुरुष चलाते रहते हैं। निरंतर—अखण्ड रूप से। गुरु के शिष्य—प्रशिष्यादि जो होते रहते हैं... फिर उस शिष्यों के भी शिष्य प्रशिष्यों के भी शिष्य जो अखंड रूप से परंपरा में निरंतर होते ही रहते हैं उसके काल में शासन—तीर्थ भी निरंतर अखण्डरूप से चलता ही रहता है। काफी लम्बे काल तक चलता ही रहता है इस धर्मतीर्थ के काल में, शासन के काल में अनेक आत्मा धर्म पाकर, समझकर, स्वीकार कर, आचरण करके अपनी आत्मा का कल्याण करते ही रहते हैं।

जैसे ४० ऋषभदेव प्रभु का तीर्थ असंख्य युगपुरुषों की परंपरा तक और असंख्य काल तक चलता ही रहा। जैसे ४० महावीर का आयुष्य काल ७२ वर्ष का था। उसमें

से ३० वर्ष तो गृहस्थावस्था में बीत गए। दीक्षा ग्रहण पश्चात् के भी १२ ॥ वर्ष तो छत्रस्थावस्था के बीत गए। प्रभु को ४२ ॥ वर्ष की आयु में केवलज्ञान प्राप्त हुआ। प्रभु सर्वज्ञ—सर्वदर्शी बने। तब जाकर प्रभु ने धर्मतीर्थ की स्थापना की। भ० महावीर का स्वयं का स्थापित धर्मतीर्थ—शासन उनकी विद्यमानता के काल में ३० वर्ष तक वे स्वयं देख सके। बस, उनका ७२ वर्ष का पूर्ण आयुष्य पूरा हो जाने के पश्चात् आज दिन तक भी श्री वीर प्रभु का संस्थापित शासन चल ही रहा है। इसे २५२२ वर्ष आज बीत रहे हैं। इसी तरह आगामी भविष्य काल के साढ़े अठारह हजार वर्ष और श्री वीर प्रभु का शासन चलेगा। क्योंकि पंचम आरे का कालमान २१००० वर्ष का है। इस २१००० वर्ष के लम्बे काल में भले ही तीर्थकर परमात्मा सदेह से स्वयं हमारे बीच विद्यमान नहीं है लेकिन उनके द्वारा संस्थापित—प्रतिष्ठित यह धर्मशासन चल ही रहा है। अनेक जीवों पर उपकार हो रहा है। अनेक जीव धर्म पा रहे हैं। आराधना कर रहे हैं। अनेक मुमुक्षु आत्मा संसार का त्याग करके चारित्र्यधर्म पा रहे हैं, दीक्षा ग्रहण कर रहे हैं। इस तरह अनेक पुण्यात्माओं का कल्याण प्रभु के इस शासन से हो रहा है।

सिर्फ सदेह विद्यमान तीर्थकर भगवान नहीं है तो इस कमी की जैन संघ ने मूर्ति—प्रतिमा भराकर पूर्ति कर दी। भव्य विशाल—प्रासाद (मंदिर) बनाकर प्रभु की मूर्ति—प्रतिमा उसमें प्रतिष्ठित करके... उन्हें ही साक्षात् भगवान स्वरूप मानकर अनेक जीव धर्माराधना करके आत्मकल्याण कर रहे हैं। नियम यह है कि... “तित्थयर समो सूरि” तीर्थकर के समान उनके समकक्ष ही सूरि अर्थात् आचार्य भगवन्त हैं। तीर्थकर भगवन्तों की अनुपस्थिति के काल में उनकी पट्टपरम्परा में आते महापुरुष आचार्य पद पर आरूढ होते हैं, बिराजमान होते हैं और वे इस धर्मतीर्थ—शासन को चलाते हैं। अतः आचार्य भगवान् तीर्थकर के समकक्ष उनके प्रतिनिधि कहलाते हैं। जैसे राजा की अनुपस्थिति में राजकुमार राजा का प्रतिनिधि अनुगामी कहलाता है, ठीक उसी तरह आचार्य भगवन्त तीर्थकर भगवान्‌ओं के अनुगामी—प्रतिनिधि कहलाते हैं। इस तरह परंपरा में यह शासन चलता ही रहता है। और अनेक भव्यात्माओं का कल्याण भी होता ही रहता है। आज भी साधु—साध्वी—श्रावक—श्राविकारूप चतुर्विध संघ विद्यमान है। तथा भविष्य में भी रहेगा। अतः कलिकाल सर्वज्ञ जैसे महापुरुष हेमचन्द्राचार्य महाराज ऐसे शब्दों का प्रयोग करते हुए लिखते हैं कि... “नमोऽस्तु तस्मै तव शासनाय च।” हे भगवन्! आपको तो नमस्कार हो ही हो, लेकिन आपके “शासन” (धर्मतीर्थ) को भी नमस्कार हो।

प्रभु का उपकार और शासन का उपकार—

भ. महावीर प्रभु ने उपकार ज्यादा किया कि भ० महावीर के पश्चात् के इस शासन धर्मतीर्थ से उपकार ज्यादा होगा ? इस दोनों बातों का कालिक अपेक्षा की दृष्टि से विचार किया जाय तो स्पष्ट होता है कि... भ० महावीर को धर्मतीर्थ की स्थापना करके जगत् पर उपकार करने का समय मात्र ३० वर्ष ही मिला जबकि... प्रभु के द्वारा संस्थापित इस तीर्थ—शासन से तो २१००० वर्ष तक उपकार होता ही रहेगा । इतने लम्बे २१००० वर्षों के सुदीर्घ काल में कितनी भव्यात्माएँ धर्म पाएंगी ? कितनी सम्यक्त्व पाएंगी ? कितनी दीक्षा ग्रहण करेंगी, कितनी भव्यात्माएँ तपश्चर्या करेंगी ? इस तरह सारी गणना संख्या में की जाय तो नामुमकिन लगता है । इस तरह कालिक अपेक्षा से प्रभु के उपकार से भी अनेक गुना उपकार इस धर्मतीर्थ “शासन” का होता है । ऐसा समझ में आता है । अतः कलिकाल सर्वज्ञ के वचन— “नमोऽस्तु तस्मै तव शासनाय च” बिल्कुल सार्थक—सहेतुक सिद्ध होते हैं । अतः आज के इस वर्तमान काल में धर्मतीर्थ—शासन की उपकारिता समझकर, इसका महत्व समझकर इसकी प्राप्ति की उपेक्षा न करते हुए.... अवगणना अनादर न करते हुए... भावपूर्ण उपासना करनी ही चाहिए । ऐसे हुंदा अवसर्पिणी के पंचम आरे के भयंकर इस कलियुग के कराल काल में भी प्रभु का शासन प्राप्त हुआ तो है । बस, यही हमारा परम सौभाग्य है । हमारा परम पुण्योदय है कि हमें तारक शासन प्राप्त हुआ है । अतः इस मिले हुए अमूल्य दुर्लभ—दुर्मिल ऐसे इस मनुष्य जन्म को पाकर किसी भी रूप से धर्मतीर्थ—वीतराग शासन की अद्भुत उपासना अवश्यरूप से कर ही लेनी चाहिए ।

पहले प्रकार के अतीर्थ सिद्ध तो वे गिने जाते हैं जो तीर्थ की स्थापना ही न हुई हो और उसके पहले ही मोक्ष में चले जाय । तथा दूसरी कक्षा के अतीर्थसिद्ध वे हैं जो कि चल रहे तीर्थ शासन का विच्छेद ही हो जाय और उसके बाद के काल में कोई मोक्ष में जाय तो वे अतीर्थ सिद्ध कहलाते हैं । एक तीर्थकर परमात्मा का स्थापित तीर्थ का काल चल रहा हो उस शासन काल में ही दूसरे तीर्थकर हो जाय और वे भी अपने धर्मतीर्थ की स्थापना करे तब से उनके शासन का काल चलता है । अतः बीच में कहीं तीर्थ का विच्छेद होने का अन्तराल ही नहीं आता है । जैसे कि... भ. श्री पार्श्वनाथ का शासन चल रहा था कि... २५० वर्ष के पश्चात् २४ वे तीर्थकर श्री महावीर स्वामी भ. हुए । केवलज्ञान पाकर उन्होंने भी धर्मतीर्थ प्रवर्तया । अतः बाद में महावीर का शासनकाल चल रहा है । इस

तरह पूरी चौबीशी के चौबीशों तीर्थकर भगवन्तों के शासनों की परंपरा चलती रहती है। लेकिन वर्तमान काल के इस अवसर्पिणी काल की चौबीशी जो भ. आदिनाथ से भ. महावीरस्वामी तक की है इसमें नौवें तीर्थकर श्री सुविधिनाथ भ. का तीर्थ—शासन चल रहा था... और अन्त में आते—आते वह विच्छेद हो गया और अभी १० वे तीर्थकर श्री शीतलनाथ भ. का शासन स्थापित नहीं हुआ है, इस बीच के अन्तराल काल में अतीर्थ या तीर्थविच्छेद काल रहा। लेकिन इस अतीर्थ काल में कोई मोक्ष में गया हो ऐसे दृष्टान्त का नामोल्लेख कहीं उपलब्ध नहीं होता है। अतः इन दोनों प्रकार के तीर्थ उच्छेद अर्थात् अतीर्थ काल में कोई भी जीव जातिस्मरण ज्ञान पाकर उससे पूर्वजन्म विषयक वृत्तान्त जानकर वैराग्यवासित होकर सम्यग् दर्शनादि द्वारा.... आध्यात्मिक विकास के इन सोपानों पर आरूढ़ होकर क्षपक श्रेणि आदि द्वारा केवलज्ञान पाकर मोक्ष में चला जाय तो वह अतीर्थिक मुक्त कहा जाता है। ऐसा पत्रवणा आगम शास्त्र की वृत्ति में उल्लेख उपलब्ध होता है। ऐसे अतीर्थ सिद्ध बनकर मोक्ष में जानेवालों की गणना १५ प्रकार के अन्तर्गत की गई है। इसमें मरुदेवा माता के नाम का उल्लेख है।

५) गृहस्थलिंग सिद्ध—यहाँ पर लिंग शब्द चिन्ह—पहचान हेतुक बताया गया है। गृहस्थ की बाह्य पहचान गृहस्थाश्रमी वेशभूषा से होती है। जबकि.... गृहस्थाश्रम



के त्यागी विरक्त—वैरागी जो साधु—सन्त महात्मा हैं उनकी बाह्य पहचान बाहरी वेशभूषा से होती है। ऐसी वेशभूषा को परिधान करनेवाले को एक अन्जान बच्चा भी पहचान सकता है कि ये कौन है? इस अवसर्पिणी काल के प्रथम तीर्थकर श्री आदिनाथ भगवान के पुत्र भरतजी जो इस अवनितल पर इस अवसर्पिणी के प्रथम चक्रवर्ती थे। जिनके नाम पर इस आर्यावर्त का नाम भारतदेश पड़ा। ऐसे

भरत चक्रवर्ती छ खंड की ऋद्धि सिद्धि के मालिक थे। राज—पाट—वैभव अपार था। अपने शीषमहल “आरीसा भवन” में थे। सजे हुए आभूषण में से गिरी हुई अंगूठी को देखकर वे ध्यान की धारा में चढ़ गए। अंगुली को अंगूठी रहित और अंगूठी को अंगुलीरहित देखते—देखते बस, उस आलम्बन से ध्यान की धारा में चढ़ गए। क्षपक श्रेणि का श्रीगणेश किया। परिणाम स्वरूप १३ वे गुणस्थान पर केवली सर्वज्ञ बने। इस तरह गृहस्थाश्रम में ही केवलज्ञान अनेकों ने पाया है। भरतजी भी केवली सर्वज्ञ बन गए।

शास्त्र में ऐसा नियम बताया गया है कि... कोई भी गृहस्थ वेष में केवलज्ञान पा सकता है परन्तु कोई गृहस्थवेष्ट में मोक्ष में नहीं जा सकता। अतः स्पष्ट सिद्धान्त है कि “चारित्र्य विण नहीं मुक्ति रे” बिना चारित्र्य के मोक्ष की प्राप्ति संभव ही नहीं है। अनन्तकाल में भी बिना चारित्र्य स्वीकारे कोई कभी भी मोक्ष में नहीं गए, और भविष्य में भी कभी कोई मोक्ष में नहीं जाएगा। अतः चारित्र्य स्वीकार करना अनिवार्य ही है। जो अन्तःकृत केवली होते हैं वे केवलज्ञान पाते ही अन्तर्मुहूर्त परिमित काल में आयुष्य पूर्ण होते ही निर्वाण पाकर मोक्ष में चले जाते हैं। मरुदेवी माता का मोक्ष ऐसे ही हुआ। केवलज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् तुरन्त ही आयुष्य समाप्त हो गया और मोक्ष में चले गए। अतः द्रव्य-वेष्ट भी ग्रहण करने का अवसर नहीं रहा। यह अपवाद मात्र है। राजमार्ग को निर्वाण की प्राप्ति के लिए चारित्र्य की अनिवार्यता बताई जाती है।

यहाँ कोई यदि ऐसी विचारणा करे कि... ठीक है, गृहस्थलिंग से भी मोक्ष की प्राप्ति होती ही है। अतः दीक्षा लेने की आवश्यकता ही नहीं है। जी नहीं। ऐसी विचारधारा रखना अनुचित है। ऐसा सोचिए भी मत। आन्तर मन से वे महापुरुष उत्कृष्ट कक्षा के वैराग्यभाव से युक्त होते हैं। जो आगे-आगे के गुणस्थानों पर चढ़ते हुए आगे बढ़ते हैं तो कैसे बढ़ते हैं? जैसा कि आपने गुणस्थानों का समस्त स्वरूप समझा ही है.... उसमें सिर्फ ५ वे गुणस्थान पर्यन्त ही गृहस्थ रहता है। और केवलज्ञान की प्राप्ति तो १३ वे गुणस्थान पर होती है। तो फिर ५ वे गुणस्थान पर गृहस्थाश्रमी अवस्था में केवलज्ञान कैसे प्राप्त होगा? जो हाँ, वे ७ वे गुणस्थान की भाव चारित्र्य की अप्रमत्त कक्षा को पा चुके हैं। निमित्त पाकर वे ध्यान की धारा पर चढ़ गए। और श्रेणी लगते ही चढ़ गए ऊपर। बस, द्रव्यवेष्ट परिधान करने के लिए ध्यान को खंडित करके बीच में कहाँ वापिस नीचे उतरे? इसलिए आभ्यन्तर भाव की धारा से वे श्रेणी पर आगे बढ़ते ही जाते हैं और केवलज्ञान पाकर मोक्ष में चले जाते हैं। अब जब आगे के गुणस्थानों पर चढ़ना है, आगे ही आगे बढ़ते जाना हो तो फिर आभ्यन्तर कक्षा का भाव कितना ऊँची कक्षा का रखना होगा? अतः चारित्र्य की आवश्यकता ही नहीं ऐसा कहनेवालों को थोड़ा और गौर से सोचना ही चाहिए। बिना ऊँची कक्षा के आभ्यन्तर चारित्र्य के कोई भी आगे बढ़ ही नहीं सकता है। और केवलज्ञान पा लेने के पश्चात् भी क्या कोई चारित्र्य नहीं स्वीकारने की बात करेंगे? यह सोचना ही नहीं चाहिए। ऐसा संभव ही नहीं है। इसलिए ऐसा विचार करना भी उचित नहीं है कि गृहस्थाश्रम में ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है तो फिर निरर्थक दीक्षा लेने से क्या फायदा?.... जी नहीं।

तो फिर आप प्रश्न करेंगे कि गृहस्थ लिंग सिद्ध का भेद ही क्यों रखा है ? इसके उत्तर में स्पष्ट यही है कि... गृहस्थाश्रम में रहकर जो उसी वेष में केवलज्ञान पा जाय और अन्तर्मुहूर्त के अत्यन्त अल्प काल में जिसका आयुष्य पूरा हो जाय । द्रव्यतः वेष ग्रहण करने जितना भी अवकाश शेष न रहता हो उनकी गणना इस भेद में होती है ।

५) **अन्यलिंगिसिद्ध**— यहाँ भी लिंग शब्द प्रथम की भांति चिन्ह वाचक पहचानकारक है । जैसे गृहस्थ का वेश—परिवेश एक पहचान कारक है । वैसे संन्यासी का भगवा वेश, या बावाजी की लंगोटी, या लगाई हुई भभूति—भस्म—तिलकादि उनकी पहचान के सूचक चिन्ह हैं । इसी अर्थ में लिंग शब्द प्रयुक्त है । यहाँ लिंग शब्द के साथ अन्य शब्द जुड़कर अन्यलिंगी शब्द बना है । इसका स्पष्ट अर्थ है कि.... स्वलिंग अर्थात् अपने लिंग से भिन्न । जैन साधु जो जिस श्वेतवस्त्र में सुसज्ज श्वेताम्बरादि है, ठीक इनसे विपरीत जो हिन्दु तापस, संन्यासी आदि भगवा वेश पहने हुए हैं उनको अन्यलिंगी कहते हैं ।

आप शायद प्रश्न करेंगे कि क्या सिर्फ जैन साधु ही मोक्ष में जा सकते हैं ? क्या जैनैतर कोई भी मोक्ष में नहीं जा सकते ? क्या जैन धर्म में ही मोक्ष मार्ग बताया है ? और किसी अन्य धर्म में मोक्षप्राप्ति का मार्ग नहीं बताया है । बड़ी विचित्र बात तो यह है कि... सभी धर्म ऐसा ही कहते हैं कि... हमारे धर्म से ही मोक्ष मिल सकता है और अन्य किसी भी धर्म से मोक्ष प्राप्त हो ही नहीं सकता है । ऐसा सभी अपने—अपने धर्म में कहते हैं । सभी यहाँ तक कहते हैं कि हमारे धर्म में जन्मे हुए हमारे धर्म को मानने—करनेवाले ही सम्यक्त्वी हैं और शेष सभी मिथ्यात्वी हैं । लेकिन ये शब्द सर्वज्ञों के नहीं हैं । ये तो राग—द्वेष प्रेरित सभी के अपने अपने शब्द हैं ।

जैन धर्म ने ऐसी संकुचित वृत्ति नहीं रखी । और न ही कभी ऐसा कहा । जैन धर्म के सम्यक्त्व का भी सीधा स्पष्ट अर्थ है कि... चरम सत्य को स्वीकारना । चाहे विषय भगवान को मानने का हो या गुरु को मानने का हो, या धर्म को मानने का हो, या अनन्त संसार की जड़—चेतन किसी भी वस्तु को मानने की बात हो उसके चरम सत्य स्वरूप को समझना—स्वीकारना ही सम्यक्त्व है । मिथ्या तो असत्य—गलत है । उससे भी विपरीत स्वरूप को मानने स्वीकारने को कहते हैं । चाहे आत्मा का ही विषय लें या फिर मोक्ष का

विषय लें चाहे जो भी कोई विषय हो उसके अन्तिम सत्य को स्वीकार करना ही सम्यग् दर्शन कहलाता है ।

जैन धर्म के सर्वज्ञ परमात्मा ने अद्भुत अनोखी विशालता—उदारता की बहुत बड़ी बात करके धर्म या सिद्धान्त का स्वरूप मात्र जैनों के लिए ही नहीं बताया अपितु समस्त जीवों के लिए समान रूप से बताया है । अतः मचमुच तो इसे जैन धर्म कहने मात्र से एक संकुचित सीमित दायरे में समा लेने जैसा है । जबकि इसे “आत्मधर्म” कहने से ही व्यापक विशाल अर्थ होगा । “आध्यात्मिक विकास यात्रा” यह आत्मधर्म की बात है । आध्यात्मिक धर्म है । सर्वज्ञ प्रभु ने कहा कि संसार की सभी आत्माएँ समान हैं । एक जैसी ही हैं । कहीं कोई भेद ही नहीं है । आत्मस्वरूप से सभी आत्माएँ समानरूप से एक जैसी ही हैं । पर्याय भेद से भेद है । द्रव्यस्वरूप से संपूर्ण समानता है । तथा गुण की सत्ता में भी भेद नहीं अभेद है । मात्र गुण की पर्यायें कर्मसहित और कर्मरहित इन दो प्रकार की शुद्धाशुद्ध पर्याय हैं । इसलिए आत्मदृष्टि रखकर श्री सर्वज्ञ परमात्मा ने आत्मधर्म बताया है । और आत्मधर्म के स्वरूप में कहीं सम्प्रदायगत भेद की बात बीच में आती ही नहीं है । सर्वज्ञ तीर्थंकर परमात्मा शुद्ध धर्म की स्थापना करते हैं । सम्प्रदाय विशेष की स्थापना कभी करते ही नहीं है । यह स्पष्ट ध्यान में रखना चाहिए । इसी तरह सर्वज्ञ भगवान ने मात्र जैनों के लिए ही धर्म की स्थापना की है और अन्य किसी के लिए नहीं की है ऐसी भी बात नहीं है । वे समस्त आत्माओं के लिए समान रूप से आत्मधर्म की स्थापना करते हैं । जो अनन्तात्माओं के लिए समान रूप से उपकारी होता है ।

इसी बात को सिद्ध करने का प्रत्यक्ष स्पष्ट प्रमाण है गुणस्थान क्रमारोह की सिद्धान्त प्रक्रिया । १ ले गुणस्थान से १४ वे गुणस्थान तक की सारी प्रक्रिया मात्र आत्मा के विषय की ही है । किस आत्मा में कितना—किस प्रकार का परिवर्तन हुआ इत्यादि विषय की स्पष्ट बात है । आत्मा में कितने कर्मों की निर्जरा हुई ? क्षयोपशम हुआ और कितने गुणों का प्रादुर्भाव हुआ ? या किन—किन कर्मों का बंध हुआ और उसके कारण किस—किस गुण का आच्छादन हुआ इत्यादि सीधी आत्मगुणों के आच्छादन और प्रगटीकरण की विचारणा रखी है । बस, कर्मों के बंधन में पाप—पुण्य की प्रवृत्ति की बात आती है । और कर्मों की निर्जरा में संवर में धर्म तत्त्व की बात आती है । अतः आत्मधर्म को साम्प्रदायिक वाडे में बांधना कहाँ तक उचित है ? आत्मधर्म को सम्प्रदाय के अधीन बनाकर संप्रदाय का रंग चढ़ाने से राग—द्वेष की बंध ज्यादा बढ़ने लगती है । अतः ऐसा करना यह धर्म के साथ खिलवाड करने जैसा है । शुद्ध धर्म का स्वरूप विकृत करने जैसा है ।

गुणस्थान के १४ सोपानों के राजमार्ग पर क्रमशः १ ले गुणस्थान से १४ वे गुणस्थान तक क्रमिक सोपान चढ़ने का जो मुख्य राजमार्ग है उस पर कोई भी आत्मा चढ़कर आगे विकास कर सकती है। संसार की मूलभूत अनन्त आत्माएँ सर्वप्रथम एकमात्र १ ले मिथ्यात्व के गुणस्थान पर ही होती है। जैसे मूलभूत रूप से मछलियाँ पहले से ही पानी में रहती हैं। ठीक इसी तरह सत्ता की दृष्टि से संसार के अनन्त जीव पहले से ही मिथ्यात्व के गुण पर रहते हैं। अब जो भी जीव अपनी राग—द्वेष की निबिड़ ग्रन्थि का भेदन करेगा वह ४ थे गुणस्थान पर आएगा। सम्यग् दर्शन पाएगा, सत्य को स्वीकारेगा। ५ वे गुणस्थान पर आकर पापों की को प्रमाण में छोड़ते हुए कम करते हुए आगे बढ़ेगा। छठे गुणस्थान पर संसार की समस्त पापादि की प्रवृत्ति का आजीवनभर त्याग करने की भीष्म प्रतिज्ञा करके साधु बनेगा। बस, आगे सभी गुणस्थान पर साधु त्यागी—वैरागी ही रहना है। ७ वे पर अप्रमत्त बनकर साधना करेगा। ८ वे से श्रेणी के श्रीगणेश करेगा। नौवे गुणस्थान पर ध्यान साधना के फलस्वरूप वह स्त्रीपुरुष का भेद भी भूल जाएगा, कषाय की प्रवृत्तियाँ बंध ही जाएगी। धीरे—धीरे वीतराग भाव की दिशा में प्रगति करते हुए १० वे गुणस्थान पर कषाय सर्वथा जड़मूल से उच्छेदित हो जाएंगे। बस, १२ वे गुणस्थान पर वीतरागी और १३ वे गुणस्थान पर सर्वज्ञ—सर्वदशी केवली या तीर्थकरादि बनेगा। घाती कर्मों का क्षय करके आत्मगुणों की अनन्त चतुष्टयी संपूर्ण प्राप्त करेगा। बस, अब केवली बनकर जगत् को देशना देंगे। सर्व जीवों का कल्याण करेंगे। बस, अब तो सिर्फ ... एक ही सोपान चढ़ना अवशिष्ट है। १४ वे गुणस्थान पर पहुँचकर देह का त्याग—योग निरोध कर अयोगी बनकर सदा के लिए देह का एवं संसार का त्याग करके सिद्ध—बुद्ध—मुक्त बनना है। बस, फिर तो सदा के लिए मोक्ष में अशरीरी—अकर्मों बनकर अनन्त काल तक स्थिर ही रहना है।

ऐसा है यह आत्म विकास मार्ग। कहाँ है इसमें सम्प्रदाय या अन्य धर्म के भेद—अभेद की बात? बस, सीधी आत्मा की बात है। इसलिए कोई भी धर्म अपना बाना इसे पहनाकर अपना कह दे। कोई सम्प्रदाय अपना लेबल लगाकर उसे अपने सांप्रदायिक रंग से रंगीन बनाले। फिर धर्म के बाजार में अपनी ब्राण्ड बनाकर बेचे। यह तो चलता ही रहता है।

जैन धर्म ने ऊँची कक्षा की उदारता को स्पष्ट करते हुए अन्यलिङ्गी को भी सिद्ध के १५ प्रकारों में एक प्रकार के रूप में गिना है। यहाँ अन्यलिङ्गी से कोई भी किसी भी धर्म का या संप्रदाय विशेष का संत हो या महन्त, तापस हो या कोई साधु हो या भिक्षु, वह कौन

है या किस संप्रदाय या धर्म का है उससे कोई मतलब नहीं है। जी हाँ, मात्र एक ही बात महत्व रखती है कि... वह कैसा है? साधक की आंतर—बाह्य भूमिका कैसी है? व्यक्ति मात्र कौन है यही सोचता रहेगा तो इसमें अहंकार की गंध है। कर्म की उपाधि से आत्मा का सही परिचय नहीं होता है। आत्मा का परिचय तो आत्मा के गुणों से ही सही होगा। गुण ही सही पहचान है। इसलिए कौन है के बजाय कैसे हैं का विचार ही सही परिचय देगा। इसलिए हमेशा मैं कौन हूँ के बजाय मैं कैसा हूँ? यही विचारणा स्व और पर के विषय में करनी चाहिए।

संन्यासी या तापस बाह्य वेषभूषा से भले ही कैसा भी हो लेकिन अन्दर में आत्मिक परिणति ऊँची कक्षा की यदि है तो वह आगे बढ़ सकता है। आध्यात्मिक कक्षा में आन्तरिक भूमिका में ध्यान ही सबसे ज्यादा महत्व रखता है। ध्यान आन्तरिक है। उसके लिए तो सिर्फ ज्ञान—दर्शन ही काम के हैं, आधारभूत स्रोत है। जबकि बाह्य वेषभूषा और व्यवहार के लिए आचार—समाचारी प्रधानरूप रहती है। एक जैनाचार्य जिस जन्मजात संस्कारों से रंगे हुए हैं और एक अन्यलिंगी संन्यासी—तापस—भिक्षु आदि जो उस प्रकार के आचार—विचार से सुसंस्कृत नहीं भी हैं फिर भी यदि ध्यान की धारा में क्रमशः आर्त—रौद्रकक्षा के ध्यान को सर्वथा तिलांजली देकर धर्मध्यान से शुक्लध्यान की धारा में... अप्रमत्त भाव से आगे बढ़ते ही जाय तो ध्यान विषयक ऊँचाइयों पर चढ़ने में दोनों में समानता आ सकती है। जैसे अमेरिका या रशिया या भारत में कहीं भी विमान उड़ेगा तो आकाशगत समानता तो वही आएगी। भले ही दोनों देशों के विमान भिन्न—भिन्न कक्षा के हों। वैसे ही दोनों तीनों देशों के जलचर प्राणी भिन्न—भिन्न हो फिर भी जलगत समानता तो रहेगी। ठीक उसी तरह बाह्य परिवेष भले ही भिन्न—भिन्न हो फिर भी स्वलिंगी और अन्यलिंगी साधु दोनों में ध्यान की उड़ान भरते समय आधारभूत विषय की समानता आ जाएगी। तथा फलस्वरूप में कर्म की निर्जरा और आत्मगुणों का प्रादुर्भाव भी समान रूप से दोनों में रहेगी। आत्मस्वरूप और साध्यरूप युद्ध परमात्मस्वरूप सब समान रूप से ध्यान से रहेगा।

ऐसी सुंदर ध्यान की धारा में चढ़ा हुआ अन्यलिंगी तापस यदि अप्रमत्त भाव से आगे बढ़ता हुआ विशुद्धि साधता हुआ कर्मनिर्जरा करता—करता आगे बढ़ता ही जाय तो उसके गुणस्थानों में भी क्रमशः परिवर्तन अपने आप होता ही जाएगा। गुणस्थानों का आधार भी वैसे आत्मपरिणति पर ही रहता है। बस, यदि धरातल पर सही दिशा में है तो अन्यलिंगी भी ध्यान की उत्तरोत्तर श्रेष्ठ धारा में आत्मवीर्य से क्षपक श्रेणि भी शुरू कर

देता है। फिर तो सवाल ही कहाँ रहता है ? क्षपक श्रेणी में तो ध्यान की तीव्रता के आधार पर कर्मों का क्षय विपुल प्रमाण में करते—करते, नौवे गुणस्थान पर मोहनीय कर्म की १२ कर्मप्रकृतियाँ विषय कषाय की क्षय करके... १० वे पर सूक्ष्म लोभ भी सत्ता में से क्षय करके सीधे १२ वे गुणस्थान पर वीतरागी और १३ वे पर जाकर केवली—सर्वज्ञ बन जाएगा। बस, केवलज्ञान—केवलदर्शनादि आत्मगुणों का सर्वोच्च कक्षा का वैभव प्राप्त हो जाय उसके बाद तो सवाल ही नहीं रहता है। बाह्य वेशभूषा चाहे जो भी रहे क्या फरक पड़ता है ? क्योंकि आप जानते ही होंगे कल्पसूत्र शास्त्र कहता ही है कि दूसरे अजितनाथ भ० से २३ वे पार्श्वनाथ भ० तक के २२ तीर्थंकर भगवन्तों के काल में साधु—साध्वियों के लिए निश्चित रूप से वेशभूषा का कोई नियम नहीं रहता है। क्योंकि रागद्वेष की मोहगत परिणति में काफी फरक है। तुलना में पाँचवे आरे में आज हमारी इतनी ज्यादा शुद्धि नहीं है। वह चौथा आरा था और यह पाँचवा आरा है। इतना अन्तर है। अतः कालादि नैमित्तिक हेतुओं का भी सहायक प्रभाव रहता है। इस तरह केवली—सर्वज्ञ बना हुआ वह तापस या संन्यासी आ्युष्य समाप्त होने पर उसी प्रक्रिया से निर्वाण पाएगा। मोक्ष में जाएगा। इसीलिए अन्यलिगी सिद्ध की गणना की है। जो बिल्कुल सही सुसंगत लगती है।

अन्यलिगी सिद्ध के दृष्टान्त—

प्रसन्नचन्द्र राजर्षि का नाम तो वैसे भी आपने सुना ही होगा ? प्रसिद्ध दृष्टान्त है। भ. महावीर के काल का। उनके भाई वत्कलचीरी थे। उनके माता—पिता ने तापसी दीक्षा ले ली थी। उसके पश्चात् वन—जंगल में उन्होंने एक सन्तान को जन्म दिया था। वह बड़ा हो रहा था। वन में वत्कल अर्थात् वृक्ष की छाल और चीर अर्थात् वस्त्र (कपड़े)। अतः वे वृक्ष की छाल को ही कपड़े की तरह पहनकर अपने शरीर पर लपेट लेते थे। इसलिए उनका नाम वत्कलचीरी प्रसिद्ध हो गया था। बड़े होकर एक दिन उन्होंने अपने तापस पिता की तुंबड़ी (कमण्डल विशेष) को देखा। बस, देखते—देखते चिन्तन की धारा में वत्कलचीरी को जातिस्मरण ज्ञान प्राप्त हो गया। इससे उन्हें पूर्वजन्म का सब कुछ स्मरण होने लगा। इस पूर्वजन्म के ज्ञान में उन्हें यह दिखाई दिया कि... अरे ! मैंने पूर्वजन्म में दीक्षा ली थी... चारित्र पाला था। बस, बार—बार उस चारित्र धर्म साधु जीवन का स्मरण करते—करते... और जातिस्मरण के ज्ञान में जानते और दर्शन में स्पष्ट देखते—देखते उन्हें वैराग्यभाव जागृत हुआ। बस, ऐसा वैराग्य बढ़ने लगा कि... भाव चारित्र की कक्षा में वे मन से विरक्त हो गए... और बैठ गए ध्यान की धारा में। बाह्य परिवेश से तो वृक्ष

की छाल को वस्त्र में लपेटे हुए आश्रमवासी तापस थे, लेकिन उस ध्यानानल में आत्मस्वरूप में खोए हुए महात्मा सब कुछ भूल गए। और ध्यान की विशुद्धि में कर्मक्षय होते होते गुणस्थान तो बदलते ही गए। बस, अपूर्वकरण के ७ वे गुणस्थान पर भावचारित्र के साथ साथ आत्मवीर्य की शक्ति बढ़ते-बढ़ते... क्षपक श्रेणी प्रारम्भ हो गई। बस, फिर तो कर्म के बड़े बड़े पहाड़ भी टूट-टूटकर.... परमाणु तुल्य बनकर बिखरते ही गए और थोड़ी देर में तो वीतरागी बनकर केवली सर्वज्ञ भी बन गए। केवलज्ञानी तो सदा मोक्ष में जाते ही हैं। अतः वे वल्कलचीरी अन्यलिङ्गी कहलाए।

दूसरा इससे भी प्रसिद्ध काफी बड़ा दृष्टान्त जो प्रायः सभी जानते ही हैं। आद्य गणधर श्री गौतम स्वामी जो अष्टापद तीर्थ पर गए थे। उतरते समय १५०० तापस मिले थे। लंगोटीबद्ध बावाजी जटाधारी थे सभी। भिन्न-भिन्न आसन करते थे सभी और अष्टापद शैल चढ़ने के लिए। फिर गौतम स्वामी के साथ चले। गौतमस्वामी ने इन १५०० तापसों के सामने समवसरण का, तथा प्रभु वीर का अद्भुत स्वरूप समझाया। बस, इस वर्णन को सुनते-सुनते और आगे बढ़ते-बढ़ते.... देखते ही ५००, फिर ५००, और फिर ५०० के समूह में सबको (१५०० तापसों) को भी केवल ज्ञान हो गया। वे सभी केवली सर्वज्ञ बनकर समवसरण में जाकर केवली की पर्वदा में बैठे। (इस दृष्टान्त का कथानक पहले भी लिख चुका हूँ अतः विस्तार भय से पुनरोक्ति करना अनावश्यक समझता हूँ।)

इस तरह अन्यलिङ्गी तापसों ने भी आध्यात्मिक विकास की उस समानान्तर पटरियों पर अपनी गाड़ी चलाई और केवलज्ञान पाकर मोक्ष में गए। इसलिए आत्मधर्म की समान कक्षा को समझकर गुणस्थानों के सोपानों पर चढ़ना चाहिए। जिससे किसी का भी कल्याण-निस्तार संभव होता है। इससे फलितार्थ यह निकलता है कि... मात्र जैन वेषधारी ही मोक्ष के अधिकारी हैं शेष अन्य कोई नहीं। ऐसा नहीं है। परन्तु तापस-संन्यासी-भिक्षु या परिव्राजकादि अन्य धर्मी-अन्य संप्रदायवादी भी आत्मधर्म के गुणस्थानों के सोपानों पर चढ़कर मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। सिर्फ इतना जरूर आवश्यक है कि.... भावचारित्र की ऊँची कक्षा में चढ़े हुए वे जरूर होने चाहिए। परन्तु इससे ऐसा नहीं समझना चाहिए कि.... परिव्राजकपना या तापसपना, या संन्यासीपना-भिक्षुपना ही सर्वश्रेष्ठ है या वे ही मोक्ष के अधिकारी हैं या उस वेश से मोक्ष की प्राप्ति सुनिश्चित है ही। ऐसा नहीं है। या उनकी समस्त समाचारी, आचार संहिता या विचारधारा या उनका धर्म ही मुक्तिदायक साधना के रूप में है। अतः चलो हम भी वैसा करें। जी नहीं। कदापि नहीं। यह सारा बाह्य स्वरूप है। स्वीकार्य और ग्राह्य तो मात्र आभ्यंतर गुणस्थानों के

सोपानों पर आरूढ़ होने रूप आत्मध्यान साधना एक ही है। यही जरूर अनुकरणीय है। उपादेय है। अतः इस लाल बत्ती को ही जरूर ध्यान में रखें।

७ स्वलिङ्ग सिद्ध— सर्वज्ञ जिनेश्वर भगवन्तों ने जिस प्रकार के साधु धर्म की प्ररूपणा की हैं, जैसा साधु धर्म बताया है, ठीक उसी श्रमण धर्म की साधना करते हुए जो गुणस्थान के सोपानों के मार्ग पर चढ़ते हुए ध्यानादि की साधना में



आगे बढ़ता—बढ़ता क्रमशः केवलज्ञान पाकर मोक्ष में जाए उसे स्वलिङ्गी सिद्ध कहते हैं। जिसने सर्वज्ञ तीर्थंकर भगवान के शासन में ही जन्म लिया हुआ हो, उसी धर्म में पनपकर पलकर उसी वीतरागी के धर्म के आचार—विचारों के संस्कारों से संस्कारित बनकर जो क्रमशः चौथे गुणस्थान पर सम्यग् दर्शन प्राप्त कर सम्यक्त्वी बने, फिर ५ वे गुणस्थान पर देशविरतिधर बने, और छठे गुणस्थान पर दीक्षा ग्रहणकर साधु बने वह स्वलिङ्गी कहलाएगा। अब आगे सिद्ध बनने की दिशा में अप्रमत्त बनकर अपूर्वकरण के ८ वे गुणस्थान से क्षपक श्रेणि का शुभारंभ करे इस तरह गुणस्थानों की साधना के सोपानों पर क्रमशः आगे बढ़ता ही जाय और अन्त में केवलज्ञान पाकर मोक्ष में जाय उसे स्वलिङ्गी सिद्ध कहते हैं। सच देखा जाय तो मुख्य राजमार्ग तो स्वलिङ्गी सिद्ध का ही है। अन्यलिङ्गी सिद्ध तो अपवादिक मार्ग है। विरले ही कोई अन्यलिङ्गी सिद्ध बनते हैं। साध्वीजी चंदनबाला, मृगावतीजी आदि स्वलिङ्गसिद्ध के भेद के दृष्टान्त हैं। चौबीसों तीर्थंकर भगवानों के चतुर्विध संघ के परिवार से जिनमें भी साधु—साध्वी बनकर मोक्ष में गए हैं वे सभी स्वलिङ्गी सिद्ध कहलाते हैं।

८) स्त्रीलिङ्ग सिद्ध— संसार की मनुष्य जाति में स्त्री, पुरुष और नपुंसक ३ प्रकार हैं। यह तो कर्मजनित प्राकृतिक व्यवस्था है। वेद मोहनीय कर्म के कारण कोई स्त्री, कोई



पुरुष, और कोई नपुंसक इस तरह तीनों होते हैं। कर्मजन्य उपाधि के कारण ही ये भेद होते हैं। परन्तु मूलभूत अंदर आत्मा तो समान ही है। आत्मा निरंजन—निराकार है। आत्मा को न लिंग है न देह न जाति—पाति, कुछ भी नहीं है। अतः सबकी आत्मा द्रव्य—गुण के स्वरूप से समान सत्तावाली है। दूसरी तरफ केवलज्ञानादि सभी आत्मगत गुण है न कि शरीरगत। इसलिए ये सभी गुणस्थान भी

आत्मा के गुण हैं। इनमें से एक भी शरीर का गुण नहीं है। गुणस्थानों पर के सोपानों पर आरूढ़ आत्मा के गुणों में परिवर्तन होने पर गुणों की पर्याय बदलती ही जाती है। आखिर गुण है किसके? आत्मा के। आत्मा ही नहीं होती तो गुण किसके गिने जाते? गुणों के रहने का आधार क्या होता? तथा ज्ञान—दर्शनादि गुण कहीं शरीर के तो है नहीं। ज्ञान का व्यवहार अनुभूति सब संसार में है। ये गुण आत्मा के हैं। और गुणस्थान के सोपानों पर के चढ़ाव—उतार की प्रक्रिया में.... सारा परिवर्तन एक मात्र आत्मा में ही होता है। शरीर पर नहीं। शरीर तो मात्र जड़ पुद्गल का साधन मात्र है। आत्मा के लिए संसार में रहने का आश्रयस्थान मात्र है। परन्तु ज्ञानादि शरीर में नहीं होता है, न ही रहता है। एक मात्र आत्मा में ही रहता है। अन्तिम कक्षा के केवलज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् मुक्ति अनिवार्य रूप से होती ही है। केवलज्ञान आत्मा में... सत्ता में पड़ा हुआ मूलभूत गुण है। मात्र जो कर्मावरण से आवृत्त—आच्छादित था वही अब सर्वथा निरावरण होकर पूर्ण रूप से प्रगट हुआ है। और निर्जरादि सब आत्मा में होती है। क्रमशः गुणस्थानों के सोपानों पर चढ़ाव उतार का परिवर्तन मात्र आत्मा में होता है। शरीर में नहीं। अन्त में मुक्ति भी आत्मा की होती है शरीर की कदापि नहीं।

अब कर्माधीन अवस्था में वह आत्मा चाहे स्त्री शरीर में रहे या चाहे पुरुष शरीर में रहे या भले ही चाहे वह नपुंसक शरीर में रहे, उसे आत्मसाधना करने में शरीर कहीं भी बीच में बाधक नहीं बनता है। यदि कोई भी संप्रदाय या धर्म इस सिद्धान्त को नहीं मानता है, या विपरीत ही मानता हो तो यह उनकी विपरीत मिथ्या विचारणा है। वे इस शरीर के कारण आत्मस्वरूप में न्यूनता लाते हैं। गुणस्थान जो आत्म साधना है उसमें न्यूनता लाते हैं। उसे विकृत करते हैं। क्या जड़ पौद्गलिक शरीर के कारण, जो कर्माधीन स्थिति में है उसके आधार पर शाश्वत शुद्ध चेतनात्मा के स्वरूप को विकृत मानना यह क्या मूल सिद्धान्त की खण्डना या अवहेलना नहीं है? मूल सिद्धान्त का भंग करना क्या जिनाज्ञा भंग नहीं कहलाएगा? चौबीस ही तीर्थंकर भगवन्तों के द्वारा संस्थापित चतुर्विध संघ में से हजारों लाखों की संख्या में जब साध्वीजियाँ मोक्ष में गई ही हैं तो फिर उस सिद्धान्त को न मानने से क्या जिनाज्ञा खंडित करने का दोषारोपण सिर पर नहीं आएगा?

जो स्त्री बनी है उस स्त्री का क्या अपराध है? और पुरुष में ऐसी क्या विशेषता है कि वही मोक्ष में जा सकता है और स्त्री नहीं? धर्माधना यह आत्मा का विषय है, शरीर का नहीं। तो फिर निरर्थक भेद खड़ा क्यों करना चाहिए? और फिर उसे संप्रदाय का साम्प्रदायिक राग—द्वेष का रंग देकर... स्वतंत्र रूप से ऊँचा बताने के लिए मात्र उसी मत

की सर्वोपरिता बतानी यह कहाँ तक उचित है ? बस, फिर इसी बात को—स्त्री की मुक्ति नहीं और केवली की भुक्ति (भोजन—आहार) नहीं की बात को बड़ा भेदक सिद्धान्त बनाकर, इसे ही केन्द्र में रखकर इसके आधार पर, इस पर अवलंबित सभी बातों को इसीके इर्द—गिर्द जम्माना यह कितना अनर्थकारी एवं घातक विचार है। स्त्री की मुक्ति और केवली का भोजन करना इन दोनों सिद्धान्तों को मात्र शरीरलक्षी बनाकर छोड़ दिया है। जहाँ शरीर को ही छोड़ना था उससे ठीक विपरीत ऐसे सम्प्रदायों ने आत्मा को ही छोड़ दी और शरीर को ही केन्द्र में रखकर बैठ गए। फिर कोई चाहे कितनी भी उत्कृष्ट साधना करे लेकिन सिद्धान्त की विपरीतता के कारण कैसे लाभ होगा ? उससे तो शायद और मिथ्यात्व की पुष्टि एवं वृद्धि होगी। अतः स्त्री की मुक्ति नहीं होती और केवली आहार नहीं लेते हैं यह विचारधारा सर्वथा त्याज्य है।

यहाँ सिद्ध बनने के १५ प्रकारों में “स्त्रीलिंग सिद्ध” का भी एक प्रकार शामिल किया गया है। अर्थात् स्त्री शरीरधारी जीव भी मोक्ष में जाते ही हैं। भूतकाल में अनन्त जीव स्त्री देह से मोक्ष में गए हैं, और भविष्य में भी जाएंगे ही। यह निर्विवाद निःसंदेह सत्य है। मरुदेवा माता भी स्त्री ही थी, और चन्दनबाला तथा मृगावती आदि साध्वियाँ भी शरीर से तो स्त्री ही थी। तीर्थकरों की माताएँ जो जो भी सभी मोक्ष में गई हैं वे सभी शरीर से तो स्त्रियाँ ही थीं। तथा चौबीसों तीर्थकरों के संध में लाखों की संख्या में साध्वीजियाँ जो मोक्ष में गई हैं वे भी सभी शरीर से तो स्त्रियाँ ही थी। एक स्त्री मुक्ति का प्रश्न उठा देने से इन सबका मोक्ष भी उड़ जाएगा। यह सिद्धों की कितनी गंभीर अवमानना होगी ? आशातना होगी ? इस प्रकार की अवमानना से कितने भारी कर्मों का बंध होगा ? फिर कितनी भव परंपरा बढ़ेगी ? इसका भी विचार करना ही चाहिए। यद्यपि स्त्री मुक्ति और केवली भुक्ति विषयक मीमांसा पहले भी कर चुका हूँ विस्तार भय से पुनरोक्ति नहीं करना चाहता हूँ। कृपया वहाँ से पुनः पढ़ें।



८) पुरुषलिंग सिद्ध—जैसे स्त्रीलिंग है। स्त्री शरीर के अंगविशेष गले देह को स्त्री कहते हैं। वैसे ही पुरुष लिंगविशेष के कारण उस शरीर को पुरुषलिंगी कहते हैं। आखिर देह रचना जो कर्म के कारण बनी है परन्तु आत्मा दोनों में समान रूप है। अतः पुरुष भी आत्म साधना करके गुणस्थानों के सोपानों पर क्रमशः चढ़ता हुआ क्षपक श्रेणि का प्रारम्भ करके ध्यान साधना में आगे बढ़ता हुआ

केवलज्ञान पाकर मोक्ष में जाता है। पुरुष देह से जो मोक्ष में जाते हैं वे पुरुष सिद्ध कहलाते हैं। पुरुषलिंग सिद्ध का अर्थ ही यह है कि.... सिद्ध बनने के पहले जो पुरुष थे वे... पुरुष शरीर के माध्यम से सिद्ध हुए हैं। अतः उन्हें पुरुषसिद्ध कहते हैं। २३ तीर्थंकर पुरुष देहधारी थे। और १ मल्लीनाथ मात्र स्त्री देहधारी थे। अतः वे स्त्रीलिंगी सिद्ध के भेद की गणना में गिने जाएंगे। गौतमस्वामी, सुधर्मास्वामी, शुभस्वामी, पुंडरीक स्वामी आदि सभी पुरुषदेहधारी थे। अतः वे पुरुषलिंग सिद्ध ही कहलाएंगे।

१०) नपुंसकलिंग सिद्ध— संसार में स्त्री, पुरुष और नपुंसक इन प्रकार के तीनों लिंगवाले जीव हैं। अतः जीवों का भिन्न—भिन्न वर्गीकरण वेद की दृष्टि से ३ प्रकार का किया गया है। यहाँ लिंग और वेद ये दोनों भेद अलग—अलग हेतु से किये गए हैं। लिंग मात्र यहाँ गुप्तांग सूचक है। जबकि वेद काम—वासना की भोगेच्छा सूचक है। पुरुष समागम की इच्छा यह स्त्रीवेद कर्म का कार्य है। स्त्री समागम की तीव्रेच्छा यह पुरुषवेद कर्म का कार्य है। तथा उभय समागमेच्छा यह नपुंसक वेद कर्म का उदय गिना जाता है। यहाँ इतना स्पष्ट समझिए कि इन तीनों प्रकार के वेद के उदयवाले की मुक्ति संभव नहीं है। क्योंकि यह वेद मोहनीय कर्म जो नौवे गुणस्थान तक सत्ता में रहता है। अतः नौवे गुणस्थान पर इस वेद मोहनीय का समूल क्षय नाश होता है। वह भी क्षपक श्रेणीवाले जीव का। उपशमवाले का तो यह कर्म सत्ता में दबा हुआ शान्त पड़ा रहता है। मुक्त तो १४ वे गुणस्थान पर बनना है। जबकि वेद का उदय तो ८ वे गुणस्थान तक ही रहता है। बस, फिर वहाँ सत्ता में से क्षय हो जाने के पश्चात् जब वह जीव मुक्त होता है तब वेद सर्वथा नहीं रहता है लेकिन शरीराकृति सूचक लिंग जरूर रहता है। क्योंकि वह तो शरीर का अंगविशेष है। अतः जन्मजात अंग जो बना हुआ है वह कहाँ जाएगा ? इसलिए रहता ही है।

नपुंसक २ प्रकार के होते हैं। एक तो जन्मजात नपुंसक होते हैं। उभयांगी जीव जो जन्मजात नपुंसक होते हैं कभी सिद्ध होते ही नहीं हैं। दूसरे प्रकार के कृत्रिम नपुंसक होते हैं। ये कृत्रिम नपुंसक ६ प्रकार के भिन्न—भिन्न बताए हैं— १) वर्धितक, २) चिम्पित, ३) मंत्रोपहत, ४) औषधोपहत, ५) ऋषिशप्त, और ६) देवशप्त। ये ६ प्रकार के सभी नपुंसक कृत्रिम हैं। कारणिक हैं। इन प्रकार के कृत्रिम कारणिक या नैमित्तिक नपुंसकवाले जीव मात्र तथाप्रकार के सूचक हैं। लेकिन ये जन्मजात नपुंसक वेदवाले जो जन्मजात होते हैं

वैसे नहीं हैं। या उभयांगी नहीं हैं। इन कृत्रिम नपुंसकों में वेद की वासना का क्षय जब नौवे गुणस्थान पर हो जाता है उसके पश्चात् आगे के गुणस्थान पर आरूढ़ होते हुए क्रमशः १४ वे गुणस्थान पर से मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं। जैसा कि दृष्टान्त दिया जाता है—गांगेय मुनि का। गांगेय ये कृत्रिम प्रकार के नपुंसक थे, वे भी केवलज्ञानादि सब कुछ पाकर मोक्ष में गए हुए हैं, ऐसा निर्देश नवतत्त्ववृत्ति में मिलता है। लेकिन ये गांगेय कौन? इनका चरित्रात्मक इतिहास या ऐतिहासिक प्रमाण जरूर संशोधनीय है। श्री भगवती सूत्र में भी नरक में जानेवाले जीवों के संबंध में प्रश्नकर्ता गांगेय मुनि का नामोल्लेख जरूर मिलता है, लेकिन उन्हें नपुंसक के रूप में नहीं बताया है। अतः कौन से गांगेय? यह जरूर संशोधन का विषय है। अतः नपुंसक वेद न लेते हुए कृत्रिम नपुंसक देहधारी जीव ही मोक्ष के अधिकारी बताए हैं। वैसे हजारों लाखों दृष्टान्त तो पुरुष लिंगधारी ही मोक्ष में गए जीवों के मिलेंगे।

११) प्रत्येक सिद्ध— शास्त्रों में ३ प्रकार से बोध पानेवाले जीव बताए गए हैं। एक को अपने आप ही बोध पानेवाले और दूसरे गुरु के उपदेश से बोध पानेवाले कहा है। अपने आप बोध पानेवालों में भी दो प्रकार के जीव होते हैं—एक तो संध्या के बदलते रंग, या मृत्यु या रोग—बिमारी आदि किसी भी प्रकार के वैराग्योत्पादक दृश्य को देखकर... कोई बोध—वैराग्य पाकर दीक्षा ग्रहण कर ले उसे प्रत्येक बुद्ध जीव कहते हैं। दूसरे जीवों में तथाप्रकार के मोहनीय आवरक कर्म के क्षीण होने से, पतले पडने से संसार की असारता समझकर वैराग्य वासित होकर दीक्षा ग्रहण कर ले वे स्वयंसंबुद्ध कहलाते हैं। और तीसरे वे हैं जो.... गुरु के उपदेश से संसार को असार समझ कर वैराग्यवासित बनकर दीक्षा ग्रहण करते हैं वे बुद्ध—बोधित कक्षा के गिने जाते हैं। ये तीनों प्रकार के जीव केवलज्ञान पाकर मोक्ष में जा सकते हैं।

१२) प्रत्येक बुद्ध सिद्ध— जो संध्या के बदलते रंग, वृद्धावस्था, मृत्यु बीमारी आदि किसी भी प्रकार के वैराग्योत्पादक दृश्यों—निमित्तों को देखते हैं।... और बस, उस चिन्तन की धारा में उन्हें चारित्र ग्रहण कर आत्मा का कल्याण करने के भाव बढ जाते हैं। वे प्रत्येक बुद्ध की कक्षा के महापुरुष कहलाते हैं। दधिवाहन राजा के पुत्र करकंडु जिनका नाम था। वे राजकुमार अपनी राजधानी में परिभ्रमण कर रहे थे... कि रास्ते में उन्होंने एक बूढ़े बैल को देखा। चलने में अशक्त, कमजोर, रोगिष्ठ तथा मृत्यु के इन्तजार

में खड़ा ऐसी अन्तिम स्थिति जैसी हालत देखकर करकंडु.... एक टसी नजर से बस, देखते ही रह गए... चिन्तन की धारा खुल गई। काफी चिन्तन करने से सत्य तत्त्व समझ में आ गया। यह संसार कैसा है यह ज्ञान हुआ और अपनी आत्मा को भी पहचान सके। बस, आत्मज्ञान होते ही बैल के निमित्त को पाकर... करकंडु उसी समय संसार का सारा वैभव छोड़कर निकल गए.... और मुनिवेष ग्रहण करके चारित्र धर्म स्वीकार किया। दीक्षा ली। प्रत्येक बुद्ध को देवता भी आकर मुनि वेष अर्पण करते हैं। अब करकंडु मुनि तीव्र वैराग्यवासित मन से उत्कृष्ट कक्षा की दीक्षा—चारित्र धर्म का पालन करते हैं। लघु कर्मों आत्मा थी। अतः आर्त—रौद्र ध्यान, राग द्वेषादि का त्याग करके ७ वे गुणस्थान पर अप्रमत्त बने हुए रहते थे। ८ वे गुणस्थान पर आरूढ़ होकर क्षपक श्रेणि का श्रीगणेश किया। शुक्लध्यान की धारा में चढ़ते हुए.... कर्मों की निर्जरा करते हुए वीतराग बनकर केवलज्ञान पाकर मोक्ष में गए। सदा के लिए संसार का, कर्मों का, शरीर का सारा साथ छोड़कर मुक्त हो गए। इन्हें प्रत्येक बुद्ध की कक्षा के महात्मा कहते हैं। ऐसे संसार के सेंकड़ों निमित्त हैं जिनका निमित्त पाकर चिन्तन करते हुए वास्तविक गहराई को पाकर कोई भी मोक्ष में जा सकता है।

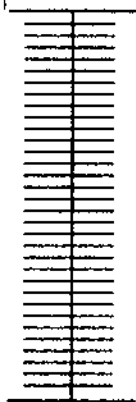
१३) स्वयं संबुद्ध— बिना किसी गुण आदि के उपदेश के और बिना किसी निमित्त के जो वैराग्य वासित होकर दीक्षा ग्रहण करे वे स्वयंसंबुद्ध की कक्षा के महात्मा गिने जाते हैं। इस कक्षा के जीवों ने पूर्व जन्मों में ऊँची साधना की हुई रहती है। इसके फल स्वरूप अन्तिम जन्म में कर्मों की निर्जरा होने से या वे कर्म क्षीण होने से आत्मा के गुण प्रगट हो जाते हैं। वे संसार छोड़कर अपने आप स्वयं ही दीक्षा ले लेते हैं और ध्यानादि की साधना में चढ़ते हुए गुणस्थान के सोपानों पर आरूढ़ हो जाते हैं। क्षपकश्रेणी शुरू कर देते हैं। इसके कर्मों का आक्रमण—प्रतिकार बहुत कम रहता है.... और दूसरी तरफ श्रेणी क्षपक की रहती है। इसलिए केवलज्ञान भी शीघ्र ही पाकर सदा के लिए संसार शरीर आदि से मुक्ति पा लेते हैं।

शास्त्रों में दृष्टान्त कपिल केवली का देते हैं। (दृष्टान्त पहले दिया है) ब्राह्मण के घर का लडका कपिल पिता की मृत्यु के पश्चात् बाल्य काल में ही अध्ययन करने बनारस गए। गुरु पढ़ाते थे, और एक शेट भोजन कराते थे। इतने में शेट के घर की नोकरानी की लडकी के प्रेम में यह कपिल फस गया। इसमें तो काफी आगे बढ़ गया। अब राजा को प्रभात

काल में प्रथम उठाने जाने के लोभ में, और सुवर्ण मुद्रा की प्राप्ति के प्रलोभन वश चोर के रूप में पकड़े गए। इनकी सत्यवादिता को देखकर राजा ने यथेच्छ मांगने के लिए कहा। सोचने का समय माँगकर सामने अशोक वाटिका में गए। एक वृक्ष के नीचे बैठकर अद्भुत चिन्तन की धारा में लीन हो गए। बस, फिर क्या चाहिए? शुभ चिन्तन, और सही शुद्ध ध्यान ही तो आध्यात्मिक विकास की मुख्य कुंजी है। कपिल चढ़ गए शुक्लध्यान की धारा में.... ८ वे अपूर्वकरण गुणस्थान से आत्मा की गजब की शक्ति स्फुरायमान कर ली। बस, कर्मों की ढेर सारी निर्जरा करते करते पहुँच गए सीधे १३ वे गुणस्थान पर और देखते ही देखते वीतरागता, केवलज्ञान प्राप्त हो गया। अब कहाँ सोना माँगना है? सवाल ही नहीं खड़ा होता है। देव अर्पित मुनिवेष धारण कर केवली—सर्वज्ञ के रूप में इस अवनि तल पर... सैंकड़ों जीवों का कल्याण करते—करते विचरते हुए एक दिन अपने भी शेष चारों अघाती कर्मों का क्षय करके निर्वाण—मोक्ष पाते हैं। ऐसे स्वयं ही बोध पानेवाले स्वयं संबुद्धों के अनेक दृष्टान्त हैं शास्त्रों में।

१३) बुद्ध-बोधित— प्रत्येक बुद्ध और स्वयं संबुद्ध की ऊँची कक्षावाले पुण्यात्मा तो बहुत विरले ही होते हैं—जबकि.... गुरु आदि के उपदेश से बोध पाकर वैराग्यवासित होकर दीक्षा लेकर निकलनेवालों की संख्या बहुत बड़ी होती है। अधिकांश संख्या इनकी रहती है। सभी जीव लघुकर्मों नहीं रहते हैं। कई बार अज्ञान—मोहादिवश संसार के दलदल में फसे हुए रहते हैं। ऐसे प्रसंग पर गुरु भगवंत उपदेश द्वारा जगत् को सत्य का यथार्थ मार्ग समझाते हैं। निष्कारण दयालु ऐसे संसार के त्यागी गुरु महाराज... संसार त्याग का, कर्मों का क्षय करने का, मोक्ष की तरफ प्रयाण करने का मार्ग समझाते हैं। परिणाम स्वरूप जिस किसी भी जीव की... समझ में यह सत्य तत्त्व आ जाए तो वह जीव... संसार छोड़कर दीक्षा ग्रहण करता है। संसार से सर्वथा विरक्त होकर साधना करते हैं। तथा इस उत्कृष्ट कक्षा की साधना में... चढ़ते—चढ़ते गुणस्थानों के सोपानों का राजमार्ग पाकर इस पर आरूढ़ होकर क्षपकश्रेणी शुरू करता है, कर्मों की निर्जरा करता है। केवलज्ञान पाकर जो मोक्ष में जाते हैं वे बुद्ध बोधित की कक्षा के सिद्ध कहलाते हैं। जैसे कि गौतम भ. महावीर से बोध—उपदेश पाकर गुणस्थान के मार्ग पर आरूढ़ होकर मोक्ष में चले गए। यद्यपि वे गणधर थे फिर भी बुद्ध बोधित के प्रकार में दृष्टान्त रूप से गिने जाते हैं।

१४) एक सिद्ध—संसार में से मुक्त होकर सिद्ध बनने के अभी तक के प्रकारों में भिन्न-भिन्न जीवों निमित्तादि की अनेक अपेक्षा से सिद्ध बननेवालों का विचार किया। अब... समय के साथ संख्या की इस अपेक्षा से विचार किया गया है। यह तो केवली सर्वज्ञ भगवान का ही विषय है। वे ही कह सकते हैं। अन्य किसी छद्मस्थ के वश की बात ही नहीं है।



समय के बारे में पहले वैसे भी विचार कर चुके हैं। जैसे परमाणु यह पुद्गल द्रव्य की अन्तिम इकाई है। अत्यन्त सूक्ष्मतम है। ठीक उसी तरह १ समय यह काल की अन्तिम इकाई है। अत्यन्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। हमारी एक पलक में अर्थात् तीव्र गति से आँख बंद कर खोलने जितने में भी असंख्य समय बीत जाते हैं। असंख्य समयों का काल तो बहुत बड़ा होता है। यह तो स्थूल काल है... छद्मस्थ इससे अपना व्यवहार कर सकते हैं। जबकि सर्वज्ञों के लिए तो सिर्फ १ समय जैसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म अन्तिम इकाई का व्यवहार भी सुलभ है। अढाई द्वीप के संपूर्ण मनुष्य क्षेत्र में से १ समय में कम से कम कितने जीव मोक्ष में जाते हैं? और १ समय में अधिक से अधिक कितने जीव मोक्ष में जाते हैं? क्षेत्र कितना बड़ा संपूर्ण मनुष्य क्षेत्र, और काल कितना तथा उतने सूक्ष्म काल में मोक्ष में जानेवाले जीवों की संख्या कितनी? यह तो सर्वज्ञों का ही कार्य है। इस तरह कौन कितने कब मोक्ष में गए यह स्वरूप सर्वज्ञ भगवन्तों ने जैसा बताया है, उसमें २ भेद होते हैं। १) एक समय में एक सिद्ध और एक समय में अनेक सिद्ध।

लोक प्रकाश आदि ग्रन्थों में सुंदर सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। संपूर्ण अढाई द्वीप रूप मनुष्य क्षेत्र में सिर्फ १ ही समय में दूसरा कोई भी जीव मोक्ष में न गया हो और सिर्फ १ ही जीव मोक्ष में जाता हो उसे एक सिद्ध कहते हैं। उदाहरण के लिए समझिए कि भ० महावीरस्वामी १ समय में १ ही (जीव) मोक्ष में गए। अर्थात् अकेले ही मोक्ष में गए। दीपावली की अमावास्या के दिन जब श्री महावीर प्रभु ने शेष रात्रि में देह छोड़ा तथा उनकी आत्मा सीधी मोक्ष में गई, उस समय पूरे ढाई द्वीप में कोई भी मोक्ष में नहीं गया अतः वे एक समय में एक अकेले ही मोक्ष में गए। ऐसे अनेक हैं जो एक समय में एक अकेले ही मोक्ष में गए हैं।

१५) अनेक सिद्ध— ऊपर जैसे १ समय एक सिद्ध होने की बात की थी, अब यहाँ पर ठीक उसके विपरीत १ समय में अनेकों के सिद्ध होने की बात है। समस्त ढाई



द्वीपों के मनुष्य क्षेत्र में से १ ही समय हो और उस १ ही समय में से यदि चारों तरफ से गणना करें तो उत्कृष्ट से कितने एक साथ मोक्ष में गए ? इसके बारे में शास्त्र में कहते हैं कि... इस अवसर्पिणी काल की चौबीसी के प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव भगवान

का ८४ लाख पूर्व का आयुष्य जब पूरा हुआ, उसी समय उनके ९९ पुत्र, और ८ भरत चक्रवर्ती के पुत्र मिलाकर (भ० ऋषभदेव के पौत्र इस तरह $१ + ९९ + ८ = १०८$ जीवों का आयुष्य कर्म एक साथ ही समाप्त हो गया। कितना बड़ा आश्चर्य होता है। इस प्रकार पिता, ९९ पुत्र तथा ८ पौत्र इन सबका आयुष्य एक ही समय में, एक साथ तथा एक ही साथ मोक्ष प्राप्त करना सचमुच आश्चर्यकारी घटना लगती है। फिर भी यह घटना हुई तो सही। हमारी छद्मस्थों की बुद्धि के बाहर की बात है।

सिर्फ १ ही समय के सूक्ष्मतम समय में... पिता—पुत्र और पौत्र तीन पीढ़ि के १०८ जीवों का एक साथ आयुष्य समाप्त होना, सभी गुणस्थान के सोपानों के राजमार्ग पर... केवली सर्वज्ञ बने हुए... ४ अघाती कर्मों की प्रकृतियों का क्षय करके, योग निरोध करके मोक्ष में जाना। इसमें समय का न बदलना। समयान्तर न होते हुए उसी समय में समकाल में मोक्ष में जाना यह विश्व की आश्चर्यकारी घटना है। अनोखी—अद्भुत घटना है। पूरे ढाई द्वीप रूप मनुष्य क्षेत्र में से उस समय में अन्य कोई मोक्ष में नहीं गए और ये ऋषभदेवादि १०८ ही मोक्ष में गए। ऋषभदेव भ. के १०० पुत्र थे। बस, उनमें से सिर्फ भरतचक्रवर्ती ही शेष रहे और सभी ९९ एक साथ में भगवान के साथ मोक्ष में गए। तथा भरतजी के ८ पुत्र अर्थात् भ० ऋषभदेव के पौत्र थे। वे सब एक साथ एक ही समय में मोक्ष में गए। अतः अनेक सिद्ध का प्रकार बना। प्रज्ञापनासूत्र की वृत्ति में भिन्न भिन्न समय में भिन्न—भिन्न संख्या में मोक्ष में जाने की बात भी बताई है।

इस तरह उपरोक्त १५ प्रकार जो सिद्ध के बताए हैं वे सभी सिद्धों के भेद नहीं हैं। लेकिन सिद्ध बनने के पहले कौन कैसे थे ? किस कक्षा में रहकर मोक्ष में गए हैं उस दृष्टि से सिद्ध बनने के प्रकारों का वर्गीकरण करके... १५ भेद बताए हैं। इन १५ में से दो—दो

के ग्रूप में यदि सबका संक्षेप से समावेश करना हो तो जिन + अजिन, और तीर्थ—अतीर्थ तथा एक—अनेक में सभी भेदों का समावेश हो जाता है। इसी तरह ३—३ के समूह में भी समावेश हो जाता है। १) लिंग की दृष्टि से— १) गृहस्थ, २) अन्यलिंगी, और ३) स्वलिंगी ये तीन भेद किये हैं। तथा लिंग शब्द शरीर के अंशविशेष का वाचक बनाकर भी १) स्त्री, २) पुरुष और ३) नपुंसक लिंगवाले देहधारी जीवों का मोक्षगमन भी माना है

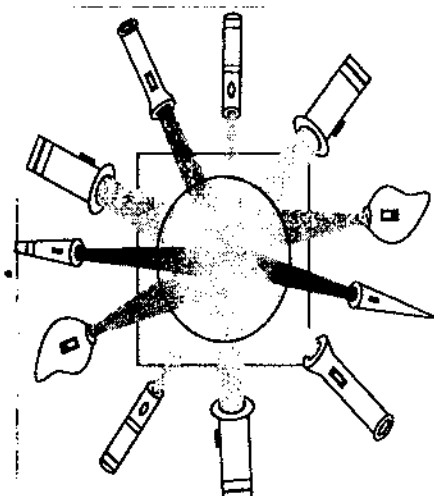
समस्त संसार में पंचेन्द्रिय मनुष्य जीवों की उत्पत्ति संख्या में स्त्रियों की संख्या ही सबसे ज्यादा बताई जाती है। तीनों काल में स्त्रियाँ ही संख्या में ज्यादा उत्पन्न होती हैं। दीक्षा में भी पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों ने ही दीक्षा ज्यादा ली है। ऐसा मत सोचिए कि... इस वर्तमान काल में ही स्त्रियों की संख्या ज्यादा है। जी नहीं, ... चौबीसों तीर्थकर भगवन्तों के चतुर्विध संघ के परिवार में भी देखिए... साधुओं की संख्या से स्त्री साध्वियों की संख्या दुगुनी से भी ज्यादा है। इसी तरह पुरुषों से स्त्रियों की संख्या श्रावकों से श्राविकाओं में काफी ज्यादा बताई है। इतना ही नहीं पुरुष साधु जितने मोक्ष में गए हैं उनसे स्त्री साध्वियों की मोक्ष में जाने की संख्या दुगुनी से भी ज्यादा मिलती है। कल्पसूत्र के आधार पर चौबीस ही तीर्थकर भगवन्तों के मोक्ष में जानेवाले उनके संघ-परिवार के साधुओं की संख्या... जबकि इनकी तुलना में..... चौबीस ही तीर्थकरों के संघ परिवार की स्त्री साध्वियों की कुल संख्या लगभग है। अब आप ही सोचिए। फिर वही सिद्धान्त बैठाइए। मोक्ष आत्मा का होता है। शरीर का नहीं। शरीर से कोई भी कैसा भी देहधारी हो क्या फरक पड़ता है? कुछ भी नहीं। वह चेतनात्मा आध्यात्मिक विकास के सोपान रूप राजमार्ग पर प्रगती करती हुई क्रमशः आगे बढ़ती जाय तो किसी भी प्रकार के लिंगवाला या देहवाला हो कोई फरक नहीं पड़ता। आत्मा के कर्मों का क्षय होना चाहिए और आत्मगुण—ज्ञानादि प्रगट होने चाहिए, बस।...

उपरोक्त १५ भेदों में से प्रत्येक सिद्ध होनेवालों में ६—६ भेद घटेंगे। उदा० के लिए ४० महावीर जो सिद्ध हुए हैं वे १) जिन सिद्ध है, २) तीर्थ सिद्ध है, ३) एक सिद्ध है, ४) स्वलिंग सिद्ध है, ५) पुरुषलिंग सिद्ध है। और ६) स्वयंबुद्ध सिद्ध है ही। इसी तरह जैसे मरुदेवी माता के विषय में विचार करिए.... १) अजिन, २) अतीर्थ, ३) एक, ४) गृहस्थ, ५) स्त्रीलिंग, तथा ६) स्वयंबुद्ध सिद्ध है। इस तरह इनमें भी ६ भेद घटित होते हैं। सिद्ध बनने की पूर्ववस्था में किसकी कैसी कक्षा—भूमिका है उसके आधार पर सिद्ध के भेद—प्रकार होते हैं।— अतः इसकी विचारणा यहां प्रस्तुत ही है।

१२ अनुयोग द्वारों से सिद्धस्वरूप की विचारणा—

४५ आगम शास्त्रों में “अनुयोग द्वार” सूत्र भी एक महत्वपूर्ण विशिष्ट आगम है। सचमुच तो इसे चाबी—कुंजी रूप आगम कहना चाहिए। जैसे कुंजी से ताला खुलता है ठीक उसी तरह इस आगम से अन्य अनेक आगमों में प्रवेश होता है। अन्य आगमों के पदार्थ खुलते हैं। अनेक दृष्टि से, अनेक नयगत हेतुओं से पदार्थों का विचार किया जाता है। जिससे पदार्थविशेष का विशद वर्णन होता है। ठीक इसी तरह “मोक्ष तत्त्व” की विचारणा १२ द्वारों के जरिए और विस्तृत स्वरूप से की गई है।— वे १२ द्वार इस प्रकार हैं— १) क्षेत्र, २) काल, ३) गति, ४) लिंग, ५) तीर्थ, ६) चारित्र, ७) प्रत्येक बुद्ध बोधित, ८) ज्ञान, ९) अवगाहना, १०) अंतर, ११) संख्या और १२) अल्प बहुत्व आदि १२ द्वार हैं। तत्त्वार्थ सूत्रकार ने दशवें अध्ययन में स्पष्ट सूत्र इसी का दिया है कि “क्षेत्र-काल-गति-लिंग-तीर्थ-चारित्र-प्रत्येक-बुद्धबोधित-ज्ञानावगाहनान्तर-संख्याल्प-बहुत्वतः साध्याः ॥ १०/७” यद्यपि सिद्धों में इन बारह में से एक भी नहीं घटती है। जैसे ऊपर १५ भेद सिद्ध के बताए हैं उनमें से सिद्ध बन जाने के पश्चात् एक भी भेद नहीं घटता है। वे तो सिद्ध बनने की पूर्ववस्था के भेद हैं। इसलिए सिद्ध के १५ भेद कहने के बजाय यदि सिद्ध बनने पहले के १५ प्रकार कहें तो ही ज्यादा स्पष्ट होता है। यद्यपि विस्तार जरूर होता है लेकिन सत्य स्वरूप स्पष्ट होता है। ठीक इसी तरह क्षेत्रादि १२ भी सिद्ध बनने के बाद के नहीं हैं। क्योंकि सिद्ध बन जाने के पश्चात् तो सभी सिद्धात्माएँ एक समान, एक जैसी ही होती हैं। किसी में भी रतीभर भी भेद नहीं होता है। क्योंकि भेदकारक भेद करानेवाला निमित्त जो जड़ पौद्गलिक कर्म, और कर्मजन्य शरीरादि कोई साधन—माध्यम बीच में है ही नहीं, फिर भेद होगा ही कहाँ से? आज भी हमारे इस समूचे संसार में एक से दूसरे के बीच में भेद करता कौन है? किस के कारण भेद होता है? बस, सिर्फ़ इन जड़—भौतिक—पौद्गलिक पदार्थ एवं शरीर ही सबसे बड़े भेदकारक हैं। बस, जिस दिन ये सब भेद कारक निमित्त बीच में से निकल जाएंगे उस दिन सच्ची समानता आएगी। उसमें सिद्धों का स्वतंत्र अस्तित्व होते हुए भी एकरूपता—एकता सर्वोच्च कक्षा की आती है। अतः सभी सिद्ध समान रूप होते हैं। एक जैसे ही होते हैं। इसलिए सिद्ध बन जाने के पश्चात् ऊपर एक से दूसरे में रतीभर भी भेद नहीं है। एक जैसे ही दूसरे होते हैं। अतः ये महावीर स्वामी और ये आदिनाथ या ये तीर्थंकर और ये गणधर, या ये सामान्य साधु और ये आचार्य या ये स्त्री और ये पुरुष आदि के अनेक भेद सिद्ध बनने के पहले यहाँ कर सकते हैं। यहाँ ही होता है। बस, सिद्ध बनने के बाद सिद्धों में एक सिद्ध का दूसरे

सिद्ध से कोई भेद होता ही नहीं है। वहाँ लोकान्त में अब कोई स्त्री नहीं है और कोई पुरुष नहीं है। ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि यह तीर्थकरसिद्ध है और यह स्त्रीसिद्ध है। नहीं। क्योंकि वहाँ स्त्रीसूचक शरीर ही नहीं है और पुरुषसूचक शरीर भी नहीं है। वहाँ तीर्थकर के द्योतक प्रातिहार्यादि कुछ भी नहीं है और आचार्य—उपाध्याय आदि सूचक कोई एक भी सूचक—द्योतक निमित्त है ही नहीं। अतः सभी एक समान—एक जैसे ही होते हैं। बात भी सही है कि जब शरीर ही नहीं है तो फिर भेद रहेंगे भी किस आधार पर? अशरीरी अवस्था में जहाँ एक मात्र आत्मप्रदेशों का प्रकाश पुंज की भांति ही अस्तित्व रहता है वहाँ भेद किस बात का?

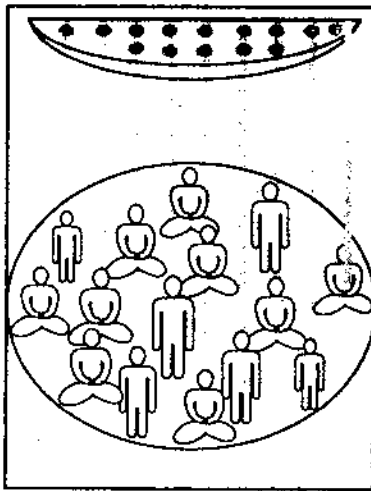


उदाहरण के लिए देखिए....

कुछ अलग कंपनियों की लाल—पीली छोटी—बड़ी टोर्च लाइटें हो उनमें सबमें भिन्नता स्पष्ट दिखाई देगी। क्योंकि सभी टोर्च लाइटें बैटरियाँ भिन्न—भिन्न रूप, रंग, आकार—प्रकार की हैं, इसलिए सब में विषमता रहेगी ही। क्योंकि इन सबके अपने अपने रूप—रंग आकार—प्रकार—बनावट आदि सभी भिन्न भिन्न प्रकार की हैं। अतः भिन्नता—विविधता अनेकता निश्चित ही रहेगी। लेकिन थोड़ा सा

और ध्यान से देखिए इन सब बैटरियों—टोर्च लाइटों में से निकलता प्रकाश यदि एक पुट्टे, कपडे या किसी पर भी इकट्ठा किया जाय तो वह प्रकाश सबका एक जैसा समान ही होगा। उसमें कहीं किसी भी प्रकार की भिन्नता नहीं दिखाई देगी। प्रकाश का जो वर्ण है वह सबका एक सरिखा रहेगा। अतः प्रकाशगत समानता जरूर रहेगी। हाँ, यहाँ भी यदि कोई टोर्च लाइटों पर लाल—पीला पारदर्शक पेपर रख देगा तो जरूर प्रकाश भी लाल—पीला हो जाएगा। लेकिन वह भी औपाधिक होगा। नैमित्तिक होगा। तो ही भेद होगा।

ठीक इसी तरह सिद्ध परमात्मा लोकाग्र में सिद्धशिला पर लोकान्त को लगे हुए मात्र प्रकाश पुंज स्वरूप ही रहते हैं। यहाँ से शरीर छोड़कर आत्मा जब चली जाती है तो



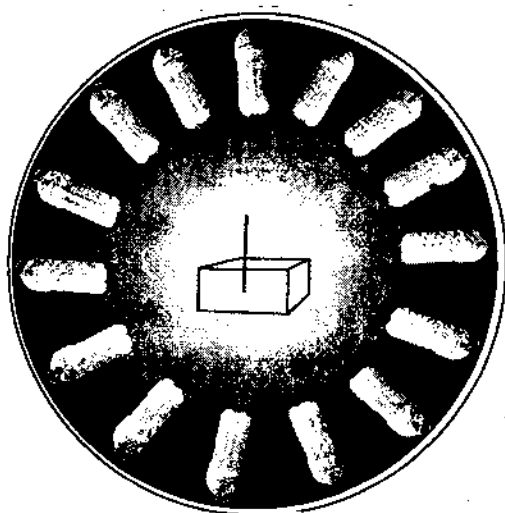
सिद्ध बनकर मात्र प्रकाशपुंज स्वरूप ही रहती है। यद्यपि प्रकाश भी रूपी है अतः दिखाई देता है। लेकिन आत्मा तो सर्वथा अरूपी ही होती है। इसलिए दिखाई देना या रूप—रंग होना या आकार—प्रकारादि होना यह पुद्गल निमित्तजन्य है। आत्मा के लिए सब प्रकार के भेद—प्रभेद खड़े करनेवाला एक मात्र पुद्गल ही है। पौद्गलिक संग ही भेदकारक होता है। अतः पुद्गल संग जब तक सर्वथा दूर नहीं होता है तब तक अभेदता—भेदरहितता नहीं आएगी।

कर्म भी पौद्गलिक है। शरीर भी पुद्गल का पिण्ड है। संसार के समस्त वर्ण—गंध—रस—स्पर्शवाले सभी पदार्थ पौद्गलिक ही हैं। वर्ण—गंधादि सभी पुद्गल के ही गुणधर्म हैं। आत्मा पुद्गल रहित है। पुद्गल के वर्णादि गुणधर्मों से युक्त आत्मा नहीं है। इसीलिए दिखाई नहीं देती। अतः आत्मा के रूप—रंग नहीं होता है। आकार—प्रकार नहीं होता है। आत्मा अरूपी—अरंगी—अगंधी—अवर्णी—निरंजन—निराकार रूप होती है। मात्र आपको समझाने के लिए दृष्टान्त के रूप में ही उपमा लेकर समझाया जाता है।

ऊपर का चित्र देखिए... इस अवनितल—धरती जो ढाई द्वीप स्वरूप मनुष्य क्षेत्र में जहाँ जहाँ भी जो जो भी साधक जीव ध्यानादि की साधना में लीन होकर बैठे हैं वे सभी सर्व कर्मों का क्षय करके देह छोड़कर जब मोक्ष में जाते हैं, तब उनकी आत्मा बैटरी के प्रकाश की तरह सीधी निकल जाती है। देह छोड़ देने पर फिर देह से किसी भी प्रकार का संबंध नहीं रहता है। अब वह आत्मा १ समय में ही ७ राज लोक का अन्तर काट कर द्रुत गति से लोकान्त तक जाकर बस, वहीं प्रकाश पुंज की तरह स्थिर हो जाती है। अब वहाँ किसी भी प्रकार का पुद्गलादि का संग रहता ही नहीं है। शरीर का भी नहीं। अतः मात्र आत्मा प्रकाश पुंज की तरह रहती है। जैसे टोर्च—बैटरी को छोड़कर प्रकाश ऊपर की छत पर रहता है ठीक वैसे ही शरीर को छोड़कर आत्मा लोकान्त की छत पर जाकर प्रकाश पुंज की भांति स्थिर हो जाती है।

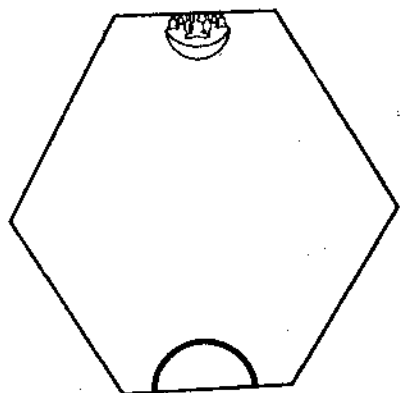
आत्मा शरीर से भिन्न स्वतंत्र अस्तित्व धारक द्रव्यरूप में थी तो आज बिना शरीर के भी स्वतंत्र रूप से रहती है। यदि स्वतंत्र अस्तित्व ही नहीं होता तो कैसे रहती ? अतः संसारी अवस्था में शरीर में अस्तित्व मानना और सिद्धावस्था में शरीररहित भी स्वतंत्र रूप से अस्तित्व स्वीकारना ही सम्यग् दर्शन है। संसारी अवस्था में शरीररूप नहीं लेकिन शरीराकार अस्तित्व मानना चाहिए। शरीर में रहने पर भी शरीर को ही आत्मा मानना यह महामिथ्यात्व है, नास्तिकता है। शरीर से भिन्न स्वतंत्र अस्तित्व न मानना यह भयंकर नास्तिकता—मिथ्यात्व है। ध्यानी ज्ञानी उच्च कक्षा का साधक अपनी उच्च ध्यानावस्था में शरीर से भिन्न आत्मा की अनुभूति कर सकता है। जिसमें देहभिन्न स्वतंत्रात्मानुभूति हो वही सच्चा—ऊँचा ध्यान है। ज्ञान है।

मोक्ष में एक स्थानपर एक साथ अनेक सिद्धात्मा—



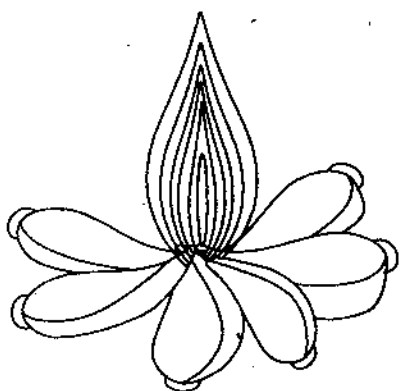
इस चित्र में दिखिए.
.. जैसे बीच में एक छोटे से बक्से पर सूई लगी हुई है। और उसके चारों तरफ जीरो के छोटे—छोटे बल्बों की पूरी सिरिज लगा दी जाय, और सबको चालु करने पर सभी बल्बों का प्रकाश एक सूई के अग्रभाग पर रहता है। जबकि प्रकाश रूप—रंगवाला पौट्रलिक है और वह भी एक सूई के नूकीले अग्रभाग पर यदि

रह सकता है। तो फिर अरूपी—अवर्णी—निरंजन—निराकार आत्माएँ एक साथ एक ही स्थानविशेष रूप एक आकाश प्रदेश पर क्यों नहीं रह सकती ? आसानी से रह सकती हैं। एक लाख वर्ष पहले एक भूमिप्रदेश से एक आत्मा मोक्ष में गई। उसी जमीन पर से ८० हजार वर्ष पहले कोई मोक्ष में गया, उसी स्थान विशेष से ६० हजार, फिर ५० हजार, फिर ४० हजार, फिर ३० हजार, फिर २० हजार, फिर १० हजार, फिर ७ हजार, फिर ५



हजार, फिर ३ हजार साल इस तरह बदलते काल में कभी भी कोई भी जीवात्मा मोक्ष में जाती रही हो। इसमें सिर्फ काल बदल रहा है परन्तु क्षेत्र नहीं बदलता है। भूमि वही रहती है। तो इस तरह एक ही भूमि—एक ही जगह—जमीन पर से कितनी ही आत्माएँ बदलते काल में मोक्ष में जाती ही रहती हैं। काल बदलता ही रहता है। आत्माएँ भी बदलती ही रहती हैं। लेकिन ज़मीन—जगह वही रहती है। अब इतने लम्बे काल में, अन्तराल—अन्तराल में जो—जो

आत्माएँ मोक्ष में जाती रहेगी वे सभी ९० के कोन में सीधी दिशा में ऊपर लोकान्त तक ही जाएगी। अब वहाँ पर वे एक ही आकाश प्रदेश के स्थान पर प्रकाश पुंज की तरह स्थिर रहेगी। मिलकर रहेगी। जैसे एक दीपक की ज्योति दूसरे दीपक की ज्योति के साथ मिलकर रहती है। जैसे पानी—पानी के साथ मिल जाता है। अग्नि—अग्नि के साथ मिल जाती है। कहीं कोई भेद नहीं रहता। न ही कहीं कोई सन्धिस्थान दिखाई देता है। न ही कहीं कोई अलगाव। ठीक उसी तरह अनन्तात्माएँ भी एक साथ एक जगह पर मिलकर



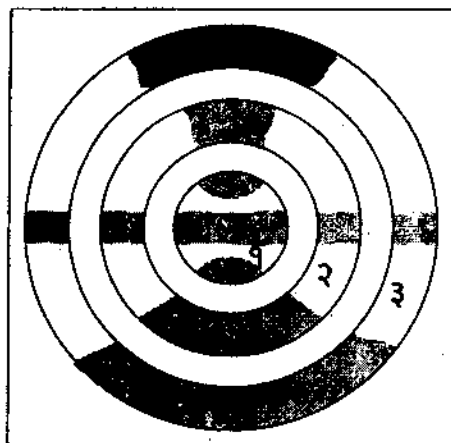
रहें तो भी कोई भेद नहीं रहता है। जबकि पानी और अग्नि तो पौद्गलिक देहधारी एकेन्द्रिय जीवों के शरीर विशेष हैं। जीवात्मा तो उस अग्नि और पानी के शरीर में रहती है, और बाहर दृश्यमान शरीर भाग है। फिर भी मिलना—मिश्रित होना संभव है। तो सर्वथा शरीररहित होकर अरूपी—अवर्णी—निरंजन—निराकार गुणधारी आत्मा का परस्पर मिलना कोई आश्चर्य की बड़ी बात ही नहीं है।

दीपक की ज्वाला की तरह परस्पर मिल जाने के पश्चात् भी सभी अपने आप में अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखती ही हैं। क्योंकि सभी आत्माएँ स्वतंत्र हैं। भिन्न—भिन्न हैं। सबका अपना—अपना केवलज्ञानादि अलग अलग है। अस्तित्व स्वतंत्र रखते हुए भी मिलकर एकरूप होकर रहती है। परस्पर दीपक की ज्योति की तरह मिल जाने पर भी सबके अपने—अपने आत्म प्रदेशों का स्वतंत्र अस्तित्व बना रहता है।

इसीलिए सिद्धाचल—सिद्धक्षेत्र की तीर्थभूमि का महत्त्व है। और इस तीर्थक्षेत्र की भूमि की यात्रा—दर्शन—वंदन—पूजन इस भूमि का स्पर्शनादि का भी इतना महत्त्व इसी कारण है। ऐसी भूमियों पर से जहाँ अनन्त आत्माएँ एक ही स्थान पर से ज्यादा से ज्यादा संख्या में मोक्ष में गई हैं। श्री शत्रुंजय—पालीताणा की तीर्थभूमि पर इस अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे में प्रथम तीर्थकर श्री ऋषभदेव भगवान पधारे। वे ९९ पूर्व बार यहाँ पधारते रहे। उनके समवसरण श्री शत्रुंजय की भूमि पर बने। तथा रायण वृक्ष के नीचे प्रभुजी कायोत्सर्ग करके ध्यान में रहे। उनके स्पर्श से यह भूमि पावन—पवित्र बनी। उनके काल में कितनी आत्माएँ पालीताणा पर से मोक्ष में गईं। जिसमें पुंडरीकस्वामी जो प्रभु ऋषभदेव के आद्य—प्रथम गणधर थे, वे चैत्री पूनम के दिन १० करोड़ मुनि महात्माओं के साथ मोक्ष में गए। कार्तिक शुद्ध पूनम के दिन १० करोड़ परिवार मुनिओं के साथ मोक्ष में गए। इस तरह एक मात्र श्री ऋषभदेव भगवान के शासन काल में ही अनेक—अगणित जीव मोक्ष में गए। उनके पश्चात् उसी क्रम में पीछे २३ तीर्थकर मोक्ष में जाते ही रहे। नेमिनाथ भ० सिर्फ गिरनार पर्वत (उज्जित शैल शिखर) पर मोक्ष में सिधारे, लेकिन उसके सिवाय के २३ तीर्थकर भगवान श्री शत्रुंजय की पावन भूमि पर पधारे।

२० तीर्थकर भ० सम्मेशिखरजी तीर्थ पर से मोक्ष में पधारे। उनके भी साधु—साध्वियों का परिवार काफी लम्बा चौड़ा था। इस तरह सिद्धाचल—शत्रुंजय और सिद्धक्षेत्र—सम्मेशिखरजी इन दोनों तीर्थस्थलों से बदलते काल के प्रवाह में एक ही भूमि पर से कितनी आत्माएँ मोक्ष में गईं? अगणित आत्माएँ जो मोक्ष में गई हैं, उनमें से एक ही स्थान भूमि पर से जितने मोक्ष में गए हैं वे लोकान्त क्षेत्र में भी एक ही जगह पर कितने एक साथ मिलकर रहेंगे? एक साथ लोकान्त के एक आकाश क्षेत्र में अगणित अनेक सिद्धात्मा रहेगी।

क्या सिद्धशिला पर खाली जगह है ?—



वैसे भूतकाल में काल अनन्तगुना बीत चुका है। अनन्त काल से संसारी जीव मोक्ष में जा रहे हैं। जाते रहे हैं। इसमें अनन्त काल में अनन्त जीव जो मोक्ष में जा चुके हैं। अतः सिद्धात्मा भी अनन्त हैं। अतः यहाँ प्रश्न उठता है कि... लोकान्त के भाग में क्या बिना सिद्धों की जगह खाली होगी ? या खाली जगह होगी कि नहीं होगी ? यदि खाली जगह होगी तो कौनसी ? और क्यों खाली रही ? आखिर क्या कारण रहा ?

ये प्रश्न भी सही हैं। समझने जैसे हैं। इससे विषय और ज्यादा स्पष्ट होता है। यह चित्र देखिए.... ढाई द्वीप—समुद्रों का नक्शा है। इसमें १) जंबुद्वीप है, २) धातकी खंड है और ३) पुष्करार्धद्वीप है (यह आधा है)। बीच में लवण और कालोदधि नामक दो वृत्त—गोलाकार समुद्र है। असंख्य द्वीप समुद्रों में मनुष्य क्षेत्र अर्थात् मनुष्यों की उत्पत्ति—मुत्यु—आबादीवाला सिर्फ ढाई द्वीप ही है। इस ढाई द्वीप में भी १५ कर्मभूमियों में से ही मोक्ष में जाते हैं। शेष ३० अकर्मभूमि में से, और ५६ अंतर्द्वीप में न तो भगवान है, न ही धर्म है, और न ही गुरु है। वहाँ मोक्ष के अनुरूप और अनुकूल कोई सामग्री उपलब्ध ही नहीं है। अतः $30 + 56 = 86$ क्षेत्र भूमि में से तो मोक्ष में जाने की कोई संभावना ही नहीं रहती है। यदि कर्मभूमि का कोई साधक मनुष्य मोक्षानुरूप साधना करता—करता संयोगवश अकर्म भूमि में आ भी जाय तो भी वह वहाँ से भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता है। वह कर्मभूमिज के १५ प्रकार में से ही होगा तो ही मोक्ष में जा पाएगा। अकर्मभूमिज तो किसी भी परिस्थिति में संभव ही नहीं है। लेकिन ऐसे भी अपवाद रूप है। अकर्मभूमिज जीव कर्मभूमि में आकर मोक्ष में जाय ऐसे अपवादरूप दृष्टान्त होते हैं।

जैसा कि पहले विचारणा कर आए हैं कि मोक्ष में जानेवाला जीव.... ९० के कोन की तरह बिल्कुल सीधे गति में ऊपर की दिशा में गति करके ही लोकान्त तक ऊपर जाता

है। इसलिए नीचे से कर्मभूमिज आत्मा देह छोड़कर ऊपर जाते समय अकर्म भूमि के ऊपरी आकाश में सिद्धात्मा जा ही नहीं सकती है। क्योंकि तिर्छी गति होनी संभव ही नहीं है। आत्मा की तिर्यक् गति कभी होती ही नहीं है। आकाश प्रदेशों की रचना हमारे बुने जाते कपड़ों के धागों की तरह बिल्कुल सीधे और आड़े ही हैं। अतः आकाश प्रदेशों के आधार पर ही जीव और पुद्गल—परमाणु आदि की गति होती है। इससे सिद्ध होता है कि ... सिद्धशिला के ऊपर लोकान्त में भी अकर्मभूमि और ५६ अन्तर्द्वीप के भाग की जगह खाली होगी। और यदि अपवाद रूप भी कोई जीव अकर्मभूमि पर से मोक्ष गया होगा, तो वह वहीं स्थिर रहेगा। गति की दिशा भी नहीं बदलती है और लोकाग्र में जाकर स्थानान्तर—स्थान परिवर्तन भी नहीं होता है।

१ रज्जु प्रमाण (१ राज लोक = असंख्य योजन) चौड़ी और १४ राजलोक लम्बी इतनी बड़ी त्रसनाडी के क्षेत्र में लोकान्त भाग में ऊपर भी १-राज का चौड़ा क्षेत्र है। लेकिन उतना बड़ा सिद्धशिला का मोक्ष क्षेत्र नहीं है। उन असंख्य योजनों के लोकान्त क्षेत्र के केन्द्र में सिर्फ २ ॥ द्वीप क्षेत्र अर्थात् सिर्फ ४५ लाख योजन परिमित क्षेत्र में ही मोक्ष क्षेत्र है। सिद्धशिला भी सिर्फ ४५ लाख योजन ही है। अब आप ही सोचिए, असंख्य योजन के विस्तारवाले चौड़े क्षेत्र में सिर्फ ४५ लाख योजन का क्षेत्र कितना छोटा ... कितना सीमित—परिमित होगा ? फिर इतने छोटे से परिमित क्षेत्र में अनन्त आत्माएँ सिद्ध बनकर रही हुई हैं।

१२ अनुयोग द्वारों से सिद्ध स्वरूप की विचारणा—

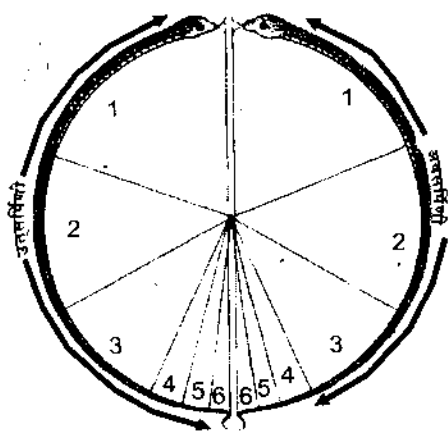
यद्यपि सिद्धों को गति, लिंग, क्षेत्र, कालादि एक भी वस्तु नहीं होती है। सिद्ध सर्वथा क्षेत्रादि सबसे परे हैं। अतः सिद्धों को क्षेत्रातीत, कालातीत आदि कहते हैं। कालातीत कहो या अकाल कहो दोनों बात एक ही हैं। वे सिद्ध सर्वथा अकाल हैं। काल के बंधन में बिल्कुल ही नहीं हैं। काल की किसी भी प्रकार की असर में नहीं हैं। अतः वे काल की दृष्टि से अनन्तकालीन कहलाते हैं। उनका सिद्धों का वहाँ रहने के काल का कभी अन्त आनेवाला ही नहीं है। अतः अनन्तकालीन स्थिति है मोक्ष में सिद्धों की। काल तत्त्व से भी वे ऊपर उठ चुके हैं। कालातीत या अकाल कहो।

सिद्धावस्था में गति—कालादि भाव घट ही नहीं सकता है। क्योंकि ये सांसारिक भाव हैं। जबकि सिद्ध संसार से परे हैं। फिर भी गति—लिंग—क्षेत्रादि की १२ दृष्टियों से सिद्धों के विषय में जो विचार किया जाता है उसमें एक मात्र हेतु उनकी पूर्वावस्था का है।

सिद्ध बनने के पहले वे कैसे थे ? किस अवस्था में थे ? किस स्वरूप में थे और किस अवस्था—स्वरूप में से वे मुक्त हुए हैं ? मोक्ष में गए हैं ? इसलिए गति—क्षेत्रादि की सभी दृष्टियों से विचार करना जरूरी है । इसमें भूतकालीन तथा वर्तमानकालीन दृष्टि अनुसार विचार किया जाता है ।

१) क्षेत्र द्वार—(स्थान—जगह विशेष) सिद्ध बनने का क्षेत्र कहाँ से हैं ? अतः भूत काल की दृष्टि से ४५ लाख योजन प्रमाणवाले २ ॥ द्वीप परिमित मनुष्य क्षेत्र है । इसमें से ही कोई सिद्ध बन सकता है । इसमें भी सिर्फ १५ कर्मभूमि में जन्मा हुआ संज्ञि पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीव ही मोक्ष में जाएगा । फिर भी संहरण की दृष्टि से समस्त मनुष्य क्षेत्र में से सिद्ध होते हैं । वर्तमानकालिक दृष्टि से समस्त जीवों का सिद्ध क्षेत्र आत्मा प्रदेश या आकाश प्रदेश है ।

२) काल द्वार— कोई भी मोक्ष में जाएंगे तो किसी न किसी काल में ही जाएंगे । अतः मोक्ष में जाने में काल भी सहयोगी तत्त्व है । कौन सा काल मोक्ष में जाने में अनुकूल है और कौन सा काल प्रतिकूल है ? इसका विचार काल द्वार में किया जाता है । काल



तत्त्व के विषय की जानकारी पहले भी दे चुके हैं, अतः कृपया वहाँ से पुनः पढ़कर काल के विषय को पक्का कर लें । कालचक्र में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी ऐसे क्रमशः चढ़ते और उतरते काल की व्यवस्था है । और दोनों में ६—६ आरे होते हैं । इनमें से १ और दूसरे आरे में मोक्षगमन सर्वथा निषेध ही है । अतः मोक्षगमनयोग्य वह काल ही नहीं है । तीसरे आरे के अन्त में जब प्रथम तीर्थकर भगवान

होते हैं और धर्मतीर्थ की स्थापना करेंगे तब मोक्षगमन जीवों का शुरू होगा । चौथा आरा संपूर्ण मोक्षगमनयोग्य आरा कहलाता है । क्योंकि चौथे १ कोडाकोडी—न्यून ४२००० वर्ष के आरे में २३ तीर्थकर भगवान होते हैं । और असंख्य जीव इसी में मोक्ष में जाते हैं । अतः इसे तो मोक्ष की बढ़िया सीजन का काल कहा जाता है । अवसर्पिणी के ३ रे के शेष भाग में और ४ थे आरे में जन्मे हुए मोक्ष में जाते हैं । चौथे आरे में जन्मा हुआ हो

वह ५ वे आरे में मोक्ष में जा सकता है। लेकिन ५ वे आरे में जन्मा हुआ ५ वे आरे में मोक्ष में नहीं जाता है। ऐसा नियम काल आधारित है। अतः ५ वे और छठे आरे में मोक्षगमन सर्वथा वर्ज्य है। इस तरह १, २, ३, ४, ५, ६ अवसर्पिणी काल के चौथे आरे में १००% मोक्षगमन होता है। और ३ रे आरे में शेष भाग में ही संभावना रहती है। क्योंकि १ ही तीर्थकर अन्त में होते हैं अतः १०% मोक्षगमन संभव है। अतः चौथे आरे में जन्मे हुए में से तो सिर्फ १%-२% ५ वे आरे में मोक्ष में जा सकते हैं। अतः १, २, ५, और ६ ये चार आरे तो मोक्षगमन के लिए सर्वथा निषिद्ध ही हो गए। अतः वह भी प्रश्न ही नहीं रहता है।

आज वर्तमानकाल में अवसर्पिणी काल चल रहा है। इसका ५ वा आरा चल रहा है। ५० महावीर के निर्वाण के ३ वर्ष और ८ मास के पश्चात् ५ वा आरा शुरु हो चुका था। जिसको आज लगभग २५२२ वर्ष बीत चुके हैं। अतः आज कोई कहे कि— मैं मोक्ष में जा सकता हूँ, तो यह कथन सर्वथा असत्य सिद्ध होता है। इसलिए शास्त्रीय तत्त्वों को सापेक्षित भावों से जान लेने से ऐसे निरर्थक मिथ्याभिमानों से बचा जा सकता है। और यदि कोई इसी प्रकार का कथन करता भी रहता हो तो निश्चित समझिए कि वह शास्त्रीय सिद्धान्तों को न जाननेवालों का बकवास मात्र है। अतः जी हौं, ... आज के इस हुंदा अवसर्पिणी काल के ५ वे आरे में मोक्षगमन यहाँ से सीधा संभव ही नहीं है। लेकिन वाया महाविदेह से जा सकते हैं। अर्थात् यहाँ का आयुष्य पूर्ण करके.... अगला जन्म महाविदेह क्षेत्र में लेकर वहाँ से मोक्ष में जा सकते हैं।

ठीक ऐसी ही व्यवस्था उत्सर्पिणी काल में भी है। उसमें भी ६ आरों में ६, ५, ४, ३, २, १ छठे तथा पाँचवें में तो सर्वथा संभावना ही नहीं है। अतः सर्वथा निषिद्ध ही है। ४ थे आरे में १ से २३ तीर्थकर होंगे, अतः इस काल में अवश्य ही मोक्षगमन १००% होगा। तथा अंतिम तीर्थकर तीसरे आरे के प्रारम्भ में होंगे। अतः उनके जीवन काल में तथा उनके पश्चात् के भी शासन काल में ३ रे आरे में मोक्षगमन रहेगा। लेकिन ३ रा आरा पूरा संभव नहीं है। इस तरह तीसरे आरे में सिर्फ १०% मोक्षगमन रहेगा। बस, बाद में शेष तीसरे आरे में, दूसरे और १ ले आरे में भी मोक्षगमन सर्वथा वर्ज्य रहता है। इस तरह १० कोडाकोडी सागरोपम उत्सर्पिणी के तथा + १० कोडा कोडी सागरोपम अवसर्पिणी के इस तरह कुल मिलाकर एक पूरे कालचक्र के ३० कोडा कोडी सागरोपम में सिर्फ २ से २ ॥ कोडा कोडी सागरोपम जितना काल ही मोक्षगमन योग्य काल उपलब्ध रहता है। शेष समस्त काल मोक्ष में जाने के लिए प्रतिकूल ही है। सर्वथा निषिद्ध ही है।

याद रखिए, उपरोक्त सारी कालिक व्यवस्था पाँचों भरत क्षेत्र तथा पाँचों ऐरावत क्षेत्र की समानान्तर व्यवस्था है। अतः यह कालिक व्यवस्था पद्धति सिर्फ भरत और ऐरावत सिर्फ इन दो (दश) क्षेत्रों में ही समझनी चाहिए। लेकिन महाविदेह क्षेत्र की कालिक व्यवस्था सर्वथा भिन्न प्रकार की ही है।

इस जंबुद्वीप के मध्य में सुमेरु पर्वत के पूर्व—पश्चिम में लवण समुद्र तक फैला हुआ पूरा ३२ विदेहोंवाला बड़ा लम्बा—चौड़ा पृथ्वी का भाग महाविदेह क्षेत्र के नाम से कहलाता है। यहाँ भी हमारे यहाँ की तरह काफी आबादी है। वहाँ कालिक दृष्टि की अपेक्षा विचारणा करने पर शास्त्रों में ऐसा सिद्धान्त स्पष्ट किया है कि... पाँचों महाविदेहों में (२ ॥ द्वीप के) सर्वत्र सदा काल चौथा ही आरा रहता है। इससे भी बड़ा आश्चर्य तो इस बात का है कि वहाँ आराओं के काल का कोई परिवर्तन ही नहीं होता है। अतः वहाँ नित्य स्थायी काल की व्यवस्था है। सदा काल हमेशा ही चौथे आरे की व्यवस्था वहाँ है। इसलिए सदा काल महाविदेह क्षेत्र में से मोक्षगमन का मार्ग चालू रहता है। वहाँ से मोक्ष सदा ही मिलना सुलभ रहता है। तथा मोक्ष प्राप्ति के अनुरूप सारी सुलभता तीर्थकर भगवंतों की अनेक केवलज्ञानियों की, साधु—साध्वियों तथा श्रावक—श्राविकाओं की उपलब्धि वहाँ करोड़ों की तादात् में मिलती है। अतः सदा काल ही धर्म की उपलब्धी रहती है। इस प्रकार शाश्वत रूप से, अखण्ड रूप से निरंतर देव—गुरु—धर्म की सहज सुलभता हो फिर तो पूछना ही क्या ? वहाँ से तो प्रतिदिन या १ दिन में भी १०० बार कई जीव मोक्ष में जा सकते हैं। किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध ही नहीं है। ऐसी सुंदर कालिक अनुकूलतावाला महाविदेह क्षेत्र है।

इस तरह क्षेत्र और काल का भी सापेक्ष भाव से विचार करना अत्यन्त आवश्यक है। मोक्ष पाने के इच्छुक मुमुक्षु आत्मा को इन सबकी जानकारी होनी आवश्यक है। शाश्वत व्यवस्था के सनातन शाश्वत सिद्धान्तों को जानने से कहीं निरर्थक मिथ्याभिमानादि कुछ भी नहीं आता है। जिससे मिथ्या या उत्सूत्र प्रतिपादन आदि स्व—पर विषय में भी संभव नहीं रहता है। महाविदेह क्षेत्र में कहाँ कोई उत्सर्पिणी—अवसर्पिणी काल की व्यवस्था ही नहीं है। आरोके काल की व्यवस्था ही वहाँ नहीं है। अतः ६ आरो के बदलना या चढ़ाव—उतार की व्यवस्था का सवाल ही वहाँ नहीं है। महाविदेह क्षेत्र में २० विहरमान अर्थात् विचरमान सदाकाल विचरते तीर्थकर भगवान रहते हैं। अतः अखंड रूप से तीर्थकर भगवंतों की सुलभ प्राप्ति शाश्वत काल तक सदा ही रहती है। इसी तरह शाश्वत रूप से देव—गुरु—धर्म की व्यवस्था सदा ही वहाँ रहती है। अतः विरह—वियोग का तो

सवाल ही नहीं रहता है। अतः कभी भी कोई भी जीव यहाँ आए, जन्म धारण करे और कर्मक्षय करके मोक्ष पधारे। ऐसी क्षेत्र—कालिक व्यवस्थावाले महाविदेह क्षेत्र की प्राप्ति की सतत अभिलाषा रखनी चाहिए। वर्तमान की दृष्टि से सिद्ध होने के लिए कोई लौकिक काल ही नहीं है एक समय में ही सिद्ध बन सके जिससे कि।

३) गति द्वार— संसार के समस्त अनन्त ही जीव देव, मनुष्य, नरक और तिर्यच की ४ गतियों में रहते हैं। मोक्ष में जाने हेतु इन ४ गतियों में से किस गति की अनुकूलता—योग्यता रहती है? यह भी विचारणीय है। देव, नरक और तिर्यच इन ३ गतियों का तो सर्वथा निषेध ही करते हैं शास्त्रकार। अतः इतने बड़े ७ राजलोक जितने विशाल देवलोक के ऊर्ध्व क्षेत्र के चारों निकाय के देवता जो कि असंख्य की संख्या में हैं उनके लिए मोक्ष इसी देवजन्म से प्राप्त करना संभव ही नहीं है। अतः अनन्त काल में भी कोई देवता मोक्ष में नहीं गया। ठीक इसी तरह नरक गति के नारकी जीव कभी भी मोक्ष में नहीं जाते हैं। तथा इसी तरह तिर्यच गति के पशुपक्षी भी कभी भी मोक्ष में जा ही नहीं सकते हैं। अनन्त काल में अनन्त जीवों में से एक भी देव, नारकी और तिर्यच पशु—पक्षी मोक्ष में गए भी नहीं हैं और भविष्य में कभी भी मोक्ष में नहीं जाएंगे।

अब रही बात सिर्फ मनुष्य गति के मनुष्यों की। सिर्फ एक मात्र मनुष्य ही मोक्ष में जाने के योग्य है। लेकिन ऐसा भी मत समझिए कि... कोई भी मनुष्य मोक्ष में जा सकता है। जी नहीं। जैसा कि पहले वर्णन कर चुके हैं कि.... ३०३ प्रकार के समस्त मनुष्य गति के मनुष्यों में से १०१ प्रकार के समूहिय मनुष्य कदापि मोक्ष में जाने योग्य हैं ही नहीं। दूसरे १०१ प्रकार जो गर्भज अपर्याप्त मनुष्य हैं उनमें से भी कोई मोक्ष में कदापि जा ही नहीं सकता। ये दोनों अन्तर्मुहूर्त परिमित आयुष्यवाले ही हैं। अतः सवाल ही नहीं होता। ये सर्वथा मोक्ष के लिए अयोग्य हैं। अब रही बात १०१ गर्भज पर्याप्त संज्ञि पंचेन्द्रिय मनुष्यों की। इनमें १५ कर्मभूमिज, ३० अकर्मभूमिज और ५६ अंतर्द्विपज मिलाकर १०१ बनते हैं। अब पहले भी जैसा कि आप पढ़ आए हो उनमें ३० अकर्मभूमिज और ८६ अंतर्द्विपज मिलाकर कुल ८६ प्रकार के मनुष्य तो कदापि मोक्ष पा ही नहीं सकते हैं। क्योंकि ये ८६ प्रकार के मनुष्य जहाँ जिस क्षेत्र (भूमि विशेष) में रहते हैं, जन्मते हैं वहाँ भगवान, गुरु और धर्मादि की अनुकूल—सहयोगी सामग्री कुछ भी नहीं है। क्योंकि ये सब एक मात्र १५ कर्मभूमियों में ही उपलब्ध है। अतः सिर्फ १५ कर्मभूमिज मनुष्य ही मोक्ष पाने की योग्यता रखते हैं। अब आप ही सोचिए कि ३०३ प्रकार के मनुष्यगति के सभी मनुष्यों में से सिर्फ १५ प्रकार के मनुष्य ही मोक्ष पाने के योग्य हैं।

इन १५ प्रकारों में भी मनुष्य विशेष की योग्यता आदि देखने पर मुश्किल से १-२% ही मनुष्य ऐसे निकलेंगे जो मोक्षगामी जीव हैं। क्योंकि १५ प्रकार तो भूमि-क्षेत्र जन्म हैं। लेकिन उस जीवविशेष की योग्यता पात्रतादि सब दृष्टि से विचार करने पर... मुश्किल से १% या २% मनुष्य ही मोक्ष के पात्र ठहरेंगे। अब इस प्रकार के १ या २% में हमारी गणना करानी हो तो हमें भी सम्यग् दर्शन आदि गुणों को प्राप्त करने के लिए प्रबल पुरुषार्थ करना ही चाहिए। इस तरह गति द्वार की दृष्टि से विचार करने पर... मनुष्य गति में भी कैसे मनुष्य की योग्यता मोक्षगमनार्थ होती है? का विचार किया जा सकता है।

मोक्ष पाने के लिए मनुष्य गति का २ तरीके से विचार किया जा सकता है। १) अनन्तर, और २) परम्पर। अनन्तर में तो अंतिम भव की मनुष्य गति ही गिनी जाएगी। जबकि परम्पर के प्रकार में अतिन मनुष्य गति के जन्म को पाने के लिए उसके पहले की गति के जन्म कारणभूत बनते हैं। उन परम्पर गति से अन्त में अनन्तर मनुष्य गति को पाकर ही मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है।

४) लिंगद्वार:- जैसे कि हम सिद्ध के १५ भेदों में लिंग का विचार कर आए हैं। उसी विचारणा को यह भी समझनी चाहिए। जगत् में अनन्त सभी जीवों का वेद की दृष्टि से ३ प्रकार के लिंगों में विभाजन किया है। १) स्त्री, २) पुरुष, ३) और नपुंसक लिंग। लिंग शब्द दो अर्थ में प्रचलित है। १ वेद और २ चिन्ह। वेद विषयवासना की काम संज्ञा को कहते हैं। तथा चिन्ह अर्थ शरीर का भेदक अंगविशेष का सूचक है। जिसके कारण स्त्री की या पुरुष की स्वतंत्र पहचान होती है। वह चिन्हविशेष वर्तमान काल की दृष्टि से विचार करने पर अलिंगी-अवेदी ही सिद्ध हो सकता है। अतः सिद्ध होने के पहले वेद वासना की संज्ञारूप कामसंज्ञा सर्वथा समाप्त हो जाय तो ही मुक्ति संभव है। लेकिन उस समय अर्थात् मोक्ष प्राप्ति को पूर्ववस्था में जो शरीर जिस प्रकार का रहता है, वैसा चिन्हरूप लिंग रहता ही है। वह लोप नहीं रहता है। शरीर का अंगविशेष है। नौवै गुणस्थान पर आकर लिंग अर्थात् वेदगत वासना समाप्त हो जाती है। बस, फिर तो किसी भी प्रकार की कामसंज्ञादि कुछ भी नहीं रहती है। तभी मुक्ति संभव है, अन्यथा नहीं। यद्यपि तीनों लिंगधारी मोक्ष में जा सकते हैं।

यह उपरोक्त विचारणा द्रव्यलिंग की है। भावलिंग अर्थात् आत्मा के लिंग (चिन्ह-पहचान) की भी विचारणा आन्तरिक दृष्टि से करनी चाहिए। शरीर का लिंग भेदक

चिन्ह शरीर की पहचान का वाचक बनता है। जबकि आत्मा के लिए दर्शन—ज्ञान—चारित्रादि के गुण ही उसकी पहचान के वाचक बनते हैं। द्रव्यलिंग में तो तीनों में से किसी भी लिंग से मोक्षगमन संभव है, लेकिन भावलिंग में दर्शन—ज्ञान—चारित्र में से एक भी कम नहीं चलेगा। तीनों पूर्ण—संपूर्ण होने ही चाहिए।

तथा लिंग शब्द से जुड़े हुए अन्य ३ गृहस्थलिंग, स्वलिंग, और अन्यलिंग भी बताए गए हैं। इन्हें भी बाह्यद्रव्यलिंग कहते हैं। १) स्वलिंग में—रजोहरण—मुहपत्ति आदि मुनि वेषधारक तथा भाव से पंचमहाव्रत धारक ही मोक्ष में जाता है। २) गृहस्थलिंग में मात्र गृहस्थ की वेषभूषा रहती है, और भाव से ज्ञान—दर्शन—चारित्रादि की परिपक्वता संपूर्ण रहती है। ३) अन्यलिंगी—परिव्राजक—संन्यासी—तापसादि में भी द्रव्य से भगवा वेषधारीपनादि रहता है लेकिन भाव की भूमिका में दर्शन—ज्ञान—चारित्र का सम्यग् स्वरूप पूर्ण संपूर्ण स्वलिंगी जैसा ही रहता है। अतः बाह्य लिंग, द्रव्य लिंग चिन्हरूपवाचक बनता है। जबकि.... आभ्यन्तर कक्षा का लिंग सम्यक् दर्शनादि विद्यमान होने पर ही मुक्ति की प्राप्ति संभव है।

५) तीर्थ द्वार—तीर्थंकर भगवंतों द्वारा स्थापित तीर्थ—शासन की उपलब्धि पाकर ही सिद्ध हो सकते हैं। अपवादरूप से तीर्थस्थापना के पहले भी मरुदेवी माता की तरह मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। तथा तीर्थ के विच्छेद के काल में भी संभावना है। लेकिन ९९% सारी संभावना तीर्थ की संप्राप्ति के काल में ही संभव है। अतः तीर्थ द्वार भी सिद्ध बनने के लिए आवश्यक है।

६) चारित्र द्वार—वैसे शास्त्रों में ५ प्रकार के चारित्र दर्शाए गए हैं लेकिन सभी प्रकार के चारित्र मुक्ति पाने में कारणभूत सहायभूत हैं। हेतुभूत हैं। अतः संसारी अवस्था में ही ये पाँचों चारित्र सहायक हैं। परन्तु... मोक्ष में तो पाँचों प्रकार के चारित्र में से एक भी चारित्र नहीं होता है। परन्तु संसार में इन पाँचों चारित्रों की उपासना किये बिना तो मोक्ष की प्राप्ति संभव भी नहीं है। भूतकालिक दृष्टि से अनन्तर चारित्र और परंपरा चारित्र इन २ दृष्टियों से विचारणा की जाती है। १) अनन्तर चारित्र की अपेक्षा से यथाख्यात नामक पाँचवे चारित्र से ही मोक्ष की प्राप्ति संभव है। २) परंपर चारित्र की अपेक्षा से सामायिक, सूक्ष्म संपरायादि, यथाख्यात आदि ये तीनों चारित्र परंपर कारण बनते हैं। इस तरह ४ और ५ चारित्र भी परंपर रूप से सहायक सिद्ध होते हैं। इस तरह मोक्ष प्राप्ति के लिए चारित्र अनिवार्य है।

७) **प्रत्येक बुद्ध बोधित द्वार**— कोई स्वयं बोध पाकर सिद्ध होता है, और कोई दूसरों से बोध पाकर सिद्ध बनता है। इसकी विचारणा इस द्वार में की गई है। कई अपने आप ही बोध पाकर मोक्ष में जाते हैं। जिसको किसी के भी उपदेश की आवश्यकता नहीं रहती है। और किसी को दूसरों के उपदेश से ज्ञानबोध होता है। वे बुद्ध—बोधित भी मोक्ष में जाते हैं। देव—गुरु के उपदेश से भी मुक्त बनते हैं। तीर्थंकर तथा प्रत्येक बुद्ध स्वयं अपने आप ही बोध प्राप्त करते हैं जबकि... दूसरे बुद्ध बोधित की कक्षा में दूसरों से बोध पाते हैं।

८) **ज्ञान द्वार**— इस द्वार में किस ज्ञान से सिद्ध होते हैं कि विचारणा की गई है। अतः मुक्ति की प्राप्ति के लिए केवलज्ञान की अनिवार्यता बताई गई है। प्रत्युत्पन्नभावप्रज्ञापनीयनी दृष्टि से केवलज्ञानी सिद्ध होते हैं। पूर्वभावप्रज्ञापनीय की दृष्टि से व्यंजित और अव्यंजित ऐसे दो प्रकारों से विचारणा की जाती है। अव्यंजित में दो ज्ञान से सिद्ध हुए सबसे कम हैं। ४ ज्ञान से सिद्ध हुए इनसे संख्यातगुने ज्यादा हैं। और ३ ज्ञान से सिद्ध हुए उनसे भी संख्यात गुने ज्यादा हैं। व्यंजित में मति और श्रुत ज्ञान से सिद्ध सबसे कम, और मति—श्रुत—अवधि—मनःपर्यव इन चार से सिद्ध संख्यात गुने हैं। मति, श्रुत और अवधि ज्ञानवाले तो उनसे भी असंख्य गुने हैं। अर्थात् केवलज्ञान पाने के पहले ये ज्ञान पानेवाले होते हैं।

९) **अवगाहना द्वार**— अवगाहना शब्द शरीर की ऊँचाई का सूचक शब्द है। शरीर की कितनी ऊँचाईवाले जीव मुक्त बन सकते हैं इस बात की विचारणा इस द्वार में की गई है। यहाँ शरीर की अवगाहना का मतलब आत्मप्रदेशों को इस शरीर में रहने की जगह। शास्त्रों में फरमाते हैं कि— उत्कृष्ट से ५०२ से ५०९ धनुष्य की कायावाले जीव सिद्ध बन सकते हैं। और जघन्य अर्थात् कम से कम २ से ९ अंगुल कम ऐसे २ हाथ की शरीर की ऊँचाईवाले जीव मोक्ष में जा सकते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि छोटे आरे में जो सिर्फ १ हाथ की ही ऊँचाईवाले शरीरधारी जीव कदापि मुक्त हो ही नहीं सकते हैं। वर्तमानकालिक अपेक्षा से अपनी काया के २/३ भाग की अवगाहना में ही सिद्ध हो सकते हैं। भूतकालिक अपेक्षा से अपनी काया की अवगाहना में ही सिद्ध हो सकते हैं। जघन्य अवगाहनावाले सिद्ध कम हैं। उत्कृष्ट अवगाहनावाले सिद्ध असंख्य गुने हैं जबकि मध्यम कक्षा की शरीर की ऊँचाईवाले जीव सबसे ज्यादा असंख्य गुने हैं। इस तरह अधिक से अधिक और कम से कम कितनी शरीर की ऊँचाई अपेक्षित है यह सूचित किया है।

१०) अंतर द्वार— एक के मोक्ष में जाने के बाद कम से कम और अधिक से अधिक कितना अन्तर पड सकता है। इस विषय की विचारणा इस १० वे अन्तर द्वार में की गई है। क्या प्रति समय सिद्ध होते ही रहते हैं? या बीच में अन्तर भी होता है या नहीं? इस विषय में कहते हैं कि— एक बार आँख बन्द होती—खुलती है पलक झपकती है उतने में तो असंख्य समय बीत जाते हैं। तो क्या उन असंख्य समयों में प्रति समय निरंतर सिद्ध होते रहते हैं? या अन्तर भी पडता है? क्या कुछ समय खाली भी जाता है? अतः अन्तर की दृष्टि से २ प्रकार से विचारणा होती है। १) निरंतर और २) सान्तर। १) निरन्तर में सतत अखण्ड रूप से प्रति समय सिद्ध होते ही रहते हैं। उसमें जघन्य (कम से कम) से २ समय तक निरंतर सिद्ध होते रहते हैं। और उत्कृष्ट से ८ समय तक सिद्ध होते रहते हैं। अर्थात् पहले समय में कोई सिद्ध बनकर, फिर दूसरे समय में भी कोई सिद्ध हो, फिर ३ रे फिर ४, ५, ६, ७ और ८ वे समय में भी कोई सिद्ध बनते ही जाय, कहीं बीच में खण्ड ही न पडे उसे अखण्ड रूप से सिद्ध होना कहते हैं। बिना अन्तर पडे अर्थात् निरन्तर जो सिद्ध होते हैं वे जघन्य—उत्कृष्ट रूप से २ से ८ समय तक सिद्ध होते रहते हैं।

इसमें भी निरंतर ८ समय तक सिद्ध होते ही रहे हो उनकी संख्या काफी कम है। जबकि इन से ७ समय तक सिद्ध हुए संख्यात गुने ज्यादा हैं। इनसे भी ६ समय तक के निरंतर सिद्ध संख्यात गुने ज्यादा हैं। इस तरह ५ समय तक ४, ३, २ और १ समय में सिद्ध होते ही रहनेवालों की संख्या क्रमशः संख्यात गुनी ज्यादा ज्यादा है।

इसमें सिर्फ अन्तर का विचार किया जा रहा है, लेकिन संख्या का विचार नहीं है। किस समय में कितनी संख्या में मोक्ष में गए या जाते हैं, यह विचार संख्या द्वार में करेंगे।

९५ अब दूसरी दृष्टि सांतर की है। अर्थात् १ किसी के सिद्ध हो जाने के पश्चात् दूसरा कोई सिद्ध हो उसके बीच में यदि अन्तर पडे तो कितना पडे? कम से कम कितना पडे? और ज्यादा से ज्यादा कितना अन्तर पड सकता है? इस विषय में कहते हैं कि सतत निरंतर ८ समय तक सिद्ध होते ही रहें.... तो उसके पश्चात् नौवे समय कोई भी सिद्ध नहीं होते हैं। नौवे समय से अन्तर पड जाता है। बस, अब समस्त मनुष्य क्षेत्र में से नौवे समय से कोई यदि मोक्ष में न जाय और अन्तर बीच में पड जाता है तो यह अन्तर १ समय का अन्तर कम से कम अर्थात् जघन्य से पड सकता है। अर्थात् नौवे समय में कोई मोक्ष में न जाय और फिर १० वे समय में कोई भी मोक्ष में जा सकता है। इस तरह १ समय का अन्तर यह जघन्य कक्षा का अन्तर है। यदि यह बीच का अन्तर बढ़ता ही जाय तो १०, ११, १२, १५, २० इस तरह १ महीना, २ महीना, ४ महीना और अन्त में उत्कृष्ट से

६ महीने (१८० दिनो) का अन्तर पड सकता है, अर्थात् उत्कृष्ट से अधिक से अधिक १८० दिन का काल ऐसा बीत सकता है कि जिसमें कोई भी मोक्ष में न जाय । इस तरह ६ मास का उत्कृष्ट अंतर पडने के बाद समस्त २ ॥ द्वीप क्षेत्र में से कहीं न कहीं से पुनः कोई मोक्ष में जाएगा ही जाएगा । इसमें कहीं कोई संदेह नहीं है । इस तरह अंतर द्वारा समझना चाहिए ।

११) संख्या द्वार— अब संख्या की दृष्टि से १ समय में कम से कम और अधिक से अधिक कितने सिद्ध होते हैं ? या हो सकते हैं ? इसका विचार संख्याद्वार में किया जाता है । अतः शास्त्र में कहते हैं कि ... १ समय में कम से कम १ ही जीव सिद्ध होता है । और उत्कृष्ट से - अधिक से अधिक १०८ जीव मोक्ष में गए हैं । १ समय में १ से कम तो हो ही नहीं सकते हैं और १०८ से ज्यादा कभी हुए ही नहीं हैं । जहाँ समय की संख्या मात्र १ ही है और सिद्ध होनेवाले जीवों की संख्या १०८ की है । अब सोचिए आप ! इतने छोटे से १ समय के काल में १०८ सिद्ध होते हैं । इस १०८ की उत्कृष्ट संख्या में मोक्ष में जाने का सौभाग्य भ० ऋषभदेव को प्राप्त हुआ है । अतः इस दृष्टान्त में नामांकन उनका ही हुआ है । अभी तक दूसरा ऐसा दृष्टान्त अन्य किसी का भी मिल नहीं रहा है ।

सिर्फ १ समय में १०८ के सिद्ध होने की संख्यावाले बहुत कम हैं । लेकिन १०७ से ५० (या ५० से १०७) तक की संख्या में सिद्ध बननेवालों की संख्या अनन्तगुनी है । तथा ४९ से २५ तक की संख्या में सिद्ध बननेवालों की संख्या असंख्यगुनी है । तथा ३४ से २ तक की संख्या में मोक्ष में जानेवालों की संख्या संख्यातगुनी है । इस तरह संख्या द्वार के अन्तर्गत मोक्ष में जानेवाले जीवों की १ समय में कितनी संख्या होती है का विचार किया गया है ।

और विस्तार से विचार करते समय संख्या की दृष्टि से १ समय में ज्यादा—से ज्यादा उत्कृष्ट अवगाहनावाले २, जघन्य अवगाहना वाले ४ और मध्यम अवगाहनावाले १०८ सिद्ध होते हैं । इसी तरह लिंग के विषय में संख्या का विचार करने पर ... पुरुषलिंग से १०८, स्त्रीलिंग से ३०, तथा नपुंसकलिंग से सिर्फ १० की संख्या बताई गई है । गृहस्थलिंग से सिर्फ ४ और अन्यलिंगसे १० तथा अन्त में स्वलिंग से १०८ की सर्वाधिक संख्या दर्शायी गई है । इस तरह सभी द्वारों के विषय में कम ज्यादा संख्या का विचार किया जा सकता है, इसे अल्प—बहुत्व द्वार कहते हैं ।

१२) अल्प—बहुत्व द्वार— अल्प = कम, और बहुत्व अर्थात् = अधिक । इस तरह कम—ज्यादा की संख्या में कितने मोक्ष में गए का विचार इस अल्प—बहुत्व द्वार में

किया गया है। उपरोक्त ११ ही द्वारों का जो विचार करके सबके सिद्ध होने की जो बात की गई है उन सबमें कम—ज्यादा संख्या का विचार करना वह अल्पबहुत्व द्वार में किया गया है। मनुष्य क्षेत्र में संहरण होकर सिद्ध होनेवालों की संख्या की अपेक्षा कर्मभूमि में ही जन्म लेकर मोक्ष में गए हुए की असंख्यात गुनी ज्यादा है। कालद्वार में उत्सर्पिणी काल में सिद्ध हुए जीवों की अपेक्षा अवसर्पिणीकालिक सिद्ध जीव विशेषाधिक है। इससे भी शाश्वत कालवाले चौथे आरेवाले क्षेत्र महाविदेह क्षेत्र में मोक्ष में जानेवाले जीवों की संख्या संख्यातगुनी ज्यादा ही रहती है। पृथ्वी क्षेत्र के २ ॥ द्वीपों में मोक्ष गए हुए जीवों में जंबुद्वीप की अपेक्षा घातकी खण्ड में से मोक्ष में गए हुए संख्यात गुने ज्यादा तथा इसकी अपेक्षा भी पुष्करार्ध द्वीप में से मोक्ष में गए हुए जीवों की संख्या संख्यात गुनी ज्यादा है। बात भी सही है, क्योंकि... जंबुद्वीप में १ महाविदेह है, जबकि घातकी खण्ड में पूर्व—पश्चिम में दो—दो हैं। इसी तरह पुष्करार्ध द्वीप क्षेत्र में भी २ महाविदेह क्षेत्र है पूर्व—पश्चिम में और क्षेत्रफल में भी वे काफी ज्यादा कई गुने बड़े लम्बे चौड़े हैं। अतः वहाँ से ज्यादा से ज्यादा जीव मोक्ष में गए हैं, जाते हैं यह स्वाभाविक ही है। इसी तरह सभी द्वारों में अल्प—बहुत्व संख्या में कम ज्यादा का विचार किया गया है। गति की दृष्टि से तिर्यच से मनुष्य की गति में आकर मोक्ष में जानेवालों की संख्या की अपेक्षा देवगति में से मनुष्य गति में आकर मोक्ष में गए हुए जीवों की संख्या संख्यात गुनी ज्यादा है।

लिंग की दृष्टि से नपुंसक लिंग से सिद्ध होनेवालों की संख्या अत्यन्त कम है। उससे स्त्रीलिंग से सिद्ध बनेवालों की संख्या संख्यात गुनी ज्यादा है। और अन्त में पुरुषलिंग से सिद्ध बनेवालों की संख्या इससे भी संख्यात गुनी ज्यादा है। अतीर्थ सिद्ध अल्प है जबकि तीर्थ सिद्ध असंख्यगुने ज्यादा हैं।

प्रत्येक बुद्ध सिद्ध काफी कम है इनसे बुद्ध बोधित की संख्या संख्यात गुनी है। इनमें भी क्रमशः नपुंसक से स्त्रीलिंगी की ज्यादा और उनसे भी पुरुषलिंगी की सबसे ज्यादा है। इस तरह बारहों द्वारों में अल्प बहुत्व द्वार की दृष्टि से कम—ज्यादा की संख्या का विचार किया गया है।

मोक्ष में जानेवालों को यहीं से सब साथ लेकर जाना पड़ता है—

जैसे यहाँ कोई देशान्तर जाते हैं तो भाता आदि सब साथ ले जाते हैं। कन्या पतिघर जाती है तब दुनिया भर का सामानादि सब साथ लेकर जाती है। ठीक उसी तरह मोक्ष में कोई भी कहाँ से जाएगा ? आखिर संसार में से ही कोई सिद्ध होता है। मोक्ष में क्या

चाहिए ? जडद्रव्य—पुद्गलजन्य पौद्गलिक किसी भी वस्तु की आवश्यकता ही नहीं है । वहाँ मात्र आत्मा स्वशुद्ध स्वरूप में रहती है । और आत्मा के गुण सभी पूर्ण स्वरूप में आत्मा के साथ ही रहते हैं । बस, आत्मद्रव्य और ज्ञानादि गुण इस दो के अलावा अन्य कुछ भी वहाँ रहता ही नहीं है । पर्याय तो अन्तिम अवस्था के देहाकार स्वरूप में रहती है । अतः यहाँ संसार में से जो भी कोई मोक्ष में जाएगा उसे सब कुछ यहाँ से अर्थात् संसार में से ही मोक्ष में साथ ले जाना पड़ता है । मोक्ष में जाने के पश्चात् किसी को केवलज्ञानादि कुछ भी प्राप्त नहीं होता है । सब कुछ यहाँ से ही साथ ले जाना पड़ता है । जिस समय जीव मोक्ष में चला जाता है । ठीक उसी समय वहाँ सिद्ध बनकर स्थिर बन जाता है । अब एक से दूसरे आकाश प्रदेश तक के स्थान पर गमन भी नहीं करना है । इतना भी जब नहीं हिलना है, तो फिर सवाल ही कहाँ रहा ? बस, फिर तो स्वस्वरूपरमणता ही रहेगी । स्वभावरमणता का विशिष्ट स्वरूप अखण्ड रूप से रहता है । जीव उसी में रममाण करता रहता है । मोक्ष में क्या क्या चाहिए ? १) केवलज्ञान, २) केवलदर्शन, ३) वीतरागता, ४) अनन्तवीर्यादि, ५) अनामी, ६) अरूपी, ७) निरंजन—निराकारपना, ८) अगुरुलघुपना, ९) अनन्त—अव्याबाध सुख, १०) अक्षय स्थिति आदि अनेक गुणों की पूर्ण—संपूर्ण स्वरूप में आवश्यकता रहती है । और ये सभी गुण यहाँ से ही प्राप्त करके वहाँ साथ ले जाने पड़ते हैं । अनन्त भूतकाल में भी मोक्ष में जाकर किसी को केवलज्ञानादि की प्राप्ति नहीं हुई और वीतरागतादि भी मोक्ष में जाने के पश्चात् किसी को प्राप्त नहीं हुई । राजमार्ग यही है कि... अनन्तजीव यहाँ से ही केवलज्ञान वीतरागतादि सभी गुण संपूर्ण कक्षा के पाकर ही मोक्ष में गए हैं ।

ये सभी गुण आत्मद्रव्य के सहज—स्वाभाविक गुण हैं । ये आत्मा की मूलभूत सत्ता में सन्निहीत ही हैं । कहीं बाहर से आते ही नहीं हैं । एक मात्र कर्मों के क्षय होने से प्रगट होते हैं । १४ गुणस्थानों के सोपान क्रमशः कर्मक्षय के ही सोपान हैं । बस, ज्यों ज्यों कर्मों का क्षय होता जाता है, प्रमाण बढ़ता जाता है, त्यों त्यों आत्मा के गुणों का प्रमाण बढ़ता ही जाता है । १२ वे गुणस्थान पर वीतरागता, १३ वे गुणस्थान पर केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तवीर्य आदि गुण प्रगट होते हैं—प्राप्त होते हैं । शेष गुण अघाती कर्मों के क्षय से प्रगट हो ही जाते हैं । अतः आत्मा सब कुछ—सभी गुणादि यहीं प्राप्त करके फिर मोक्ष में जाती है । ऐसे सिद्ध बननेवाले सभी सिद्धात्मा के ३१ गुण बताए गए हैं—

सिद्धों के ३१ गुण— वैसे तो विभाजन करके आत्मा पर सिर्फ ८ ही कर्म हैं । इन ८ कर्मों से समस्त गुण आवृत्त रहते हैं । बस, उन आठों कर्मों से छुटकारा पाने पर आत्मा मुख्य आठ गुणों को प्राप्त करके अष्टगुणयुक्त बनती है । इनमें अनन्तचतुष्टयी में—

- १) ज्ञानावरणीय कर्म के संपूर्ण क्षय से — १) अनन्त ज्ञान,
- २) दर्शनावरणीय कर्म के संपूर्ण क्षय से — २) अनन्त दर्शन,
- ३) मोहनीय कर्म के संपूर्ण क्षय से — ३) अव्याबाधस्वरूप अनन्त वीतरागता,
- ४) अन्तराय कर्म के संपूर्ण क्षय से — ४) अनन्त वीर्य ...,
- ५) नामकर्म के संपूर्ण क्षय से — ५) अनामी, अरूपीपना, निरंजन—निराकारपना ...,
- ६) गोत्रकर्म के संपूर्ण क्षय से — ६) अगुरु—लघुगुण,
- ७) वेदनीय कर्म के संपूर्ण क्षय से — ७) अनन्त सुख - अव्याबाध सुख
- ८) आयुष्य कर्म के संपूर्ण क्षय से — ८) अक्षय स्थिति प्राप्त होती है ।

इस तरह इन ८ कर्मों के क्षय से ये आठों गुण संपूर्ण रूप से प्रगट होते हैं । प्रधान रूप से इन ८ कर्मों का और इन ८ गुणों का ही व्यवहार होता है । फिर भी इन गुणों का ही अवान्तर गुणों सहित व्यवहार बढ़ाने पर ३१ गुण भी बनते हैं ।

- १) दर्शनावरणीय कर्म की ९ प्रकृतियों के ९ प्रकार
- २) ज्ञानावरणीय कर्म की ५ प्रकृतियों के ५ प्रकार
- ३) आयुष्य कर्म की ४ प्रकृतियों के ४ प्रकार
- ४) अन्तराय कर्म की ५ प्रकृतियों के ५ प्रकार
- ५) मोहनीय (दर्शन मो. + चारित्र मो.) २ प्रकृतियों के २ प्रकार
- ६) नामकर्म की (दर्शन मो. + चारित्र मो.) २ प्रकृतियों के २ प्रकार
- ७) वेदनीय कर्म की (दर्शन मो. + चारित्र मो.) २ प्रकृतियों के २ प्रकार
- ८) गोत्र कर्म की (दर्शन मो. + चरित्र मो.) २ प्रकृतियों के २ प्रकार

कुल ३१ प्रकृतियों के ३१ प्रकार

इस तरह विभाजन करने से कर्म की ३१ प्रकृतियाँ होती हैं और ३१ कर्मप्रकृतियों के क्षय से अवान्तर प्रकृतियों सहित की अपेक्षा से गिनने पर ३१ कर्मों के क्षय से ३१ गुणपूर्ण स्वरूप में प्रगट होते हैं । ये ३१ गुण भी एक एक मूल गुण के अवान्तर भेदसहित होंगे ।

दूसरी एक और अपेक्षा भी इसमें अपेक्षित ली है— वह इस प्रकार है—

परिमण्डलादि—

५ प्रकार के संस्थान

वर्ण— ५ प्रकार के

गंध— २ प्रकार के

रस— ५ प्रकार के

स्पर्श— ८ प्रकार के

वेद— ३ प्रकार के

कुल २८ प्रकार होते हैं ।

तथा अदेहता— १ +

निःसंगता— १ +

अरुहता — १ +

३१

इस तरह दूसरी अपेक्षा से भी ३१ गुणवाले सिद्धों को कहे हैं । प्रवचन सारोद्धार ग्रन्थ में इस अपेक्षा से भी ३१ गुणों का विवरण उपलब्ध है । आखिर सिद्ध हुए परमात्मा देहादि पुद्गल संग के अभाव में सर्वथा वर्ण—गंध—रस—स्पर्शादि रहित ही होते हैं । क्योंकि ये वर्णादि सभी पुद्गल के गुणधर्म हैं आत्मा के हैं ही नहीं । चेतनात्मा वैसे भी वर्ण—गंधादि रहित—अरूपी—अवर्णी आदि गुणों से युक्त है । अतः वर्णादि संग का कोई सवाल ही नहीं होता है । हाँ... जब देहधारी अवस्था में आत्मा थी तब देह के रूप—रंगादि निमित्तों से पहचानी जाती थी । परन्तु सिद्ध बनने पर अब देह सर्वथा छूट जाता है । अतः शरीरादि जन्य पहचान कुछ भी शेष रहती ही नहीं है । अतः अशरीरी अवस्था में पुद्गल के किसी भी अंश का कोई संबंध न रहने पर अशरीरी - अदेही के स्वरूप में ही पहचानी जाती है । इस तरह भिन्न—भिन्न अपेक्षाओं से सिद्धों के गुणों की विवक्षा की गई है ।

नौ अनुयोग द्वारों से मोक्ष की सिद्धि—

संतपय—परुवणया, द्रव्यपमाणं च खिल फुसणा य ।

कालो अ अंतरं भाग भावे अप्पा बहुं चेव ॥ ४३ ॥

जैन शास्त्रों में पदार्थों की विशद विचारणा करने के भिन्न—भिन्न मार्ग (द्वार) बताए हैं । उन द्वारों से अनेक दृष्टियों से पदार्थों की विशद विचारणा की जाती है, अतः उसे अनुयोग द्वार कहते हैं । यहाँ ऐसे नौ अनुयोग द्वारों के जरिए मोक्ष की विचारणा की गई है ।— १) सत्पद प्ररूपणा द्वार, २) द्रव्य प्रमाण द्वार, ३) क्षेत्र द्वार, ४) स्पर्शना द्वार, ५) काल

द्वार, ६) कालान्तर द्वार, ७) भागद्वार ८) भाव द्वार और नौवा अल्पबहुत्व द्वार । इन नौ द्वारों से मोक्ष की विचारणा करने से तत्त्व की विस्तार से मीमांसा होती है । अतः ये नौ द्वार मोक्ष के भेदरूप नहीं हैं । इन्हें भेद समझने की भ्रमणा या भ्रान्ति खड़ी न कर लें । यह चिन्तन पद्धति है जिसका किसी भी पदार्थ या तत्त्व के विचारार्थ उपयोग किया जा सकता है ।

१) सत्पदप्ररूपणा द्वार—“सत्” का अर्थ है अस्तित्व विद्यमानता । यदि कोई पदार्थ सत् है तो निश्चित रूप से वह विद्यमान होना ही चाहिए । अतः सत् पद से यह विचार स्पष्ट रूप से किया जाता है । अतः स्पष्ट ख्याल आता है कि पदार्थ का अस्तित्व है, विद्यमान है । अन्यथा ठीक इससे विपरीत असत् रूप से देखा जाय तो वह अभावात्मक पदार्थ रहता है । अभाव का सीधा अर्थ यही है कि जो विद्यमान ही नहीं है, और जिसका अस्तित्व ही नहीं है ।

अब नौ तत्त्वों में मोक्ष यह नौवा एक अन्तिम तत्त्व है । अतः क्या यह मोक्ष तत्त्व सत् है या असत् ? यदि सत् ही है तो उस तरीके से विचार होता है । और यदि मात्र वह असत् ही हो तो अभावात्मक विचार उसके बारे में होंगे । अतः कैसा मानें मोक्ष को ? क्या मोक्ष असत् कल्पना है ? क्या यह अभावात्मक ही है ? और यदि इसे अभावात्मक मानें तो कैसा अभाव मानें ? क्या शशशृंग, वन्ध्यापुत्र या खपुष्प की तरह त्रैकालिक अभाव मानें ? जैसे शश (खरगोश) के सिर पर सिंग अनन्तकाल पहले भी कभी थे ही नहीं और वर्तमान में भी नहीं हैं, अतः भावि में भी संभावना ही नहीं है । जैसे वन्ध्या के पुत्र का तीनों काल में अभाव ही होता है । पुत्र न होने पर ही उसे वन्ध्या कहते हैं । अतः वन्ध्या होना और पुत्र का भी होना दोनों तो साथ में संभव ही नहीं है । या तो वन्ध्या रहेगी और या फिर पुत्रवती माता रहेगी । क्या मोक्ष ऐसा अभावात्मक है ?

चार्वाक नास्तिक मतावलम्बी मोक्ष को सर्वथा अभावात्मक ही मानते हैं । मोक्ष का अस्तित्व ही नहीं मानते हैं । बौद्ध दर्शन भी निर्वाण या मोक्ष इन शब्दों का व्यवहार जरूर करते हैं लेकिन अस्तित्व रूप से उसकी विद्यमानता कुछ भी नहीं मानते हैं । अतः बौद्ध मत में मोक्ष कैसा है ? अभावात्मक मोक्ष है । आत्मा के विलीनीकरण की प्रक्रिया को मोक्ष कहते हैं । जबकि आत्मा नामक पदार्थ के ही अस्तित्व को नहीं मानते हैं तो फिर मोक्ष क्या मानेंगे ? बात भी सही है कि मोक्ष क्या है ? आत्मा की कर्मरहित शुद्धावस्था ही मोक्ष है । यदि कर्म को वासनारूप आदि तरीके से मानना हो तो फिर उस कर्म के आधारभूत पदार्थ को भी मानना तो पड़ेगा ही । वह कौन ? क्या आत्मा के बिना कर्मों का अस्तित्व माना जा सकता है ? कदापि नहीं ? यह तो बात ही कैसी होगी ? जैसे कि

आकाश के बिना किसी का चलना या रहना आकाश प्रत्येक आधेयभूत पदार्थों के लिए रहने का आधारभूत पदार्थ है। आधार के बिना आधेय पदार्थों का रहना संभव ही नहीं है। अतः बौद्धदर्शन में मोक्ष के अभाव का कारण आत्मा नामक द्रव्य के अस्तित्व का अभाव है। अतः दोनों की विद्यमानता का अभाव माननेवाले वासना रूप कर्म का बंध—मोक्ष कैसे मानते हैं? कर्म का बंध किसको होता है? और यदि बंध होता है तो उसका छुटकारा भी तो मानना ही पड़ेगा। और यदि कर्म (वासना) का छुटकारा होता है तो वह कम—ज्यादा और अन्त में संपूर्ण नाश भी तो होता ही होगा? यदि कम—ज्यादा कर्म का क्षय मानों और सर्वथा सर्वांशिक—आत्यन्तिक छुटकारा क्यों न मानना? बस, कर्म का आत्यन्तिक क्षय ही मोक्ष है। इसलिए बौद्ध दर्शन भी यहाँ कसोटी के पाषाण पर खरा नहीं उतर सकता है।

नैयायिक दर्शनवादी मोक्ष का अस्तित्व जरूर मानते हैं, लेकिन वह स्वरूप भी पूर्ण शुद्ध सत्य स्वरूप प्रतीत नहीं होता है। “जडा च मुक्ति” कह कर दार्शनिकों ने उनकी भी धज्जियाँ उड़ाई हैं। सांख्यों की मुक्ति मात्र ज्ञानात्मक ही है। बस, ३५ तत्त्वों का पूर्ण बोध हो जाय उसे ही मोक्ष कह दिया है। कपिलमुनि ने ऐसा मोक्ष स्वरूप बता दिया है। अब वेदान्त में द्वैत, अद्वैत वेदान्त, द्वैताद्वैत वेदान्ती, रामानुज मतवादी, शांकर मतावलम्बी आदि सभी अपने अपने तरीके से मोक्ष को मानते हैं। अतः एक वेद का ही आलम्बन लेकर चलनेवालों में भी मोक्ष के विषय में एकवाक्यता नहीं है।

इस्लाम दर्शन ईश्वर प्राधान्यतावादी दर्शन है। अतः उसमें मोक्षादि पदार्थों का अस्तित्व ही नहीं है। आत्मा और मोक्षादि विषयक विचारणा ही नहीं है। आखिर क्यों सोचे वे? बंधे हुए घोड़े के लिए जैसे मात्र... मालिक का ही विचार रहता है वैसे हैं। क्योंकि घोड़ा मालिक की लगाम से बंधा है। अतः ईश्वर जो अल्ला खुदा है बस, उसकी ही प्राधान्यतावाला दर्शन इस्लाम का है। आत्मा—मोक्षादि विषयक किसी तत्त्वों की विशेष मीमांसा ही नहीं है तो फिर... उसे दर्शन का दर्जा भी कैसे देना? फिर भी आंशिक रूप से व्यवहार चलता है।

ठीक ऐसा ही ख्रिस्ती दर्शन भी है। एक मात्र ईश्वर पर ही अवलंबित रहकर, ईश्वर को ही केन्द्र में रखकर उसी के चारों तरफ घूमने का प्रयास करनेवाला ख्रिस्ती दर्शन है। ईश्वरोपासना ही सबसे बड़ी विचारणा है। लेकिन... आत्मा—मोक्षादि किसी की भी कोई विचारणा की ही नहीं है। बस, ईश्वरेच्छा पर छोड़ दिया है।

ऐसी “ईश्वरेच्छा बलीयसी” की ही मान्यतावाला हिन्दुओं के लिए मान्य ऐसा वेदान्ती है। वेद विषयक मान्यतावालों ने भी ईश्वरेच्छा को बलवत्तर माना है। क्योंकि कर्ता कहने के बाद तो सारी लगाम ईश्वर के ही हाथों में सौंपनी पड़ती है। अतः किसी ब्रह्मसायुज्यता को मोक्ष कहा, तो किसी ने ब्रह्म में विलीनता को मुक्ति कही, तो किसी ने ब्रह्मदर्शन, ब्रह्मप्राप्ति को मोक्ष की परिभाषा में बैठाया। इस तरह मोक्ष शब्द का प्रयोग करते हुए भिन्न-भिन्न तरीकों से विचारणा की गई है। लेकिन एकवाक्यता भी नहीं है। और एकरूपता भी नहीं है।

बौद्ध दर्शन यद्यपि मात्र ईश्वरावलम्बी नहीं है। वह उपदेशावलम्बी बनकर परिवर्तनवादी जरूर है, लेकिन क्या करें, मूलभूत तत्त्वों को ही मानने में सबसे बड़ी गल्ती कर दी। अन्यथा प्रक्रिया—पद्धति में आर्हत् दर्शन के साथ काफी समानता रखता है। कर्मबंध, संवर, निर्जरा, उपदेशबोध, कर्मक्षय विषयक विचारों आदि की समानता के आधार पर आर्हत् दर्शन के साथ आंशिक समानता में मिलता है। अतः जैन—बौद्ध दर्शन में बोध विषयक समानता मिलती है। लेकिन तत्त्वविषयक अस्तित्वादि की समानता न मिलने के कारण उपरोक्त समानता भी गड़बड़ाती है। इसलिए सम्यग् दर्शनादि में ही सबसे बड़ी भारी क्षति पहुँचती है।

जैन दर्शन मात्र ईश्वरावलम्बी दर्शन नहीं है एक मात्र ईश्वर को ही कर्ता—हर्ता मानकर यह दर्शन नहीं चलता है। इसलिए यह आत्मवादी दर्शन है। आत्मा को केन्द्र में रखकर यह दर्शन चलता है। मोक्ष प्राप्ति के एक मात्र लक्ष्य को लेकर चलने में ईश्वर जो मोक्षदर्शक मोक्षमार्गोपदेशक धर्मतीर्थ संस्थापक है। वह सृष्टा नहीं परन्तु दृष्टा है। दर्शक है। मोक्ष का दर्शक, मोक्षमार्ग अर्थात् मोक्ष प्राप्ति के उपाय रूप धर्म को दिखानेवाला दर्शक है। इस हेतु से ईश्वर-अरिहंत-तीर्थंकर-भगवान् साध्य नहीं हैं, वह भी साधन मात्र ही हैं। अतः उसकी साधना की जाती है। ईश्वर परमात्मा को पा लेना, या ईश्वर में विलीन हो जाना, या ईश्वर को देख लेना (दर्शन मात्र कर लेना) या ईश्वर सायुज्यता, या ईश्वर दर्शन आदि जैसी अपूर्ण निरर्थक बातों को जैन दर्शन कोई महत्व प्रदान नहीं करता है। जैन दर्शन तो ईश्वर बनने में सर्वश्रेष्ठता मानता है। जबकि दूसरे सभी धर्म ईश्वर कोई बन ही नहीं सकता है ऐसा स्पष्ट बन्धन ही बता देते हैं।

आत्मवादी एवं कर्मवादी इस जैन दर्शन में मोक्ष की प्राप्ति का एक मात्र लक्ष्य, अन्तिम साध्य रखने के लिए आदेश है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए ईश्वर की उपासना का आलंबन लेने का विधान है। जीवों को कर्मक्षय की साधना में साधन रूप से ईश्वर

तत्त्व का सहयोग लेकर उपासना करनी चाहिए। जिससे साधक जीव अपनी कर्म निर्जरा कर सकता है।

इस तरह आर्हत दर्शन में 'मोक्ष' यह सत् भूत पदार्थ है। इसका अस्तित्व बरोबर स्वीकारा है। जीवों की कक्षा मोक्ष की मान्यता पर निर्भर करती है। जैसे कि मोक्ष को माने, मोक्षप्राप्ति को माने, मोक्ष के अस्तित्व को माने, मोक्षप्राप्ति कारक मोक्षमार्ग रूप धर्मादि के स्वरूप को माने तो ही वह भव्य कक्षा का जीव कहलाता है, और तो ही वह मुक्ति को पाने का अधिकारी कहलाता है। और ठीक इससे विपरीत यदि मोक्ष और इसके अस्तित्व और प्राप्ति के उपायादि किसी भी प्रकार की मोक्ष की अवस्था, व्यवस्था को सर्वथा न मानने के कारण ऐसी नकारात्मक या निषेधात्मक वृत्ति, दृष्टि—मति जो रखता है वह अभव्य की कक्षा का जीव कहलाता है। अतः भव्य होना या अभव्य होना या जातिभव्य या दुर्भव्य होना यह किसी कर्मप्रकृतिजन्य कर्मकारणिक स्वरूप नहीं है। सिर्फ मोक्ष आश्रित मान्यता पर ही निर्भर करता है।

आखिर मोक्ष क्यों नहीं मानना ? क्या मोक्ष न मानें और आत्मा को मानें तो चलेगा ? क्या वह पूर्ण दर्शन कहलाएगा ? जी नहीं। आखिर मोक्ष स्वतंत्र कोई द्रव्य या पदार्थ नहीं है। द्रव्य—पदार्थ तो चेतन—आत्मा ही है। बस, इसीकी अवस्था मोक्ष है। कर्मसंसक्त कर्माधीन अवस्था संसारी है, और कर्मरहित अवस्था ही मोक्ष है। सीधी सी बात है कि यदि आप कर्मसहित की संसारी अवस्था मान सकते हो तो फिर कर्मरहित अवस्था का स्वरूप मानने के लिए क्यों हिचकिचाना चाहिए ? आखिर कर्म तो पौद्गलिक है, पुद्गल जड पदार्थ के परमाणु रूप है। इस पुद्गल परमाणुओं के पिण्ड रूप वर्गणा के दो भिन्न—भिन्न आठ स्वरूप हैं उनमें से ७ प्रकार के परमाणु स्वरूप को आप मानो, जानो, स्वीकारो और मात्र कर्म के ही स्वरूप को नहीं ? तो क्यों ? जैसे शब्द—भाषा वर्गणा के पुद्गल परमाणु मात्र है, श्वास, शरीर के, मन के इन सबके जड पुद्गल परमाणु है, उनको मानने जानने में कहीं तकलीफ नहीं आती है तो फिर कर्म को मानने में क्या तकलीफ है ? कर्म जैन परिभाषा में पौद्गलिक है। जडरूप है। आत्मप्रदेशों पर लगते हैं उस दिन बंध होता है। और ये ही सभी कर्म आत्मा पर आवरण रूप से मौजूद रहे इस अवस्थाविशेष को कर्म कहते हैं। इस कर्मावरणग्रस्त अवस्थाविशेष को संसारी अवस्था कहते हैं। तथा इसी पौद्गलिक कर्म तो जैसे बाहर से आया है वैसे ही बाहर चला भी जाएगा। धर्मारधना के प्रबल पुरुषार्थ विशेष से। इस तरह समस्त संपूर्ण कर्मावरण के निकल जाने अर्थात् क्षय हो जाने से जो आत्मा निरावरण हो जाय... इस निरावरण की अवस्था विशेष को ही मोक्ष कहते हैं। इसलिए जब कर्मबद्ध अवस्था को मान लेते हो, उसे मानने में कहीं बाधा नहीं आती है तो

फिर कर्मरहित, कर्मक्षय की संपूर्ण शुद्ध अवस्था को मानने—जानने—स्वीकारने में रत्तीभर भी आपत्ति नहीं ही आनी चाहिए। जैन दर्शन में मोक्ष को आत्मा की निरावरणरूप कर्मरहित शुद्ध अवस्थारूप माना है। इसलिए मोक्ष कोई द्रव्य नहीं है। पदार्थ रूप नहीं है। अस्तिकायात्मक सत्तारूप द्रव्य विशेष नहीं है। यह तो अवस्था विशेष है। द्रव्य तो चेतन आत्मा नामक पदार्थ है। और मोक्ष आत्मा की कर्मबंधन रहित शुद्धावस्था है। अतः यह मोक्ष सत् तत्त्व है। सत्तारूप से अस्तित्वधारक सत् तत्त्व है। इसलिए सूर्य की तरह बिल्कुल स्पष्ट सत्य जैन दर्शन ने प्रस्तुत किया है। अतः इसे आकाश कुसुम की तरह असत् पदार्थ न मानें। इसी पर हमारे सम्यग् दर्शन का आधार है। “नवतत्त्व” प्रकरण ग्रन्थ इसे स्पष्ट करते हुए कहता है कि—

संतं सुद्ध पयत्ता, विज्जंतं खकुसुमं व्व न असंतं ।

मुक्खति पयं तस्स उ, परुवणा मग्गणाईहि ॥ ४४ ॥

“मोक्ष” यह सत् अर्थात् अस्तित्वधारक तत्त्व है। शुद्ध पद होने के कारण विद्यमान है। त्रैकालिक अस्तित्व है इसका। आकाश कुसुम के जैसा अभावात्मक नहीं है। “मोक्ष” यह एक पदविशेष है। तथा मार्गणा हेतु द्वारा उसकी विचारणा की जाती है।

पंचावयववाक्य द्वारा मोक्ष सिद्धि—

गौतमीय नव्य न्यायदर्शन में किसी भी पदार्थ की सिद्धि के लिए “पंचावयव” पद्धति अपनाई गई है। जिसमें १) प्रतिज्ञा, २) हेतु, ३) उदाहरण, ४) उपनय और ५) निगम इन पाँच वाक्यों का प्रयोग कर के विचारणा करने से पदार्थ की सिद्धि होती है ऐसा न्यायशास्त्र का कथन है।

१) प्रथम प्रतिज्ञा में जिस पदार्थविशेष की सिद्धि करनी हो उसकी प्रतिज्ञा अर्थात् संकल्प करना। दूसरे क्रम पर उसकी सिद्धि के लिए कारण देना उसे हेतु कहते हैं। तीसरे क्रम में उस सिद्धि के अनुरूप दृष्टान्त (उदाहरण) प्रस्तुत करना। चौथे में उदाहरण के अनुरूप घटाने की बात को उपनय कहते हैं तथा अन्त में पाँचवा जो निगमन है इसमें प्रतिज्ञा के अनुरूप सिद्धि घोषित करनी होती है। संक्षिप्त रूप से इन पंचावयव वाक्यों से सिद्धि की जाती है।

प्रस्तुत प्रकरण में साध्य मोक्ष तत्त्व है। १) प्रथम जिसकी सिद्धि करनी है उस मोक्ष की प्रतिज्ञा करनी। यह एक विद्यमान अस्तित्व धारक सत् पदार्थ है। असत् अभावात्मक पदार्थ को क्या सिद्ध करना? २) दूसरे में—अकेले पद के अर्थरूप होने से विद्यमानता हेतु से सिद्ध होती है। मोक्ष है इसमें कारण कौन है? कर्म का अभाव और कर्म का

आधारभूत पदार्थ कौनसा है ? आत्मा । आत्मा के बिना कर्म किसको लगेंगे ? जड़ पुद्गल-पदार्थ को तो कर्म लगते ही नहीं है ।

३) उदाहरण में— जो जो पद होते हैं उनके अर्थ होते ही हैं । जैसे घोड़ा, गाय, आदि पद हैं । वैसे ही मोक्ष भी एक अर्थवाची अर्थपूर्ण पद है । जैसे गाय—घोड़ा आदि पदों से वाच्य पदार्थ हैं । संसार का नियम है कि कोई भी पदार्थ जो संसार में विद्यमान होते हैं उनका वाचक कोई न कोई नाम—शब्द होता ही है । और संसार में जो भी कोई एक नाम या पद हो उसका वाचक कोई न कोई पदार्थ अवश्य होता है । अतः संसार में एक भी पदार्थ ऐसा नहीं है जिसका वाची नाम—पद न हो । या ऐसा कोई एक भी नाम या पद नहीं है जिसका कि वाच्य कोई न कोई पदार्थ न हो । अर्थात् अनिवार्य रूप से होता ही है । आत्मा या मोक्ष ये दोनों ही सत् भूत पदार्थ हैं तो ही उनके वाचक नाम—पद हैं । यदि पदार्थ न हो तो ये शब्द निरर्थक हो जाते हैं फिर किसके वाचक इसको मानेंगे ? इसलिए वाच्य—वाचक भाव संबंध से पद और पदार्थ दोनों का अस्तित्व रहता है । ‘उपनय’ मोक्ष यह शुद्ध पद है अतः उसका अर्थ है । निगमन—इस ‘मोक्ष’ पद के अर्थ रूप जो पदार्थ है वही मोक्ष होता है । इस तरह मोक्ष यह व्युत्पत्तिमूलक पद है । अर्थशून्य शब्द को पद नहीं कहा जाता है । “सिद्ध” “मोक्ष” ये दोनों अर्थवाले पद हैं ।

१४ मार्गणाएँ—

गइ-इंदिए-अ काए, जोए, वेए कसाय-नाणे अ ।

संजम-दंसण-लेसा, भव सम्मे सन्नि-आहारे ॥ ५५ ॥

१) ४ गति, २) ५ इन्द्रियाँ, ३) ६ काय, ४) ३ योग, ५) ३ वेद, ६) ४ कषाय, ७) ८ ज्ञान, ८) ७ संयम, ९) ४ दर्शन, १०) ६ लेश्या, ११) २ भव्य, १२) ६ सम्यक्त्व, १३) २ संज्ञि, १४) २ आहार । इस प्रकार ये १४ मूलभूत मार्गणाएँ हैं । इनके कुल ६२ भेद होते हैं ।

यहाँ मार्गणा अर्थात् शोधन पद्धति । जैन शास्त्रों में किसी भी पदार्थ का विस्तार से गहरा विचार करने के लिए उसका विशद स्वरूप खोलने के लिए उपरोक्त १४ प्रकार की मूल और ६२ प्रकार के द्वारों पर घटित करके देखना चाहिए । यह भी एक प्रकार की पद्धति है । या अनुयोग द्वार रूप ही एक पद्धति है । “तस्स उ परवणा मग्गणाई हिं” नवतत्त्व की ४४ वीं गाथा में इन शब्दों के प्रयोग से ऐसा संकेत किया है कि... मोक्ष तत्त्व की भी उपरोक्त मूलभूत १४ और अवान्तर ६२ भेदों से विचारणा करने से मोक्ष तत्त्व की विशद विचारणा हो सकती है ।

नरगङ्ग पर्णिदि-तस-भव, सन्नि अहक्खाय खड्दसम्पत्ते ।

मुक्खोऽणाहार केवल-दंसण नाणे, न सेसेसु ॥ ४६ ॥

ऊपर जो ६२ मार्गणाएँ दर्शाई गई हैं उनमें से मोक्ष तत्त्व की सिद्धि किन-किन मार्गणाओं में होती है, उनकी विचारणा करते हुए कहते हैं कि—मोक्ष संबंधी मार्गणा मोक्षविषयक विचारणा की गई है। मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय जाती, त्रसकाय, भव्यपना, संज्ञिपना, यथाख्यात कक्षा का चारित्र, क्षायिक की कक्षा का सम्यग् दर्शन, अनाहारीपना, केवलदर्शन तथा केवलज्ञान इन १० मार्गणाओं द्वारा ही मोक्ष की विचारणा की जा सकती है। ६२ में से ये १० ही मार्गणाएँ मोक्ष की विचारणा में घटती हैं। शेष ५२ वर्गणाओं में मोक्ष की विचारणा नहीं हो सकती है।

इससे यह सिद्ध होता है कि मोक्ष पाने के लिए क्या-क्या अनिवार्य है। क्या क्या होने से मोक्ष मिल सकता है? क्या क्या जरूरी है मोक्ष पाने के लिए उसकी गणना में १) मनुष्य गति, पंचेन्द्रियपना आवश्यक ही है। इससे इसके विपरीत अन्य गति जाति से मोक्ष मिलना संभव ही नहीं है। अतः देवगति या तिर्यच—नरकादि गति में से मोक्ष मिलना संभव ही नहीं है। इसी तरह पंचेन्द्रिय के सिवाय चउरिन्द्रियादि जातियों से मोक्ष मिलता ही नहीं है। त्रसपना, भव्यपना, संज्ञिपना अनिवार्य रूप से सहायक है। अर्थात् इससे विपरीत, त्रस से विपरीत स्थावरपने में भव्य से विपरीत अभव्यपने में, संज्ञिपने से विपरीत असंज्ञिपने में मोक्ष न तो कभी किसी को हुआ है और न ही किसी का कभी होगा। इसी तरह यथाख्यात चारित्र, क्षायिक सम्यक्त्व, अनाहारपना, केवलज्ञान तथा केवलदर्शनादि अन्तिम कक्षा की अनिवार्यता है। इससे विपरीत, ये न हो तो मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है।

इन प्रकार की १० मार्गणाओं में से पहली ५ आवश्यकताएँ प्राथमिक कक्षा की हैं। जबकि शेष ५ प्रकार की आवश्यकताएँ चरम कक्षा की हैं। पहली पाँच आवश्यक जरूर हैं फिर भी उनसे मोक्ष मिले या न भी मिले और जीव कर्मोपार्जन करके अन्य गति में भी जा सकता है। लेकिन शेष ५ प्रकार की आवश्यक मार्गणाएँ प्राप्त होने पर मोक्ष निश्चित ही होता है। यथाख्यात चारित्र या केवलज्ञानादि के प्राप्त हो जाने पर मोक्ष की प्राप्ति उसी जन्म में अनिवार्य रूप से हो जाती है। अतः अन्तिम ५ प्रकार की आवश्यकताएँ अनिवार्य होती हैं। मोक्ष पाने के लिए (शेष सभी ५२ प्रकार की मार्गणाओं का भी अभ्यास करके समझना जरूर चाहिए।)

१) द्रव्य प्रमाण द्वार—

द्रव्यप्रमाणे सिद्धाणं जीवदव्वाणि हुंतिऽणंताणि ।

इस दूसरे द्रव्य प्रमाण द्वार में सिद्ध के जीवों की द्रव्य रूप से विचारणा की गई है। जैन दर्शन में प्रत्येक जीवों की स्वतंत्र गणना की गई है। प्रत्येक जीव स्वतंत्र है। एक एक की स्वतंत्र गणना करने पर संसार में अनन्तानन्त (अनन्त X अनन्त) जीव बताए गए हैं। अद्वैत वेदान्ती दर्शन समस्त ब्रह्माण्ड में मात्र एक ही जीव का अस्तित्व मानते हैं। बस, एक से दूसरा कोई है ही नहीं। इसलिए वे समस्त संसार में एक ही आत्मा मानते हैं। वे एकात्मवादी हैं। और उपाधि भेद से अनेक थालियों में एक ही सूर्य के प्रतिबिम्ब की तरह अनन्त की संख्या में मानते हैं। तर्क—युक्ति की दृष्टि से यह सर्वथा गलत सिद्ध होता है। क्योंकि.. जहाँ जहाँ जिस—जिस जीव को स्वतंत्र रूप से भिन्न सुख—दुःखों की अनुभूति होती है वहाँ वहाँ भिन्न भिन्न जीवास्तित्व मानना चाहिए। एक को वेदना दुःखात्मक होती है दूसरे को संवेदना सुखात्मक होती है। अतः एकात्मवाद पक्ष सर्वथा मिथ्या सिद्ध होता है।

जैन दर्शन अनन्तात्मवादी दर्शन है। “प्रतिक्षेत्रं भिन्नं” विशेषण देकर वादिदेवसूरि म. ने प्रमाणनय तत्त्वालोक ग्रन्थ में विशद विचारणा करते हुए स्पष्ट किया है कि... प्रत्येक शरीर में भिन्न—भिन्न आत्मा का अस्तित्व है। कर्मजन्य उपाधि के कारण सूक्ष्म—स्थूल—स्थावर—त्रसादि जीवों में भिन्न—भिन्न स्वतंत्र जीव रहते हैं। तथा मोक्ष में जाने के पश्चात् वहाँ भी अनन्त जीवों का अपना स्वतंत्र ही अस्तित्व रहता है। द्रव्य प्रमाण द्वार से यही सिद्ध करके अनन्त की संख्या सूचित की है।

काल व्यवहार कारक है। काल भूतकाल में अनन्त काल बीत गया है। अनन्त पुद्गल परावर्त काल बीत चुका है तो उसके वर्ष कितने बीते ? अनन्त X अनन्त। और उसके महीने कितने हुए ? अरे ! उसके दिन कितने हुए ? अरे ! उसके भी कलाक.. (घंटे) कितने हुए ? अनन्त X अनन्त। अरे ! उसके समय कितने हुए ? ... आखिर अनन्त X अनन्त के सिवाय उत्तर देने के लिए और दूसरा शब्द हो ही क्या सकता है। बस, भाषा में अनन्त शब्द ही अन्तिम शब्द है, अतः अनन्त का अनन्त बार गुणाकार करने के लिए अनन्त X अनन्त शब्द प्रयोग किया जाता है। अब यह सोचिए १ समय में १०८ उत्कृष्ट से सिद्ध हो सकते हैं तो अनन्त X अनन्त समयों में कितने मोक्ष में गए होंगे ? लेकिन प्रत्येक समय तो जाते भी नहीं हैं। अतः जघन्य से १ समय में १ सिद्ध ऐसी बराबर संख्या

भी गिने तो भी अनन्त x अनन्त सिद्ध होंगे । लेकिन प्रत्येक समय में तो सिद्ध होते भी नहीं हैं । अतः बिना गुणाकार किये सिर्फ अनन्त की संख्या गिने तो भी पर्याप्त रहेगी । अतः संख्या की दृष्टि से अनन्त की संख्या में संसार में से जीव मोक्ष में गए हैं ।

क्षेत्रद्वार—

लोगस्स असंखिज्जे, भागे इक्को य सव्वेवि ।

क्षेत्र की दृष्टि से समस्त १४ राज लोक का क्षेत्र कितना लम्बा—चौड़ा विस्तृत हुआ ? ऐसे सर्व लोक के असंख्यातवें भाग में चाहे एक सिद्ध कहिए या चाहे अनन्त सभी जीव उतने ही असंख्यातवें भाग में रहते हैं । अर्थात् संसारी चारों गति के जीवों के लिए रहने का क्षेत्र कितना है । असंख्य योजन विस्तारवाला है । जबकि सिद्धों के लिए रहने का क्षेत्र कितना है ? संसारी जीवों के लिए जितना असंख्य योजन विस्तारवाला है उसका सिर्फ असंख्यातवे भाग का ही क्षेत्र सिद्धों के लिए है । और उसमें रहते कितने सिद्ध हैं ? अनन्त की संख्या में । अतः असंख्यातगुने छोटे से सीमित—परिमित क्षेत्र में अनन्त सिद्धजीव रहते हैं । भूतकाल में जितने अनन्त जीव मोक्ष में गए हैं वे सभी उतने ही सिद्धशिला पर के असंख्यातवे भाग में सिद्ध बन कर रहे हुए हैं, और इसी तरह भविष्य के सुदीर्घ काल में अर्थात् अनन्तगुने पुद्गल परावर्त काल में जितने भी अनन्त जीव मोक्ष में जाएंगे, जाते ही रहेंगे वे सभी उतने ही असंख्यातवें भाग के क्षेत्र में मोक्ष में रहेंगे । काल लम्बा—चौड़ा ही जाता है । जीवों की संख्या बढ़ती ही जाती है लेकिन सिद्ध क्षेत्र का क्षेत्र न तो बढ़ता है और न ही घटता है । वह जितना था, है, और आगे भी उतना ही रहेगा । उसमें अर्थात् क्षेत्र के विस्तार में एक तसु भर भी वृद्धि—क्षय (घट—बढ़) नहीं होता है । अतः सिद्धों के लिए सिद्धक्षेत्र त्रैकालिक शाश्वत है । अनन्त सिद्धात्मा असंख्यातवें भाग के सीमित क्षेत्र में रहते हैं ।

अरे ! सिद्धों की क्या बात करते हो ? सिद्ध तो अशरीरी हैं । अतः वे रह सकते हैं । लेकिन संसारी जो जीव... एकेन्द्रिय की कक्षा में हैं वे कर्मों के भार से भारी हैं । ऐसे संसारी स्थावर कक्षा के जीव सूक्ष्म नामकर्म के उदय से एक आलु—प्याज में, अनन्त की संख्या में रहते हैं । अरे ! आलु—प्याज तो बहुत बड़े आकार के हैं लेकिन लसून काफी छोटा है और इससे भी छोटा तो अंकूरा हैं । जब मूँग चना आदि अनाज ठंडे पानी में भिगोकर रखा जाय और उसमें अंकुरित होते हुए जब अंकूरे निकलते हैं उतने अंकुरे के भाग में अनन्त जीव एक साथ रहते हैं । अरे ! अंकुरे भी आकार—प्रकार में बहुत बड़े होते

हैं लेकिन... बारिश के दिनों में दिवाल पर जमी हुई फुग, (काई), या कल—परसों की बासी रोटी पर जो सफेद रंग की फुग फंगस जम जाती है, या अचार की बरणी में जो फंगस जम जाती है उसमें से सूई की नोक के अग्र भाग पर जितना अंश आए उतने से सूक्ष्मतम अंश में अनन्त जीव एक साथ रहते हैं। ऐसा शास्त्र वचन है। सर्वज्ञ प्रभु का कथित सिद्धान्त है। अतः सोचिए, संसार के कर्मवाले सकर्मी, स्थावर की कक्षा के अनेक गुने भारी कर्म बांधे हुए सूक्ष्म नामकर्मवाले एक सूक्ष्म या स्थूल शरीर धारण करके एक में अनन्त साथ में रह सकते हैं। जब सशरीरी सकर्मी संसार में अनन्त एक साथ रह सकते हैं तो फिर... अशरीरी अकर्मी अनन्त एक साथ अल्प क्षेत्र में रह जाय इसमें आश्चर्य कुछ भी नहीं है।

एक सिद्ध की अवगाहना जघन्य से १ हाथ ८ अंगुल होती है। और उत्कृष्ट से १ गाउ का छट्ठा भाग अर्थात् ३३३ धनुष्य ३२ अंगुल अर्थात् १३३३ हाथ और ऊपर ८ अंगुल जितनी ऊँची अवगाहना होती है। अर्थात् इतने विस्तार में उनके आत्मप्रदेश प्रसरे हुए रहते हैं। एक एक सिद्ध भी लोक के असंख्यातवे भाग में ही रहे हुए हैं। तथा सर्व सिद्धों के लिए विचार करें तो मात्र ४५ लाख योजन का ही विस्तार है। इस तरह ४५ लाख योजन लम्बे—चौड़े तथा १/६ (एक षष्ठमांश) गाउ ऊँचे ऊर्ध्वप्रमाण जितने आकाश क्षेत्र में सिद्ध जीव रहते हैं। अतः सिद्ध हुए मुक्तात्मा सिद्ध क्षेत्र में इस लोक के अन्तिम भाग तथा अलोक की आदि के प्रारंभिक भाग में स्पर्श करके रहते हैं। अतः सिद्धों का



निवासस्थान जो सिद्धशिला व्यवहारनय से कहा जरूर जाता है परन्तु वे सिद्धशिला नामक इषत्प्राग् भारा पृथ्वी का स्पर्श मात्र भी नहीं करते हैं। परन्तु लोकान्त भाग का, और अलोक के आदि प्रारंभिक भाग का ही स्पर्श करते रहते हैं।

इतने सिद्धों के रहने का स्थान समस्त लोक के असंख्यातवे भाग का ही है। यह जैन दर्शन में मोक्ष विषयक भौगोलिक स्थिति का स्वरूप बताया गया है।

फुसणा अहिया कालो, इग सिद्ध पडुच्च साइओणंतो ।

पडिवाया भावाओ, सिद्धाणं अंतरं नत्थि ॥ ४८ ॥

स्पर्शनाद्वार—

जैसे १ परमाणु १ आकाश प्रदेश में समा कर रहता है उसे १ आकाश प्रदेश की अवगाहना कहते हैं। तथा उसके चारों दिशाओं तथा उर्ध्व—अधो की दिशाओं के ऐसे

६ प्रदेश और जिसपर रहा है वह १ ऐसे ७ आकाश प्रदेशों का स्पर्श कहलाता है। इसी तरह प्रत्येक सिद्ध भगवंत का अवगाहना क्षेत्र से स्पर्शना क्षेत्र अधिक होता है। न केवल सिद्ध को ही अपितु... परमाणु आदि सभी द्रव्य मात्र के लिए स्पर्शना क्षेत्र अधिक ही होता है। इसी तरह सिद्धों भगवंतों के भी स्पर्शना क्षेत्र चारों तरफ से समझना चाहिए।

दूसरी तरफ... एक सिद्धात्मा का दूसरे सिद्ध जीव की भी स्पर्शना अधिक होती है। एक विवक्षित सिद्ध जिन आकाश प्रदेशों की अवगाहना करके रहे हुए है वह भी अधिक है। और दूसरी तरफ... एक सिद्ध भगवान् जिन आकाश प्रदेशों की अवगाहना करके रहे हुए हैं उन प्रत्येक आकाश प्रदेश के एक-एक आकाश प्रदेश की हानि-वृद्धि अनन्त दूसरे सिद्ध भी अवगाहकर रहे हुए हैं। इस तरह अनन्त सिद्ध जीव या एक सिद्ध जीव अन्य अनन्त सिद्ध जीवों को आक्रमित करके रहे हुए हैं। उन्हें विषमावगाही सिद्ध कहते हैं। और उन १ सिद्ध की अवगाहना में उन और उतने ही आकाशप्रदेशों की में संपूर्ण अन्यूनातिरिक्त अर्थात् हीनाधिकता रहित दूसरे अनन्त सिद्ध जीवों उस सिद्धात्मा को संपूर्ण आक्रमित करके स्पर्श करके अर्थात् अवगाहित करके रहे हुए होते हैं उसे "समावगाही" सिद्ध कहते हैं। ऐसे एक सिद्ध भगवान को समावगाही सिद्धों की स्पर्शना अनन्त गुनी है, और विषमावगाही सिद्धों की स्पर्शना उससे भी असंख्य गुनी है। क्योंकि अवगाहना के प्रदेश असंख्य होते हैं। इस तरह परस्पर स्पर्शना अधिक है। अनन्तगुनी है। इस तरह दोनों तरीकों से स्पर्शना द्वार कहा है।

काल द्वार—काल संसार में अनादि—अनन्त है। अनादि का अर्थ है जिसकी कभी आदि—शुरुआत (प्रारंभ) हुआ ही नहीं है। और अन्त ही नहीं होता है उसे अनन्त कहते हैं। अतः धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय तथा पुद्गलास्तिकाय ये पाँचों अस्तिकायवाले पंचास्तिकाय पदार्थ एवं काल सहित षड् द्रव्य सभी अनादि—अनन्त कालीन द्रव्य हैं अतः इनकी न तो आदि—शुरुआत है और न ही कभी इनका अन्त है। इस तरह समस्त संसार, ब्रह्माण्ड यह सारा लोक—अलोक सभी अनादि—अनन्त है। संसार में जीवों का अस्तित्व भी अनादि—अनन्त है। क्योंकि उत्पत्ति—नाश रहित ऐसे आत्म द्रव्य का अस्तित्व सदा अनादि—अनन्त कालीन ही रहता है। संसार तो जीवों की खान है।

लेकिन मोक्ष में जीवों का विचार काल की दृष्टि से २ प्रकार से किया जाता है। १ एक तो एक जीव आश्रित काल, और दूसरा सर्वसिद्ध आश्रित काल। १ जीव के बारे में विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि—एक जीव कब मोक्ष में गया? जब वह जीव धर्म

पाया, कर्मक्षयादि किया, गुणस्थानों के सोपानों पर चढ़ा तभी वह क्रमशः वीतरागता केवलज्ञानादि पाकर एक दिन मोक्ष में गया। बस, जिस दिन वह मोक्ष में गया वह उसका मोक्ष में जाने का प्रथम दिन कहलाया। अतः आदि शुरुआत हुई। अतः सादि कहलाया। लेकिन मोक्ष में जाने के पश्चात् वह सिद्ध जीव अनन्त काल तक मुक्त के रूप में बना ही रहेगा। मोक्ष में से पुनः संसार में आणा ही नहीं।

हिन्दु आदि धर्मों की मान्यता में अवतारवाद की प्रक्रिया मानी है। अतः वे पुनः संसार में आते हैं। अवतार लेते हैं। यह अवतरण किस कारण है, तो मात्र अपनी बनाई हुई सृष्टि के कारण है। ईश्वर को मानकर सृष्टि के कार्य में उसको ऐसा जोड़ दिया है कि... दोनों पर्यायवाची बन गए हैं। बस, ईश्वर के कारण सृष्टि का अस्तित्व और सृष्टि के कारण ईश्वर का अस्तित्व। यदि सृष्टि न बनाए तो वह ईश्वर ही न कहलाए। ऐसी मान्यता वैदिकमतावलम्बी दर्शनों ने खड़ी कर दी। उसमें भी सृष्टि की तीनों अवस्था में उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय ईश्वर को ही कारण रूप से मान लिया है। अतः तीनों अवस्था के लिए ईश्वर को भी ३ रूप में, तीनों विभागों में विभक्तावस्थावाला मानना पड़ा। अतः ब्रह्मा, विष्णु महेश की अवस्थात्रिक की व्यवस्था की। ब्रह्मा सृष्टि की उत्पत्ति का कारण, विष्णु स्थिति का कारण और महेश—शंकर को प्रलय (विनाश) करनेवाला कह दिया। बस, ईश्वर का कार्य सृष्टि और सृष्टि का सारा कारण ईश्वर। ऐसी व्यवस्था बनाकर छोड़ दी वैदिक मत ने। अतः यही ऐसी ही लोगों की मान्यता, श्रद्धा या मानस धारणा ही बन गई। कौन वास्तविकता का या सत्यासत्य का विचार भी करता है?

आर्हत दर्शन ने साफ स्पष्ट ही कर दिया है कि... आत्मा अनादि—अनन्त अस्तित्व धारक है। न तो कभी उसकी उत्पत्ति है और नहीं कभी ना या अन्त। पाँचों अस्तिकायात्मक पदार्थ ऐसे ही स्वरूपवाले अनादि—अनन्त हैं। अतः किसकी उत्पत्ति करना किसका नाश करना? कोई प्रश्न खड़ा ही नहीं होता है। जीवात्मा स्वयं कर्म उपाज्जन करती है राग—द्वेषादि के कारण और स्वयं ही अपने उपाज्जित कर्मों का फल (विपाक) अच्छा—बुरा सुखात्मक या दुःखात्मक भुगतती है। फिर कहाँ ईश्वर बीच में आया? कहाँ ईश्वर को बीच में लाने की आवश्यकता पड़ी? संसार की इस कर्माधीन स्थिति के बीच में निरर्थक ईश्वर को घसीटकर लाने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। जी हाँ,.... जब जीव को इस विषयक्रम में से छूटना हो, मुक्त होना हो तब तो सर्वज्ञ—वीतरागी ईश्वर के आलम्बन की आवश्यकता जरूर पड़ती ही है। लेकिन इस स्थिति में ईश्वर उपास्य तत्त्व है। न कि सृष्टिकारक कर्ता तत्त्व है। यहाँ ईश्वर के आलम्बन से, उनके उपदेश से कोई भी धर्म पाएगा, धर्म की उपासना

करते हुए पाप की प्रवृत्ति का त्याग करेगा, बचेगा, फिर संवर से निर्जरा में जाएगा कर्मों का क्षय करेगा ... गुणस्थानों के एक-एक सोपान चढ़ता हुआ अन्त में ईश्वर के जैसा ही वीतराग स्वरूप, सर्वज्ञतादि सर्व आत्मगुणों को पूर्ण-संपूर्ण स्वरूप में पाकर मोक्ष में जाएगा । सिद्ध-बुद्ध-मुक्त बनेगा । इस प्रक्रिया में जीव ईश्वर का आलंबन लेगा । उसके बताए हुए उपदिष्ट मार्ग पर चलेगा, और कृत्स्न कर्मक्षय करके ईश्वर के जैसा स्वयं भी ईश्वर ही बन जाएगा । इसलिए ऐसा ईश्वर मात्र सामान्य ईश्वर रूप ही नहीं अपितु परमेश्वर रूप है । वह उपास्य तत्त्व है । आराध्य देव तत्त्व है । निरर्थक उसे संसार की सृष्टि के कीचड़ में लपेटने की आवश्यकता ही क्या है । सर्वज्ञवादी एवं सर्वज्ञवाची जैन दर्शन ने ऐसा गलत पाप ही क्या महापाप नहीं किया । बस, इसी कारण जैन दर्शन में ईश्वर-परमेश्वर का स्वरूप विकृत नहीं हुआ । अत्यन्त शुद्ध वैसा ही रहा । इसीलिए ज्ञान दर्शन में ईश्वर सिद्ध बाद में है लेकिन सबसे पहले वह शुद्ध है । शुद्धात्मा है । फिर सिद्धात्मा है, बुद्धात्मा है और मुक्तात्मा है । ईश्वर का यह स्वरूप जैन दर्शन ने गूढ़-अकल नहीं रखा, अपितु स्पष्ट खुल्ला रखा है । इतना ही नहीं, ईश्वर बनने का द्वार भी सदा सबके लिए खुल्ला रखा है । संसार के अन्य किसी भी दर्शन ने ईश्वर बनने का द्वार खुला नहीं रखा । सबसे पहले बन्द कर दिए दरवाजे । साफ कहते हैं आप ईश्वर बन नहीं सकते हो । मात्र ईश्वर दर्शन से बड़ी कृपा प्राप्त कर सकते हो । ईश्वर की सायुज्यता प्राप्त कर सकते हो, या ईश्वर में समा सकते हो, या विलीन हो सकते हो । ऐसी बातें की हैं । अतः उनके मतों में ईश्वर में समा जाना, विलीन होना ही मुक्ति है । लेकिन फिर ईश्वर की इच्छा हो जाएगी तो सृष्टि के आदि कल्प में पुनः उन जीवों को निकालकर सृष्टि के चक्र में भेज देगा । जाओ ... संसार में खेलो । फिर सृष्टि का क्रम चलता रहेगा । सारा कर्तृत्व अपने हाथ में रखकर अर्थात् लगाम हाथ में रखकर, (लेकर) अपनी सृष्टि का संचालन करता रहेगा ईश्वर । घोड़ागाड़ी या बैलगाड़ी चलाने में मालिक जैसा और जितना व्यस्त रहता है वैसे ही ईश्वर भी इस सृष्टि के संचालन की जिम्मेदारी अपने सिर पर लेकर सृष्टि को चलाता ही रहता है ऐसा ईश्वरकर्तृत्ववादियों का मानना है ।

लेकिन उन भले आदमियों ने इतना तक नहीं सोचा कि ... अरे ! यह तो कर्मकर्तृत्व कारण से सृष्टि निरंतर ८४ लक्ष जीव योनियों में जन्म-मरण करती हुई चलती ही रहती है । जीवात्मा स्वयं ही कृत कर्मों के उदय के कारण जन्म-मरणादि धारण करती हुई चौराशी के चक्रवाले इस संसार के काल प्रवाह में निरंतर स्वयं ही बहती जाती है । क्या करेगा बिचारा नियन्ता ? नियति में परिवर्तन करे तो नियन्ता कहना भी सार्थक लगता है

अन्यथा निरर्थक ईश्वर के वास्तविक स्वरूप को कीचड़ से मलीन या विकृत करने का दोषारोपण ही सिर पर लेना है। क्या सर्वज्ञ और वीतरागी ईश्वर यदि स्वयं सृष्टि बनाता है और स्वयं ही नियन्ता बनकर लगाम हाथ में लेकर स्वयं ही चलाता है, या व्यवस्था करता है तो फिर ऐसे सर्वज्ञ—वीतरागी ईश्वर की सृष्टि की वर्तमान में है, वैसी हालत होती ? यह कितनी बेढंगी व्यवस्था है सृष्टि की। क्या स्थिति है सृष्टि की। है तो जरूर लेकिन इसका दोषारोपण जब ईश्वर पर होता है तब ईश्वर का स्वरूप कितना विकृत होता है ? फिर ईश्वर की वीतरागता और सर्वज्ञता में शंका खड़ी होती है। क्या सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान ईश्वर की रचित सृष्टि की स्थिति ऐसी दयनीय कभी हो सकती है ?

क्यों ईश्वर को दयालु बनना पड़ा ? अपनी ही सृष्टि की ऐसी दयनीय स्थिति देखकर दयालु बनना पड़ा। जीवों को संसार में दुःखी दुःखी देखकर ही ईश्वर को दयालु बनना पड़ा होगा। हाँ, यदि संसार में कोई दुःखी ही न होता तो ईश्वर को दयालु—करुणालु बनने की नौबत ही नहीं आती। लेकिन ईश्वर के इतने सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् सामर्थ्ययुक्त होने पर भी सृष्टि के जीव दुःखी हो कैसे गए ? सृष्टि की ऐसी दयनीय स्थिति हो कैसे गई ? क्यों हुई ? क्या ईश्वर ने ध्यान नहीं रखा ? शायद आप कहेंगे जीवों के कर्मों का उदय होने से.... तो फिर आपने कर्म की सत्ता को स्वीकार लिया। ईश्वर का सामर्थ्य कहाँ गया ? क्या जड़—पौद्गलिक कर्म से भी ईश्वर का सामर्थ्य कमजोर रहा ? कि ईश्वर के सक्रिय और सृष्टि को संभालते हुए भी बीच में जड़ जैसे कर्म ने आकर विक्षेप कर दिया कि सृष्टि का स्वरूप दयनीय हो गया। और ईश्वर मात्र मूक प्रेक्षक की तरह सिर्फ देखते ही रहे ? सामर्थ्य एवं शक्तिमान सर्वेसर्वा होने के बावजूद भी ईश्वर क्या कुछ भी नहीं कर सके, तभी तो दयालु करुणालु रूप बनाना पड़ा ?

तथा दयालु—करुणालु बनने के बाद भी ईश्वर अभी तक भी अपनी सृष्टि को इस चुंगाल में से नहीं छुड़ा सके ? नहीं उगार सके ? तो फिर कहाँ गया ईश्वर का सामर्थ्य ? कहाँ गया सर्वशक्तिमानपना ? अन्यथा ये विशेषण निरर्थक सिद्ध होते हैं। ऐसे सेंकड़ों प्रश्न खड़े होते हैं। अतः निरर्थक ईश्वर का स्वरूप विकृत करना, या बिगाड़ना इसके बजाय तो सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और लय की बंधनावस्था में से ईश्वर को सदा के लिए जैनों की तरह मुक्त कर ईश्वर को बिचारे की दयनीय अवस्था में से आप उगार नहीं सकोगे और ईश्वर के स्वरूप को विकृति से भी नहीं बचा पाओगे। फिर ईश्वर पर कलंक सदा के लिए बना ही रहेगा। अतः अभी भी समझकर जिस सृष्टि की तोनों स्थिति के कारण ईश्वर पर कलंक लग रहा है उस कलंक को हटाकर ईश्वर का शुद्ध स्वरूप ही स्वीकारें ताकि मुक्ति

संभव हो सके। तथा वास्तविक सत्य भी यही है कि ईश्वर जब सृष्टि का कर्ता—हर्ता है ही नहीं तो फिर जबरदस्ती उस पर क्यों थोपा जाता है? बलात् आरोपण करके ईश्वर का स्वरूप बिगाड़ना यह उसकी उपासना—आराधना नहीं अपितु भर्त्सना—मजाक है। चरम सत्य तो यही है कि सृष्टि अनादि—अनन्त कालीन अस्तित्ववाली ही है।

अतः संसार में जीवों का अस्तित्व अनादि—अनन्त है। लेकिन मोक्ष में सादि—अनन्त स्थिति है सिद्ध की। जिस दिन जीव मोक्ष में गया वह सादि हुई। शुरुआत का काल है। अतः आदि सहित को सादि कहा है। और अब वहाँ से सदा के लिए वापिस कभी आना ही नहीं है अतः अनन्त है। यह एक जीव की दृष्टि से बात की है।

परन्तु यदि समस्त अनन्त सिद्धों की अपेक्षा से विचार करें तो इन अनन्त सिद्धों में से सबसे पहले कौन मोक्ष में गए? कब मोक्ष में गए? इस तरह इन अनन्त सिद्धों में से हम पहले की संख्या किसकी है यह ढूँढ़ ही नहीं पाएंगे और दूसरी तरफ सर्वप्रथम मोक्ष में जानेवाले का काल कैसे ढूँढ़ पाएंगे कि वे कब मोक्ष में गए? क्योंकि काल अनन्त बीता है। अनन्त काल से जीव मोक्ष में जाते ही रहे हैं। अतः अनन्त जीवों की अपेक्षा से अनादि—अनन्त कालस्थिति कहनी ही पड़ती है।

दूसरी तरफ संसारी भव्य जीवों की स्थिति अनादि—सान्त ही है। उत्पत्ति न होने के कारण जीव अनादि काल से संसार में है ही लेकिन कर्म का जो संबंध जीवों के साथ है वह अन्त (क्षय) होनेवाला होने के कारण सान्त ही है। अन्त होनेवाले या अन्त सहित को ही सान्त कहते हैं। जब भव्यात्माओं के सब कर्मों का क्षय ही हो जानेवाला है तो फिर मुक्ति ही होगी। मुक्ति की शुरुआत कहाँ से होती है? सर्व कर्म क्षय से ही। अतः सर्व कर्म क्षय होते ही संसार का अन्त और मुक्ति का प्रारम्भ होता है। एक ही दिवाल दोनों तरफ हो तो एक तरफ से अन्त और दूसरी तरफ से शुरुआत होती है। वैसे ही यहाँ भी है। कर्म की बड़ी दिवाल के इस तरफ संसार है और उस तरफ कर्मरहित अवस्था में मोक्ष है।

बस, जिस दिन जीवात्मा इस कर्म की दिवाल का भेदन करके उस पार चली जाएगी उस दिन सिद्ध—बुद्ध—मुक्त बन जाएगी। इस दिवाल के दोनों तरफ अर्थात् संसार में और मोक्ष में दोनों तरफ आत्मा तो वही है। सिर्फ २ पर्याय भेद ही हैं। परन्तु मूलभूत द्रव्य का भेद नहीं है। द्रव्य स्वरूप से आत्मा दोनों अवस्था में एक जैसी समान ही रहती है। कोई फरक ही नहीं है। बस, कर्म के कारण पर्याय में अन्तर जरूर पड़ा। जिस दिन कर्मावरणरूपी

बादल हट जाय उस दिन आत्मा पूर्ण रूप से देदीप्यमान सिद्ध भगवान् ही है। यही मोक्ष है। आत्मा की पर्याय का परिवर्तन है। संसारी अवस्था में पर्यायें रोज बदलती थी, परिवर्तनशील थी जबकि सिद्धावस्था में स्थिर पर्याय है। अनन्त काल तक भी सिद्धात्मा की स्थिर पर्याय कभी बदलती ही नहीं है। अतः मुक्त होने का अर्थ यही है कि... अस्थिर पर्याय से स्थिर पर्याय में आना। और परिवर्तनशील पर्याय में से अपरिवर्तनशील पर्याय में आना। काल तत्त्व से भी ऊपर उठकर अकाल—कालातीत होना मोक्ष है। अब काल के बन्धन में या काल के पर्याय में अब सिद्धात्मा नहीं आएगी। न काल उनको लागू होगा। अतः काल का व्यवहार सिद्धात्मा के लिए सर्वथा नहीं होगा। ऐसी कालातीत—अकाल की स्थिति में पहुँची हुई आत्मा को काल के व्यवहाररूप बन्धन में फंसी हुई संसारी आत्मा सदा वंदन करती रहे। बस, इसी तरह अपना मुक्ति के बीच का अन्तर घटाती रहे, जिससे एक दिन मुक्ति की प्राप्ति सुलभ हो सके।

६) अन्तर द्वार—अन्तर दो के बीच का अन्तर सूचित करता है। एक सिद्ध से दूसरे सिद्ध के अन्तर की बात का भी सकेत यहाँ पर अन्तर द्वार से सूचित किया गया है। जैसा कि पहले भी वर्णन कर चुके हैं वैसे.... एक सिद्ध से दूसरे सिद्ध में अन्तर नहीं है। वे समावगाही हैं। अतः समान अवगाहना से एक सिद्ध दूसरे सिद्ध से स्पष्ट है। अन्तर की संभावना ही नहीं है। दूसरी दृष्टि से एक के सिद्ध हो जाने के पश्चात् दूसरे के सिद्ध होने में अन्तर है भी सही और नहीं भी है। जब एक समय में कोई सिद्ध होने के पश्चात् तुरन्त दूसरे ही समय यदि कोई दूसरा जीव मुक्त होता है तब अन्तर नहीं रहता है। और यदि कोई १ समय में किसी के सिद्ध हो जाने के पश्चात् कई समयों तक यदि कोई सिद्ध नहीं होता है तो अन्तर पडता ही है। इस तरह अन्तर पडता भी है और नहीं भी पडता है।

अब स्थानान्तर की दृष्टि से विचार करने पर एक बार मोक्ष में जाकर जो जहाँ स्थिर हो जाते हैं वे वहीं उसी आकाश प्रदेश का स्पर्श करके अनन्तकाल तक स्थिर रहते हैं। स्थानान्तर नहीं होता है। अर्थात् अनन्त काल तक भी समीप के अस्पष्ट आकाश प्रदेश का स्पर्श नहीं करेंगे। अतः स्थानान्तर होता ही नहीं है। लेकिन एक सिद्ध के स्थान से अन्य दूसरे सिद्ध के स्थान में अन्तर होता भी है और नहीं भी होता है। जब एक जीव जो भरत क्षेत्र से मोक्ष में गया है उसके और महाविदेह से जो मोक्ष में गया है इन दोनों के बीच में स्थान का अन्तर काफी रहता ही है। (इसी तरह यदि... कोई जंबुद्वीप से मोक्ष में गया है और कोई यदि पुष्करार्धद्वीप से मोक्ष में गया है तो दोनों में स्थान—क्षेत्र विशेष का अन्तर काफी रहेगा। इसी तरह यदि कोई सिद्धाचल = शत्रुंजय से, या सम्पेतशिखरजी से मोक्ष

में गये हैं तो इन दोनों तीनों सिद्धों में अन्तर काफी ज्यादा रहेगा। इस तरह अन्तर रहने में कारण यही है कि.... मोक्ष में जानेवाला जीव... सीधे ९० अंश पर ही सीधे जाकर उसी आकाश प्रदेश में अनन्त काल तक स्थिर रहता है। अतः यह दो सिद्धों के बीच का क्षेत्रान्तर—स्थानान्तर अनन्तकाल तक बना ही रहता है। अनन्त काल के भविष्य में कभी भी रत्तीभर भी यह अन्तर न तो घटता और न ही बढ़ता है। इस तरह स्थानान्तर क्षेत्रान्तर होता है। लेकिन एक आकाश प्रदेश पर जो सिद्ध रहे हुए हैं ठीक उसी आकाश प्रदेश के समीप के अत्यन्त निकटस्थ दूसरे आकाश प्रदेश पर यदि कोई सिद्ध रहे हुए हो तो... दोनों के बीच में अन्तर नहीं रहता है। वे स्पृष्ट भी रहते हैं। इस तरह मोक्ष में सिद्धात्माओं में गत्यन्तर, स्थानान्तर, कालान्तर, क्रमान्तर आदि का विचार किया गया है।

भावान्तर की दृष्टि से विचार करने पर एक बार सिद्धावस्था प्राप्त कर लेने के पश्चात् सिद्धान्त यही है कि... पुनः कभी भी मोक्ष से उतरकर संसार में नहीं आते हैं। अतः “अपुनरावृत्ति”वाले सिद्ध होते हैं। जैसा कि... वैदिक दर्शनों की मान्यता है कि... सिद्ध मुक्तेश्वर पुनः संसार में आते हैं। जन्म धारण करते हैं। अधर्म का नाश और धर्म का अभ्युदय उत्थान करने के लिए पुनः अवतार लेकर पुनः संसार में आते हैं। और पुनः जाकर सिद्ध—मुक्त बन जाते हैं। इस बात को भगवद्गीता में—“यदा यदा हि धर्मस्य” के श्लोकों से स्पष्ट किया गया है। इन श्लोकों से उनका कहना है कि.... ईश्वर अपनी रचित सृष्टि की पूरी चिन्ता करते हैं। कहीं उनकी रचित सृष्टि में संतुलन एवं व्यवस्था बिगड़ न जाय इसका ईश्वर पूरा ध्यान रखते हैं। इस सृष्टि में धर्म की व्यवस्था है। उसमें यदि धर्म घट जाता है, या धर्म की व्यवस्था यदि बिगड़ जाय, संतुलन बिगड़ जाय, तो... ईश्वर को अवतार लेकर आना पड़ता है। दूसरी तरफ धर्म की मात्रा—प्रमाण यदि घट जाय और अधर्म का साम्राज्य बढ़ जाय तो भी ईश्वर को वापिस आना पड़ता है। अपने भक्तों का तो उद्धार करने के लिए, और जो उनके भक्त नहीं हैं उनका संहार करने के लिए, ईश्वर को अवतार लेकर आना पड़ता है। सज्जनों को बचाने के लिए उनकी रक्षा करने के लिए... ईश्वर को बार—बार आकर अवतार लेना ही पड़ता है। यह हिन्दु धर्मावलम्बियों की स्पष्ट मान्यता भगवद्गीता में स्पष्ट की गई है। इस तरह ईश्वर के अवतार लेने का कारण बताया गया है।

सृष्टि की उत्पत्ति के पीछे एक मात्र ईश्वर की इच्छा को ही कारण बताया गया है और कोई प्रबल सबल बलवत्तर कारण नहीं बताया है। आखिर भविष्य में जिस सृष्टि का संतुलन टूटनेवाला है, बिखरनेवाला है व्यवस्था, या विपरीतता ही होनेवाली है तो फिर

निरर्थक ऐसी सृष्टि क्यों बनाई ? क्या बनाते समय भविष्य का ख्याल नहीं आया या भविष्य में कब क्या होनेवाला है इसका ज्ञान ही नहीं था ? या फिर बिना सोचे विचारे सृष्टि बना दी... और विचार किया होगा कि... जब सृष्टि का संतुलन बिगड़ जाएगा उस दिन फिर अवतार लेकर सुधार लेंगे । क्योंकि सामर्थ्य और सर्वशक्तिमत्ता उनमें है ही... ऐसा ईश्वर जानते थे इसलिए सृष्टि बना ली । अब कालान्तर में... अन्य-अन्य कल्प या युग में जब सृष्टि का संतुलन बिगड़ जाएगा, या विपरीतीकरण हो जाएगा तब पुनः पुनः अवतार लेकर ईश्वर नए नए नाम और रूप से वापिस संसार में आएंगे । और आकर अधर्म का नाश, दुष्ट-दुर्जनों का नाशादि कर्तव्य रूप कार्य करेंगे । तथा पुनः धर्म का एवं धर्मियों का उत्थान करेंगे, उद्धार करेंगे । सज्जनों को ऊपर उठाएंगे ।

लेकिन यहाँ प्रश्न यह उठता है कि... ऐसे सर्वज्ञ सर्व शक्तिमान-सर्वसामर्थ्यसमृद्ध तथा सर्वत्र व्याप्त विभु ऐसे ईश्वर के रहते हुए भी सृष्टि में विपरीतता-विषमता-विचित्रता-विविधता आई कैसे ? क्यों आई ? किसके कारण आई ? क्या ईश्वरातिरिक्त अन्य कोई कर्ता है ? क्या अन्य किसी के करने से विपरीतता आई ईश्वर ने जब अपनी की रचना करके इसमें धर्म की ही स्थापना की थी अधर्म की स्थापना स्वयं ईश्वर तो कभी करते ही नहीं हैं, तो फिर अधर्म आया कहाँ से ? संस्थापक रचयिता जब ईश्वर ही है तब ठीक संचालक भी तो ईश्वर ही है । तो ऐसे सामर्थ्यवाले के संचालक रहते हुए क्या इस सृष्टि में अधर्म आ सकता है ? यदि कोई अन्य आकर अधर्म फैला जाता है तो या तो ईश्वर उस समय संचालन नहीं करते होंगे ? या फिर संचालन करते होंगे तो उस प्रकार का सामर्थ्य नहीं होगा कि जिससे वे अधर्म फैलानेवाले को हटा सके । दूसरी तरफ सर्वशक्तिमान ईश्वर ही यदि सृष्टि का संचालन करते हैं, वे ही पालक हैं, तब तो फिर उनकी उपस्थिति में उनकी ही रचना में वैषम्य कैसे आया ? अधर्म बढ कैसे गया ? और दुर्जन-दुष्ट कैसे बढ गए ? कैसे और क्यों धर्म और सज्जन घट गए ? या यह बताइए कि भूतकाल के अनन्तकाल में कब दुष्ट दुर्जनों का अस्तित्व नहीं था ? जैसे दुःख सुख सदा साथ रहते हैं, पुण्य-पाप, दिन-रात, अच्छे-बुरे का अस्तित्व सदा ही साथ रहते हैं । ऐसा आर्हतों का कहना है । अरे ! सर्वशक्तिमान ईश्वर का ही संचालन जब चालू था, और पहले से ही रचना के समय से ही ईश्वर ने जब सृष्टि के सभी जीवों को सुखी ही बनाया था, तब उसमें क्यों और कैसे दुःख बीच में कहाँ से आ गया ? आखिर ईश्वर में दया आने का क्या कारण बना ? और यदि आप ऐसा कहते हैं कि ईश्वर तो स्वभाव से ही दयालु-करुणालु है । तो फिर सहज स्वभाव से अपनी सृष्टि में सतत दया के स्वभाव

से सब को उसी समय सुखी कर देता । दुःख का प्रमाण बढ़ने ही नहीं देता । एक बात निश्चित है कि... दया—करुणा तो दुःखनिमित्तक है । यदि किसी के दुःख दर्द को देखें तो ही देखनेवाले के दिल में दया—करुणा आती है, अन्यथा नहीं । यदि सहज स्वाभाविक रूप से ईश्वर में सदा दया रहती ही हो तो सृष्टि में दुष्ट—दुर्जन का अस्तित्व संभव ही नहीं था । ईश्वर अपने संचालन काल में ही उन दुष्ट—दुर्जनों को पनपने—बढ़ने ही नहीं देते ताकि ... ईश्वर के लिए अवतार लेने की नौबत ही नहीं आती । जब एक अवतार में ईश्वर विद्यमान ही थे संचालक के रूप में, तो फिर अन्य दूसरे अवतार को लेने की नौबत ही क्यों आई ? इससे दूसरे ईश्वर के अवतार लेने की निरर्थकता सिद्ध होती है, या फिर पहले के अवतार की निष्क्रियता—अशक्ति सिद्ध होती है ।

इस तरह यह सारी विसंगति आई कहाँ से ? क्यों आई ? इसका कोई विचार ही नहीं किया और मात्र ईश्वर के अवतार की बातें बैठा दी । एक तरफ ईश्वर के अवतार लेने का कारण तो निश्चित ही रखा, उस कारण का निवारण करने के लिए ईश्वर के अवतार की आवश्यकता, अनिवार्यता बताई और दूसरी तरफ अवतारों में भिन्न—भिन्न कक्षा बताई । आखिर ऐसा क्यों ? जिन्होंने मात्र लीला ही की, जो मात्र लीला ही करने के लिए आए, उन्होंने उन हेतुओं कारणों का निवारण कहाँ किया ? लीला करने मात्र से ईश्वर के अवतार लेने के हेतु में लीला करने के हेतु को स्थान ही नहीं दिया है । तो फिर ईश्वर का लीला हेतु अवतार लेना निरर्थक सिद्ध होगा । इस तरह लीला हेतु दया करुणा से, अधर्म की निवृत्ति करने के हेतु से तथा दुर्जनों के नाशादि किसी भी हेतु से ईश्वर का अवतार लेना योग्य ही नहीं ठहरता है । अतः पुनः पुनः अवतार ग्रहण करने के इस अवतारवाद के सिद्धान्त को मानना ही उचित नहीं लगता है । इसलिए एक ही ईश्वर को मानकर बार—बार उसके अवतार को स्वीकारने की विसंगति को दूर करने के लिए सभी आत्माओं को सर्वतंत्र स्वतंत्र सर्वथा भिन्न—भिन्न फिर सादृश्यता—समानता मानकर ईश्वर की व्यवस्था करने से विसंगति दूर हो जाएगी । बस, एक ही आत्मा जो सर्व कर्म क्षय करके एक बार मोक्ष में चली जाती है वह किसी भी कारण से पुनः संसार में नहीं लौटती है । अब कोई कारण ही नहीं बचता है उनके लिए । अतः सिद्ध परमात्मा कारणातीत है । अकारणी है । दूसरी आत्मा भी उनकी अनुगामी बनकर मोक्ष में जाएगी । दूसरी तरफ संसार की सृष्टि को ईश्वराधीन न मानकर सिर्फ कृतकर्माधीन ही मान लें तो इस चरम सत्य के सामने कोई विसंगति नहीं आएगी । संसार में अनन्त जीव सृष्टि है । एक ही आत्मा मानने में बहुत

बड़ा अनर्थ होता है। अतः अनन्त आत्माएँ माननी ही उचित है। साथ ही साथ संसारी अनन्तात्माओं को कृतकर्माधीन ही मानना चाहिए। बस, इन सर्व कर्मावरणों का क्षय जो भी कर ले उसी का मोक्ष मानना चाहिए। सृष्टि की असमानता दुर्जनादि की उत्पत्ति, या दुःख—दारिद्र्यादि की उत्पत्ति, वृद्धि आदि सब प्रकार की विपरीतता—विचित्रता, विसमता, विविधता और विसंगति ये स्वकृतकर्मादि के कारण से ही हैं। इसमें दुर्जनों का संहार करने मात्र से सृष्टि का संतुलन नहीं बन जाता है। सचमुच ही ईश्वर सर्वसामर्थ्यसंपन्न है तो ईश्वर का कार्य था कि उपदेश द्वारा दुष्ट—दुर्जन को बदलकर, उसका मानस परिवर्तन करके उसे सज्जन धर्मात्मा बना देना था। निरर्थक संहार करके ईश्वर हिंसा का महापाप क्यों करते हैं? जब इतनी सरलता से ईश्वर उपदेश द्वारा दुष्ट दुर्जन को सज्जन बना सकते हैं तो फिर संहार करने की क्या आवश्यकता है? या तो फिर उपदेश से परिवर्तन करने का सामर्थ्य ही ईश्वर में नहीं होगा? अरे! संसार के सामान्य साधु—संतो आदि के अन्दर ऐसा सामर्थ्य है कि वे दुष्ट—दुर्जनों का उपदेश मात्र से परिवर्तन करके सज्जन बना सकते हैं तो फिर ईश्वर में ऐसा सामर्थ्य नहीं है और संहार करने का सामर्थ्य है यह कैसी अजीब बात है? ऐसा कैसा ईश्वर का स्वरूप मान रखा है वेदान्तियों ने? वैदिकमतवादियों ने? इस प्रकार की निरर्थक विसंगतियों से ईश्वर का स्वरूप कितना विकृत होता है!

अतः आर्हतों की तरह एक बार मोक्ष में जाकर जो सिद्ध बन चुके हैं उनका पुनः संसार में आगमन मानने की आवश्यकता ही नहीं रहती। वे सिद्ध श्रेष्ठ कक्षा के निरंजन—निराकार अकर्मो सिद्ध परमात्मा हैं। अपुनरावृत्ति का सिद्धान्त किसी भी प्रकार की विसंगति से ग्रस्त नहीं है।

इसीलिए अन्तर द्वार में ऐसी विचारणा की गई है कि एक बार सिद्ध बन चुकने के पश्चात् पुनः संसार में आकर जन्म (अवतार) ग्रहण करे, और पुनः सिद्ध बने, पुनः संसार में जन्म लेकर जाय और पुनः मोक्ष में मुक्त बनकर रहे इस तरह का गत्यन्तर या जन्मांतर भी सिद्ध के लिए मानना ही नहीं चाहिए। अतः जन्म का अन्तर या अवान्तर जन्म, या गति का अन्तर मानना ही नहीं चाहिए। एक बार सिद्धगति पाकर पुनः जाकर कोई संसार की ४ गति पाए और पुनः सिद्धिगति में आ जाय और पुनः संसार की गति में जाकर जन्म ग्रहण करे, यह मानना ही गलत है। सर्वथा अनुचित है। असत्य को मानने की अपेक्षा चरम सत्य को स्वीकारने में ही सम्यग् दर्शन है। उसी में कल्याण है। अतः “अपुनरावृत्ति” के सिद्धान्त को स्वीकारना ही चाहिए।

“सर्वजियाणमणंते भागे ते”

नवतत्त्वकार ने ४९ वे श्लोक में भाग द्वार की विचारणा की गई है। यहाँ “भाग” शब्द गणित की संख्या का वाचक है। दूसरों की तुलना में इनकी संख्या कितने भाग में है? यह भाग द्वार से समझाई गई है। समस्त जीवों का विश्लेषण करते समय २ भागों में विभक्त किया है। “जीवा मुक्ता संसारिणो य” जीव मुक्त और संसारी दो प्रकार के हैं। अतः मुक्तों की संख्या की तुलना संसारी जीवों के साथ होती है। और संसारी जीवों की संख्या की तुलना सिद्धों के साथ होती है। इसलिए शास्त्रकार महर्षि कहते हैं कि... ब्रह्माण्डस्वरूप समस्त लोक में... सिद्धों की संख्या संसारी जीवों के अनन्तवें भाग की ही है। अतः संसारी जीव अनन्तानन्त (अनन्त X अनन्त) की संख्या में है। जिसमें निगोद से लेकर पंचेन्द्रिय तक के सभी जीव समा जाते हैं। अतः इन अनन्तानन्त संसारी जीवों के सामने तुलना में सिद्धों की संख्या मात्र अनन्तवें भाग की ही है। इससे उल्टा मुक्त जीवों की तुलना में संसारी जीव अनन्तगुने हैं। अनन्त को अनन्तवार गुणाकार करें इतने अनन्तानन्त जीव संसार में तीनों काल में सदा रहते ही हैं।

सूक्ष्म साधारण निगोद के असंख्य गोलों के एक—एक गोले में असंख्य निगोद और उनमें भी एक एक निगोद में अनन्त—अनन्त जीव रहते हैं। यदि सूक्ष्म से बादर की कक्षा में भी आ जाय तो आलु, प्याज, लहसून, गाजर, मूला, शक्करकंद आदि में भी अनन्त जीव एक साथ रहते ही हैं। अतः एक—आलु (बटाटा) में अनन्त जीव हैं। इस तरह अनन्त निगोदस्थ जीवों की तुलना में सिद्धात्माओं की संख्या मात्र अनन्तवें भाग की ही है। फिर भी वह कितनी है वह कहने के लिए शब्द “अनन्त” ही वाचक होगा। इतने अनन्त जीवों को मोक्ष में जाने में कितना काल लगा? अनन्त काल लगा। अनन्त काल से भूतकाल में बीते हुए अनन्त काल से जीव मोक्ष में जाते ही रहे हैं, तथा भविष्य के अनन्त काल में भी अनन्त जीव मोक्ष में जाएंगे। जाते ही रहेंगे। इस तरह अनन्त काल तक अनन्त जीव मोक्ष में जाते ही रहेंगे। मोक्ष में सिद्धों की संख्या में निरंतर वृद्धि होती ही रहेगी। फिर भी अनन्त काल के पश्चात् भी यदि कोई पूछेगा तो जैन शास्त्रों में एक ही उत्तर मिलेगा कि... अनन्त ही मोक्ष में गए हैं, जो संसारी समस्त जीवों की तुलना में अनन्तवें भाग के ही हैं। शास्त्र के शब्द इस प्रकार हैं—

जइआ य होइ पुच्छा, जिणाणमग्गंमि उत्तरं तइआ ।

इक्कस्स निगोयस्सवि अणंतभागो य सिद्धिगओ नवतत्त्व६० ॥

जिनेश्वर सर्वज्ञ परमात्मा के जैन शासन में जब भी कभी यह प्रश्न पूछा जाय कि कितने मोक्ष में गए हैं ? तो उत्तर अनन्त काल तक एक ही रहेगा, और अनन्त काल के बाद भी एक ही उत्तर रहेगा कि ... “एक निगोद का भी अनन्तवाँ भाग ही मोक्ष में गया है । इस तरह तीनों काल में सिद्धों की संख्या संसारी जीवों के सामने अनन्तवे भाग की ही रहेगी ।

इसमें यह स्पष्ट होता है कि... संसार कभी भी खाली नहीं होगा । अनन्त काल के बाद भी एक दिन भी ऐसा नहीं आएगा कि जिस दिन... संसार में से मोक्ष में जानेवाला अब कोई शेष बचा ही नहीं है । अब संसार का सर्वथा अन्त ही आ चुका है । अब कोई बचा ही नहीं है, सिर्फ मोक्ष ही है । या अब सिर्फ सिद्ध ही सिद्ध है । कोई संसारी जीव है ही नहीं । ऐसी बात भी नहीं है । अतः मोक्ष में जाने का सिलसिला अनन्तकाल तक चालू रहने के बाबजूद भी संसार में अनन्तानन्त जीव शेष रहेंगे ही । अतः इससे सिद्ध होता है कि संसार भी त्रैकालिक शाश्वत है और मोक्ष भी त्रैकालिक शाश्वत है । इसमें कभी भी सिद्धान्त हानी नहीं आएगी । इस तरह अनन्तानन्त गुने संसारी जीव और अनन्तवे भाग के ही सिद्ध जीव इस भाग द्वार से सिद्ध होते हैं ।

८) भाव द्वार—

..... तेसिं दंसणं नाणं ।

खड़ए भावे परिणामिए अ पुण होइ जीवन्तं ॥ ४९ ॥

सिद्ध जीवों में ज्ञान और दर्शन क्षायिक भाव से होते हैं । तथा जीवत्व यह पारिणामिक भाव से होता है । भाव शब्द आत्मगुणवाचक है । सिद्ध बननेवाली आत्मा १३ वे गुणस्थान पर जो केवलज्ञान—केवल दर्शनादि प्राप्त करती है वह सब क्षायिक भाव की कक्षा के प्राप्त करती है । आप जानते ही हैं कि शास्त्रों में ५ प्रकार के भाव बताए गए हैं । १) औपशमिक, २) क्षायिक, ३) क्षायोपशमिक, ४) औदयिक, तथा ५) पारिणामिक । इन ५ प्रकार के भावों की कक्षा के ही ज्ञान—दर्शनादि गुण जीवों को प्राप्त होते हैं । इनमें सर्वश्रेष्ठ कक्षा का क्षायिक भाव है । ज्ञान दर्शनादि आत्मगुण एक बार क्षायिक भाव की कक्षा के प्राप्त हो जाय, तो वापिस चले नहीं जाते हैं । नष्ट नहीं होते हैं । क्षायिक में मूल शब्द ‘क्षय’ है । ‘क्षय’ शब्द नाश अर्थ में है । भाव वाचक बने हुए क्षायिक शब्द का अर्थ है सर्वथा कर्म का क्षय होने से । कृत्स्न कर्मक्षय का अर्थ है सर्वथा कर्म का क्षय होना । कृत्स्न कर्मक्षय कर्मों की संपूर्ण संख्या का सूचक है । सभी अर्थात् आठों कर्मों का क्षय

हो जाने पर जो अवस्था आत्मा की होती है वही सिद्धावस्था है। इसलिए 'कृत्स्न' शब्द से सभी कर्मों का क्षय अभिप्रेत रहता है। जबकि ... १-२ या ३-४ कर्मों का सर्वथा संपूर्ण समूल क्षय हो जाय तो उससे जन्य आत्मा के ज्ञानादि गुण क्षायिक की कक्षा के कहलाते हैं। क्षायिक का सीधा तात्पर्य यह है कि ... उन गुणों पर कर्म का आवरण पुनः कभी नहीं आता है कदापि कर्मावरण के आगमन से वह गुण पुनः आच्छादित नहीं होता है। क्योंकि ... पहले से ही कर्मों का समूल-संपूर्ण-सर्वथा क्षय करने की तैयारी से ही क्षपक श्रेणी का प्रारंभ किया है। अतः अब वे क्षय करके ही रहेंगे। इस क्षपक श्रेणी के क्रम में एक-एक गुणस्थान आगे-आगे चढ़ते-चढ़ते १२ वे गुणस्थान पर मोहनीय कर्म समूल-सर्वथा क्षय कर लेने के कारण वीतरागता का गुण क्षायिक भाव से प्रगट होता है। बस, यह वीतरागता कभी भी नष्ट होकर वापिस लुप्त नहीं होगी। ठीक इसी तरह ज्ञानावरणीय एवं दर्शनावरणीय कर्म का भी सर्वथा समूल-संपूर्ण रूप से क्षय हो जाने पर परिणामस्वरूप ज्ञान-दर्शन गुण क्षायिक भाव की कक्षा के प्रगट होते हैं। उस क्षायिक भाव की कक्षा के ज्ञान को केवलज्ञान और दर्शन को केवल दर्शन कहते हैं। इस तरह क्षायिक भाव के गुण ही पूर्ण-संपूर्ण कक्षा के प्रगट होते हैं, अन्य भावों के नहीं। अतः क्षायिक भाव की कक्षा के गुण पुनः कर्म से आवृत्त नहीं होते हैं।

कर्मों का क्षायिक भाव का क्षय ... ३ क्रम से होता है— १) पहले १ मोहनीय कर्म का, १२ वे गुणस्थान पर ... क्षय होता है। आठों कर्मों में से किसी अन्य कर्म का नहीं और मात्र मोहनीय कर्म का ही समूल संपूर्ण क्षय होता है। उसके पश्चात् १२ वे उपान्त्य और चरम समय में ज्ञानावरणीय-दर्शनावरणीय और अन्तराय कर्म इन ३ कर्मों का क्षय होता है। इस तरह $१ + ३ = ४$ घाती कर्मों का क्षय हो जाता है। और अन्त में ४ अघाती कर्म जो शेष बचे हैं उनका १४ वे गुणस्थान पर सर्वथा आत्यन्तिक क्षय हो जाता है। इस तरह $१ + ३ + ४ = ८$ आठों कर्मों का आत्यन्तिक क्षय, क्षायिक भाव का क्षय हो जाने पर ... मुक्ति होती है। इसीलिए कृत्स्नकर्मक्षय को मुक्ति कहा है।

कृत्स्न + कर्मक्षय = मोक्ष।

सर्व + पावप्पणासणो = मोक्ष।

कृत्स्न शब्द का अर्थ संख्या में सर्व, गुणों में संपूर्ण और क्रियात्मकता में सर्वथा होता है। जैसा कि नमस्कार महामन्त्र के सातवें पद में कहा है कि— सर्व = सभी पाप कर्मों का प्रकृष्ट से नाश करना ही मोक्ष है। 'प्र' उपसर्गपूर्वक "नाश" धातु "प्रनाशन" अर्थ

में है। प्रकृष्ट अर्थात् उत्कृष्ट, सर्वोत्कृष्ट की कक्षा में सर्वथा नाश होना चाहिए। किसका नाश? पाप कर्मों का। मात्र पाप कर्म का ही नहीं लेकिन साथ ही साथ पुण्यकर्म का भी समूल नाश होना ही मुक्ति है। इस तरह नवकार के ७ वे पद में भी मोक्ष विषयक अर्थ की ही ध्वनि है। जो उपासक—साधक को अभिप्रेत अर्थ है। इस तरह सर्व कर्मों का क्षायिक भाव की कक्षा से ही नाश होना चाहिए। तभी आत्मा के सभी गुण क्षायिक भाव की कक्षा के प्रगट होंगे। शेष भावों में नहीं। जैसे पानी से अग्नि सर्वथा शान्त हो जाय, बुझ जाय वैसे ही आत्मा के कर्म सर्वथा समूल संपूर्ण क्षय हो जाय उसे क्षय कहते हैं। और उस प्रकार के संपूर्ण क्षय से उत्पन्न आत्मा के ज्ञानादि गुणों का परिणाम उसे क्षायिक भाव कहते हैं। इस तरह आत्मा के सभी गुण क्षायिक भाव की कक्षा के प्रगट होते हैं। चाहे वे अन्तराय कर्म के क्षय से दान—लाभ भोग—उपभोग और वीर्य ही क्यों न हो? तो वे भी क्षायिक भाव के प्रगट होंगे। जिसके कारण क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपयोग, और क्षायिक की कक्षा का वीर्यादि प्रगट होते हैं। ये पाँचो लब्धियाँ हैं। क्षायिक की कक्षा का आत्मगुण “अनन्त” स्वरूप में प्रगट होता है। अतः अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीतरागता, अनन्त दान, अनन्त लाभ, अनन्त भोग, अनन्त उपभोग, और अनन्त वीर्य ये सभी अनन्त की कक्षा में सिद्ध—मुक्तात्मा में प्रगट रहते हैं। अपने गुणों में सिद्ध वहाँ मस्त रहते हैं।

पारिणामिक भाव—

वस्तु मात्र का अनादि कालीन जो स्वाभाविक स्वभाव है उसे पारिणामिक भाव कहते हैं। वह कृत्रिम नहीं होता है। किसी भी कारण—निमित्तादि हेतु से परिवर्तनशील भी नहीं रहता है। जैसे जड़ पुद्गल में अजीवत्व—जडत्व वर्ण—गंध—रस—स्पर्शवत्त्व जो रहता है वह पारिणामिक भाव के रूप में है। सहज स्वाभाविक रूप से है। अपरिवर्तनशील है। अनन्त काल में भी कभी अजीव जड़ पदार्थ जीव के रूप में परिवर्तित नहीं होगा। और इसी तरह जीव में जो जीवगत भव्यत्व, अभव्यत्व, जीवत्व आदि पारिणामिक भावजन्य स्वरूप सहज स्वाभाविक रूप से हैं ये कृत्रिम नहीं होते हैं। और न ही अनन्त काल में भी परिवर्तनशील हैं। भव्यत्व कर्मजन्य नहीं है, इसी तरह अभव्यत्व भी कर्मजन्य—कर्मनैमित्तिक नहीं है। यह जीवगत सहज स्वाभाविक ही है। यदि कर्मजन्य होते तो उस कर्मप्रकृति का क्षय करने से परिवर्तन हो जाता। अभव्य भी भव्य बन जाता। या भव्य जीव वैसा कर्म बांधकर अभव्य बन जाता। लेकिन अनादि—अनन्त काल में भी

नहीं बना। जो मोक्ष में जाने की योग्यतावाला जीव है वह भव्य है, और जो कदापि मोक्ष में जाने की योग्यता ही नहीं रखता है, वह अभव्य जीव कहलाता है।

अब प्रश्न यहाँ यह उठता है कि... जो मोक्ष में चले गए हैं, सिद्ध बन चुके हैं वे भव्य है या नहीं? अब उनको भव्य कहना कि नहीं? यदि कहें तो अब जाने के बाद पुनः कहाँ मोक्ष में जाना है कि जिसके कारण उसकी योग्यता मापी जाय? तथा अभव्य बनते ही नहीं हैं। क्योंकि पारिणामिक भाव तीनों काल में अपरिवर्तनशील स्वभाववाला है। या तो सिद्धों को भूतकालिक अपेक्षा से भव्य कह सकते हैं। परन्तु वर्तमानकालिक अपेक्षा से तो शास्त्रों में “सिद्धा नो भव्या नो अभव्या” = सिद्धात्मा न तो भव्य की कक्षा के हैं और न ही अभव्य हैं। लेकिन भव्यत्वपना अनन्तकाल से पारिणामिक भाव से है ही। अतः वह नष्ट तो होता ही नहीं है। और न ही परिवर्तित होता है। फिर चला थोड़ी ही जाएगा? बरोबर बना ही रहेगा। लेकिन अब अर्थ वह नहीं रहेगा कि “मोक्ष में जाने की योग्यतावाला—भव्य”। इस लक्षण में भविष्यकाल की अपेक्षा है। अतः ऐसा कहा है। लेकिन मुक्त हो जाने के बाद अर्थ की कालवाची अपेक्षा बदलकर भूतकालीन हो जाएगी। इस तरह पारिणामिक भाव घटेगा। तथा जीवत्व, चेतनत्व, आत्मत्वादि तथा ज्ञानवत्त्व—दर्शनवत्त्वादि भी पारिणामिक कक्षा के भाव पड़े ही हैं। वे नष्ट तो होते ही नहीं हैं। ज्ञानावरणीय कर्म से जो आवृत्त था वह अब पूर्ण की कक्षा में प्रगट है। अब कर्मावरण न रहने के कारण अनावृत्त—निरावरण अवस्था में पूर्ण—संपूर्ण कक्षा में प्रगट है। अतः सिद्ध को केवली सर्वज्ञ कहना ही पड़ता है। केवलदर्शनी सर्वदर्शी कहना ही पड़ता है। इसी तरह अनन्त दानी, अनन्त लाभी, अनन्त भोगी, अनन्त उपभोगी, अनन्त वीर्यवान् कहने ही पड़ते हैं। और बरोबर संबन्धका व्यवहार भी उनमें होता है। ये गुण क्रियाशील सक्रिय हैं। अतः सिद्ध अशरीरी निष्क्रिय होते हुए भी उनकी आत्मा में समस्त अनन्त लोक—अलोक को जानने—देखने आदि क्रिया—प्रवृत्ति अन्दर ही अन्दर आत्मप्रदेशों में होती ही रहती है। यद्यपि करने रूप क्रिया उनमें नहीं है। लेकिन सहज होने रूप क्रिया उनमें जरूर है अतः वे देखने जाते नहीं हैं। परन्तु उनके ज्ञान में समस्त—लोकालोक प्रतिबिम्बित होता ही रहता है।

ज्ञान—दर्शनादि सिद्ध में क्षायिक भाव से हैं। ज्ञानवत्त्व—दर्शनवत्त्व जीव का पारिणामिक भाव है। ५ प्रकार के भावों में... औपशमिक भाव सिर्फ मोहनीय कर्म का ही होता है, जबकि क्षायिक भाव आठों कर्मों का होता है। क्षयोपशमभाव ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अन्तराय इन ४ कर्मों का होता है। औदयिक भाव आठों कर्मों

का तथा जीव रचित औदारिकादि पुद्गल स्कंधों का भी होता है । और पारिणामिक भाव सभी द्रव्यों का होता है ।

अल्प-बहुत्व द्वार—

श्रीवा नपुंससिद्धा, श्री नर-सिद्धा कमेण संख्यगुणा ।

नवतत्त्वकार १५ प्रकार से होनेवाले सिद्धों के बारे में कम—ज्यादा की संख्या में तुलना करते हुए लिखते हैं कि... सबसे कम नपुंसक लिंग से सिद्ध हुए सिद्धों की संख्या है, जबकि स्त्रीलिंग से मोक्ष में गए हुए जीवों की संख्या संख्यात गुनी ज्यादा है और स्त्रीलिंग से मोक्ष में गए हुए जीवों की अपेक्षा पुरुषलिंग से मोक्ष में गए सिद्धों की संख्या इनसे भी संख्यातगुनी ज्यादा है । इस तरह सभी १५ प्रकार से सिद्ध होनेवाले सभी प्रकारों में अल्प—बहुत्व की दृष्टि से तुलनात्मक दृष्टि से विचारणा शास्त्रों में की गई है । उसका विवरण पहले काफ़ी कर चुके हैं । कृपया वहाँ से पुनः पढ़ने का कष्ट करें ।

इस तरह उपरोक्त नौ द्वारों से भिन्न—भिन्न दृष्टि से मोक्ष तत्त्व की मीमांसा की गई है । अनुयोग द्वारों से मोक्षादि तत्त्वों की विशद विस्तार से विचारणा करनी सुलभ हो जाती है । जिससे मोक्ष विषयक ज्ञान सबको सरलता से प्राप्त हो सके ।

आत्मा की शुद्धावस्था ही मोक्ष है—

सीधी बात इतनी ही है कि... आत्मा की कर्मरहित सर्वथा निरावरणरूप सर्वथा शुद्धावस्था ही मोक्ष है । ध्यान में रखिए कि आत्मा को ही न माननेवाले के लिए मोक्ष कुछ भी नहीं है । है ही नहीं । क्योंकि मोक्ष कोई स्वतंत्र द्रव्यरूप पदार्थ या वस्तुविशेष नहीं है । यह तो एक मात्र आत्मा की सर्वथा कर्मरहित निरावरण अवस्थाविशेषरूप है । यदि कोई कहे कि... मैं तो बादलों से ढके हुए सूर्य को ही सूर्य मानूँ और यदि वह बादल से ढका हुआ ही न हो तो मैं उसे सूर्य ही न कहूँ, यह कैसी मूर्खता की बात होगी ? अरे ! भले इन्सान ! चाहे बादल हो या न हो इन दोनों अवस्था में सूर्य को क्या फ़रक पड़ा ? सूर्य तो जो बादलों से आच्छन्न था, वही बादलों के हट जाने के पश्चात् भी वही है । वैसा ही है । द्रव्यस्वरूप गुणादि के अस्तित्व में कोई अन्तर नहीं पड़ा, लेकिन पर्याय जरूर बदली । अवस्थाभेद हो गया । ठीक वही बात यहाँ भी है । आत्मद्रव्य दोनों में एक सा है, चाहे जीव कर्मग्रस्त संसारी अवस्था में रहे या फिर भले ही वह कर्मरहित सिद्धावस्था में रहे । आत्मा के एक अखण्ड असंख्य प्रदेशी ज्ञानादि गुणात्मक द्रव्य में क्या फ़रक

पडता है ? कुछ भी नहीं । सिर्फ पर्याय बदलती है । ज्ञानादि गुण जो अन्तर्गत त्रैकालिक रूप से शाश्वत हैं, जो कर्मों से आच्छन्न थे, वे समस्त कर्मों के क्षय से प्रकट हो गए । बस, इसी अवस्था को मोक्ष कहा है । अतः कर्मरहित निरावरणावस्था ही मोक्ष है ।

यदि कोई कहे कि... मोक्ष को तो मानते हैं, परन्तु आत्मा को नहीं मानेंगे । यह तो बात ऐसी हुई जैसे मानो कोई कहे कि... मैं बच्चे को तो मानूँ, लेकिन माँ को ही न मानूँ । तो फिर सोचिए कि बिना माँ के संसार में बच्चे का अस्तित्व कहाँ से होगा ? माता बच्चे के लिए आधारभूत है । अतः माता के बिना बच्चे के अस्तित्व की कोई संभावना ही नहीं है । ठीक उसी तरह आत्मा को माने बिना मोक्ष को मानना यह माता को माने बिना बालक को मानने जैसी मूर्खता होगी । जैसे बालक माता के शरीर की निपज है, ठीक उसी तरह मोक्ष यह आत्मा की शुद्ध निरावरणी अवस्थाविशेष है । अतः आत्मा को माननेवाले आस्तिक व्यक्तिविशेष या दर्शनविशेष को मोक्ष मानना ही चाहिए । मानना अनिवार्य है । अन्यथा अर्थात् मोक्ष को न मानने में आत्मा विषयक मान्यता पूर्ण नहीं होगी । जैसे बालक का परिचय उसके माता—पिता के द्वारा होता है वैसे ही मोक्ष का परिचय आत्मा की संपूर्ण विशुद्धि से होता है और आत्मा का पूर्ण स्वरूप मोक्ष को मानने से ही होता है । मोक्ष वास्तव में आत्मा की कर्मरहित निरावरण शुद्ध अवस्थाविशेष ही है । अतः मोक्ष मानना बहुत आसान है ।

संसार की विपरीतावस्था मोक्ष—

संसार में कर्म के कारण आत्मा की जो जो अवस्था है उन सबका कर्मों के समूल क्षय होने से उन अवस्थाओं की स्थिति नहीं रहती है । “कारणाभावे कार्याभाव” अर्थात् कारण के न रहने पर कार्य का भी न रहना स्वाभाविक है । जैसे कारणरूप सूर्य के ही न रहने पर दिन भी नहीं रहेगा । मिट्टि के न रहने पर घड़ा भी नहीं रहेगा । माता के नही रहने पर बच्चा भी नहीं रहेगा । वैसे ही आत्मा के ही न रहने पर मोक्ष भी नहीं रहेगा । अतः आत्मा है तो मोक्ष है ही । आत्मा न हो तो मोक्ष सर्वथा नहीं रहेगा । “आत्माभावे मोक्षाभावः” । परन्तु “मोक्षाभावे आत्माभाव” नहीं हो सकता है । कदापि मोक्ष में न जानेवाली अभव्यात्माएँ संसार में हैं ही । अजीव जड का मोक्ष तो होना ही नहीं है ।

मोक्ष शब्द में प्रयुक्त ‘मुञ्च’ धातु छोड़ने—छुड़ाने अर्थ में है । अतः मोक्ष शब्द का सीधा अर्थ है छूटना, छोड़ना । लेकिन यह धातु अर्थ में दो की ही अपेक्षा रखती है । छोड़ने की विरोधी धातु ‘बन्ध’ भी दो की ही अपेक्षा रखती है । बन्ध दो के बीच की अवस्था है ।

कोई एक किसी दूसरे के कारण बन्धन में बंधता है। अकेला एक ही हो वह कैसे बंधन में आएगा ? सामने दूसरा बंधक तत्त्व भी होना तो चाहिए। अतः आत्मा और जड़ कर्म पुद्गल पदार्थ दोनों का अस्तित्व है। इसीलिए आत्मा कर्म से बंधती है। न की कर्म आत्मा से बंधता है। क्योंकि कर्म जड़ है। आत्मा चेतन है। जड़ अपने आप में निष्क्रिय है। अतः जड़ है। जबकि चेतन आत्मा सक्रिय द्रव्य है। संसारी अवस्था में क्रियाशील है। अतः आत्मा शुभाशुभ उभय प्रकार की क्रिया प्रवृत्ति मन—वचन—काया से करके कर्माणुओं से लिप्त होती है। उस प्रक्रिया में बंधनेवाली आत्मा कर्म से बंधती है। कर्मग्रस्त अवस्था में कर्माधीन हो जाती है।

जड़ पुद्गल पदार्थ एक भी कर्म नहीं बांध सकता है। क्योंकि जड़ में ज्ञान—दर्शनादि तथा राग—द्वेषादि नहीं होते हैं। वे बाह्याभ्यंतर दोनों प्रकार की क्रिया से सर्वथा रहित होते हैं। अतः उनको कर्म का बंध होने की बात ही नहीं रहती है। जब बंधन ही नहीं है जड़ के लिए तो फिर मुक्ति की बात करना भी मूर्खता है। अतः जो बन्धनग्रस्त है उसी की मुक्ति होगी। जीव ने ही कर्म बांधे हैं अतः कर्मों के बन्धन से मुक्ति भी जीव की ही होगी। होगी का मतलब अपने आप नहीं होगी। करने से होगी। पुरुषार्थ तो जीव को ही करना होगा। कर्म की मुक्ति नहीं होती है। जीव की कर्म से मुक्ति होती है। जैसे जीव के लिए बन्धन में भी कर्म नामक अन्य दूसरा तत्त्व था ठीक वैसे ही छुटकारा—मुक्ति के विषय में भी जीव के सामने दूसरा अन्य तत्त्व या द्रव्य कर्म है। कर्म से मुक्ति ही सच्ची मुक्ति है। इसीलिए शास्त्रकार स्पष्ट कहते हैं कि “कर्ममुक्ति किल मुक्तिरेव” कर्मों से छुटकारा—मुक्ति ही सच्ची मुक्ति है। इस कर्ममुक्ति के लिए कारणभूत जो कषायादि हैं उससे भी मुक्ति अनिवार्य है। अतः कहा है कि “कषायमुक्ति किल मुक्तिरेव” अर्थात् राग—द्वेषादि कषायों से मुक्ति ही सच्ची मुक्ति है।

मोक्ष शब्द की शाब्दिक रचना में ‘मो’ अक्षर मोहनीय कर्म का प्रथम सूचक अक्षर है। तथा मोहनीय कर्म आठों कर्मों में सबसे बड़ा राजा है। अग्रेसर है। अतः मोहनीय कर्म का मुख्य व्यवहार करने से मोहादि सभी कर्म समझ लिए जाते हैं। इसलिए संक्षेप में मोहादि ८ कर्मों के लिए वाचक मोह शब्द बनाया है। तथा मोह का भी वाचक सूचक एक अक्षर ‘मो’ रखकर निर्जरा—क्षय का सूचक ‘क्ष’ अक्षर रखा जिससे ‘मो’ और ‘क्ष’ दोनों अक्षर जुड़कर “मोक्ष” शब्द की रचना हुई। इससे यह स्पष्ट होता है कि.. मोहनीयादि आठों कर्मों के बंधन से छुटकारा सदा के लिए मुक्ति होने को ही मोक्ष कहते हैं। इसीलिए “कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः” सही कहा गया है। इस शब्द से जो ध्वनित अर्थ निकलता है वही

करने के रूप में आचरण में उतारा जाय तो वही धर्म कहलाता है । अर्थात् मोक्षप्राप्ति हेतु कर्मक्षय करने के लिए जो भी कुछ किया जाय वह धर्म है । श्रेष्ठतम आत्मधर्म है । ऐसे धर्म का ही आचरण करना चाहिए, जिससे मुक्ति की प्राप्ति सुलभ हो सके ।

मोक्ष में क्या नहीं होता है ?—

सिद्धाणं नत्थि देहो, न आउ कम्मं न पाण जोणीओ ।

साइ-अणंता तेसिं ठिई जिणिंदागमे भणिआ ॥ ४८ ॥

जीव विचार नामक प्रकरण ग्रन्थ में पू. शान्तिसूरि म. स्पष्ट लिखते हैं कि... सिद्ध भगवन्तों को न तो शरीर होता है, न ही आयुष्य होता है, न ही प्राण होते हैं और न ही उत्पत्ति योनि होती है । मोक्ष में उनकी स्थिति सादि—अनन्तकालीन होती है । ऐसा जिनेश्वर परमात्मा के आगम शास्त्र में बताया गया है । देह, आयु, प्राण, योनि और स्थिति ये पाँचो द्वार संसारी जीवों के लिए अनिवार्य रूप से होते हैं, अतः संसारी जीव से ठीक विपरीत स्थिति सिद्ध जीव की बताई हैं । जब शरीर आ जाता है तो उसके साथ—साथ आयुष्य, प्राण, योनि, स्थिति, काल आदि सब उसके आश्रित है, अतः अनिवार्य रूप से आ ही जाएंगे । क्योंकि शरीर है तो आयुष्यकर्म आएगा ही । यह शरीर कब तक रहेगा ? यह निर्णय आयुष्यकर्म करेगा । वह शरीर कितने प्राणों का बना हुआ है ? उसकी इन्द्रियाँ कितनी हैं ? मनादि है कि नहीं ? इत्यादि बातें प्राण द्वार से देखी जाती हैं । १० प्रकार के प्राण बताए गए हैं । अब योनि द्वार में उत्पत्ति योनि का विचार करना रहेगा कि यह शरीर किस योनि में से उत्पन्न हुआ है । या अन्य किस—किस की उत्पत्ति में कारण बनेगा । तथा अन्त में स्थिति द्वार में यह देखना पड़ेगा कि आत्मा को शरीर धारी कितने समय तक रहना है ? कितने वर्षों तक रहना है ? इसे स्थिति कहते हैं । यह सारी विचारणा एक संसारी जीव के लिए अनिवार्य रहती है । जबकि सिद्ध जीव ठीक इससे विपरीत की कक्षा में है । उसके तो शरीर ही नहीं है । अतः वह अशरीरी है । सबसे पहले आधारभूत शरीर ही जब नहीं है तब... उस पर आश्रित आयुष्य, प्राण, योनि और स्थिति आदि किसी का सवाल ही नहीं रहता है । सिद्धों को न तो किसी प्रकार का शरीर रहता है । जब शरीर नहीं है तो आयुष्य किस बात का ? किस गति का आयुष्य ? कितने वर्षों का ? फिर उनको इन्द्रियाँ कितनी होती हैं ? मनादि होते हैं कि नहीं ? फिर उनकी उत्पत्ति किससे हुई है ? कैसे हुई ? या उनसे भी और किसी की उत्पत्ति आदि होती है या नहीं ? उनकी स्थिति कितने वर्षों तक की है ? वे वहाँ कितने वर्षों तक रहेंगे ? आदि समस्त प्रकार की विचारणा सिद्धों के विषय में निरर्थक रहती है ।

एक ही सिद्धान्त बना लीजिए कि कर्मजन्य या कर्माधीन अवस्था में संसारी जीव की जो और जैसी अवस्था जीव की रहती है वैसी मोक्ष में नहीं रहती है। क्यों कि वहाँ कारणभूत कर्म है ही नहीं। अतः वहाँ कर्म के अभाव में कर्मजन्य परिणामों का सवाल ही नहीं उठता है। अतः उनका अभाव रहता है। कर्मजन्य ये पाँचों भाव जो शरीरादि हैं इन सबका अभाव मोक्ष में रहता है। अतः सिद्ध अशरीरी, अनायुष्पी, प्राणरहित, योनिरहित और अक्षयस्थितिवाले कहलाते हैं।

यहाँ अभाव शब्द का अर्थ यह नहीं है कि... सभी बातों का संपूर्ण अभाव ही ले लें। इससे तो मोक्ष सर्वथा अभावात्मक सिद्ध हो जाएगा। जैसी गलती बौद्ध दर्शन ने की है, वैसी भयंकर कक्षा की भूल जैन आर्हत् दर्शन ने नहीं की है। क्यों जी? मोक्ष में क्या क्या है? इसमें पूछा गया है कि वहाँ क्या क्या है? इसके बदले उनको उत्तर दिया गया कि वहाँ क्या—क्या नहीं है? यह नहीं है, वह नहीं है, ऐसा नहीं है, वैसा नहीं है, इत्यादि सब नकारात्मकवाले, निषेधात्मक जबाब दिये गये। अतः सामनेवाली व्यक्ति ने ऐसी धारणा ही बना ली कि... बस, जहाँ कुछ नहीं है, वही मोक्ष है। इससे मोक्ष अभावात्मक सिद्ध कर दिया गया। और ऐसे अभावात्मक मोक्ष को शून्यस्वरूप कह दिया गया। लेकिन साथ—साथ यह नहीं सोचा कि अभावात्मक या शून्यात्मक स्थिति मोक्ष की कहने पर... अजर—अमर त्रिकाल—स्थायी आत्मा का भी लोप हो जाएगा। केन्द्रीभूत पदार्थ आत्मा का ही अभाव मान लेंगे तो तो फिर बचा ही क्या? फिर तो मोक्ष को अभावात्मक मानना ही पड़ेगा। इसीलिए बौद्धों ने मोक्ष को वैसा अभावात्मक मान लिया है। बस, जब कुछ भी नहीं है तो आत्मा भी नहीं है। अतः शून्याकार मोक्ष है।

लेकिन बौद्ध दर्शन ने इतना भी नहीं सोचा कि... अभाव किसका होता है? अभाव का अभाव नहीं होता है। भाव का ही अभाव सिद्ध हो सकता है। अभाव मानने के लिए अनिवार्य है कि सबसे पहले भावरूप पदार्थ की सत्ता स्वीकारी जाय। जैसे कि नहीं है पूछने पर कौन नहीं है? क्या नहीं है? ये प्रश्न उठेंगे। अतः आप नामादि बताएंगे। आत्मा नहीं है। लेकिन नहीं के पहले आत्मा शब्द लाया कहाँ से? आत्मा नामक द्रव्य—पदार्थ का सन्तित्व था तब तो आपने कहा कि नहीं है। अतः अभाव त्रैकालिक सिद्ध नहीं होता है। कारणिक, कालिक, संयोगिक, सादृश्यविषयक, क्षेत्रीय आदि दृष्टि से अभाव भी उपरोक्त हेतुओंवाला सहेतुक ही सिद्ध हो सकता है। अन्यथा नहीं। तीनों काल में जिसका अभाव सदा ही रहता है उसका प्रयोग व्यवहार में भी कहाँ होता है? जैसे कि—गधे के सिंग, वन्ध्यापुत्र, आकाशकुसुम, शशशृंग, इन सबका अभाव त्रैकालिक है। अतः इनका

व्यवहार करके कभी किसी ने भाषा में प्रयोग भी नहीं किया। यद्यपि ये सभी शब्द संयोगिक शब्द हैं। संयोग दो में होता है। अतः शशशृंगादि सभी दो—दो शब्द मिलकर बने हैं। इसलिए स्वतंत्र रूप से इन दोनों शब्दों से वाच्य अलग—अलग पदार्थों का अभाव जगत् में नहीं है। उनका अस्तित्व तो तीनों काल में रहता ही है। मात्र संयोगिक अवस्था में एक रूप में आरोपण करते हैं तब अभाव सिद्ध होता है। उदाहरण के लिए... गधा भी संसार में सदा ही है। और सिंग भी तीनों काल में है। लेकिन दोनों को मिलाकर संयोगिक अवस्था में गधे के सिर पर ही सिंग, खरगोश के सिर पर सिंग यह संयोगावस्था एकरूप में नहीं है। संसार में वन्ध्याएँ सेंकड़ों हैं। और पुत्रवती माताओं के पुत्र भी सेंकड़ों हैं। लेकिन दोनों को एक करके एकरूप से संयोग करके व्यवहार करने पर... अभाव सिद्ध होगा। इसी तरह आकाश भी सर्व विदित है ही,... और कुसम—फूल भी तीनों काल में रहनेवाला ही है। फिर भी इन दोनों को मिलाकर जब आकाश में धरती के फूल का आरोपण करते हैं तब अभाव सिद्ध होता है। अतः ये सभी पदार्थ स्वतंत्र रूप से अपना अस्तित्व रखते हुए भी संयोगिक अवस्था में अभाव सिद्ध होता है।

ठीक इसी तरह मृत शरीर में आत्मा नहीं है। अतः मृतदेह संयोगिक आत्मा का अभाव सिद्ध किया जा सकता है। आत्मा नहीं है। ऐसा वाक्य प्रयोग सिद्ध करने पर... अभिप्रेत अर्थ यह रहता है कि अब इस शरीर में आत्मा नहीं है। जो कि देह छोड़कर चली गई है। यहाँ काल संयोगिक निमित्त है। काल के संयोग से अभी थोड़ी देर पहले, इस शरीर में जीव थी। लेकिन अब नहीं है। इससे कालिक दृष्टि से थोड़ी देर पहले जिसकी भावात्मक सत्ता सिद्ध था उसी का कालान्तर में अभाव बताया जा रहा है। यह संयोगात्मक मात्र है, अन्यथा तीनों काल में आत्मा की सत्ता शाश्वत रूप से सिद्ध होती ही है। यदि संयोग ही नहीं होता तो वियोग कहाँ से आया? बिना संयोग के वियोग किसका? क्योंकि ये दोनों दो पदार्थविषयक हैं।

इसलिए त्रैकालिक अभावात्मक एक पदार्थ नहीं है। अतः शाश्वत नियम यही सिद्ध होता है कि... अभाव मानने के पहले पदार्थ की भावात्मक सत्ता माननी अनिवार्य है। अन्यथा भावात्मक अस्तित्व मानें बिना आप अभावात्मक व्यवहार कर ही नहीं सकते हैं। क्योंकि समस्त संसार में.... एक भी पदार्थ ऐसा है ही नहीं जिसका सर्वथा त्रैकालिक अभाव स्वतन्त्र रूप से हो। दूसरी तरफ जो भी पदार्थ संसार में है उसका नाम है और जिस किसी का भी नाम है उससे वाच्य उस पदार्थ का अस्तित्व भी संसार में है ही। होता ही है। उसका अभाव स्वतंत्र नहीं होता है। परन्तु कालिक, क्षेत्र सापेक्ष, और संयोग

सापेक्षिक अभाव जरूर हो सकता है। आप एक भी नाम ऐसा नहीं बता पाएंगे कि... जिसका वाचक पदार्थ संसार में हो ही नहीं। और दूसरी तरफ ऐसा एक भी पदार्थ नहीं बता पाएंगे कि जिसका वाचक कोई नाम ही न हो। अतः वाच्य—वाचक भाव संबंध पदार्थ और नाम के संबंध को स्पष्टरूप से सूचित करते हैं।

यदि कोई कहता है कि आत्मा नहीं है। इस अभाव सूचक वाक्य रचना में.... “आत्मा” शब्द का पहले प्रयोग करके पदार्थ की सत्ता को स्वीकार करके बाद में धातु से नहीं है कह रहा है। अर्थात् इससे स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि जिसकी सत्ता है उसी का अभाव यदि वह सिद्ध करता है तो किस अपेक्षा से सिद्ध करता है? कालिक या क्षेत्रीय, या संयोगिक? इस तरह सापेक्षवाद की दृष्टि से अपेक्षा जानने पर ख्याल आएगा कि... आत्मा नहीं है। परन्तु कहाँ नहीं है? किसमें नहीं है? कब से नहीं है? इत्यादि क्षेत्र—काल—संयोग विषयक प्रश्न पूछने पर वक्ता स्पष्टीकरण करेगा कि... मृत देह में नहीं है। जड़ पुद्गल अजीव द्रव्य में आत्मा नहीं है। और २ घंटे से या दो दिन से इस शरीर में आत्मा नहीं है। अर्थात् पहले थी। इस तरह जब आत्मा के रहते हुए भी, अस्तित्व होते हुए भी कालान्तर में, क्षेत्रगत, कालगत, संयोगवशात् आदि अपेक्षाओं से अभाव मानना इसे शाश्वत त्रैकालिक अभाव नहीं कह सकते हैं। यह कारणिक और कालिक अभाव है। वियोगात्मक अभाव है।

इसी तरह यदि कोई कह दे कि “मोक्ष नहीं है”। तो यह भी त्रैकालिक अभाव सूचक वाक्य नहीं है। या पदार्थ के अस्तित्व का सदाकालीन अभाव सूचक वाक्य नहीं है। परन्तु कालिक है। संयोगिक है। नैमित्तिक है। वक्ता को वैसे प्रश्न पूछने पर वह स्पष्ट करेगा कि... अभवी जीव की अपेक्षा मोक्ष नहीं है। यहाँ सापेक्षवाद के सिद्धान्तानुसार जब अभवी जीव की अपेक्षा ली तब मोक्ष का अभाव सिद्ध किया है। यह तो “वन्ध्यापुत्र” के जैसी बात हुई। जैसे वन्ध्या में पुत्रोत्पादक क्षमता, या सामर्थ्य—योग्यता ही नहीं है। ठीक वैसे ही अभवी जीव में मोक्षप्राप्ति विषयक योग्यता—क्षमता—सामर्थ्य ही नहीं है तो फिर अभवी के लिए मोक्ष नहीं ही होता है। इससे मोक्ष की त्रैकालिक सत्ता का अभाव सिद्ध नहीं होता है। अपितु... अभवी और मोक्ष के संयोग की सत्ता का अभाव सिद्ध होता है। मोक्ष तो है ही। मोक्ष का त्रैकालिक अभाव नहीं है। तीनों काल में भव्यात्माओं का तो मोक्ष सिद्ध है ही...। इस सिद्धान्त में अपवाद रूप से अभवी की अपेक्षा से मोक्ष नहीं है यह जब वाक्यप्रयोग किया गया है तब... मात्र अभवी के लिए ही मोक्ष का न होना—मानना यह अभवी निमित्तक अभाव होगा। अभवी संयोगिक अभाव होगा। इसे जरूर त्रैकालिक

संयोगाभाव कह दें। कोई ना नहीं है। लेकिन स्वतंत्र रूप से दोनों पदार्थों की सत्ता—विद्यमानता त्रैकालिक मानी ही गई है। अर्थात् अभवी तीनों काल में है ही। और मोक्ष भी तीनों काल में विद्यमान है। अभवीपना पारिणामिक भाव जन्य है। इसलिए कृत्रिम नहीं है। वास्तविक सत्तारूप है। और मोक्ष भी वास्तव में है ही। मात्र संयोगाभाव है। अभवी का मोक्ष नहीं है। अभवी के लिए मोक्ष नहीं है। अर्थात् भवी भव्य जीव के लिए मोक्ष जरूर है ही। यह त्रैकालिक अस्तित्व एवं सत्तासूचक शक्य प्रयोग है।

इस तरह अभाव भी एक ऐसा प्रमाण है कि जिससे पदार्थ की भावात्मकता सिद्ध हो जाती है। जिसका अर्थात् जिस द्रव्य पदार्थ का सर्वथा त्रैकालिक अभाव सिद्ध करना चाहते थे... उसी की सिद्धि होती जाती है। अतः अभाव द्रव्य का नहीं परन्तु पर्यायावस्था रूप सिद्ध हो जाता है।

बौद्ध दर्शन जो कि मोक्ष की अभावात्मकता त्रैकालिक सिद्ध करता है वह सर्वथा अनुचित ही है। मोक्ष भावात्मक सत्तारूप तत्त्व है। यह द्रव्यस्वरूप नहीं अपितु पर्यायस्वरूप है। मूलभूत द्रव्य तो आत्मा ही है। आत्मा की शुद्ध निरावरण—कर्म रहित पर्यायावस्था को ही मोक्ष कहा है। अतः इसे अभावात्मक कहना सबसे बड़ी मूर्खता—अज्ञानता होगी। मोक्ष है जरूर। मोक्ष का अभाव नहीं है। परन्तु मोक्ष में किसका किसका अभाव है? यह समझने के लिए संसारी अवस्था की अपेक्षा से विचार करना पड़ेगा। तभी मोक्ष में उस संसारी चीजों का अभाव जरूर सिद्ध होगा। यह भी संयोगिक सत्ता का भाव होगा।

नात्यन्ताभावरूपा न च जडिममयी, व्योमवद्वापिनी नो
न व्यावृत्तिं दधाना, विषयसुखघना, नेष्यते सर्वविद्धिः ।
सद्रूपात्मप्रसादाद् दृगवगमगुणौघेन संसारसारा
निःसीमाऽत्यक्षसौख्योदयवसतिरनिः पातिनी मुक्तिरुक्ता ॥

गुणस्थान क्रमारोह ग्रन्थकार महर्षि पू. रत्नशेखर सूरि म. ग्रन्थ के अन्त में बड़े खेद की बात व्यक्त करते हुए कहते हैं— ऐसी श्रेष्ठ मुक्ति को भी भिन्न—भिन्न दर्शनकारों ने कैसी विकृत कर दी है? जो मोक्ष का स्वरूप समझ ही नहीं पाए उन दर्शनों ने मोक्षविषयक मान्यता कैसी कैसी कर दी है? जैसे कि... बौद्ध मतावलम्बी मोक्ष को अत्यन्ताभाव रूप मानते हैं। नैयायिक तथा वैशेषिक दर्शनवाले ज्ञानाभावरूप मोक्ष का स्वरूप मानते हैं। नूतनपंथी दयानन्द के अनुयायी तथा वैदिकमतावलम्बी अवतारवाद की प्रक्रिया में मोक्ष

से भी पुनः संसार में आना और वापिस संसार में जाना मानते हैं। विषयसुख लोलुपी मोक्ष में भी विषयसुख मानते हुए कहते हैं कि मोक्ष में सुंदर रूपवती अप्सराएँ मिलती हैं। बस, उनको भोगते ही रहो। तथा मीठी मदिरा भी मिलती है। तथा रहने के लिए सुंदर बागबगीचे मिलते हैं। सब कुछ मनोहर मिलता है। बस, वही मोक्ष है। ऐसी नास्तिकों की विचारधारा है।

जैमिनि मुनि ने भीमांसा दर्शन में आत्मा कभी मुक्त हो ही नहीं सकती है ऐसा कहा है। कितनेक खरड ज्ञानी कहते हैं कि जो वेदोक्त अनुष्ठान कर्मकाण्डादि करता है वह सर्वथा उपाधिरहित हो ही नहीं सकता है। किन्तु शुभानुष्ठानों से उपाजित पुण्य के फल में सुंदर देह प्राप्त करके ईश्वर के पास जाकर कई कल्पों तक सुख भोगता है। यथेच्छ उडकर सर्वत्र जाता—आता है। इस तरह चिरकाल तक वहाँ सुख भोगकर “क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशंति” पुण्य क्षीण हो जाने पर पुनः संसार में आकर जन्म धारण करता है। सदा के लिए मोक्ष में स्थिति बनी नहीं रहती है। ऐसी उनकी मोक्ष विषयक मान्यता है।

इस तरह भिन्न—भिन्न दर्शनवाले धर्मवाले मोक्ष “मुक्ति” के बारे में भिन्न—भिन्न मनघडन्त मान्यताएँ मान बैठे हैं। वाचकवर्ग को ख्याल आए इसलिए यहाँ विवरण किया है। सूझ बुद्धिमान पाठक तुलना करके सत्य का निर्णय कर सकता है। ये मान्यताएँ क्यों और कैसे अनुचित हैं? इसकी कुछ दार्शनिक विचारणा की है। फिर भी समझिए कि... बौद्धदर्शनमान्य अत्यन्ताभावरूप मोक्ष का स्वरूप मानने से तो... आत्मा का ही अभाव सिद्ध हो जाता है। तो फिर मोक्ष होगा ही किसका? न रहे बांस और न बजे बांसुरी, जैसी अभावात्मकता को मोक्ष कहना कहाँ तक उचित है? दीप निर्वाण वद् कह कर दीपक के बुझ जाने की तरह मोक्ष कहने में भी अभावात्मकता ही सिद्ध होती है। इसलिए बौद्ध मत भी सत्य की कसोटी पर खरा नहीं उतरता है।

नैयायिक—वैशेषिक दर्शन जो ज्ञानाभाव रूप मुक्ति को मानने की एक नई विचारधारा रखते हैं, काश ! अफसोस की बात तो यह है कि... उनके जैसे तार्किक इतना भी नहीं समझ सके कि ज्ञान आत्मा का अविनाभावी गुण है। यह उत्पन्न शील नहीं है। ज्ञान का अस्तित्व सदा आत्मा में ही रहता है। अतः ज्ञान कहीं नहीं रहता है, और ज्ञान बिना आत्मा का अस्तित्व ही नहीं है। फिर दोनों एक ही नहीं, एकरूप हैं। गुण—गुणी हैं। अतः ज्ञान आत्मा का लक्षण और गुण दोनों स्वरूपात्मक हैं। यदि लक्षण—गुण उड जाय तो लक्ष्य कैसे रहेगा? अतः आत्मा के ज्ञान गुण का अभाव होने से आत्म द्रव्य का

भी अभाव हो जाएगा। फिर मोक्ष किसका, ऐसी स्थिति में तो नैयायिक—वैशेषिक दर्शन भी बौद्ध जैसे अभावात्मक मुक्ति माननेवाले हो जाएंगे। या फिर ज्ञानरहित जो सभी जड़ पदार्थ हैं उनकी भी मुक्ति माननी पड़ेगी। यह आपत्ति आएगी। तब दोनों दर्शनवाले क्या जवाब देंगे? तो फिर जड़रूप मुक्ति मानने का क्या अर्थ रहेगा? तो फिर किसका? किसको? यह कैसा हास्यास्पद तमाशा है मुक्ति को जड़ रूप मानने का? यह बात किसी भी स्थिति में गले नहीं उतर सकती है। निरर्थक प्रलाप मात्र है। अतः यह मत भी ग्राह्य नहीं बन सकता।

तथा आत्मा को मात्र सर्वव्यापी—विभू अवस्था में ही मुक्त माने, यह मत भी उचित नहीं है। “सर्वमूर्तद्रव्यसंयोगी विभुः।” संसार के सभी मूर्त द्रव्यों का संयोग करनेवाला सर्वलोकव्यापी विभु आत्मा मुक्तात्मा है। यह पक्ष कैसे सिद्ध होगा? आत्मा सदाकाल विभु-व्यापक रहती ही नहीं है। और मात्र समग्र विश्व की एक ही आत्मा भी नहीं है। सभी अनन्त आत्माएँ स्वतंत्र हैं। भिन्न-भिन्न देहधारी हैं। और स्वतंत्र रूप से सुख-दुःख भोगती हैं। अतः स्वतंत्रावस्था में समग्र लोक की एक ही आत्मा मानकर मुक्ति मानना कहाँ तक उचित है?

दूसरे वेदान्ती जो मोक्ष मानकर भी पुनः पुनः संसार में आना, जन्मादि धारण करना और वापिस मोक्ष में जाना आदि मानते हैं यह पक्ष भी सर्वथा दोषदूषित है। असंगत है। इसकी विचारणा पहले की है। वहाँ से समझिए। संसार के जन्म—मरण के जैसे ही जन्म—मरण यदि मानने ही हों तो फिर मोक्ष क्यों कहना? क्या संसार को ही मोक्ष कह दें? यह मत भी सत्यता की कसौटी पर टिक ही नहीं सकता है।

अब जो मोक्ष को केवल पुद्गलानन्दी मानते हैं विषयसुखात्मक ही मानते हैं ऐसे बिचारे नास्तिकों के विषय में क्या कहें? जिनको आत्मस्वरूप का भान ही नहीं है, वे बिचारे दया पात्र हैं। मोक्ष मानने कहने की पंक्ति में खड़े रहने का भी उनको अधिकार नहीं है। मदिरा के नशे में वे यहीं पड़े रहे और मुक्ति के बारे में प्रलाप ही न करे यही ठीक है।

इस तरह अत्यन्ताभावरूप मुक्ति नहीं। जड़रूप भी नहीं। आकाश की तरह सर्वव्यापी भी नहीं। व्यावृत्ति को धारण करनेवाली भी मुक्ति नहीं और न ही विषयसुखमयी मुक्ति है। ये सभी मत अनादेय हैं। अतः सद्रूपात्मप्रसक्ति से ज्ञान—दर्शनादि गुणसमूह से निःसीम अतीन्द्रियानन्द के धामस्वरूप निपात रहित सर्वज्ञ तीर्थंकर परमात्मा ने जो मुक्ति बताई है वही शुद्ध स्वरूप ग्राह्य है। अप्रतिपाती और आत्मीय सहज स्वभावस्थान रूप

मोक्षपद सर्वज्ञों ने बताया है । सर्वकर्मरहित जन्म—मरण रहित अशरीरी अवस्था की मुक्ति—सिद्धावस्था ही सही मुक्ति है । अतः सर्वज्ञ वचन ही ग्राह्य है । उपादेय है । विश्वसनीय एवं श्रद्धेय है । जैसा साध्य होगा वैसी तदनुरूप साधना होगी । इसलिए मोक्षरूप साध्य को सही ... सत्य मानना प्रथम जरूरी है । फिर तदनुरूप साधना करनी चाहिए । सम्यग् दर्शन पाने के बाद चारित्र भी सम्यग् बन जाएगा । अतः “दर्शन, ज्ञान और चारित्र” तीनों शुद्ध सत्य बनेंगे । तभी मोक्ष का मार्ग बनेगा । इसीलिए तत्त्वार्थ में “सम्यग् दर्शन—ज्ञान—चारित्राणि मोक्षमार्गः ।” बताया है । अतः मोक्ष—आत्मादि विषयों के बारे में भ्रान्त गलत धारणा न स्वीकारते हुए ... इनका भी गलत स्वरूप समझकर, सत्य स्वरूप अच्छी तरह पहचानकर सत्य की कसोटी पर परीक्षा करके सर्वज्ञोपदिष्ट सत्य का आचरण करके चरम सत्य को प्राप्त करना चाहिए । अन्यथा तो फिर संसार में परिभ्रमण होता ही रहेगा ।

मुक्ति विषयक विविध दर्शनों की भ्रान्त मान्यताएँ—

नीचे की तालिका से भाव और अभावात्मक दोनों अवस्था का ख्याल आ जाएगा कि ... मोक्ष में क्या क्या है और क्या—क्या नहीं है ?

मोक्ष में क्या—क्या है ? और क्या क्या नहीं है ?

अभावात्मक

मोक्ष में शरीर का अभाव है ।

आयुष्य का सर्वथा अभाव है ।

प्राण १० में से १ भी नहीं है ।

योनि—उत्पत्तिस्थान का सर्वथा
अभाव है ।

काल की स्थिति का अभाव है ।

सभी कर्मों का सर्वथा अभाव है ।

भावात्मक

सिर्फ अशरीरी स्वतंत्र अकेली आत्मा
ही रहती है ।

मोक्ष में शरीर के न रहने के कारण
आयुष्य होता ही नहीं है ।

अदेही को इन्द्रियाँ—मनादि प्राण नहीं
होते हैं ।

उत्पत्ति—जन्म—मरण है ही नहीं ।

सिद्ध अकाल—कालतीत है, अतः
अनन्तकाल तक रहनेवाले हैं ।

कर्मरहित—अकर्मों सिद्ध स्वगुणों की
पूर्णता को प्राप्त है ।

अज्ञान का अभाव है ।
 अदर्शन का अभाव है ।
 राग—द्वेष का अभाव है ।
 दानादि लब्धियाँ

नाम-रूप-रंग-आकार-प्रकार का
 अभाव है ।

केवलज्ञान परिपूर्ण संपूर्ण है ।
 केवलदर्शन परिपूर्ण संपूर्ण है ।
 सर्वथा वीतराग भाव में सदा है ।
 अनन्त दान, लाभ, भोग, उपभोग,
 वीर्यादि सभी लब्धियाँ पूर्ण हैं ।
 सिद्ध अनामी, अरूपी, निरंजन,
 निराकार ही होते हैं ।

इस तरह संसारी सर्व अवस्थाओं का अभाव सिद्धों में रहेगा और सिद्धों की अपनी
 भावात्मकता अवश्य ही उनमें विद्यमान रहती है । यदि संसारी जीवों के साथ सिद्धों की
 तुलना करें तो स्पष्ट होगा कि जो सिद्धों में है वह संसारी में नहीं है और जो संसारी में होता
 है वह सिद्धों में नहीं होता है ।

संसारी

संसारी—शरीरधारी—सशरीरी होता है ।
 संसारी के इन्द्रियाँ, मनादि प्राण होते हैं ।

संसारी की उत्पत्ति-जन्म-मरण होता है ।

संसारी का आयुष्य सीमित होता है ।

संसारी की गति—अगति होती है ।

संसारी स्थिति मर्यादित होती है ।

संसारी सकर्मो—कर्मसहित होते हैं ।

संसारी अज्ञानी, अल्पज्ञानी होता है ।

संसारी अदर्शनी—अल्पदर्शनी होता है ।

संसारी राग—द्वेषादिवाले होते हैं ।

सिद्ध

सिद्ध बिना शरीर के अशरीरी होते हैं ।

सिद्ध के इन्द्रियाँ, प्राण, मन कुछ भी
 नहीं ।

सिद्ध की उत्पत्ति-जन्म-मरण कुछ भी
 नहीं ।

सिद्धों का आयुष्य होता ही नहीं है ।

अतः अक्षय स्थिति होती है ।

सिद्धों की गति—अगति कुछ भी
 नहीं ।

सिद्धों की अनन्तकालीन स्थिति होती
 है ।

सिद्ध सर्वथा कर्मरहित—अकर्मो होते
 हैं ।

सिद्ध का ज्ञान अनन्त ज्ञान होता है ।

सिद्ध अनन्त दर्शन गुणवान् होते हैं ।

सिद्ध सर्वथा वीतरागी होते हैं ।

संसारी अल्प दानादि लब्धि के भी
 अन्तरायवाले होते हैं ।
 संसारी नाम—रूप—रंग—आकार—
 प्रकारवाले होते हैं ।
 संसारी उच्च—नीच गोत्रवाले विविध
 जाति के भिन्न—भिन्न होते हैं ।
 संसारी देह पिण्डाकार होते हैं ।
 संसारी के गत्यन्तर, जात्यन्तर,
 रूपान्तर, भवान्तर, जन्मान्तर
 होते हैं ।
 ८४ लक्ष जीव—योनि में परिभ्रमण
 निरन्तर रहता है ।
 संसारी तीनों लोक में परिभ्रमण करते
 हुए रहते हैं ।
 संसारी वेदना—संवेदना—रोगादि
 ग्रस्त रहते हैं ।
 संसारी सुख—दुःख ग्रस्त रहते हैं ।
 संसारी को खेद—दुःख—विषाद सब
 रहता है ।
 संसारी का पौद्गलिक वैभव सुखादि
 कम—ज्यादा रहता है ।
 संसारी अष्ट महावर्गणाओं के
 ग्रहण—विसर्जन कर्ता होते हैं ।
 संसारी के विचार—चिन्ता—चिन्तन
 रहते हैं ।
 संसारी के आहार—निहार का
 व्यवहार चलता है ।

सिद्ध अनन्त दान, लाभ, भोग,
 उपभोग, वीर्यादि लब्धिवाले होते हैं ।
 सिद्ध सर्वथा अनामी—अरूपी—
 निरंजन निराकार होते हैं ।
 सिद्ध सर्वथा गोत्र एवं जातिरहित
 सभी समान होते हैं ।
 सिद्ध प्रकाशपुंजवत् विद्यमान होते हैं ।
 सिद्धों को गत्यन्तर, जात्यन्तर,
 रूपान्तर, भवान्तर, जन्मान्तर कुछ भी
 नहीं ।
 सिद्ध अयोगि अर्थात् उत्पत्ति,
 जन्म—मरण कुछ भी नहीं रहता है ।
 सिद्धों को सिर्फ लोकान्त में
 सिद्धशिला के ऊपर ही रहना है ।
 सिद्धों को रोग—वेदनादि मन—शरीर
 के अभाव में कुछ भी नहीं ।
 सिद्ध अनन्त—अव्याबाध सुख के
 भोक्ता होते हैं ।
 सिद्ध को आनन्द—अनन्त होता है ।
 सिद्धों को पौद्गलिक संसर्ग ही नहीं
 रहता है । अतः पुद्गलजन्य वैभव ही
 नहीं है ।
 सिद्धों को किसी प्रकार की वर्गणा
 लेनी—छोडनी रहती ही नहीं है ।
 सिद्धों के न मन है, न विचार, न चिन्ता,
 न चिन्तन । कुछ भी नहीं ।
 सिद्ध सदा अनाहारी ही होते हैं ।

संसारी के चलना—फिरना,
गति—प्रगति, प्रवृत्ति रहती है ।
संसारी सक्रिय—क्रियाशील रहते हैं ।

सिद्धों के लिए अशरीरी होने से सदा
एक ही स्थान पर स्थिरता रहती है ।
सिद्ध सदा निष्क्रिय—क्रियारहित होते
हैं ।

संसारी सभी परस्पर विषम होते हैं ।

सिद्ध सदा सभी समान होते हैं ।

इस तरह अनेक दृष्टियों से ... संसारी और सिद्ध में अन्तर है । प्रत्येक बात में संसारी से सिद्ध विपरीत भाववाले ही हैं लेकिन फिर भी सिद्ध स्वगुणों से, स्वस्वरूप से भावात्मक है । अतः संसारी अवस्थाओं की अभावात्मकता और सिद्ध स्वरूप की भावात्मकतावाले सिद्ध हैं । अतः सिद्धों को एकान्त अभावात्मक ही कहना सबसे बड़ी अज्ञानता—मूर्खता होगी । स्याद्वाद की दृष्टि से “भावाभावात्मकता” कहने से संसार की अपेक्षा से अभावात्मकता और सिद्ध स्वरूप से उनकी भावात्मकता सिद्ध होती है । अतः उभयस्वरूपी सिद्ध स्याद्वाद—सापेक्षवाद की दृष्टि से बरोबर सिद्ध होते हैं । यह जैन दर्शन की—सर्वज्ञ दर्शन की विशेषता है । बौद्धदर्शन की अज्ञानमूलक अभावात्मकता या शून्यात्मकतादि सर्वज्ञ दर्शनी जैन कभी भी नहीं स्वीकारते । अतः मोक्ष निर्वाण अभावात्मक नहीं शून्यात्मक नहीं सत् भूत विद्यमान है । भावात्मक है । असत् नहीं सत् है ।

नमुत्थूणं सूत्र की संपदा का अर्थ—

“सिवमयलमरुहमणंतमक्खयमव्वाबाहमपुणरावित्ति सिद्धिगईनामधेयं ठाणं संपत्ताण”

शक्रेन्द्र द्वारा बनाया गया यह सूत्र अर्धमागधि (प्राकृत) भाषा में है । इसमें सन्धि होने से सभी शब्द समास के रूप में मिले जुले हैं । अतः सन्धि तोड़कर अलग—अलग शब्द रचना इस प्रकार होगी—“सिवं + अयलं + अरुहं + अणंतं + अक्खयं + अव्वाबाहं + अपुणरावित्ति + सिद्धिगई नामधेयं ठाणं संपत्ताण” । इसकी संस्कृत छाया इस प्रकार है—१) शिवं + २) अचलं, + ३) अरुहं + ४) अनन्तं + ५) अक्षयं + ६) अव्याबाधं + ७) अपुनरावृत्ति + ८) सिद्धिगति नामधेयं स्थानं सम्प्राप्तानां इस तरह ८ विशेषणों द्वारा सिद्धिगति—मोक्ष का अत्यन्त संक्षेप में वर्णन किया है । सिद्धिगति या सिद्ध जीव कैसे हैं ? उनका स्वरूप कैसा है ? यह इन प्रयुक्त ८ विशेषणों से जानना

चाहिए। “ललितविस्तरा” ग्रन्थ में अद्भुत वर्णन किया गया है। परन्तु ग्रन्थविस्तार भय से यहाँ देना उचित नहीं समझता हूँ। फिर भी संक्षेप में अल्पांश मात्र यहाँ लिखता हूँ।

१) सिव- मोक्ष शिवात्मक कल्याणात्मक है।

२) अचल- मोक्ष अचल स्थान है। सिद्धशिला पर मोक्ष में लोकान्त भाग में पहुँचे हुए सिद्ध कभी भी चलायमान नहीं होते हैं। एक बार मोक्ष में आते समय लोकान्त-लोकाग्र भाग में स्थिर होते समय जिन आकाश प्रदेशों का आलम्बन लेकर स्थिर हो गए, बस फिर अनन्त काल तक वहीं स्थिर रहेगे। स्थानान्तर नहीं होगा। अतः सिद्ध चलायमान नहीं, अचल हैं।

३) अरुह- रुह धातु उगने अर्थ में है। जैसे कटा हुआ वृक्ष पुनः उगता है। वैसे आत्मा पर लगे हुए कर्मों का क्षय हो जाने पर पुनः नए बंधते हैं। क्योंकि मूल कर्म भावकर्म सत्ता में रहते हैं अतः नए कर्मों का बंध पुनः होता है, उसे रुह कहते हैं। इसलिए संसारी जीव रुहात्मक रुहवाले होते हैं। जिनके कर्मों का उदय पुनः होता है और वे संसार में आते हैं। लेकिन सिद्धों को “अरुहन्ताण” कहा है। पुनः जिनके कर्म उदित होते ही नहीं हैं, अतः वापिस कर्मग्रस्तता कर्मयुक्त सकर्मिता सिद्धों में पुनः नहीं आती है। इसलिए नवकार में जैसे “नमो अरिहन्ताण” पाठ है उसी तरह “नमो अरुहन्ताण” पाठ भी बनता है ऐसा भगवती सूत्र में कहते हैं।

४) अणंत- चौथे विशेषण में अनन्त शब्द का प्रयोग किया गया है। यह अनन्त शब्द अनन्तचतुष्टयी का सूचक है। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र, अनन्त वीर्य — यह अनन्तचतुष्टयी है। इस तरह ज्ञान-दर्शन-चारित्र-वीर्यादि अनन्त के स्वरूप में पूर्ण-संपूर्ण है।

५) अक्खय- अक्षय। सिद्धों की स्थिति अक्षय अर्थात् कभी भी क्षय न होनेवाली है। एक बार मोक्ष में जाकर सिद्ध बन जाने के पश्चात् उस सिद्धावस्था की स्थिति का क्षय कदापि होनेवाला ही नहीं है। अनन्त ही है।

६) अव्याबाह- अव्याबाध...। संसारी जीवों का सुख ज्ञानादि व्याबाध स्वरूपवाला होता है। अर्थात् किसी के भी द्वारा बाधा-पहुँचने पर वह सुख चला जाता है। नष्ट हो जाता है। जबकि सिद्धों का सुख सदाकाल बाधा रहित होता है। अतः कितनी भी बाधाएँ आ जाय फिर भी उनके अनन्त सुख, अनन्त परमानन्द का अल्पांश भी क्षय नहीं होता है। इसी तरह ज्ञानादि भी व्याबाध रहित बाधा-पीडादिरहित अव्याबाध

स्वरूपवाला है। सर्वज्ञ को समस्त लोकालोक के अनन्तानन्त पदार्थों, गुणों, पर्यायों के होनेवाले ज्ञान—दर्शन को भी रोक नहीं सकता। तथा स्वभावरमणता, अपने ही स्वगुणों की रमणता करने में भी बीच में कोई बाधा—पीडा—अन्तराय पहुँचाकर रोक नहीं सकता है। अनन्त चारित्र गुणवाले सिद्ध भगवान स्वगुणों में रमणता करते हुए उनका ही उपभोग करते हुए उनमें सदा लीन रहते हैं। इसमें भी बाधा—अन्तराय पहुँचाकर कोई रोक नहीं सकता है। अतः अव्याबाध—चारित्र है। लब्धियाँ, ज्ञानादि गुण तथा सुखादि सब अव्याबाध की कक्षा के हैं। ऐसे सिद्ध हैं।

७) अपुणरावृत्ति—अपुनरावृत्ति—पुनः आवृत्ति = आगमन हो ऐसे अभाववाले सिद्ध हैं। अक्षर सब में अभाव सूचक है। अतः 'अ' अक्षर लगने पर मूल शब्द का विपरीत अर्थ अभिप्रेत है। संसार में कर्मादि कारणवश जीवों की पुनः आवृत्ति—आगमन होता है। जबकि मोक्ष में एक बार चले जाने के पश्चात् पुनः कभी भी आवृत्ति—आगमन अर्थात् संसार में वापिस आना होता ही नहीं है। क्योंकि वहाँ कारणभूत कर्म है ही नहीं। अतः पुनः संसार में आने का सवाल ही खड़ा नहीं होता है। जैसा कि वेदान्त मतावलम्बी हिन्दु धर्म मानते हैं कि भगवान अवतार लेकर वापिस संसार में आएंगे, लीला करेंगे, और अधर्म का नाश, धर्म का अभ्युत्थान, दुर्जनों का नाश, सज्जनों का उद्धार आदि सब कुछ करेंगे। इस मान्यता का खण्डन करते हुए कुछ लिखा है। ऐसी मान्यता का खण्डन करने के लिए नमुत्युणसूत्र में “अपुणरावृत्ति” विशेषण दिया गया है। इससे ऐसा सिद्धान्त स्पष्ट कर दिया है कि मोक्ष में जाने के पश्चात् कर्मरहित सिद्धात्मा पुनः कभी भी—कदापि संसार में आती ही नहीं है। अनन्तकाल में भी संभव नहीं है।

८) सिद्धिगई—सिद्धिगति शुभनामवाले ऐसे स्थान अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेना ही सर्वोत्तम है। अन्य गतियाँ संसार की गतियाँ हैं। देव—मनुष्य—तिर्यच और नरक इन चारों गतियों में अतिव्याप्ति न हो जाय अतः उनका परिहार करने के लिए... “सिद्धिगई” विशेषण युक्तियुक्त ही है। अन्य गतियाँ उपरोक्त सातों विशेषणों के अर्थवाली नहीं हैं। क्योंकि ये चारों गतियाँ तो संसार परिभ्रमणवाली, परिभ्रमणकारक गतियाँ हैं। जबकि इन चारों से सर्वथा विपरीत अलग ही प्रकार की जो गति उपरोक्त सातों विशेषणों से वाच्य होने वाली—होने योग्य है वह है सिद्धि गति। या इसे पंचम गति नाम देकर भी संबोधित की है। ऐसी सिद्धिगति को प्राप्त कर चुके—जिनेश्वर परमात्मा को “नमो जिणाणं” पद से नमस्कार किया है। और तीनों काल के सिद्धों को नमस्कार किया है।

जे अ अइआ सिद्ध, जे अ भविस्संतिऽणागए काले ।

संपइअ वट्टमाण, सब्बे तिविहेण वंढामि ॥

जो अतीत = बीते हुए भूतकाल में मोक्ष में जा चुके हैं तथा जो आगामी भविष्यकाल में भी सदा मोक्ष में जाते ही रहेंगे, तथा जो वर्तमान अर्थात् संप्रति—संप्रत काल में मोक्ष में जा रहे हैं । जिनका मोक्षगमन अभी चालु है । ५ महाविदेह क्षेत्रों में से आज भी जो मोक्ष में जा रहे हैं उन तीनों काल के सिद्ध भगवंतों को मैं मन—वचन—काया के तीनों योगों से त्रिकरणशुद्ध भाव से नमस्कार करता हूँ ।

“णमो सया सच्च सिद्धाणं” इस मन्त्र पद से भी “सदा सर्व सिद्ध भगवंतों को नमस्कार” किया गया है । इसी को मन्त्र रूप में जाप करने से बार—बार हजारों लाखों की संख्या में नमस्कार करने से उतने कर्मों की निर्जरा होती है । और इस तरह संसारी जीव सिद्ध—मोक्ष के बीच का अपना अन्तर कम करता है । काल अन्तर, तथा भव अन्तर कम करके अल्प काल में मोक्ष में पहुँचता है । अतः सिद्धों की उपासना जाप—ध्यानादि अनेक तरीकों से होती है । जाप की अपेक्षा ध्यान अनेकगुनी ज्यादा निर्जरा कराता है । कर्मक्षय = निर्जरा कारक ध्यान सही अर्थ में हो तो ही कर्मक्षय संभव है । अन्यथा विपरीत ध्यान कर्मबंधकारक भी है ।

“पंचसूत्र” में सिद्धस्वरूप वर्णन—

आचार्य पुरंदर श्री चिरंतनाचार्य महाराज ने “पंचसूत्र” ग्रंथ की अद्भुत रचना की है । इसमें ५ भिन्न—भिन्न सूत्रों में आत्मा की क्रमिक शुद्धि का वर्णन करते हुए अन्त में अन्तिम शुद्धि रूप मोक्ष का अद्भुत वर्णन किया है । १ ले सूत्र में विषय—पाप प्रतिघात—गुणबीजाधान का रखा है । २ रे सूत्र में साधुधर्म परिभाषना सूत्र है । ३ रे में प्रव्रज्या ग्रहण की विधि, तथा ४ थे सूत्र में प्रव्रज्या परिपालना का विषय लेकर क्रमशः आत्मा को शुद्धि की दिशा का निर्देश करते हुए... अन्त में ५ वे सूत्र में प्रव्रज्या का फल मोक्ष की प्राप्ति का निर्देश किया है ।

पाँचवे प्रव्रज्या—चारित्र का निरतिचार सुंदर पालन करके जीव उसके फल स्वरूप में कैसे मोक्ष की प्राप्ति करता है ? वह मोक्ष कैसा है इसका सुंदर निरूपण किया है । नित्य स्वाध्याय पाठी साधक उसका रोज स्वाध्याय चिन्तन—मनन—निदिध्यासन करके मोक्ष से अपना अन्तर कम करके सामीप्यता साध सकते हैं । और मोक्ष को समीप ला सकते हैं या स्वयं मोक्ष को यथाशीघ्र प्राप्त कर सकते हैं । अतः नित्य चिन्तन, स्वाध्याय करना ही

चाहिए। इस मोक्षविषयक अन्तिम विभाग में मैंने लगभग पाँचवे सूत्र के भाव को आधार बनाकर विवेचन किया है। इसका मर्म समझना चाहिए और नित्य अनुभूति के स्तर पर लाना चाहिए। प्रशमरति ग्रन्थ में पू. वाचक मुख्यजी उमास्वातिजी म. तो यहाँ तक लिखते हैं कि...

स्वर्गसुखानि परोक्षाप्यत्यन्तपरोक्षमेव मोक्षसुखम् ।

प्रत्यक्षं प्रशमशुखं न परवशं न व्ययेप्राप्तम् ॥ २३७ ॥

निर्जितमदमदनानां वाक्कायमनोविकाररहितानाम् ।

विनिवृत्तपराशानामिहैव मोक्षः सुविहितानाम् ॥ २३८ ॥

स्वर्ग के सुख तो परोक्ष है, और मोक्ष का सुख तो उससे भी अत्यन्त परोक्ष है। परन्तु प्रशमरस का सुख तो प्रत्यक्ष है, वह न तो पराधीन है और न ही खर्च करके प्राप्त करनेलायक है। जिसने अभिमान, कामवासना, को जीत लिया है। जो मन—वचन—काया के विषय में किसी भी प्रकार के विकारों से रहित हो तथा जो पराई आशा से निवृत्त हो, ऐसे प्रशमरस में तल्लीन साधकों के लिए मोक्ष का सुख तो हाथवेत में यहाँ पर ही उपलब्ध है। बस, प्रशमरस का अनुभव करनेवाला ध्यानयोगी ध्याता साधक यहाँ पर ही मोक्ष सुख का रसास्वाद कर सकता है। (उमास्वाति म. का प्रशमरति ग्रन्थ अवश्य स्वाध्याय करने योग्य ही है।) इस तरह मोक्ष के अचिन्त्य स्वरूप को समझ कर उसे प्राप्त करने के लिए सही दिशा में प्रगति करने के लिए पुरुषार्थ करना है। यही आत्मा की विकास यात्रा है। एतदर्थ सर्वप्रथम सिद्धों की शरण स्वीकार कर बस, भाव से उनके चरणों में बैठकर साधना करनी है।

सिद्धों की शरण—

तहा पहीणजरमरणा—अवेअकम्मकलंका पणट्ठवाबाहा केवलनाणदंसणा सिद्धिपुरनिवासी निरुपमसुहसंगया सव्वहा कयकिच्चा सिद्धा शरणम् ॥

जो जन्म, जरा और मरण से सर्वथा मुक्त है, अर्थात् इनके जन्मादि सर्वथा नष्ट हो चुके हैं, तथा कर्मरूपी कलंक जिनकी आत्मा पर से सर्वथा चला गया है, तथा जिनके सर्व प्रकार के दुःख—पीडा—वेदना आदि का सर्वथा नाश—क्षय हो चुका है, तथा जिन्होंने केवलज्ञानादि केवलदर्शनादि का अनुपम सुख प्राप्त कर लिया है... तथा “सिद्धिपुर” मोक्षनगर मुक्ति धाम में जो बिराजमान हैं ऐसे अनुपम अर्थात् जिसकी कभी किसी के भी साथ उपमा दी ही नहीं जा सकती है ऐसे निरुपम सुख—अनन्तानन्दवाले, सर्वथा कृतकृत्य हो चुके हैं ऐसे सिद्ध भगवन्तों की शरण स्वीकारता हूँ। यह शरण स्वीकृति ही अपने

मानस को विधेयात्मक बनाती है। जिससे नकारात्मक निषेधात्मक मानसिक वृत्ति सदा के लिए बदल जाती है। चली जाती है। और पटरी पर सीधी चलती ट्रेन की तरह हमारी मानसिक मनोवृत्ति भी बिल्कुल सीधी चलती रहती है। वह भी सिद्ध की दिशा में—मुक्ति प्राप्त करने की दिशा में ही सीधी चलती रहती है। इसी तरह निरंतर चलते रहने पर एक दिन गन्तव्य स्थान—चरम ध्येयरूप मुक्ति की प्राप्ति सुलभ होती है। एक न एक दिन संसारी जीवात्मा मुक्ति प्राप्त कर लेती है।

इस मोक्षरूप फल और पद के निरूपण के फलस्वरूप मैं भी कर्मक्षय करके मोक्ष को प्राप्त करूँ तथा अन्य सभी जीव भी मोक्ष फल को प्राप्त करें ऐसी पवित्र शुभ भावना के साथ विरमता हूँ। “सिद्धाः सिद्धिं मम दिसंतु” ऐसे हे सिद्ध भगवन्तो ! मुझे भी सिद्धि गति—मोक्ष का दर्शन कराओ। मुझे दिखाओ। मेरे ध्येय में लाओ। बस, इसी प्रार्थना के साथ विराम।.....

* * * * *

विकास यात्रा का अन्त—

प्रस्तुत पुस्तक “आध्यात्मिक विकास यात्रा” में निगोद की सूक्ष्मावस्था से लेकर मुक्ति की अवस्था तक का विवेचन किया है। संसार में आत्मा की उत्पत्ति तो होती ही नहीं है। यह अनुत्पन्न द्रव्य है। और जो उत्पन्नशील ही नहीं है वह विनाशस्वभावी भी नहीं है। इसीलिए मोक्षावस्था में अनन्तकाल तक अपना स्वतंत्र अस्तित्व सदा बनाए रखती है। अतः जैसे अन्तिम सिद्धावस्था में अनन्तकालीन अस्तित्व है ठीक वैसे ही पूर्वावस्था या प्राथमिकावस्था में निगोद में भी अनन्तकालीन अस्तित्व है ही। निगोद यह जीवों की खान है। लेकिन निगोद में जीवों की उत्पत्ति नहीं होती है। वहाँ गोलों में अस्तित्व—विद्यमानता अनन्तकालीन है। अतः निगोद में उत्पत्ति नहीं अस्तित्व है। लेकिन जब निगोद की सूक्ष्मतावस्था से बादर—स्थूलावस्था में जब जीव एक कदम आगे बढ़ता है तब जीव की उत्पत्ति कही जाती है। यह व्यवहार नय से कहा जाता है। यद्यपि स्थूलावस्था भी है तो निगोद की ही अवस्था। मात्र सूक्ष्मतावस्था से स्थूलावस्था होना यह संसार का प्रथम जन्म। यहाँ से व्यवहार में आने रूप उत्पत्ति गिनी जाती है। मानी जाती है। बस, विकास के प्रारम्भ का यही केन्द्र बिन्दु है। इस स्थूलावस्थारूप निगोद में—अंकुरे, लील फूग, फंगस (फूलन) किसलय—कोमल पत्ते, और निर्बीज फल की आद्यावस्था, आलु, प्याज, लहसून, अदरक, गाजर, मूला, शकरकंद ऐसे जमीकन्द आदि संसार के व्यवहार में आनेरूप विकासयात्रा के प्रथम सोपानस्वरूप हैं। यहाँ से शुरुआत

है। इस स्थूलावस्था में एक शरीर में अनन्त जीवों का अस्तित्व विद्यमान रहता है। अतः स्पर्श भी न करना, न भक्षण करना, न मारना।

आत्मा तो अदृश्य है, अरूपी आदि होने से। आत्मा की उत्पत्ति का व्यवहार हो ही नहीं सकता है। मात्र शरीर की उत्पत्ति के व्यवहार से ही उत्पत्ति मानी है। सूक्ष्म निगोदावस्था तो अदृश्य है। अतः वहाँ की उत्पत्ति आदि का व्यवहार ख्याल में भी नहीं आ सकता है। जबकि स्थूल निगोदावस्था की उत्पत्ति—अंकुरा, फुलन, आदि की उत्पत्ति दृष्टिगोचर तो होती ही है। अतः संसार के व्यवहार में उत्पत्ति की प्रथम शुरुआत यहाँ से मानकर करनी चाहिए। इस तरह प्रस्तुत पुस्तक में निगोद की प्रथमावस्था से लेकर क्रमशः आत्मा का उत्थान कैसे होता है? कैसे आत्मा का क्रमिक विकास होता है? किस क्रम से आत्मा ऊपर उठती है? विकास के सोपानों पर चढ़ते—चढ़ते कैसे मोक्ष की दिशा में प्रयाण करती है? संसार के चक्र में घूमती—परिभ्रमण करती रहती है? कब मोक्ष की सही दिशा में सीधी पटरी पर आरूढ़ होती है? और मोक्ष मार्ग पर कैसे अग्रसर होती है? इत्यादि का वर्णन किया है। कर्मों का आश्रय कैसे रोकना? संवर करके पापों से कर्मों से बचना कैसे और फिर कर्मों की निर्जरा कैसे करना इत्यादि विचारणा की है। ऐसी स्थिति में आत्मा किन—किन गुणस्थानों पर आरूढ़ होकर किस—किस अवस्था को प्राप्त होती है इत्यादि का विवेचन किया है। ८४ लक्ष जीवयोनियों में परिभ्रमण कर अन्त में... मनुष्यगति में कैसे जीव आता है? फिर मिथ्यात्व को कैसे छेड़ना और सम्यग् दर्शन कैसे प्राप्त करना की प्रक्रिया दर्शायी है।

सम्यक्त्वी श्रद्धालु श्रावक से व्रती कैसे बनना? व्रतधारी के इस ५ वे गुणस्थान पर श्रावक का जीवन, श्रावक के आचार—विचार—व्रतादि की विचारणा करके फिर आगे के छठे सोपान पर साधु बनने की प्रक्रिया बताई है। साधु का स्वरूप—आचार—विचार—व्यवहार—कर्तव्यादि समझने के लिए विस्तार भी किया है। उसके बाद अप्रमत्त कैसे बनना? ध्यानादि की साधना का सहयोग कितना उपयोगी है? जिससे अप्रमत्त बना जाता है यह समझाकर... ८ वे गुणस्थान पर प्रवेश कराया है। यहाँ से श्रेणी प्रारम्भ होती है। श्रेणी के स्वरूप की विचारणा की है। दो श्रेणियों में भी क्षपक श्रेणी तो... मोक्षपुरी का प्रथम प्रवेश द्वार है। यहीं से प्रवेश करके मोक्ष की तरफ आगे प्रयाण संभव है। बस, क्षपक श्रेणी में प्रवेश किया कि आगे मुक्तिपुरी के दर्शन होने लग जाते हैं। फिर तो तैयारी बड़ी तेजी से करनी चाहिए। इस तरह की तैयारी में... और तो कुछ नहीं लेकिन कर्मक्षय ही करना है। उसके लिए ध्यानादि की उत्कृष्ट कक्षा की साधना

करनी पड़ती है। उस ध्यानादि के स्वरूप का वर्णन भी किया है। अब ८ वे से नौवे गुणस्थान के सोपान पर आकर साधक अनेक कर्मप्रकृतियों का क्षय करके काफी अच्छी तैयारी करता है। कर्मों का क्षय करने कुछ बचे उसको १० वे गुणस्थान पर पहुँचकर भी निकाल देता है। बस, मोहनीय कर्म का क्षय हो जाने के पश्चात् तो सवाल ही नहीं है। १२ वे गुणस्थान से मोक्ष में जाने के लिए, जिन गुणों की पूर्णरूप में आवश्यकता है वे प्रगट होने शुरू होते हैं। आगे क्रमशः आत्मा के गुणों के खजाने में से एक—एक प्रगट होते हैं १३ वे गुणस्थान पर पहुँचते ही ज्ञानादि चारों आत्मगुण पूर्ण की कक्षा में प्रगट हो जाते हैं। यह भी गुणों की उत्पत्ति नहीं ... परन्तु प्रगटीकरण है, प्रार्दुर्भाव है। मोक्ष में जाने के लिए अनिवार्य रूप से जिनकी आवश्यकता है उनकी प्राप्ति यहाँ हो जाती है। इसलिए मोक्ष में जाने के बाद कुछ भी नहीं मिलता है। परन्तु मोक्ष में जाने के लिए जो जो आवश्यक है, जरूरी है, वह सब यहाँ संसार में मिलता है। यहाँ से ही प्राप्त करके साथ ले जाना पड़ता है। उसमें बाहरी चीज तो कुछ भी नहीं है जो है वह आन्तरिक है—आत्मिक है। आत्मिक वैभव है। आत्मगुणों का वैभव है। ज्ञान—दर्शनादि क्षायिक भाव के एक बार प्राप्त हो गए कि फिर समझिए कि मुक्ति निश्चित हो गई। अब कोई संदेह ही नहीं है। १३ वे गुणस्थान पर केवलज्ञानी सर्वज्ञ भगवान बनकर ... जगत पर उपकार करना है। जो पाया है, जैसे पाया है, वह जगत को देना है। इसलिए वर्षों तक अपना कर्तव्य निभाते एवं कर्मों को खपाते हुए काल निर्गमन करके १४ वे गुणस्थान पर पहुँचना है। इस १३ वे गुणस्थान पर आधी मुक्ति तो हो चुकी है। अतः सयोगी केवली अर्धसिद्ध या सदेह सिद्ध तो वैसे भी कहलाते ही हैं। फिर भी जो शरीरादि का बंधन है इसको दूर करने के लिए १४ वे गुणस्थान पर पहुँचकर योग निरोधादि करके मन—वचन—काया के एवं कर्मों के बंधन से आत्मा सर्वथा छुटकारा पाती है। और सदा के लिए मुक्ति के घाम में जा पहुँचती है।

बस, जो लक्ष्य था अंतिम साध्य था वह साध लिया, कार्य सिद्ध हो गया फिर दूसरा प्रश्न ही कहाँ है। मोक्ष की प्राप्ति यही आध्यात्मिक विकास की अन्तिम सीढ़ी थी। यह अन्तिम सोपान है। बस, यहाँ आत्मा का विकास पूरा होता है। समाप्त होता है। इसके आगे कुछ भी नहीं है। निगोद से शुरू की हुई आध्यात्मिक विकास की यह यात्रा मोक्ष की प्राप्ति में समाप्त होती है। पूर्ण होती है। मोक्ष के आगे कोई विकास शेष नहीं रहता है। संसार की सभी भव्यात्माएँ इस तरह अपना विकास साधते हुए मुक्ति प्राप्त करें यही भावना ...

॥ नमो सिद्धाणम् ॥

SELF INTROSPECTION — आत्मनिरीक्षण करिए...

जी हँ पधारिए क्या यह पुस्तक साद्यन्त पूरी पढ ली आपने ? कितनी बार पढी ? माफ करना ... यह कहानी किस्से की नवलकथा नहीं है । यह सर्वज्ञ के सिद्धान्तों की गहराई को समझाती शास्त्रीय तात्त्विक विषय के विवैचन का ग्रन्थ है । कृपया .. दूसरी—तीसरी बार पुनः पढिए । आप स्वयं दोहन करिए ... चिन्तन ... मनन ... करिए । आत्मा की गहराई में पहुँचिए । अन्दर ही अन्दर आत्मा में उतरिए । आत्ममंथन की प्रक्रिया शुरू करिए । गुण—दोषों का दर्श करिए । इन १४ गुणस्थानों के सोपानों पर मैं स्वयं खडा हूँ ? किस गुणस्थान पर हूँ ? ओ ... हो ... ये तो गुणस्थान हैं । गुणों के स्थान रूप सोपान हैं । कहीं मैं दोषस्थान में तो नहीं खडा हूँ ? देखिए ... देखिए ... अपनी अंतरात्मा को देखिए .. ।

क्या मैं मिथ्यात्वी हूँ ? मेरी मान्यताएं ? मेरा विश्वास किसमें है ? कैसा है ? मैं क्या मानता हूँ ? सही या विपरीत ? अरे ! मैं इस मिथ्यात्व के बंधन में से बाहर निकला हूँ या नहीं ? राग—द्वेष की निबिड ग्रन्थि का भेदन मैंने किया है या नहीं ? मैं सम्यग् दर्शन की भूमिका में भी पहुँच पाया हूँ या नहीं ? ८ में से कौन सी दृष्टि मेरी खुली है ? कितनी दृष्टि विकसित हुई है ? मैं शुद्ध श्रद्धालु बना कि नहीं ? नौ तत्त्वों की शुद्ध श्रद्धा जगी कि नहीं ? मुझे इन नौ ही तत्त्वों का सही सम्यग् ज्ञान प्राप्त हुआ कि नहीं ? क्या देव—गुरु—धर्म विषयक मान्यता सत्य बनी ? कि नहीं ? मोक्षाभिमुख एवं आत्मसन्मुख अभी भी मैं बना कि नहीं ? मैं भव्य की कक्षा का हूँ ? अथवा अभव्य की कक्षा का ? अपनी अन्तरात्मा को पूछकर निर्णय करिए । आत्मा अन्दर से सही जवाब देगी । पूछिए ... क्या मैं ४ थे गुणस्थान पर खडा हूँ ?

क्या मैंने राग—द्वेष कषाय की वृत्ति थोड़ी भी कम कि या नहीं ? अरे ! मैं पापभीरु भी बना कि नहीं ? क्या पापों से डर लगता है ? हे अन्तरात्मा ! बोल ! सही बोल ! पाप में मजा आती है कि फिर पापों की सजा सामने दिखाई देती है । अरे ! मार्गानुसारी के लक्षण भी मेरे में आए कि नहीं ? अब पापों से बचने की भावना भी है कि नहीं ? इस हिंसा—झूठ—चोरी से मन उठ गया कि नहीं ? विषय—वासना और काम संज्ञा से भी ऊपर उठा कि नहीं ? क्रोधादि कषाय की मात्रा भी कम की कि नहीं ? क्या पापों की निवृत्ति और धर्म की प्रवृत्ति में रस जगा कि नहीं ? व्रत—नियम—प्रत्याख्यान लिये कि नहीं ? किये कि नहीं ? विरतिधर्म स्वीकार किया कि नहीं ?

मेरी क्या स्थिति है ? कैसी परिस्थिति है ? ४ थे गुणस्थान पर घड़ी के लोलक की तरह क्या मेरी स्थिति डामाडोल है ? क्या मैं ४ थे गुणस्थान से नीचे गिरते हुए ३ रे, २ रे पर से गिरता हुआ नीचे जा रहा हूँ ? क्या मैं वापिस मिथ्यात्व के गर्त में गिर रहा हूँ ? या ... अपनी अध्यवसाय धारा को संभाल पा रहा हूँ ? क्या मैं ऊपर उठते हुए पाँचवे गुणस्थान पर जा रहा हूँ ? श्रावक जीवन योग्य व्रतादि मेरे में आए कि नहीं ? क्या मैं शुद्ध श्रावक बना कि नहीं ? अब यहाँ भी देखिए ... क्या मैं यहाँ स्थिर हूँ या नहीं ? या क्या यहाँ भी विचलित हूँ ? अस्थिर हूँ ? मेरी मनःस्थिति कैसी बनी हुई है ? मानसिक अध्यवसाय की धारा फिर गिर रही है कि ऊपर चढ़ रही है ? साधु संतों का सत्संग करके ... संत समागम से मैं मेरा विकास साध रहा हूँ या नहीं ?

अरे ! मन को भी साधने का, वश करने का मैंने पुरुषार्थ किया या नहीं ? राग—द्वेष पर नियंत्रण किया कि नहीं ? कुछ कम किये कि नहीं ? बचे हुए और पापों से भी निवृत्त होने की तैयारी है या नहीं ? क्या मैं सर्व संग परित्याग करके साधु बन सकता हूँ या नहीं ? क्या आजीवन पर्यन्त ... अरे ! मृत्यु की अन्तिम श्वास पर्यन्त मैं एक भी पाप न करने की भीष्म प्रतिज्ञा करने के लिए तैयार हूँ या नहीं ? तो क्या मैं छठे गुणस्थान पर आरूढ़ होने के लिए तैयार हूँ ? अंतर मन क्या कहता है ? भाव से या द्रव्य से ... ?

ओ हो ! मैं साधु बन गया हूँ ? अब तो छठे गुणस्थान का मालिक हूँ ? यहाँ मेरा मन कैसा है ? अब मानसिक रूप आर्त—रौद्र ध्यान की परिणति तो नहीं है ? मैं प्रमाद ग्रस्त हूँ ? या अप्रमत्त ? राग—द्वेष से परे हूँ ? या लिपटा हुआ हूँ ? आत्मभाव की जागृति कितनी आई ? स्वभावमरमणता बढ़ी कि नहीं ? विभाव दशा से मन हटा कि नहीं ? अप्रमत्त बनकर आत्मगुणों का रसास्वाद किया कि नहीं ? आगे फिर ७ वे से ८ वे गुणस्थान विषयक चिन्तन की धारा है । श्रेणी की बात आएगी । इस तरह चिन्तन करते हुए मनोमंथन करते हुए आत्मनिरीक्षण करते रहिए ... आगे ... आगे ... रास्ता खुलता जाएगा ।

* * * * *

SHREE MAHAVEER RESEARCH FOUNDATION

Vooralayam

PUBLICATION

દ્વારા પ્રકાશિત તથા

પ.પૂ. વિદ્વદ્વર્ય પંચ્યાસ ડૉ. શ્રી અરુણાવિજયજી મ.સા.

દ્વારા લિખિત અભ્યાસ યોગ્ય સાત્ત્વિક સચિત્ર સાહિત્ય

કર્મ તણી ગતિ ન્યારી	ગુજ. ભાગ ૧-૨.
પાપની સન્ન ભારે	ગુજ. ભાગ ૧-૨.
સચિત્ર ગણધરવાદ	ગુજ. ભાગ ૧-૨.
ભાવના ભવ નાશિની	ગુજરાતી
નવકાર જપ ધ્યાન સાધના	ગુજરાતી
નમસ્કાર મહામંત્રનું અનુપ્રેક્ષાત્મક વિજ્ઞાન	ગુજરાતી
અતિશયવંત તીર્થકર	ગુજરાતી
આધ્યાત્મિક વિકાસયાત્રા	ગુજરાતી
જ્ઞાન અને જ્ઞાનાવરણીય કર્મ	ગુજરાતી
ભક્તામર ધ્યાન સાધના	ગુજરાતી
આધ્યાત્મિક વિકાસ યાત્રા	હિન્દી ભાગ ૧,૨ અને ૩.
કર્મ કી ગતિ ન્યારી	હિન્દી ભાગ ૧,૨
નમસ્કાર મહામંત્રકા અનુપ્રેક્ષાત્મક વિજ્ઞાન	હિન્દી
પાપકી સન્ન ભારે	હિન્દી ભાગ ૧-૨
નવકાર સ્મારિકા	હિન્દી
મહાવીર સ્તવનાવલી/૧૦૮ પાર્શ્વ સ્તવનાવલી	હિન્દી
ધ્યાન સાધના	હિન્દી
સચિત્ર ગણધરવાદ	હિન્દી
જગત આણિ ઈશ્વરસ્વરુપાચી યથાર્થ મીમાંસા	(Ph.D માટે થીસીસ) મરાઠી
પ્રમાણ નય તત્ત્વાલોક (અરુણાચિત્રા ટીકા સહ)	સંસ્કૃત અને હિન્દી
શ્રી સમયસુંદરગણિકૃતા અર્થરત્નાવલી (અષ્ટલક્ષાર્થીત્વપરનામ્ની)	

SHREE MAHAVEER RESEARCH FOUNDATION

Vooralayam

PUBLICATION

વીરાલયમ - પુના

ઈન્દ્રમલજી બોરાણા

મહેન્દ્ર પેપર માર્ટ

૧૦૫૬, શુક્રવાર પેઠ, પુના - ૨

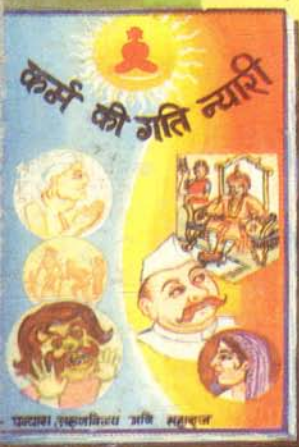
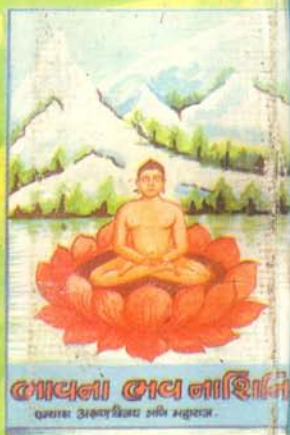


વીરાલયમ - મુંબઈ

મોહનભાઈ ગુર્જર

રીંગલ એપા. બીજે માળે, પેટ્રોલપંપ ની સામે,

એસ.વી. રોડ, સાંતાક્રુઝ (પ.) મુંબઈ - ૪૬.



हनुमान् सदा महावीर स्वामी दीर्घा,
यो जीवन्तु मांका शोभी स्ते फाल्गुना राम,
स गिरिवरः २०५६००

प्रकाशक: भूदरः श्री महावीर विद्यार्थी क
३४ वृत्तमल्लिकास्त, जोरि भादे
अ. पी. प्र. सात मार्ग पी. पी. रोड, प्राथम्य
मुंबई, ४००००४

